



ॐ



श्री परमात्मने नमः

प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि

(नियमसार प्रवचन)

भाग-१

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित नियमसार परमागम पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा १ से ३७ तक)

प्रस्तावना

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी., जयपुर (राज.)

हिन्दी अनुवाद व सम्पादन
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट, वरली, मुम्बई-४०० ०१८



प्रथम संस्करण : ३१०० प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

- आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट
ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,
वरली, मुम्बई-४०० ०१८
फोन : २४९२१९६९
- श्री वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
वीतराग-विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : २४२९३९७
- श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५
फोन : २७०७४५८, २७०५५८१
- पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला
श्री नरेश लुहाड़िया
४६३५/३८, डिप्टीगंज, सदर बाजार,
दिल्ली-११० ००६
फोन : २७५३७००६

टाइप सैटिंग : बेव कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स
कोटा (राज.)

मुद्रक : मौसम ऑफसैट प्रिन्टर्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैनधर्म की मंगलमय प्रभावना एवं उसके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता को गहराई से अनुभव करते हुए अजमेर निवासी मुम्बई प्रवासी अध्यात्म रसिक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया परिवार द्वारा २८ मई १९९५ को श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, देवलाली (महाराष्ट्र) के पावन प्रसंग पर अध्यात्म जगत के मूर्धन्य मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा के संरक्षकत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के कुशल निर्देशन में, "आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट" की स्थापना की घोषणा की गई। उपस्थित विशाल जनसमूह ने अति उत्साह से इस पवित्र कार्य का हार्दिक अनुमोदन किया। ट्रस्ट का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है एवं इसका रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है।

ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य के प्रति समर्पित कार्यशील उदीयमान विद्वानों को, उनकी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त रखते हुए उन्हें हर संभव दृढ़ता प्रदान करना है, जिससे उनकी सेवा एवं तत्त्व समर्पण की भावना का अधिक से अधिक लाभ समाज को मिल सके।

इसके अतिरिक्त शिक्षण एवं शोधकार्य में निरन्तर रत प्रतिभाशाली विद्वानों का समुचित सम्मान करना भी ट्रस्ट का उद्देश्य है। इस शृंखला में अबतक 'जैनश्रमण-स्वरूप और समीक्षा' पर डॉ. योगेश जैन शास्त्री, अलीगंज-एटा को, 'जैन कर्म सिद्धान्ते बन्धमुक्ति प्रक्रिया' पर डॉ. श्रीयांसकुमार सिंघई, जयपुर को, 'महाकवि भूधरदास : एक समालोचनात्मक अध्ययन पर' डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री, जयपुर को, 'आ. योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कर्तृत्व' पर डॉ. सुदीपकुमार शास्त्री, दिल्ली को, 'जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन : समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. विनोद 'चिन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'श्री कानजी स्वामी व्यक्तित्व और कर्तृत्व' पर डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री, विदिशा को, 'संस्कृत साहित्य में दिक्पाल की अवधारणा' पर डॉ. राजेशकुमार जैन शास्त्री, ग्यारसपुर-विदिशा को, 'हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुखदासजी का योगदान' पर डॉ. श्रीमती मुन्नीदेवी जैन ध.प. डॉ. फूलचन्दजी जैन, वाराणसी को पीएच.डी. करने के उपलक्ष्य में सम्मानित किया गया है।

अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाते हुए अब ट्रस्ट ने अप्रकाशित सत्साहित्य एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के अप्रकाशित प्रवचन साहित्य के प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाये हैं। इस कड़ी के रूप में सर्वप्रथम आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की अमरकृति मोक्षमार्ग

प्रकाशक पर हुए प्रवचन 'मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रवचन भाग-१ से ४' प्रकाशित किये जा चुके हैं। सम्पूर्ण देश-विदेश के साधर्मीजनों के द्वारा इस कार्य का जिस उत्साहपूर्वक समादर हुआ है, उससे प्रेरित होकर अब परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसार परमागम पर हुए प्रवचन 'प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि' की शृंखलारूप से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन के प्रथम भाग में गाथा १ से ३७ तक हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन संकलित हैं, जिनका अनुवाद व सम्पादन गुजराती प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि से किया गया है। साथ ही कारणशुद्धपर्याय के विषय का विशद स्पष्टीकरण साधर्मीजनों को इसी ग्रंथ के साथ उपलब्ध हो सके, तदर्थ परिशिष्ट में तद्विषयक सामग्री दी गई है। इस ग्रंथ में कारणशुद्धपर्याय का रंगीन चार्ट आत्मार्थी उत्साही युवा श्री दिलीपभाई कोठारी मुम्बई के सौजन्य से दिया जा रहा है, तदर्थ हम उनके आभारी हैं। उनका सहयोग प्रशंसनीय है।

इन प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी रूपान्तर व सम्पादन हमारे ट्रस्ट के विद्वान श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन बिजौलियाँ वालों द्वारा किया गया है। हमारे अनुरोध पर इस प्रवचन ग्रंथ की प्रस्तावना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने लिखने की कृपा की है, तदर्थ हम उनके भी आभारी हैं।

ग्रन्थ की लागत कम करने के उद्देश्य से साधर्मीजनों के प्रदत्त सहयोग के प्रति ट्रस्ट आभारी है। उनकी सूची अन्यत्र प्रकाशित है।

ग्रंथ की टाइप सैटिंग बेव कम्प्यूटर, कोटा, कवर पृष्ठ की सुन्दर डिजाईन का कार्य दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर व प्रिन्टिंग कार्य मौसम प्रिन्टर्स, दिल्ली द्वारा किया गया है।

सभी साधर्मीजन इस अनुपम आध्यात्मिक कृति का अवगाहन कर निजहित साधें — यही भावना है।

दि. २१ अप्रैल २००४

पू. गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की
११५वीं जन्म-जयन्ती

बसंतभाई एम. दोशी

मैनेजिंग ट्रस्टी

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, मुम्बई

सम्पादकीय

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम नियमसार पर हुए परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के अध्यात्मरस भरपूर 'प्रवचन रत्न चिन्तामणि' भाग-१ साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्पूर्ण दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा के शिरमौर संत हैं। भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् स्मरण किए जानेवाले आचार्यश्री दिगम्बर परम्परा की पहिचान हैं। आचार्यश्री के द्वारा रचित पंच परमागमों में नियमसार परमागम की रचना आचार्यश्री ने निजभावना के निमित्त की है। जैसा गंभीर भावनाप्रधान ग्रंथ है, उसको टीकाकार मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव भी वैसे ही हैं। टीका में समागत कई विषय प्रायः अन्यत्र स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, उनमें कारणशुद्धपर्याय एक ऐसा ही विषय है।

समयसार की भाँति ही पूज्य गुरुदेवश्री नियमसार से भी काफी प्रभावित रहे और इस परमागम पर भी उन्होंने कई बार भाव-विभोर होकर प्रवचन किए हैं। उनके द्वारा प्रदत्त प्रवचन सद्गुरु प्रवचन प्रसाद तथा कैसेट्स/सी.डी. में उपलब्ध हैं। सन् १९७१-७२ में हुए उनके प्रवचनों का गुजराती संकलन 'प्रवचन रत्न चिन्तामणि भाग-१' के रूप में श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, मुम्बई से प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी भाषा में अभी तक इन प्रवचनों की अनुपलब्धता एवं साधर्मीजनों की माँग को दृष्टिगोचर रखते हुए इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

यह मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि मुझे आचार्य कुन्दकुन्ददेव के तीन परमागम अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय एवं इस नियमसार पर गुरुदेवश्री के प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अष्टपाहुड़ प्रवचन भाग-१ तो प्रकाशित हो ही चुका है। भाग-२ व पंचास्तिकाय के प्रवचन भी प्रकाशन की तैयारी में है।

इन प्रवचनों का अनुवाद करते हुए परमपूज्य आचार्यश्री के साथ-साथ गुरुदेवश्री के प्रति भी अहो भाव जागृत होता है कि यदि गुरुदेवश्री अपनी सरल-सुबोध शैली में इन आचार्यश्री के हृदय को स्पष्ट नहीं करते तो हम अज्ञान तत्त्वज्ञान के इन रहस्यों को कैसे समझ पाते? इस उपकार के लिए आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में नमोस्तु करता हुआ गुरुदेव के प्रति भी अपनी विनयांजली समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ में मूल गाथा, हिन्दी टीका व कलश के साथ-साथ गाथाओं का बाबू युगलजी कृत पद्यानुवाद एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी कृत पद्यानुवाद भी सम्मिलित किया गया है। प्रवचनों में समागत ग्रन्थ के मूल अंश को भी बोल्ड टाइप में दिया गया है। परिशिष्ट में कारणशुद्धपर्याय विषय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से इस विषय पर हुए पुराने प्रवचन जो 'कारणशुद्धपर्याय' नाम से प्रकाशित हैं, दिये गये हैं।

इस प्रवचन ग्रंथ के भाग-२ का हिन्दी अनुवाद व सम्पादन कार्य भी पूर्णतः की ओर है और अतिशीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है, जिसमें दृष्टि के विषयभूत परम-पारिणामिकभाव-स्वरूप शुद्धात्मा का प्रतिपादन करनेवाले शुद्धभाव अधिकार गाथा ३८ से ५५ तक के प्रवचन संकलित हैं।

इस अनुवाद के मूलप्रेरक मेरे तत्त्वज्ञान प्रदाता विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्दजी बुलन्द शहरवाले हैं। उनके द्वारा प्राप्त संस्कारे ही इस कार्य में निमित्तभूत हैं — इसके लिए आपश्री का चिरऋणी हूँ।

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान के अध्यक्ष श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया एवं मैनेजिंग ट्रस्टी श्री बसंतभाईजी दोशी ने इनके प्रकाशन का उपक्रम कर मेरा उत्साह बढ़ाया है, तदर्थ उनका भी आभारी हूँ।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन गंगा में स्नान कर भवताप का शमन करें — यही भावना है।

दि. २१ अप्रैल २००४
पू. गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की
११५वीं जन्म-जयन्ती

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ,
जिला-भीलवाड़ा (राज.)

प्रस्तावना

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आजतक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है। प्रवचन के आरम्भ में बोली जानेवाली उक्त पंक्तियाँ इसप्रकार हैं —

“अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधर-
देवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये.....विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया
श्रृणवन्तु।”

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समग्र आचार्य परम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को ‘आदि’ शब्द से ही ग्रहण किया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी पैर समाहित हो जाते हैं; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्य परम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला उक्त छन्द इसप्रकार है —

मंगल भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगल कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर ‘कुन्दकुन्दान्वय’ उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं —

“कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चरण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।”

“यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर जो चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)”

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि वे महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। ‘द्वादशानुप्रेक्षा’ में मात्र नाम का उल्लेख है। इसीप्रकार ‘बोधपाहुड़’ में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन से संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों में आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्यसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्तिपत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोचित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है —

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका नाम क्या रखा था ? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दि रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दि से आचार्य पद्मनन्दि हो गये। अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुतिमधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया।

यद्यपि ‘आचार्य’ पद है, तथापि आपके नाम के साथ इसप्रकार घुलमिल गया कि वह नाम का ही एक अंग हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपृच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बरभाइयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि है, तथापि वर्तमान दिगम्बर जैनसमाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है —

“आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ही ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय हुआ न होता तो दिगम्बर जैनसमाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।”

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, पर पैंतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरस प्रवचन ही नहीं किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये तथा सोनगढ़ (जिला - भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है, उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्संबंधी विस्तार न तो यहाँ सम्भव ही है और न उचित ही।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है —

१. समयसार (समयपाहुड़)
२. प्रवचनसार (पवयणसार)
३. नियमसार (णियमसार)
४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंग्रह)
५. अष्टपाहुड़ (अट्टपाहुड़)।

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनाएँ कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं होती।

इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि आपने चौरासी पाहुड़ लिखे थे, किन्तु आज उक्त साहित्य के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सरावोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

आचार्य भगवन्तों द्वारा शास्त्रों की रचना आत्मार्थीजनों के हितार्थ की जाती रही है। व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। स्वान्तःसुखाय या भक्तिवश भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यह नियमसार नामक परमागम न तो व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ ही लिखा गया है और न सामान्यरूप से आत्मार्थीजनों के हितार्थ इसका प्रणयन हुआ है, भक्ति भी इसका हेतु नहीं है। इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिए किया था। इसमें जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त सन्त की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है।

यह ग्रन्थाधिराज तत्त्वोपदेशक एवं प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं, यह तो इन सबसे विरक्त, परमपारिणामिकभाव में ही अनुरक्त, वीतरागी सन्त, अन्तरोन्मुखी कुन्दकुन्द की कृति है। इसमें कुन्दकुन्द का अन्तरंग व्यक्त हुआ है। उपदेश, आदेश, अनुशासन-प्रशासन कुन्दकुन्द की मजबूरी थी, जीवन नहीं। उनका हार्द नियमसार है।

'सन्तों का कुछ भी गुप्त नहीं होता' — इस रीति के कारण ही महाभाग्य से यह आत्मार्थीजनों को उपलब्ध हो गया है। इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावनाप्रधान है। सद्भाग्य से इसे पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अन्तरोन्मुखी, भावनाप्रधान, परमवैरागी टीकाकार भी

उपलब्ध हो गये हैं, जिन्होंने इस पर समरसी टीका एवं उनके बीच-बीच में वैराग्यरस से ओत-प्रोत छन्द लिखकर आत्मोन्मुखी आत्मार्थीजनों का अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

इसमें सन्देह नहीं है कि नियमसार नामक परमागम की रचना दिगम्बर परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्पूर्णतः स्वान्तःसुखाय ही की है।

जैसा कि उनके निम्नांकित छन्द से स्पष्ट है —

“णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मक्कं ॥१८७॥

पूर्वापर दोषरहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावानामित्त से इस नियमसार नामक शास्त्र की रचना की है।”

अन्त में एक महत्त्वपूर्ण चेतावनी दी गई है, जो इसप्रकार है —

“ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८॥

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करे तो उसके वचन सुनकर इस जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।”

यद्यपि मोहाच्छन्न दुःखी जगत को देख करुणावंत आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार जैसे ग्रन्थाधिराजों की रचना करते हैं, करुणा से विगलित हो उपदेश देते हैं, तथापि अन्तर में भलीभाँति जानते हैं कि इसप्रकार के विकल्पों में उलझना आत्महित की दृष्टि से हितकर नहीं है, उचित नहीं है। अतः स्वयं को सम्बोधित करते हुए अथवा दूसरों को समझाने के विकल्प में उलझे अन्तेवासियों (निकटवर्ती शिष्यों) को समझाते हुए कहते हैं —

“णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥
लद्धूणंणिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणते ।
तह णाणी णाणमिहिं भुंजइ चइत्तु परितत्तिं ॥१५७॥

जीव नानाप्रकार के हैं, कर्म नानाप्रकार के हैं और उपलब्धियाँ भी नानाप्रकार की हैं, अतः स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध करनेयोग्य है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी परिजनों से दूर रह-गुप्त रह ज्ञाननिधि को भोगता है।”

यह नियमसार नामक परमागम मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरूपण का अनुरूप

ग्रन्थाधिराज है। यह मात्र विद्वानों के ही अध्ययन की वस्तु नहीं, अपितु प्रत्येक आत्मार्थी के दैनिक पाठ की चीज है।

इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण साहित्य के गहन अध्येता एवं प्रबल प्रचारक आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी नियमसार पर प्रवचन करते हुए आनन्दविभोर होकर कहते हैं —

“परम-पारिणामिकभाव को प्रकाशित करनेवाला श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही स्वसंवेदन वे स्वयं कर रहे थे। परम-पारिणामिकभाव के अन्तर्भूतत्व को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है, प्रत्येक अक्षर शाश्वत, टंकोत्कीर्ण, परमसत्य, निरपेक्ष, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष, सहजज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य अत्यन्ततन्त्रयंत सूक्ष्म और गहन बात को इस शास्त्र में स्पष्ट किया है।

सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी इन विषयों का इतने स्पष्टरूप से निरूपण नहीं है। अहो! जिसप्रकार कोई पराक्रमी कहा जानेवाला पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाता है; उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महामुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अन्तर का अमृत दुहा है। सर्वसंग परित्यागी निर्ग्रन्थों ने वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों से बातें की हैं और अनन्त सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।”

“परम-पारिणामिकभावरूप निजशुद्धात्मतत्त्व ही एकमात्र आराध्य है, उपास्य है, श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है। इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप पावन परिणतियाँ ही साधन हैं, मार्ग हैं, रत्नत्रय है, नियम हैं तथा इन्हीं पावन परिणतियों की परिपूर्णता ही साध्य है, मार्गफल है, निर्वाण है” — इसप्रकार परमार्थ सत्य का प्रतिपादक ही यह नियमसार नामक परमागम है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने इस ग्रन्थाधिराज पर मर्मोत्घाटक जो प्रवचन किये हैं; वे गुजराती भाषा में तो प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु हिन्दी में अनुपलब्ध थे। आत्मार्थी विद्वान श्री देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने उनका हिन्दी अनुवाद करके हिन्दी भाषी समाज पर महान उपकार किया है; तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं।

मेरे साथ सम्पूर्ण जगत भी इस अमृत के सागर में निरन्तर आकण्ठ निमग्न रहे — इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

दिनांक : २१ अप्रैल २००४

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अनुक्रमणिका

क्रम	गाथा/कलश	पृष्ठ
०१.	कलश १ से ७.....	१
०२.	गाथा १.....	१७
	कलश ८	
०३.	गाथा २.....	३०
	कलश ९	
०४.	गाथा ३.....	४३
	कलश १०	
०५.	गाथा-४.....	७०
	कलश ११	
०६.	गाथा ५.....	८०
	कलश १२	
०७.	गाथा ६.....	९१
	कलश १३	
०८.	गाथा ७.....	१२८
	कलश १४	
०९.	गाथा ८.....	१४७
	कलश १५	
१०.	गाथा ९.....	१६८
	कलश १६	
११.	गाथा १०.....	१९८
	कलश १७	
१२.	गाथा ११-१२.....	२२१
	कलश १८ से २२	
१३.	गाथा १३.....	२३४
	कलश २३	
१४.	गाथा १४.....	३०४
	कलश २४ से २६	
१५.	गाथा १५.....	३२९
	कलश २७	

१६.	गाथा १६-१७.....	३७५
	कलश २८ से २९	
१७.	गाथा १८.....	३९१
	कलश ३० से ३५	
१८.	गाथा १९.....	४१९
	कलश ३६	
१९.	गाथा २०.....	४४२
	कलश ३७	
२०.	गाथा २१ से २४.....	४४६
	कलश ३८	
२१.	गाथा २५.....	४६१
	कलश ३९	
२२.	गाथा २६.....	४७१
	कलश ४०	
२३.	गाथा २७.....	४८३
	कलश ४१	
२४.	गाथा २८.....	४९९
	कलश ४२	
२५.	गाथा २९.....	५०४
	कलश ४३ से ४५	
२६.	गाथा ३०.....	५१५
	कलश ४६	
२७.	गाथा ३१.....	५२३
	कलश ४७	
२८.	गाथा ३२.....	५२८
	कलश ४८ से ४९	
२९.	गाथा ३३.....	५३५
	कलश ५०	
३०.	गाथा ३४.....	५३९
	कलश ५१	
३१.	गाथा ३५ से ३६.....	५४४
	कलश ५२	
३२.	गाथा ३७.....	५४८
	कलश ५३	
३३.	परिशिष्ट : कारणशुद्धपर्याय.....	५५२



नमः सिद्धेभ्यः

प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि

(नियमसार प्रवचन)

(भाग-१)

१

जीव अधिकार

प्रथम, ग्रन्थ के आदि में श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्राकृतगाथाबद्ध इस 'नियमसार' नामक शास्त्र की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत टीका के रचयिता मुनि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव सात श्लोकों द्वारा मंगलाचरणादि करते हैं —

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥१॥

(हरिगीतिका)

जो भवजयी होकर प्रकाशित, सुगत शिव गिरिधर कहो ।
वागीश अथवा जिनप्रभू की, वन्दना करता अहो ॥
आपके होते हुए क्यों नमूँ, मुझ-सम हीन जो ।
मोहवश अरु कामवश शिव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध को ॥१॥

श्लोकार्थ :- हे परमात्मा! तेरे होते हुए मैं अपने जैसे (संसारियों जैसे) मोहमुग्ध और कामवश बुद्ध को तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को क्यों पूजूँ ? (नहीं पूजूँगा) जिसने

भवों को जीता है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ। उसे प्रकाशमान ऐसे श्रीजिन कहो, सुगत^१ कहो, गिरिधर^२ कहो, वागीश्वर^३ कहो या शिव^४ कहो ॥१॥

(अनुष्टुप)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम्।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(दोहा)

जो श्री जिन-मुख-कमल का, वाहन है अभिराम।
दो नय से सबकुछ कहे वाणी उसे प्रणाम ॥२॥

श्लोकार्थ :- वाचंयमीन्द्रों^५ का (जिनदेवों का) मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है, उस वाणी की (जिन भगवन्तों की स्याद्वादमुद्रित वाणी की) मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम ॥३॥

(हरिगीतिका)

सिद्धांतरूपी श्रीपति हैं सिद्धसेन मुनीन्द्र जो।
अकलंक मुनिवर तर्करूपी पंकजों को सूर्य जो ॥

१. बुद्ध को सुगत कहा जाता है। सुगत अर्थात् (१) शोभनीकता को प्राप्त अथवा (२) सम्पूर्णता को प्राप्त। श्री जिनभगवान (१) मोहरागद्वेष का अभाव होने के कारण शोभनीकता को प्राप्त हैं और (२) केवलज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है इसलिए सम्पूर्णता को प्राप्त हैं; इसलिए उन्हें यहाँ सुगत कहा है।
२. कृष्ण को गिरिधर (अर्थात् पर्वत को धारण कर रखनेवाले) कहा जाता है। श्री जिनभगवान अनंत वीर्यवान होने से उन्हें यहाँ गिरिधर कहा है।
३. ब्रह्मा को अथवा बृहस्पति को वागीश्वर (अर्थात् वाणी के अधिपति) कहा जाता है। श्री जिनभगवान दिव्यवाणी के प्रकाशक होने से उन्हें यहाँ वागीश्वर कहा है।
४. महेश को (शंकर को) शिव कहा जाता है। श्री जिनभगवान कल्याणस्वरूप होने से उन्हें यहाँ शिव कहा गया है।
५. वाचंयमीन्द्र=मुनियों में प्रधान अर्थात् जिनदेव; मौन सेवन करनेवालों में श्रेष्ठ अर्थात् जिनदेव; वाक्संयमियों में इन्द्र समान अर्थात् जिनदेव। (वाचंयमी=मुनि; मौन सेवन करनेवाले; वाणी के संयमी।)

पूज्यपाद मुनीन्द्र हैं जो शब्द-सिन्धु चन्द्र सम।
वन्दन इन्हें, इन गुण सहित मुनि वीरनन्दि को नमन ॥३॥

श्लोकार्थ :- उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र की, तर्ककमल^१ के सूर्य भट्ट अकलंक मुनीन्द्र की, शब्दसिन्धु^२ के चन्द्र पूज्यपाद मुनीन्द्र की और तद्विद्या से (सिद्धान्तादि तीनों के ज्ञान से) समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ ॥३॥

(शालिनी)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

(दोहा)

भव्यजनों की मुक्ति को, अरु आत्म की शुद्धि।
नियमसार टीका कहूँ, यह तात्पर्यवृत्ति ॥४॥

श्लोकार्थ :- भव्यों के मोक्ष के लिए तथा निज आत्मा की शुद्धि के हेतु नियमसार की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका मैं कहूँगा ॥४॥

किंच च -

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

(वीरछन्द)

गुणभूषण गणधर से विरचित श्रुतधर परम्परा से व्यक्त।
परमागम के अर्थकथन में मन्दबुद्धि हम तो असमर्थ ॥५॥

पुनश्च -

श्लोकार्थ :- गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मन्दबुद्धि तो कौन ? ॥५॥

१. तर्ककमल के सूर्य=तर्करूपी कमल को प्रफुल्लित करने में सूर्य समान।

२. शब्दसिन्धु के चन्द्र=शब्दरूपी समुद्र को उछालने में चन्द्र समान।

अपि च -

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥

(दोहा)

परमागम के सार की पुष्ट रुचि का वेग ।
प्रेरित होता आज मन पुनः पुनः अतिवेग ॥६॥

तथापि -

श्लोकार्थः :- इस समय हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः-पुनः अत्यन्त प्रेरित हो रहा है । (उस रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है ।) ॥६॥

(अनुष्टुभ्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रिया ॥७॥

(वीरछन्द)

सूत्रकार ने प्रथम कहे छहद्रव्य और पञ्चास्तिकाय ।
साततत्त्व अरु नवपदार्थ सत्क्रियारूपमय प्रत्याख्यान ॥७॥

श्लोकार्थः :- सूत्रकार ने पहले पाँच अस्तिकाय, छहद्रव्य, साततत्त्व और नवपदार्थ तथा प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है । (अर्थात् भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र में प्रथम पाँच अस्तिकाय आदि और पश्चात् प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है ।) ॥७॥

कलश १ पर प्रवचन

देखो, इस नियमसार शास्त्र की टीका का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है । श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, जोकि भावलिंगी संत-मुनिवर हैं, वनवासी हैं, वे स्वयं अब श्लोक द्वारा मंगलाचरण करते हैं ।

अहाहा..... ! क्या कहते हैं ? कि त्वयि सति परमात्मन् - हे परमात्मा ! तेरी हयाती

(विद्यमानता) होने पर भी..... क्या कहा? कि भगवान! आप सर्वज्ञ-वीतराग परमेश्वर हैं, तो ऐसे आपके होने पर भी हम अन्य को (संसारी को) कैसे वंदन करें? लो, ऐसा कहते हैं। 'त्वयि सति' ऐसा है न! आशय यह है कि हे नाथ! आपके होते हुए.... अर्थात् जिनके अन्दर पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई है, पूर्ण वीतरागता प्रगट हो गई है और परमज्ञान और आनन्द की दशा प्रगट हो गई है — ऐसे आपके होने पर भी.....अर्थात् ऐसा आपका अस्तित्व होने पर भी हम अन्य को (रागी-अल्पज्ञ को) वंदन कैसे करें? नहीं करेंगे। अहाहा.....! पूर्ण ज्ञानानन्द का सागर और अनन्तसुख से भरा प्रभु आपके मौजूद होने पर भी मैं 'मादृशान्' मेरे जैसे (संसारियों जैसे) अन्य को कैसे नमन करूँ। अहा.....! स्वयं है तो मुनिराज, परन्तु किंचित् अल्प (संज्वलन) राग है न! इसलिए कहते हैं कि मेरे समान संसारी-रागी प्राणियों को मैं कैसे भजूँ, क्यों नमूँ? (आशय यह है कि संसारी प्राणी तो रागी ही हैं, इसलिए इसप्रकार संसारियों के प्रति विनय-भक्ति का निषेध किया।)

प्रश्न :— तेरी (परमात्मा की) विद्यमानता होने पर भी — ऐसा कहा, परन्तु वर्तमान में यहाँ (भरतक्षेत्र में) परमात्मा की विद्यमानता तो नहीं है न ?

उत्तर :— हाँ, वर्तमान में यहाँ परमात्मा की विद्यमानता नहीं है; परन्तु अन्यत्र परमात्मा की विद्यमानता है, महाविदेहक्षेत्र में सीमंधरादि परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। अहा! भगवान 'त्वयिसति' तेरी हयाती-तेरी विद्यमानता में, मैं अन्य जो भान बिना के संसारी अज्ञानी जीव हैं, उनको 'कथम् यजेऽहम्' मैं कैसे भजूँ? कभी नहीं भजूँगा।

कैसे हैं वे संसारी ? तो कहते हैं — 'मोहमुग्धान्' मोह से मुग्ध-पागल हुए और 'अवनुवशत्वाम्' काम के वश हुए हैं। पाठ में 'अतनु' शब्द है न। कामदेव को 'अतनु' शरीर रहित 'काय' ऐसा कहने में आता है न। अहाहा.....! मैं ऐसे मोह से मुग्ध-भ्रान्ति में स्थित और काम के वश हुए, बुद्ध को तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को क्यों पूजूँ? अहा! सब क्षणिक है — ऐसा माननेवाले बुद्ध मोहमुग्ध हैं, वे मिथ्यात्व और राग के ही वश-आधीन हुए हैं। अहा! जो स्ववश नहीं है, अपितु मोह के और काम के ही वश हुए हैं — ऐसे बुद्ध को तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को मैं क्यों पूजूँ? (नहीं पूजूँगा) यह विवेक बताया है, उनसे द्वेष है — यह बात नहीं है।

हे प्रभो! क्योंकि आपने सच्चिदानन्दस्वरूप निज आत्मा में अन्तर एकाकार होकर

परम वीतराग-सर्वज्ञरूप परमात्मदशा प्रगट की है, इसलिए मैं आपको छोड़कर इन मोहमुग्ध-भ्रम में स्थित और काम के वशीभूत हुए ऐसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि को क्यों पूजूँ ? प्रभु! आपके होते अन्य को क्यों पूजूँ ?

तब किसको पूजूँ ? वह अब कहते हैं।

‘जितभवमभि वंदे’ जिन्होंने भवों को जीता है, उन्हें मैं वंदता हूँ। देखो! यहाँ से ही पहली शुरूआत की है। पंचास्तिकाय में भी पहली ही गाथा में आया है न कि ‘णमो जिणाणं जिदभवाणं।’ अहाहा.....! जिन्होंने भव को जीता है अर्थात् जिन्होंने भव का अभाव किया है — ऐसे ‘जिन’ की मैं वंदना करता हूँ। यही शैली यहाँ (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने) ली है।

अहा.....! जिसको भव ही नहीं है — ऐसे आत्मा को आपने प्रगट किया है अर्थात् आप परमवीतराग सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए, इसलिए मैं आपकी ही वंदना करता हूँ। (आप एक ही मुझे पूजनीय हो।) अहाहा.....! किसी को भी यदि कुछ करने योग्य हो तो यही है कि भव का अभाव करना और स्वभाव की प्राप्ति करना; और वह तो हे जिनदेव! आपने किया है। आपने भव का अर्थात् चारगति का छेद (अभाव) किया है और आप परमपद-निजपद को प्राप्त हुए हैं। इसलिए हे देव! आप ही पूजनीय हैं।

अहाहा.....! ‘जितभवम्’ शब्द से ही पहली शुरूआत की है। इसका अर्थ है कि जिसने भव को जीता है (भव का अभाव किया है।) — ऐसे जिन की मैं वंदना करता हूँ। ऐसे जिन का मैं आदर करता हूँ; परन्तु जिसको भव है, जो भवलीन हैं — ऐसे जीवों को मैं क्यों वन्दूँ? नहीं वन्दूँ; क्योंकि वे तो मोहवश चारगति में परिभ्रमण करनेवाले हैं। आहाहा.....! भव के अभाव का प्रयोजन है न! इसीलिए मुनिराज कहते हैं कि जिन्होंने भव को जीता है — ऐसे ‘जितभवम्’ जिन की मैं वंदना करता हूँ। समझ में आया.... ?

अब कहते हैं कि जिन्हें मैं वंदना करता हूँ, उन्हें ‘प्रकाशमान ऐसे श्री जिन कहो’ अन्दर है न! अन्तिम लाइन के अन्तिम शब्द हैं कि ‘भासुरं श्रीजिनं वा’ अर्थात् जिन्होंने भव को जीता है और आत्मा की पूर्ण प्राप्ति की है — ऐसे परम पुरुष को ‘प्रकाशमान श्रीजिन’ कहो या अन्य कहो, उन्हें मैं वंदन करता हूँ। इसप्रकार प्रथम मांगलिक श्लोक में देव को वंदन करते हैं। यहाँ देव का क्या स्वरूप है, यह भलीभाँति

जानकर वंदन करते हैं। स्वयं को भी भव का अभाव करना है, इसलिए कहते हैं कि जिनने भव का अभाव किया है — ऐसे परम पुरुष को ही मैं वंदन करता हूँ, चाहे प्रकाशमान श्रीजिन कहो या अन्य कहो।

अहा.....! जिनके भव का अभाव हुआ और पूर्ण आत्मोपलब्धि हुई है — ऐसे पूर्णदशावंत पुरुष को 'प्रकाशमान श्रीजिन' कहो, या 'सुगत' कहो, उन्हें मैं वंदन करता हूँ। ऐसी दशावंत को ही, अन्य जो लौकिक में सुगत कहते हैं वह सुगत नहीं है। बुद्ध को भी सुगत कहते हैं; परन्तु वह सुगत नहीं है। देखो! सुगत का अर्थ यह है कि सु+गत अर्थात् —

(१) शोभनीकता को प्राप्त अथवा

(२) सम्पूर्णता को प्राप्त।

यह दूसरे बुद्ध हैं, वे सुगत नहीं हैं। अहा.....! जो शोभनीकता और सम्पूर्णता को प्राप्त हो, उसे सुगत कहते हैं।

श्री जिनभगवान मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण शोभनीकता को प्राप्त हैं। आहाहा....! हे नाथ! आपके किंचित् भी मोह-राग-द्वेष नहीं है, इसलिए आप परम शोभा को प्राप्त हो। (आप दोषरहित निर्दोष, जगत के भूषण हो।) यह समवसरण है और इन्द्र आपको वंदन करते हैं, इसलिए आप शोभनीक हो — ऐसा नहीं है; परन्तु आप सर्वथा मोह-राग-द्वेष से रहित परमवीतराग, परमनिर्दोष, परमानंदमय, परमइष्टदशा को प्राप्त हुए हो, इसलिए आप शोभनीक हो, सुगत हो। इसप्रकार श्रीजिन ही सुगत हैं।

तथा श्रीजिनभगवान केवलज्ञानादि को प्राप्त हुए होने के कारण सम्पूर्णता को प्राप्त हैं, इसलिए सुगत हैं। अहा.....! अन्दर वस्तु तो स्वभाव से पूर्ण थी ही। उसमें से (उसके पूर्ण आश्रय से) पूर्ण पर्याय प्रगट करके श्री जिनभगवान केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य — इसप्रकार अनंतचतुष्टय द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुए हैं; इसलिए सम्पूर्णता को प्राप्त श्री जिनभगवान सुगत हैं। अहाहा.....! परमशोभनीकता और सम्पूर्णता को प्राप्त श्रीजिन या सुगत को मैं वंदन करता हूँ — ऐसा कहते हैं।

अहा! केवलज्ञान, केवलदर्शन पर्याय की अस्ति की प्रतीति होना अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत-आनंद, अनंतवीर्य आदि पूर्ण पर्याय का अस्तित्वपना है — ऐसी

महान अलौकिक सत्ता जगत में है — ऐसा प्रतीति में आना, यह असाधारण बात है। अहाहा...! यहाँ कहते हैं कि प्रभु! ऐसे आपके होने पर भी मैं अर्थात् ऐसे अस्तित्व का अन्दर में स्वीकार हुआ है तो फिर मैं अन्य को-संसारियों को वंदन कैसे करूँ ?

‘सुगतम् अगधरं वा’ — ऐसा पद है न ? तात्पर्य यह है कि श्रीजिन को ‘अगधर’ नाम से कहो तो कहो, उन्हें मैं वंदन करता हूँ। अगधरं माने क्या? अग अर्थात् अ+ग=जिसको गति/गमन नहीं है — ऐसा महान पर्वत और धर माने धर रखनेवाला। आशय यह है कि भगवान को अगधर अर्थात् गिरिधर भले ही कहो; परन्तु ऐसे श्रीजिनभगवान को! वैसे तो लोक में श्री कृष्ण को गिरिधर कहा जाता है; परन्तु वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो श्रीजिनभगवान अनंतवीर्यवान होने से उनको गिरिधर कहा है। अहाहा.....। जो अनंतबल शक्तिरूप से था, उसको भगवान ने प्रगट किया है और उसके द्वारा निज अनंतस्वरूप की रचना धारण की है, इसलिए भगवान को गिरिधर कहा जाता है। क्या कहा ? अहाहा....। प्रकट अनंतवीर्य द्वारा निज अनंतस्वरूप की रचना व अनंतगुण-पर्यायों को भगवान ने धार रखा है, इसलिए उनको गिरिधर-अगधर कहा जाता है।

भाई! अपने ज्ञान में निःसंदेह इसका माप आना चाहिए कि ऐसे भगवान हैं। ऐसे भाव के धारक परमात्मा हैं। ‘त्वयि सति परमात्मन्’ — ऐसा कहा है न? अर्थात् हे परमात्मा! ऐसे आपके विद्यमान होते हुए अब हम अन्य को कैसे वंदे? हम तो तुम्हारे ही सेवक हैं। अहाहा...। ऐसा (अनंतचतुष्टयमय) स्वभाव जिसने प्राप्त किया है, उनके हम सेवक हैं, हम अन्य की सेवा कैसे करें ?

अब कहते हैं कि भले ही श्रीजिन को ‘वागीश्वर’ कहो। कहा है न ‘वागधीशं’ वागधीश अर्थात् वागीश्वर। यहाँ वागीश्वर माने बाघ पर बैठनेवाले — यह अर्थ नहीं है; परन्तु वागीश्वर अर्थात् वाक्+ईश्वर=वचन के ईश्वर। हे भगवान! आप वचन के ईश्वर हैं — यह बात (आशय) है। अहाहा.....। सर्वांग से प्रगटित ओमध्वनि-दिव्यध्वनि प्रभु! आपके ही होती है। देखो, फुटनोट में अर्थ दिया है — “ब्रह्मा को अथवा बृहस्पति’ को वागीश्वर (वाणी के अधिपति) कहा जाता है। श्री जिनभगवान दिव्यवाणी के प्रकाशक होने से यहाँ उनको वागीश्वर कहा है। अहा... हे जिनभगवान! आप परमवीतराग, सर्वज्ञ, अनंतचतुष्टयधारी हैं, तदुपरांत आप दिव्यध्वनि के धरनेवाले हैं, दिव्यध्वनि के

प्रकाशक हैं — ऐसा कहते हैं। यहाँ भगवान की परमहितकारी वाणी को स्मरण करके कहते हैं कि प्रभु! ऐसी दिव्यवाणी आपके ही होती है, इसलिए आप वागीश्वर हो। स्तवन में आता है न कि —

“नमो देवी वागेश्वरी जैन वाणी”

वागेश्वरी अर्थात् वाक्+ईश्वरी। प्रभु! वाणी में ईश्वर ऐसी दिव्यध्वनि के आप प्रकाशक हैं, इसलिए आप ही वाणी के स्वामी हैं। अहो! पूर्णानन्दप्रभु की वाणी में पूर्णता ही आती है। अहो! जो भव्यजीव उसको सुनते हैं, उनका कल्याण हो जाए — ऐसी अलौकिक दिव्यध्वनि होती है। अहा! इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव वागीश्वर हैं। ये सब नाम उनको ही लागू पड़ते हैं; परन्तु अन्य किसी को लागू नहीं पड़ते।

अब कहते हैं कि श्रीजिन को भले ही ‘शिव’ कहो। शिव का अर्थ है कल्याणस्वरूप। भगवान श्रीजिन शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। फुटनोट में शिव का अर्थ किया है कि ‘महेश (शंकर) को शिव कहा जाता है। यहाँ श्री जिनभगवान कल्याणस्वरूप होने से उनको शिव कहा गया है।’ अहा..! पूर्णानंद को प्राप्त, हे जिनभगवान! आप परम-कल्याणस्वरूप हो। ‘नमोत्थुणं’ में आता है न कि ‘सिवमयलमरुषमर्णते’ अर्थात् हे परमात्मा! आप शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप हो। अहा! आपको पूर्णज्ञान और पूर्ण-आनंद प्रगट हुआ है और आपके रागकण भी नहीं है। आपने ऐसा परम-वीतरागतामय परमात्मपद प्रगट किया है। इसलिए हे भगवान! आप ही शिवशंकर हो। इसप्रकार परम-वीतराग, सर्वज्ञ, कल्याणस्वरूप, परमहितकारी — ऐसे श्री जिनपरमेश्वर को मैं वंदता हूँ; परन्तु अन्य को क्यों वन्दूँ ? ऐसा कहते हैं।

इसप्रकार पहले श्लोक (कलश) का अर्थ हुआ, जिसमें देव का स्वरूप प्रगट करके मांगलिक किया।

कलश २ पर प्रवचन

क्या कहते हैं ? ‘वाचंयमीन्द्राणां’ वाचंयमीन्द्रों का — वाचंयमीन्द्र अर्थात् वाणी के यमिओं में इन्द्र, वाणी के मौन में इन्द्र। वाचंयमी अर्थात् वाणी में मौन धरनेवाले ऐसे जो मुनिवर वे और उनमें इन्द्र माने जिनदेव.....समझ में आया ?

लो, एक ओर ऐसा कहना कि भगवान! आप वागीश्वर-वाणी के प्रकाशक हो और यहाँ कहते हैं कि जिनदेव वाणी के संयमियों में प्रधान हैं — यह कैसा? (अर्थात् यह कैसा विरोधाभास है ?)

समाधान यहाँ है कि भाई! आत्मा तो वाणीरहित मौन ही है। वाणी तो वाणी के कारण से निकलती है। (वाणी आत्मा की कहाँ है ?) भगवान को वाणीश्वर कहना तो निमित्तपरक कथन की पद्धति है। वाणी कहीं भगवान की (भगवान के आत्मा की) वस्तु नहीं है। भगवान तो वाणीरहित मौन ही हैं; इसीतरह यह आत्मा भी वाणीरहित मौन ही है। आत्मा में वाणी या विकल्प कहाँ है ? सूक्ष्म बात है प्रभु!

अहाहा.....! वाचंयमीन्द्रों का — वाचंयमी अर्थात् मौनसेवक वाणी के संयमी मुनिवरों में प्रधान-श्रेष्ठ — ऐसे जिनदेवों का मुखकमल जिसका वाहन है..... क्या कहा ? जिनदेवों का मुखकमल वाणी का वाहन है। अहा.....! भगवान के तो दिव्यध्वनि होती है (और वह भी सर्वांग से प्रगट होती है); परन्तु यहाँ मुखकमल को वाणी का वाहन कहा है। पंचास्तिकाय में भी कहा है कि 'श्रमण के मुख में से निकला हुआ अर्थमय.....' अर्थात् मुखरूपी कमल में से प्रभु! आपकी वाणी निकलती है। यहाँ भी यही शैली ली है। भगवान तो मौन ही होते हैं और ओमध्वनि सम्पूर्ण शरीर (सर्वांग) में से निकलती है; परन्तु लोग मुख की मुख्यता से भाषा कहते हैं न, इसी अपेक्षा से यहाँ यह शैली ली है।

अहा! जिनदेवों का मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है.....।

प्रश्न :— देखो, इसमें दो नयों द्वारा वाणी में कथन आता है — ऐसा कहा है न?

समाधान :— हाँ भाई, दो नयों द्वारा सर्वस्व कहने की पद्धति है, इससे कौन इंकार करता है? वाणी में दो नयों द्वारा कथन होता है। कथन तो द्रव्य और पर्याय का, निश्चय और व्यवहार का — इसतरह दोनों का होता है न? यदि नहीं हो तो एकान्त हो जायेगा। और दोनों नयों का कथन है, इसलिए तो उनमें एक नय आदरणीय है और दूसरा नय छोड़ने योग्य है, और तभी दो नय सिद्ध होते हैं। यदि दोनों नय समान ही (उपादेय) हों तो दो भेद पड़े ही क्यों? अहा! द्रव्य त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा उपादेय है — हे प्रभु ऐसी वाणी भी आपकी है तथा एकसमय की पर्याय है, रागादि का अस्तित्व

है और उनको हेय बतलावे — ऐसी वाणी भी प्रभु! आपकी ही है। अहो! दिगम्बर संत-मुनिवरो ने जंगल में रहकर कैसी अद्भुत अलौकिक बातें की हैं।

कहते हैं — जिनदेवों का मुखकमल वाणी का वाहन है और दो नयों के आश्रित सर्वस्व कहने की पद्धति है। भाषा ऐसी है न? 'वाच्यसर्वस्वपद्धतिम्' अर्थात् सर्वत्र दो नय होते हैं। मोक्षमार्ग, तो कहते हैं दो, सम्यग्दर्शन कहे तो दो, सम्यग्ज्ञान कहे तो दो, चारित्र कहे तो दो- इसप्रकार सर्वत्र दो प्रकार से कथन को वाणी में कहने की पद्धति है। अर्थात् दो नय हैं।

प्रश्न :— तो फिर क्रमबद्ध में भी पर्याय क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध — ऐसे दो प्रकार चाहिए न ?

समाधान :— भाई! पर्याय तो क्रमबद्ध ही है; परन्तु स्वयं की अपेक्षा से उसको क्रम कहते हैं, जबकि अन्य की अपेक्षा से उसको अक्रम कहते हैं। तथापि अक्रम माने उसके क्रम में फेरफार होता है — ऐसा नहीं है। इसप्रकार यह दो नयों का कथन है। जैसे स्वद्रव्य को स्वयं की अपेक्षा से द्रव्य कहा जाता है और परद्रव्य की अपेक्षा से उसको अद्रव्य कहा जाता है, इसीप्रकार स्वयं की अपेक्षा से पर्याय क्रम से है और अन्य की पर्याय की, जोकि उसके क्रम में होती है, उसकी अपेक्षा अक्रम से है अर्थात् उसका यह क्रम नहीं है अथवा दूसरे प्रकार से कहें तो सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं और गुण अक्रम हैं। गुण अक्रम हैं अर्थात् एकसाथ हैं, जबकि पर्याय क्रम से एक के बाद एक हैं। इसप्रकार दो नयों का कथन है।

भाई! वीतराग परमेश्वर की तो दो नयों के आश्रित सर्वस्व कहने की पद्धति है। स्व से अस्ति और पर से नास्ति, स्व से अस्ति वह निश्चय है और पर से नास्ति — यह व्यवहार हो गया। इसप्रकार सर्वत्र दो नयों द्वारा कहने की पद्धति है। **नयद्वयायत्तवाच्य-सर्वस्वपद्धतिम्** ऐसा है न ? अर्थात् कथन की पद्धति-निरूपण की शैली दो प्रकार से हैं। कथन के दो प्रकार हैं — द्रव्य से और पर्याय से, भेद से और अभेद से; निश्चय से और व्यवहार से — इसतरह दो प्रकार से निरूपण है। अहाहा.....! कहते हैं — इसप्रकार दो प्रकार से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है, उस वाणी को (जिनभगवंतों की स्याद्वादमुद्रित वाणी को) मैं वंदन करता हूँ।

पहले देव की पहिचान करके वंदन किया और अब वाणी की पहिचान करके जिनवाणी को वंदन किया है। समयसार में भी आता है कि 'अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम' — वहाँ भी वाणी को नमस्कार किया है। भगवान की वाणी निमित्तरूप है न! अहाहा.....! स्वभाव में जा..... स्वभाव में जा और विभाव से हट.....हट.... ऐसी वीतरागपरमेश्वर की वाणी है। अहा.....! ऐसी जिनभगवंतों की स्याद्वादमुद्रित वाणी को मैं वंदन करता हूँ — ऐसा कहते हैं।

कलश ३ पर प्रवचन

अब गुरु को वंदन करते हैं —

देखो, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महामुनिवर-संत हैं, वे अपने गुरु को वंदन करते हैं और साथ ही साथ अन्य भी जो गुरुपद में हैं, उन सबको वंदन करते हैं। कहते हैं कि उत्तमसिद्धान्तरूपी स्त्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र को अर्थात् जिन्होंने उत्तमसिद्धांत सिद्ध-प्रसिद्ध किये हैं — ऐसे सिद्धसेन मुनीन्द्र की 'वंदे' मैं वंदन करता हूँ। अब यह पढ़कर कोई अज्ञानी ऐसा कहता है कि देखो, श्वेताम्बर में 'सन्मतितर्क' के रचयिता जो सिद्धसेन हुए हैं, उन्हें यहाँ वंदन करते हैं; परन्तु भाई! ऐसा नहीं है, ये तो दिगम्बर संत सिद्धसेन, जोकि उत्तमसिद्धान्तरूपी लक्ष्मी के स्वामी थे — ऐसे मुनीन्द्र सिद्धसेन को यहाँ को वंदन करते हैं। अहा.....! वंदन करनेवाले दिगम्बर संत महामुनि हैं, वे अन्य को वंदन कैसे करेंगे? अहा! जगत को कठिन पड़े — ऐसा मार्ग है; परन्तु बापू! सत्य तो ऐसा ही होता है न? यह सत्य है।

अब कहते हैं — तर्ककमल के सूर्य भट्ट अकलंक मुनीन्द्र को मैं वंदन करता हूँ। क्या कहा? 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' के रचयिता भट्ट अकलंकदेव महामुनिवर हो गये हैं। वे तर्करूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य समान थे। अहा.....! यहाँ ऐसे महान समर्थ मुनिवर को वंदन करते हैं।

तथा कहते हैं कि शब्दसिन्धु के चन्द्र पूज्यपाद मुनीन्द्र की मैं वंदना करता हूँ। पूज्यपादस्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की है। इस सर्वार्थसिद्धि में मानों शब्दसिन्धु ही उछला न हो ? जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा प्रगट होने पर समुद्र उछलता है, इसीतरह चन्द्रमा समान पूज्यपाद स्वामी के निमित्त से सर्वार्थसिद्धि

में शब्दसिन्धु उछला है; इसलिए कहते हैं कि शब्दसिन्धु के चन्द्र अर्थात् शब्दसिन्धु को उछालने के लिए चन्द्रमा के समान श्री पूज्यपादस्वामी को मैं वंदन करता हूँ।

अब कहते हैं कि तद्विद्या से समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्र को मैं वंदन करता हूँ। अहा..! जो उत्तमसिद्धान्तरूपी स्त्री के पति भी हैं, तर्ककमल के सूर्य भट्ट अकलंकदेव जैसे भी हैं और शब्दसिन्धु के चन्द्र पूज्यपाद जैसे भी हैं। अहा...! ऐसे मेरे गुरु वीरनन्दि मुनीन्द्र को मैं वंदन करता हूँ।

इसप्रकार विनम्रभाव से भक्तिपूर्वक श्रीगुरु को वंदन किया है।

अब परमागम श्रीनियमसार में अधिकार (मूल गाथा) प्रारम्भ करने के पूर्व मांगलिक के काव्य कहते हैं, उनमें अब टीका करने की शुरुआत कैसे हुई, उसकी बात करते हैं।

कलश ४ पर प्रवचन

देखो, नियमसार सिद्धांतशास्त्र है। इसकी रचना भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने की है। नियमसार माने मोक्ष का मार्ग, मैं इसकी टीका किसलिए करता हूँ — यह बात अब टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं।

कहते हैं — ‘अपवर्गाय भव्यानां’ भव्यों के मोक्ष के लिए.....अहाहा...! जो लायक-भव्यप्राणी हैं, उनको परमसुख की प्राप्तिरूप जो मोक्ष है, उसके लिए मैं टीका करता हूँ तथा ‘शुद्धये स्वात्मनः पुनः’ तथा निज आत्मा की शुद्धि के लिए मैं यह टीका करता हूँ। अहा.....! टीका के काल में मेरा लक्ष्य स्वभावसन्मुख रहेगा। (स्वभाव के घोलन में रहेगा) और इससे शुद्धि होगी। लो, यह टीका करने का प्रयोजन। कोई ख्याति, लाभ, पूजा का प्रयोजन नहीं है, निज आत्मा की शुद्धि के लिए ही इस टीका की रचना है। यही शैली (समयसार के टीकाकार) श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी ली है। वे समयसार के कलश-३ में कहते हैं कि इस समयसार की व्याख्या से ही मेरी परम विशुद्धि होओ।

अहा..! भव्यों के मोक्ष के लिए तथा निज आत्मा की शुद्धि के लिए नियमसार की-मोक्षमार्ग का कथन करनेवाले इस परमागम की तात्पर्यवृत्ति नामक यह टीका मैं कहता हूँ। इस टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति है।

तात्पर्यवृत्ति माने क्या? तात्पर्य+वृत्ति अर्थात् तात्पर्य, जो सारभूत कहना है उसका,

वृत्ति अर्थात् परिणमन-परिणाम हो — ऐसी यह टीका मैं कहूँगा — ऐसा कहते हैं। समझ में आया..... ?

कलश ५ पर प्रवचन

देखो, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव प्रचुर अतीन्द्रिय आनंद में रहनेवाले, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते महामुनिवर दिगम्बर संत थे। वे स्वयं यहाँ कहते हैं — इस टीका का रचनेवाला मैं कौन ? ‘के अयं मन्दा’ ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि इस टीका का अर्थ तो गुण के धरनेवाले गणधरों से रचित है। पाठ है न अन्दर ? ‘गुणधरगणधररचितं’ — इसलिए कहते हैं कि ये अर्थ मैंने घर के (कल्पित) किये हैं — ऐसा नहीं है। अहा! टीका में ऐसा तो प्रबल आधार देते हैं। (परन्तु क्या हो सकता है ? अज्ञानी मानते नहीं, न हठ छोड़ते हैं।)

अहा... ! भगवान के मुखकमल में से सूत्र-अर्थ निकले हैं और उन सूत्रों की रचना गणधरों ने की है। उन सूत्रों में यह अर्थसमूह गणधरों ने भरा है और श्रुतधरों की परम्परा से भलेप्रकार वह अर्थसमूह व्यक्त किया गया है। ‘श्रुतधरसन्तानतस्तुसुव्यक्तम्’ ऐसा पाठ है न ? अहा ! गणधरों से लेकर परम्परा से श्रुतधरों-श्रुत के धारक हुए हैं, उनकी परम्परा के संतों ने इस अर्थसमूह को भले प्रकार व्यक्त किया है और वह परम्परा से प्राप्त हुआ है — ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? कि ये अर्थ अच्छी तरह से (सम्यक् प्रकार से) व्यक्त किये गये हैं, कोई बात गुप्त नहीं रखी है। अहा ! श्रुतधरों की परम्परा से भले प्रकार व्यक्त किये गये ये अर्थ हैं। ये अर्थ मात्र मेरे द्वारा किये गये हैं — ऐसा नहीं हैं। ये तो आचार्यों की परम्परा से प्राप्त हुए अर्थ हैं।

अहा.. ! कहते हैं, इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में अर्थात् परमागम श्रीनियमसार के अर्थ का समूह कहने में ‘हम मंदबुद्धि तो कौन ?’ मैं टीका कहूँगा — ऐसा चौथे कलश में कहा है। अब यहाँ कहते हैं — हम मंदबुद्धिवाले तो कौन कि यह कह सकें। यह तो पूर्व में गणधरों ने और आचार्यों ने जो अर्थ भले प्रकार कहे हैं, वे इसमें (टीका में) हम कहनेवाले हैं।

अहा.... ! आगे (१००वीं गाथा में) स्वयं ही कहते हैं कि ‘परमागमरूपी पुष्परस, जिसके मुख में से झरता है — ऐसा पद्मप्रभ’ और यहाँ कहते हैं “हम मंदबुद्धि तो कौन ?” भाई ! हमारी बुद्धि मंद है।

गणधर और श्रुतधर आचार्यों के समक्ष हम मंदबुद्धि हैं। अहाहा....! 'वक्तुं ममुं के वयं मन्दा' हम मंदबुद्धिवाले तो कौन कि यह कह सकें ? देखो! कितनी निर्मानता है।

कलश ६ पर प्रवचन

देखो, पहले (चौथे श्लोक में) कहा कि भव्यों के मोक्ष के लिए तथा निज आत्मा की शुद्धि के अर्थ यह टीका रचता हूँ — ऐसे दो कारण कहे। अब तीसरा कारण कहते हैं। कहते हैं “इस समय हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः-पुनः अत्यंत प्रेरित हो रहा है।” अर्थात् परमागम के सार की अतिशय रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नामक यह टीका रची जा रही है। अहाहा....! कहते हैं — इस शास्त्र की टीका रचे — ऐसा विकल्प हमारे मन में बार-बार आ रहा है।

अहाहा....! परमागम का सार जो मोक्षमार्ग, उसकी अतिपुष्ट दृढरुचि होने से हमारा मन इसकी टीका रचने के प्रति पुनः-पुनः प्रेरित होता है, इसकी टीका रचे ऐसा पुनः-पुनः मन वहाँ जाता है और इसलिए यह टीका रची जाती है — ऐसा कहते हैं। अहा....! परमागम के सार के प्रति कैसी दृढरुचि! और उसकी टीका रचने के प्रति कैसा दृढमन। हमारा मन बारम्बार पुनः-पुनः प्रेरित होने से यह टीका रची जाती है। अहा! कितनी लघुता, कितनी नम्रता! (और कैसी सरलता!) अज्ञानी तो एक साधारण बात करने पर भी फूलकर कहने लगता है कि हम कहते हैं, हमको आता है, यह हमारा है इत्यादि।

यहाँ तो कहते हैं कि हमारे चित्त में इस परमागम के सार का ऐसा दृढरूप से घोलन चलता है कि हमको इसकी टीका रचने का विकल्प हो आता है और इसीलिए यह टीका रची जाती है।

इसीलिए टीका रची जाती है अर्थात् ?

अर्थात् कि परमागम के सार की पुष्ट रुचि से ऐसा विकल्प हो गया है, ऐसा मन हुआ करता है-अत्यन्त प्रेरित होता है, इसलिए टीका रची जाती है, वरना हमारा कोई हेतु नहीं है।

देखो न! गजब किया है न! कैसी अलौकिक टीका रची है। हमको (गुरुदेवश्री को) मन में किसी समय ऐसा लगता कि यदि इसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य द्वारा हुई होती तो; परन्तु जहाँ, जिसके निमित्त से, जो होना हो, वही होता है न? श्री अमृतचन्द्राचार्य को समयसार की टीका का विकल्प हुआ और नियमसार की टीका रचने की प्रेरणा नहीं हुई। जबकि टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव का मन नियमसार की टीका रचने के लिए पुनः-पुनः प्रेरित हुआ। वह तो जिसको, जिस जाति का विकल्प आना हो, वही आता है न! ऐसी बात है।

अहा...! भगवान आत्मा तो शुद्ध, चिन्मात्र, एक ज्ञानस्वभावी है। उसमें-स्वभाव में, शास्त्र की टीका रचूँ — ऐसा विकल्प नहीं है। यह विकल्प तो वर्तमान (पर्याय में) हो गया और इस टीका की रचना हो गई। भाई! हम तो ज्ञाता-दृष्टा हैं। ऐसा विकल्प आ गया है और टीका की रचना होती है, इसके हम तो ज्ञाता-दृष्टा हैं — ऐसी अन्तर्दृष्टि है मुनिवर की। समझ में आया..... ?

कलश ७ पर प्रवचन

संत-मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसमें कहते हैं कि सूत्रकार-सूत्र की रचना करनेवाले भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने (इस शास्त्र में) 'पूर्व में पाँच अस्तिकाय'- अर्थात् पहले कालद्रव्य के अतिरिक्त जीवास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय, 'छहद्रव्य' कालद्रव्य सहित जीवादि छहद्रव्य, 'साततत्त्व', पुण्य-पाप को आस्रव-बंध में अंतर्गर्भित करके जीवादि साततत्त्व और 'नवपदार्थ', आस्रव से पुण्य-पाप को भिन्न करके (बतलाकर) नवपदार्थ कहे हैं। ये सब पहले कहे हैं तथा 'प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया कही है' अर्थात् तत्पश्चात् प्रत्याख्यान, आलोचना, समाधि, परमभक्ति आदि सम्यक् सत्क्रिया का-निर्विकल्प क्रिया का कथन सूत्रकार ने किया है। इसप्रकार परमागम में वर्णन है।

अब मुनिवर कहते हैं 'अलम्-अलम् अति विस्तारेण' अतिविस्तार से बस होओ, बस होओ 'स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय' साक्षात् यह विवरण जयवंत वर्तो अर्थात् पाठ का (गाथा का) जो विवरण-विस्तार-स्पष्ट टीका होती है, वह जयवंत वर्तो अर्थात् यह भाव जो हम कहते हैं, वह भाव (वस्तु) नित्य रहो-जयवंत वर्तो। ●

नियमसार गाथा-१

अब (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित) गाथासूत्र का अवतरण किया जाता है—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१ ॥
नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ॥१ ॥

(हरिगीत)

नमकर अनन्तोत्कृष्ट दर्शन-ज्ञानमय जिन वीर को ।
कहूँ नियमसार सु केवली श्रुतकेवली परिकथित को ॥१ ॥

गाथार्थ :— अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है - ऐसे (केवलज्ञानी और केवलदर्शनी) जिन वीर को नमन करके केवली तथा श्रुतकेवलियों का कहा हुआ नियमसार मैं कहूँगा ।

टीका :— यहाँ “जिनं नत्वा” इस गाथा से शास्त्र के आदि में असाधारण मंगल कहा है ।

“नत्वा” इत्यादि पदों का तात्पर्य कहा जाता है —

अनेक जन्मरूप अटवी को प्राप्त कराने के हेतुभूत समस्त मोह-राग-द्वेषादिक को जो जीत लेता है वह “जिन” है । “वीर” अर्थात् विक्रान्त (पराक्रमी); वीरता प्रगट करे, शौर्य प्रगट करे, विक्रम (पराक्रम) दर्शाये, कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, वह “वीर” है । ऐसे वीर को जो कि वर्द्धमान, श्री सन्मतिनाथ, श्री अतिवीर तथा श्री महावीर — इन नामों से युक्त हैं, जो परमेश्वर हैं, महादेवाधिदेव हैं, अन्तिम तीर्थनाथ हैं, जो तीन भुवन के, सचराचर, द्रव्य-गुण-पर्याय से कहे जानेवाले समय को (समस्त द्रव्यों को) जानने-देखने में समर्थ ऐसे सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानदर्शन से संयुक्त हैं, उन्हें नमन करके कहता हूँ । क्या कहता हूँ ? “नियमसार” कहता हूँ । “नियम” शब्द प्रथम तो, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के लिए है । “नियमसार” (“नियम का सार”) ऐसा कहकर शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा है । कैसा है वह ? केवलियों तथा श्रुतकेवलियों

ने कहा हुआ है। “केवली” वे सकलप्रत्यक्ष ज्ञान के धारण करनेवाले और ‘श्रुतकेवली’ वे सकल द्रव्यश्रुत के धारण करनेवाले; ऐसे केवलियों तथा श्रुतकेवलियों ने कहा हुआ, सकल भव्यसमूह को हितकर, “नियमसार” नाम का परमागम मैं कहता हूँ। इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेवता का स्तवन करके, फिर सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरु ने प्रतिज्ञा की।

इसप्रकार सर्व पदों का तात्पर्य कहा गया।

अब, पहली गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :-

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः ।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८ ॥

(वीरछन्द)

शुद्धभाव के द्वारा जिनने काम शत्रु का किया विनाश ।
त्रिभुवन जन द्वारा जो पूजित पूर्ण ज्ञान है जिनका राज्य ॥
सुरगण जिनको करें नमन जो जन्मवृक्ष का बीज नशें ।
केवल-श्रीपति समवसरण के वासी प्रभु जयवन्त रहें ॥८ ॥

श्लोकार्थः— शुद्धभाव द्वारा मार* का (काम का) जिन्होंने नाश किया है, तीनभुवन के जनों को जो पूज्य हैं, पूर्णज्ञान जिनका एक राज्य है, देवों का समाज जिन्हें नमन करता है, जन्मवृक्ष का बीज जिन्होंने नष्ट किया है, समवसरण में जिनका निवास है और केवलश्री (केवलज्ञानदर्शनरूपी लक्ष्मी) जिनमें वास करती है, वे वीर जगत में जयवन्त वर्तते हैं ॥८ ॥

गाथा १ पर प्रवचन

देखो, गाथा में ‘केवलिसुदकेवलीभण्डं’ — ऐसा स्पष्ट आया है कि यह नियमसार केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित है। समयसार में ‘श्रुतकेवलीभण्डं’ श्रुतकेवली-

*मार=१. कामदेव, २. हिंसा, ३. मरण

कथित — ऐसा पाठ है। वहाँ 'केवलीकथित' — ऐसा स्पष्ट नहीं है; परन्तु उसकी टीका में टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्पष्ट कर दिया है कि (यह समयसार) सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत और श्रुतकेवली, गणधरों द्वारा कथित है। वहाँ समयसार में पद्य (गाथा) की रचना में 'श्रुतकेवली' शब्द ही आ सकने योग्य था; परन्तु अन्दर में आशय तो यही था कि यह केवली और श्रुतकेवली द्वारा कथित है। यहाँ नियमसार में स्पष्ट बात है न! अहा! यह नियमसार केवली परमात्मा और द्वादशांग के धारक श्रुतकेवलियों द्वारा कथित है और वही मैं कहूँगा — ऐसा (आचार्यदेव) कहते हैं।

अब अन्वयार्थः— 'अनंत और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन, जिसका स्वभाव है — ऐसे (केवलज्ञानी और केवलदर्शनी) जिनवीर को नमस्कार करके.....' देखो! समयसार में सिद्धभगवन्तों को वंदन किया है; परन्तु यहाँ इस शास्त्र में तो मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना है; इसलिए वर्तमान शासननायक श्री वीरभगवान को नमस्कार किया है। अहाहा....! जिन्होंने भव के भाव को जीता है अर्थात् भव का अभाव किया है — ऐसे श्री जिनवीर को नमन करके 'केवलीसुदकेवली भण्ड' केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित इस नियमसार को मैं कहूँगा। देखो, यहाँ केवली और श्रुतकेवली — ऐसे दो शब्द स्पष्ट अलग-अलग हैं। अहा.....! केवली परमात्मा ने और श्रुतकेवलियों ने, जो मोक्ष का मार्ग -नियमसार कहा है, वह मैं इस परमागम में कहूँगा — ऐसा कहते हैं। 'वक्ष्यामि' है न! अर्थात् मैं कहूँगा; परन्तु (केवली-श्रुतकेवलियों द्वारा) कथित है, वह कहूँगा। मेरा (अपने घर का) कुछ नहीं कहूँगा। केवली और मुनिवरों-श्रुतधरों ने जो कहा है, वह कहूँगा — ऐसा कहते हैं।

गाथा १ की टीका पर प्रवचन

यहाँ 'जिनं नत्वा' इस गाथा से शास्त्र के आरम्भ में आसाधारण मंगल कहा है।

क्या कहा ? 'णमिऊण जिणं' गाथा के प्रारम्भिक शब्द हैं न? 'जिन को नमस्कार करके' माने क्या ? परमवीतरागभाव को, भगवान वीतरागदेव को नमस्कार। अहाहा..! जिनके पूर्ण वीतरागता प्रगट हुई है — ऐसे श्रीजिन को नमस्कार। अहा! पहला ही 'जिन' शब्द लिया है। वस्तुस्वरूप से तो आत्मा जिनस्वरूप जिन ही है और जिनको पर्याय में राग-द्वेष-मोह रहित परमवीतराग-जिनदशा प्रगटी है, उनको नमस्कार करके.....ऐसा

कहकर आचार्यदेव ने शास्त्र की आदि (प्रारम्भ) में असाधारण मांगलिक किया है। अपने भी यह शास्त्र पोष शुक्ल एकम से शुक्लपक्ष के दिन से शुरू हुआ है न ? अर्थात् अंधकार गया और उजाला हुआ। अहा.....! देखो न! कैसा कुदरती मेल और संकेत। इसे करे कौन ? (यह तो सहज है।)

अब 'नत्वा' इत्यादि पद का तात्पर्य कहा जाता है —

टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति है न ? इसलिए प्रत्येक शब्द का तात्पर्य कहा जाता है। तात्पर्य अर्थात् उसका सार।

(पहले जिन की व्याख्या करते हैं।) 'अनेक जन्मरूप अटवी को प्राप्त कराने के हेतुभूत.....' अहा! जो निजस्वरूप में नहीं — ऐसी अनेक जन्मरूप अटवी को अर्थात् चौरासी की अवतार-देहोंरूप महावन को प्राप्त कराने के निमित्तभूत — ऐसे समस्त मोह-राग-द्वेषादिक को जो जीतता है, वह "जिन" है। क्या कहा ? अंदर भगवान आत्मा जिनस्वरूप ही है। अहाहा...! जिसने ऐसे जिनस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय लेकर भव के कारणरूप मोह-राग-द्वेष को सम्पूर्णरूप से जीता है, उसको जिन कहते हैं। लो, यह जिन की व्याख्या। बापू! 'जिन' यह कोई सम्प्रदाय की चीज नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है; वस्तु की स्थिति है।

अहा! भगवान आत्मा शक्तिरूप से, सत्त्वरूप से, स्वभाव से जिनस्वरूप ही है। यदि वह जिनस्वरूप नहीं होवे तो जिनपर्याय प्रगट कहाँ से होगी ? इसलिए जिसने निजस्वभाव की शरण लेकर, समस्त मोह-राग-द्वेष को जीता है; वह 'जिन' है और ऐसे जिन को वीर कहते हैं। जिन है, वह वीर है।

अब वीर की व्याख्या करते हैं —

वीर अर्थात् वीरता प्रस्फुटित करे। अहाहा...! यह वीर की विशेष व्याख्या की, कि जो वीर्य की स्फुरणा करके अनंतगुण को रचता है और रागादिक को जीतता है, वह वीर है।

वीर अर्थात् शौर्य प्रस्फुटित करे। क्या कहा ? शौर्य-शूरवीरता को प्रस्फुटित करनेवाला वीर है।

वीर अर्थात् विक्रम (पराक्रम) को स्फुरित करे। पूर्व में विक्रम राजा हो गये हैं न ?

इसीतरह यह आत्मा भी राजा विक्रम है - ऐसा कहते हैं। पराक्रम को स्फुरित करनेवाला विक्रम है अर्थात् अनंतगुणस्वरूप निज आत्मा के सन्मुख होकर अनंतवीर्य की स्फुरणा करनेवाला विक्रम है। यहाँ विक्रम है, वह वीर है - ऐसा कहते हैं। निश्चय से तो भगवान आत्मा वीर विक्रमादित्य है।

अब कहते हैं कि कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला वीर है।

इसप्रकार इतने सब वीर के अर्थ किये। 'वीर अर्थात् विक्रान्त (पराक्रमी), वीरता स्फुरित करे, शौर्य प्रस्फुटित करे, विक्रम (पराक्रम) प्रस्फुटित करे, कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करे — वह वीर है।

'ऐसे वीर को, कि जो श्री वर्द्धमान' एक नाम वीर है और उनका वर्द्धमान भी नाम है। वे धर्म में वृद्धि को प्राप्त हुए हैं; इसलिए वर्द्धमान हैं। 'श्री सन्मतिनाथ'..... ऐसा भी नाम है। जब उन्होंने दीक्षा नहीं ली थी और बाल्यावस्था में थे, तब दिगम्बर भावलिंगी संत-मुनि ने उनको (उनके शरीर के) जहाँ देखा, वहीं उन मुनियों को जो संशय था; उसका समाधान हो गया। अतः उन्हें (वर्द्धमान को) सन्मतिनाथ-सन्मति देनेवाले कहा जाता है। 'श्री अतिवीर....' महापराक्रम किया है; इसलिए अतिवीर कहलाये। कथा में आता है न कि देव परीक्षा लेने आता है, तब स्वयं नाग पर चढ़ जाते हैं और इसीलिए महावीर कहलाये — इसप्रकार भगवान श्री महावीर के पाँच नाम थे — १. वीर, २. वर्द्धमान, ३. सन्मतिनाथ, ४. अतिवीर और ५. महावीर।

अहा...! भगवान महावीर इन नामों से युक्त हैं। और 'जो परमेश्वर हैं' — यह वीर की विशेषता है तथा 'महोदेवाधिदेव हैं' अर्थात् महादेव के भी देव हैं। तात्पर्य यह कि स्वर्ग के देवों के प्रधानदेव गणधर हैं और उनके देव श्री भगवान हैं; इसलिए महादेवाधिदेव हैं। तथा 'अन्तिम तीर्थनाथ हैं' अर्थात् तीर्थ के रक्षक हैं। साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका — ये तीर्थ और भगवान इनके नाथ हैं। नाथ किसे कहते हैं कि जो प्राप्त है, उसे बनाये रखे-रक्षण करे और जो अप्राप्त है, उसे प्राप्त कराये। भगवान महावीर प्राप्त धर्म की (तीर्थ की) रक्षा करनेवाले हैं और अप्राप्त को प्राप्त करानेवाले हैं। इसलिए वे तीर्थनाथ हैं। अहा.....! यह बात निमित्त अपेक्षा से है। श्री प्रवचनसार (गाथा १ से ५ तक) में भी आता है कि जिनका (भगवान महावीर का) का नाम ग्रहण (स्मरण) श्री श्रेष्ठ है, हितकर है।

प्रश्न :— एक ओर ऐसा कहते हो कि अन्य का नाम लेने से विकल्प उत्पन्न होता है और यह..... ?

समाधान :— सुन न बापू! विकल्प तो विकल्प है; परन्तु भगवान के नाम स्मरण के पीछे जो ज्ञान हुआ है, उसकी विशेषता है।

अब 'अणंतवरणाणदंसणसहावं' की व्याख्या करते हैं कि 'जो तीन भुवन के.....' उर्ध्व, मध्य और अधोलोक के 'सचराचर'.....चलते और स्थिर ऐसे 'द्रव्य-गुण-पर्याय से कहने में आते....' देखो! पहले से ही तीन (द्रव्य-गुण-पर्याय) शब्द आये। मतलब वस्तु, उसका भाव और उसकी दशा — इन तीनों से कहे जानेवाले 'समय को (समस्त द्रव्यों को) जानने-देखने में समर्थ — ऐसे सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान-दर्शन से संयुक्त हैं।' क्या कहा ? तीनलोक के समस्त सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने-देखने में समर्थ — ऐसे सकल-विमल केवलज्ञान-दर्शन से भगवान सहित हैं। अहाहा..! भगवान तीनकाल-तीनलोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानने-देखने की सामर्थ्य से सहित हैं। 'उन्हें-नमन करके कहता हूँ।' अहा! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं — ऐसे भगवान को प्रणाम करके-नमन करके-वंदन करके मैं कहता हूँ। 'क्या कहता हूँ ? नियमसार कहता हूँ।' अहा! ऐसे देवाधिदेव, तीनलोक के नाथ, सर्वज्ञ परमात्मा को प्रणाम करके, मैं यह नियमसार कहता हूँ।

देखो, समयसार में पहली गाथा में ऐसा लिया है कि मैं अनंतसिद्धों को अपने ज्ञान में स्थापित करता हूँ और यह 'वंदिन्तु' अर्थात् वंदन है। आशय यह है कि मैं अपने ज्ञान में अनंतसिद्धों का आदर करता हूँ — यह उनका वंदन है। वहाँ श्रोता से भी कहा है कि मैं अपने और तुम्हारे आत्मा में (ज्ञान में) अनंतसिद्धों को स्थापित करता हूँ और तुम भी अपने ज्ञान में अनंतसिद्धों को स्थापित करो। अहो! दिगम्बर संतों की क्या शैली है।

अब यहाँ कहते हैं — 'नियम शब्द प्रथम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए है।' ये कोई लोग पूछते हैं न कि तुम्हारे कोई नियम है ? उनसे यहाँ कहते हैं कि पर्याय में शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना नियम है। यह नियम लेनेयोग्य है। अहा! पूर्णानंद का नाथ भगवान आत्मा है, उसको नियम में लेना अर्थात् उसको श्रद्धान में लेना, ज्ञान में लेना और आचरण में लेना — यह नियम है। यह धर्म है और यह मार्ग है बापू!

अब 'सार' पद का अर्थ कहते हैं —

“नियमसार (नियम का सार) ऐसा कहने पर शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा है।” अहाहा.....! भगवान आत्मा, जो कि पूर्णानंदस्वरूपपने अस्ति है, सत्ता है, उसकी अन्तर्मुख होकर प्रतीति करना, उसका अन्तर्मुखाकार स्वसंवेदनपूर्वक ज्ञान करना और उसमें ही स्थिरता-लीनतारूप आचरण करना नियम है।

उस नियम को सार क्यों कहा ?

क्योंकि यहाँ शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहना है। अहा! नियम अर्थात् रत्नत्रय का स्वरूप और सार पद जोड़ने से शुद्धरत्नत्रय, इसमें व्यवहाररत्नत्रय समाहित नहीं होता अर्थात् इसमें व्यवहाररत्नत्रय का निषेध है - ऐसा कहना है।

अहाहा.....! भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु, एक ज्ञानानंद-चिदानंदस्वभाव है। अहा! उसके आश्रय से-स्वाश्रय से प्रगट, जो स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य; वह शुद्धरत्नत्रय है और यहाँ उसकी ही बात कहना है। रागरहित-मलरहित निर्मल शुद्धरत्नत्रय के स्वरूप को ही यहाँ कहना है। भले ही बीच में व्यवहार भी समझायेंगे; परन्तु वस्तु जो कहनी है, वह यह (शुद्धरत्नत्रय) है। अहा! भेद पाड़कर समझायेंगे; परन्तु समझाने में है त्रिकालशुद्ध चिन्मात्रवस्तु के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धरत्नत्रय। लो, यह वास्तविक मोक्ष का मार्ग!

अरे! विचारे जीव ऐसे मार्ग को समझे बिना संसार के दुःख में आकुलता में सिक रहे हैं।

प्रश्न :- हाँ; परन्तु पुण्य के योग से धन-पैसा हो और पुत्र-परिवार अनुकूल हो, वह तो सुखी है न?

समाधान :- भाई! तुझे इसके (पुण्य के योग) ऊपर लक्ष्य जाता है, वह मात्र आकुलता ही है प्रभु! अरे, यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु के प्रति लक्ष्य जाता है तो वह आकुलता है। इसलिए तो यहाँ उसकी बात नहीं करना है। उस व्यवहार की बात यहाँ नहीं करना है। (तथापि मुमुक्षु की भूमिका में देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति होती है।) अहाहा.....! अतीन्द्रिय आनंद का नाथ ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर विराजमान है। उसके आश्रय से जो अनाकुल-निराकुल अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है,

उसको यहाँ शुद्धरत्नत्रय कहते हैं और वही मोक्ष का मार्ग है। अरे! किन्तु अज्ञानी 'मुझे पर के बिना नहीं चलता' — ऐसा मानकर रंक-भिखारी होकर घूमता है और इसीलिए उसे अपनी महत्ता भासित नहीं होती कि मैं ऐसा महान ज्ञानानंदस्वरूपी आत्मा हूँ।

अहा....! कहते हैं नियम अर्थात् रत्नत्रय और सार अर्थात् शुद्ध। तात्पर्य यह है कि यहाँ शुद्धरत्नत्रय को नियमसार कहते हैं। जबकि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा आदिरूप, जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह तो अशुद्धरत्नत्रय है; बाह्यरत्नत्रय है, भेदरत्नत्रय है और ऐसे अन्य नाम द्रव्यसंग्रह में आते हैं। अहा...! यहाँ तो मुनि भगवान कहते हैं — हम तो शुद्ध चिदानंदस्वरूप निज आत्मा का जिसमें दर्शन-ज्ञान हो, साक्षात्कार हो और अनाकुल आनंदरस उत्पन्न हो — ऐसा शुद्धरत्नत्रय-शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को कहना चाहते हैं। अहा! आत्मा स्वयं सच्चिदानंद परमात्मा है; परन्तु अज्ञानी को राग की एकता की आड़ में उसके दर्शन नहीं होते। उसके दर्शन तो निजस्वभाव के एकत्व द्वारा ही होते हैं। अहा...! शुद्धस्वभाव का एकत्व होने पर ही शुद्धरत्नत्रय प्रगट होता है और वह अभ्यंतर मोक्ष का मार्ग है।

प्रश्न :— परन्तु इसमें व्यवहार के भेदों का भी वर्णन है ?

उत्तर :— व्यवहार निमित्त है न! परन्तु उस व्यवहार के द्वारा समझाना तो है अभेद, अखण्ड एकाकार आत्मा। व्यवहार बिना समझाना किसप्रकार ? देखो, ज्ञान के पाँच भेद हैं — ऐसा भेद करना व्यवहार है। वहाँ समयसार में (गाथा २०४ में) कहा है कि भेद-अभेद का अभिनंदन करते हैं। केवलज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्मलपर्याय, जो कि वृद्धिंगत होती जाती है, वह अभेदपने को सिद्ध करती है, अभेद का अभिनंदन करती है; भेद को प्रसिद्ध नहीं करती। भले ही निर्मलपर्याय वृद्धिंगत होती है; परन्तु वह अभेद को प्रसिद्ध करती है, एकत्व को सिद्ध करती है। ऐसा सूक्ष्म है बापू! (भेदरूप व्यवहार भी निश्चय अभेद को समझाने के लिए है।)

अहा! यहाँ कहते हैं कि 'केवलियों और श्रुतकेवलियों से कथित है' क्या ? कि नियमसार अर्थात् शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप। निजशुद्ध-परमात्मस्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान-रमणता, वह शुद्धरत्नत्रय है। यह शुद्धरत्नत्रय आत्मा की (आत्मारूप) निर्मलपर्याय है। लो, यह केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित बात है। रात्रि में कहा था न कि जैन-शासन वीतरागीपर्याय है , वह द्रव्य-गुण नहीं है, वह है तो पर्याय। निर्मलरत्नत्रय कहो,

शुद्धोपयोग परिणाम कहो, वह पर्याय है, वह जिनशासन है। वहाँ यह शुद्धोपयोग अभेद से जानता है तो ऐसा जानता है कि मैं ज्ञायकद्रव्य हूँ। जाननेवाली तो पर्याय है। द्रव्य को (निष्क्रिय को) जानपना कहाँ है? तथापि शुद्धरत्नत्रय की पर्याय ऐसा जानती-ध्याती है कि यह वस्तु मैं ज्ञायक हूँ। भाई! यह सूक्ष्म; परन्तु अन्तर की अलौकिक बात है। अहो! ऐसे शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप केवली और श्रुतकेवली भगवन्तों ने कहा है।

अब ये केवली और श्रुतकेवली कौन हैं तो कहते हैं — ‘केवली तो सकलप्रत्यक्ष ज्ञान के धारक.....’ देखो! इसका अर्थ यह हुआ कि नीचे के गुणस्थानों में भी थोड़ा प्रत्यक्षज्ञान होता है। अनुभव के काल में (वेदन अपेक्षा से) मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान भी पर को जानने में देश-आंशिक प्रत्यक्ष है और मनःपर्ययज्ञान भी पर को जानने में प्रत्यक्ष है; क्योंकि वह पर की सहायता के बिना जानता है; परन्तु वह मन का एक प्रकार है; इसलिए उसको परोक्ष भी कहते हैं। पंचाध्यायी में (पूर्वार्द्ध ७०१ गाथा में) चारों ही ज्ञानों को परोक्ष कहा है। भगवान केवली सकल-प्रत्यक्षज्ञान के धरने वाले हैं, माने क्या? कि समस्त-तीनकाल तीनलोकवर्ती समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय आदि लोकालोक सहित समस्त भगवान केवली के युगपद प्रत्यक्ष हुआ है। अहाहा.....! ऐसे सकल-प्रत्यक्षज्ञान के धारक भगवान केवलियों ने यह नियमसार कहा है।

“और ‘श्रुतकेवली’ सकल द्रव्यश्रुत के धारक.....” देखो! इसमें भी ‘सकल’ कहा; परन्तु केवली सकल-प्रत्यक्षज्ञान के धारक हैं, जबकि श्रुतकेवली सकल-द्रव्यश्रुत के धारक हैं, आशय यह है कि उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रों को (द्वादशांग को) धारण कर रखा है।

अहा.....! ऐसे केवली और श्रुतकेवलियों ने कहा हुआ, सकल भव्यसमूह को हितकर, ‘नियमसार’ नामक परमागम मैं कहता हूँ। देखो! यह नियमसार शास्त्र, जो केवली-श्रुतकेवलियों ने कहा है; वह मैं कहता हूँ — ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। उसका अर्थ (टीका) करनेवाले श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो इसके पूर्व (पाँचवें कलश में) कह दिया है कि गुण के धारक गणधरों के और परम्परा के आचार्यों के कथित जो अर्थ हैं, वे टीका में कहे जायेंगे। यहाँ मूलपाठ (गाथा) के रचयिता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि यह नियमसार परमागम, जो केवली, श्रुतकेवलियों ने कहा है, उसे मैं कहूँगा।

प्रश्न :— यहाँ ‘वोच्छामि’ — मैं कहूँगा अर्थात् किसी के लिए कहूँगा — ऐसा अर्थ है, जबकि अन्त में कहते हैं कि मेरी भावना के लिए रचता हूँ..... ?

उत्तर :— भाई! जरा हेतु तो अन्य को कहने का है। देखो, यहाँ कहा है न कि ‘सकल-भव्यसमूह को हितकर’ अर्थात् जितने मोक्ष की योग्यतावाले भव्यप्राणी हैं, उनको यह नियमसार परमागम हितकर है — ऐसा निमित्त-व्यवहार है न ? इसलिए ऐसा कहा है। वरना निश्चय से तो ‘नियमसार’ अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग हितकर है, (और आचार्यदेव को उसकी ही भावना है।)

अहा! ‘सकल-भव्यसमूह को हितकर, नियमसार नाम का परमागम...’ देखो, यह परमागम है। यह शुद्ध मोक्षमार्ग को कहनेवाला केवली-श्रुतकेवलियों द्वारा कथित परमागम है। अहा...! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं — ऐसा परमागम ‘वोच्छामि’ मैं कहता हूँ। इसप्रकार एक-एक शब्द को पृथक् करके अर्थ किया।

अब कहते हैं — ‘इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेवता का स्तवन करके.....’ विशिष्ट अर्थात् खास-विशेष और इष्टदेव अर्थात् स्वयं को प्रिय — ऐसे वीतरागीपरमात्मा श्री वीर-महावीरस्वामी का स्तवन करके ‘सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रतिज्ञा की।’ टीकाकार मुनिराज कहते हैं — इसप्रकार सूत्रकार अर्थात् सूत्र के रचनाकार श्री कुन्दकुन्द-आचार्यदेव ने प्रतिज्ञा की। देखो, ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरु’ — ऐसा शब्द है। श्री पद्मप्रभमलधारि-देव ने संस्कृत में ‘श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा’ — ऐसा कहा है। वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह नाम है और गुरु यह पदवी है। अहा...! ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं श्री केवली-श्रुतकेवलियों द्वारा कथित नियमसार परमागम भव्यजीवों के हित के लिए कहूँगा।

यह पहली गाथा, जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने मांगलिक किया है, इसका अर्थ हुआ।

“इसप्रकार सर्वपदों का तात्पर्य कहा गया।” देखो, प्रत्येक शब्द का तात्पर्य-साररूप भाव प्रगट किया गया।

इस गाथा में ‘भणिदं’ यह शब्द है। जबकि समयसार की ६ वीं गाथा में ‘भणंति’ शब्द है। ‘एवं भणंदि शुद्धं’ — ऐसा है न? तात्पर्य यह है कि जो प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं

है, उसको (एक ज्ञायकस्वरूप को) सेवन करने से, वह (आत्मा) शुद्ध है — ऐसा ज्ञात होता है—कहा जाता है। अहा.....! आत्मा शुद्ध-बुद्ध है — इसप्रकार केवल धारणा कर लेना वह नहीं; परन्तु उसको स्वसंवेदन (पूर्वक) प्रत्यक्ष जानने से वह 'शुद्ध' है — ऐसा कहा जाता है अर्थात् जिसने पर्याय में भगवान आत्मा शुद्ध है — ऐसा अन्तर्मुख होकर जाना है, उस जाननेवाले को वह 'शुद्ध' है — ऐसा कहा जाता है। ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है — इसप्रकार जो अंतर में जानता है, उसको वह शुद्ध है — ऐसा कहा जाता है — ऐसी सूक्ष्म बात है।

कलश ८ पर प्रवचन

अब, पहली गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज कलश कहते हैं :—

अहा! जिनको वंदन करके नियमसार कहने की प्रतिज्ञा की है, वे वीर भगवान कैसे हैं ? तो कहते हैं — 'शुद्धभाव द्वारा मार का (काम का) जिन्होंने नाश किया है...!' देखा! शुद्धभाव द्वारा काम का नाश किया है; परन्तु पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव द्वारा नहीं — ऐसा कहते हैं। अहा.....! स्वयं भगवान आत्मा, जो त्रिकाल शुद्धस्वरूप है, उसमें अंतर्लीन शुद्धोपयोग द्वारा अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प की मलिनता से रहित निर्मल स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न जो शुद्धोपयोग-शुद्धभाव है, उसके द्वारा जिन्होंने मार का अथवा कामदेव का अथवा हिंसा का अथवा मरण का नाश किया है (वे भगवान वीर हैं।) आशय यह है कि भगवान श्री वीरपरमेश्वर ने शुद्धोपयोग द्वारा मरण का अन्त किया है, हिंसा का नाश किया है और जो काम-विषय की इच्छा, उसका भी नाश किया है। यह गुण का विशेष वर्णन किया है। — एक बात।

अब पुण्य का वर्णन करते हैं —

'तीनभुवन के जनों से जो पूज्य हैं।' अहा....! ऐसे (ऊपर कहे वैसे) गुण के कारण वे तीनभुवन के अर्थात् उर्ध्व, मध्य और अधोलोक — इसप्रकार तीनभुवन के जनों को पूज्य हैं, पूजनेयोग्य हैं। अहा! गुण विशेष द्वारा वीरप्रभु तीनभुवन के जनों को पूज्य हैं। — दो बात।

अब तीसरी बात — 'पूर्णज्ञान जिनका एक राज्य है।' क्या कहा ? कि अनंतज्ञानादि का पूर्णस्वरूप, यह उनका राज्य है; क्योंकि उन्होंने केवलज्ञान द्वारा तीनकाल-तीनलोक

को प्रत्यक्ष जान लिया है। अहा..! पूर्णज्ञान — यह ऐसा उनका राज्य है कि उनका हुकम-आज्ञा बदलता नहीं है अर्थात् जो केवलज्ञान में देखा (जाना) है, वही होता है। अहा...! यहाँ तो यह भी आशय है कि वे पूर्णज्ञान से शोभित हैं। अहा..! पूर्णज्ञान जिनका एक राज्य है अर्थात् पूर्णज्ञान ही उनकी सत्ता है। अहा....! जिसने ऐसा भगवान का पूर्णस्वरूप जाना (वह निहाल हो जाता है), अब कहते हैं —

‘देवों का समाज जिनको नमन करता है।’ तीनभुवन के जनों को पूज्य — यह समुच्चय बात थी। यहाँ कहते हैं कि पुण्य के फलवाले जो देव हैं, उनकी समाज भी अर्थात् सभी देव भी जिनको नमन करते हैं — ऐसे श्री वीर भगवान हैं। अरे! उनकी अस्ति का स्वीकार अर्थात् भगवान के गुण की पूर्णता का और पुण्य की पूर्णता का स्वीकार जिसके अंतर में होता है, उसको अंतर में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और वह भगवान को वास्तविक वंदन करता है। और कहते हैं —

‘जन्मवृक्ष का बीज जिन्होंने नष्ट किया है।’ जन्मरूपी वृक्ष जिससे फलता-फूलता है, उस बीज का-चार घातिकर्मों का भगवान ने सर्वथा नाश किया है। श्रीमद्जी ने ‘अपूर्व अवसर’ में कहा है न कि ‘भव के बीज का अत्यन्तिक नाश जब.....’ अहा! इस भव का बीज चार घातिकर्म हैं और भगवान ने उन्हें जलाकर भस्म कर दिया है। अब भगवान को भव नहीं हैं। भगवान जितभव हैं। भाई! यह भव, भव के अभाव के लिए हैं — ऐसा जानना चाहिए।

तथा ‘समवसरण में जिनका निवास है।’ देखो, इस टीका के रचनाकाल के समय वीर भगवान तो मोक्ष पधार चुके हैं; परन्तु जब वर्द्धमान तीर्थकर भगवान की मौजूदगी थी, उससमय को लक्ष्य में लेकर मानों अभी ही भगवान समवसरण में विराजते हों — ऐसी शैली से स्तुति की है। अहा! त्रिलोकनाथ भगवान का निवास समवसरण में है।

तो कहते हैं कि ‘और केवलश्री (केवलज्ञान-दर्शनरूपी लक्ष्मी), जिसमें वास करती है।’ अहाहा....! केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपी लक्ष्मी उनमें वास करती है। भगवान समवसरण में वसते हैं — यह व्यवहार कहा और उनमें केवलज्ञान व केवलदर्शन वसते हैं — इसप्रकार निश्चय दर्शाया। अहा! सर्वत्र यही शैली प्रयोग की है।

अहा! केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि चतुष्टय शक्तिरूप से तो प्रत्येक आत्मा में

त्रिकाल हैं ही; परन्तु जिन्होंने उस पूर्णशक्ति का विकास किया है — ऐसे भगवान के आत्मा में वह केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपी लक्ष्मी निवास करती है, जबकि भगवान समवसरण में निवास करते हैं। अहा...! ऐसे 'वे वीर जगत में जयवंत वर्तते हैं।' — ऐसा कहते हैं।

अहाहा..! भगवान तो मोक्ष पधारे हैं तो भी वे जयवंत वर्तते हैं, माने क्या ? अर्थात् वे समवसरण में यों के यों (तीर्थकरपने) विराजमान हैं — ऐसा कहते हैं। 'समवसरण में जिनका निवास है' — ऐसा कहा है न? तथा उनके दिव्यवाणी थी, उन्होंने यह कहा है। यह केवली ने कहा है - ऐसा कहना है न? तो जिसके वाणी हो वही कहेगा न? सिद्ध के वाणी कहाँ है? इसलिए वे (वीर) जयवंत वर्तते हैं — ऐसा कहते हैं। आशय यह है कि जब भगवान समवसरण में विराजते थे, तब उनको वाणी में नियमसार-मोक्षमार्ग आया था (इसलिए वे जयवंत वर्तते हैं — यह कहा है।)

परन्तु भगवान अभी तो मोक्ष पधारे हैं तो भी जयवंत वर्तते हैं ?

भाई! हम तो जब दिव्यध्वनि निकलती थी, उस समय के भगवान को याद करके नमस्कार करते हैं; इसलिए समवसरण में दिव्यवाणी के कहनेवाले वीतरागपरमेश्वर जयवंत ही वर्तते हैं और वे हमारे हृदय में भी विराजमान हैं न! (इसलिए भी जयवंत वर्तते हैं।) अहा! ऐसे तीर्थकर हमारे ज्ञानहृदय में विराजते हैं और इसलिए ऐसी ही (उन्होंने कही है वैसी ही) वाणी हमारे हृदय में से निकलेगी — ऐसी बात है।

इसप्रकार पहली गाथा का श्लोक हुआ। ●

आत्मार्थी हठ नहीं करता कि मुझे झटपट अपना कार्य करना है। स्वभाव में हठ काम नहीं आता। मार्ग सहज है; हठ से, जल्दबाजी से, अधैर्य से मार्ग हाथ नहीं आता। सहज मार्ग को प्राप्त करने के लिए धैर्य तथा विवेक चाहिए। ऋषभदेव भगवान जैसे को तेरासी लाख पूर्व तक चारित्रदशा नहीं थी और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी सत्तर लाख पूर्व राज्यपद तथा छह लाख पूर्व चक्रवर्तीपद था। वे जानते थे कि भीतर स्वरूप में अवगाहनरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए हठ नहीं करते थे। कितनों को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन हुआ, परन्तु चारित्र धारण न करें तो किस काम का ? किन्तु भाई! भीतर स्वभाव में हठ नहीं चलती, सहज पुरुषार्थ से अंतर में पहुँचा जाता है। यह बात समझने योग्य है। - द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१५१

नियमसार गाथा-२

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥२ ॥
मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥२ ॥

(हरिगीत)

है मार्ग का अरु मार्ग-फल का कथन जिन-शासन विषें ।

है मार्ग मोक्षउपाय अरु निर्वाण उसका फल कहें ॥२ ॥

गाथार्थ :— मार्ग और मार्गफल — ऐसे दो प्रकार का जिनशासन में कथन किया गया है; मार्ग मोक्षोपाय है और उसका फल निर्वाण है ।

टीका :— यह, मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूपनिरूपण की सूचना (उन दोनों के स्वरूप के निरूपण की प्रस्तावना) है ।

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है)” — ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी के विशाल भालप्रदेश में शोभा-अलंकाररूप तिलकपना है (अर्थात् मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी को वरण करना है) । इसप्रकार वास्तव में (मार्ग और मार्गफल ऐसा) दो प्रकार का, चतुर्थज्ञानधारी (मनःपर्ययज्ञान के धारण करनेवाले) पूर्वाचार्यों ने परमवीतराग सर्वज्ञ के शासन में कथन किया है । निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक* मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निजशुद्ध-आत्मा की प्राप्ति) है ।

अब, दूसरी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं -

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः

क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ।

*शुद्धरत्नत्रय अर्थात् निज परमात्मतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा, उसका सम्यक्ज्ञान और उसका सम्यक्-आचरण पर की तथा भेदों की लेश भी अपेक्षा रहित होने से वह शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का उपाय है, उस शुद्धरत्नत्रय का फल शुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है ।

क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ॥९॥

(वीरछन्द)

कभी कामिनी के रति-सुख की प्राप्ति हेतु नर करे गमन ।
और कभी धन की रक्षा में प्रेरित होता उनका मन ॥
जो पण्डित जिनमार्ग प्राप्त कर निज आत्म में रति करें ।
वास्तव में वे ही पण्डितगण मुक्ति-वधू का वरण करें ॥९॥

श्लोकार्थ :- मनुष्य कभी कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होनेवाले सुख की ओर गति करता है और फिर कभी धनरक्षा की बुद्धि करता है। जो पण्डित कभी जिनवर के मार्ग को प्राप्त करके निज आत्मा में रत हो जाते हैं, वे वास्तव में इस मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥९॥

गाथा २ पर प्रवचन

‘मार्ग एवं मार्गफल — ऐसे दो प्रकार का जिनशासन में कथन किया गया है।’

अहा.....! ‘मार्ग एवं मार्गफल’ अर्थात् मोक्ष का मार्ग और मोक्षमार्ग का फल मोक्ष— ऐसे दो प्रकार का कथन किया गया है। कहाँ? जिनशासन में, भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन में। अहा..! अनंतकाल से वीतरागसर्वज्ञ जैनपरमेश्वर—जिनवर—तीर्थंकर होते आये हैं, उनका शासन जिनशासन है। अहा...! जैन परमेश्वर, कि जिनमें पूर्णज्ञान—दर्शन का—केवलज्ञान—केवलदर्शन का निवास है, उनके शासन में यह दो प्रकार की (सम्यक्) बात है; परन्तु इसके—जिनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऐसा यथार्थ कथन नहीं हो सकता।

‘समाख्यातम्’ — ऐसा शब्द है न ? सम+आख्यातम्=सम्यक्प्रकार से कथन किया गया है। अहा....! भगवान् के शासन में—जिनशासन में दो प्रकार का सच्चा अर्थात् सम्यक्प्रकार से, जैसा मार्ग है और जैसा मार्ग का फल है; वैसा ही कथन किया गया है — ऐसा कहते हैं।

वहाँ ‘मार्ग मोक्षोपाय है और उसका फल निर्वाण है।’ देखो! मार्ग मोक्षोपाय अर्थात् आत्मा को मोक्ष का कारण वह मार्ग है और मार्ग का फल निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। अहा!

इन दो की-मार्ग एवं मार्गफल की-सम्यक्प्रकार से व्याख्या यदि कहीं हो तो जिनशासन में कही गयी है, अन्यत्र नहीं।

गाथा २ की टीका पर प्रवचन

“यह मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप-निरूपण की सूचना (उन दोनों के स्वरूप के निरूपण की प्रस्तावना) है।”

देखो! कहते हैं — यह, हम शास्त्र में जो कहना चाहते हैं, उस शुद्धरत्नत्रय मोक्षमार्ग और उसका फल मोक्ष, उनके स्वरूप निरूपण की सूचना अर्थात् प्रस्तावना है।

देखो! यह ‘तत्त्वार्थसूत्र’ का सूत्र है। भगवान उमास्वामी दिगम्बर संत-महामुनिवर-आचार्य लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वे भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र नामक शास्त्र बनाया है। ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः’ — यह इस शास्त्र का पहला सूत्र है। यहाँ टीकाकार मुनिराज उसका आधार लेकर कहते हैं कि ऐसा शास्त्र का वचन है और इसीलिए कहते हैं —

‘मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी के विशाल भालप्रदेश में शोभा-अलंकाररूप तिलकपना है। (अर्थात् मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी का वरण करना है।)’

अहा..! कहते हैं- मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है। देखो! यहाँ से प्रारम्भ किया है कि मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय अर्थात् जो निश्चयमोक्षमार्ग है वही है, मार्ग दो नहीं हैं। एक निश्चय शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार अशुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग — ऐसे दो मार्ग नहीं हैं। लो, पहले से ही यहाँ यह सिद्ध करते हैं। भाई! यह एक ही बात है कि मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है, उसको निश्चयरत्नत्रय कहो, अभ्यंतररत्नत्रय कहो अथवा अभेदरत्नत्रय कहो — सब एक ही है। अहा! स्वाश्रय से जो वीतरागीपरिणति उत्पन्न होती है, उसको यहाँ शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहा है। यह शुद्धरत्नत्रय देकर (इसके मूल्य में) मोक्ष लेना है अर्थात् शुद्धरत्नत्रय परिपूर्ण प्रगट करने पर उसके फलरूप में मोक्ष-निर्वाणपद मिलता है।

अहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय पर्याय है, वह द्रव्य-गुण नहीं है। वह शुद्धरत्नत्रय मार्ग होने से मोक्ष का मार्ग है, वह पर्याय है — ऐसी बात है। जो परिणमता

हो, वही मार्ग होता है न ? ध्रुव (द्रव्य) है, वह तो ध्रुव ही है और वह शक्तिरूप से सहज अनंतचतुष्टय से सदा विराजमान है। अहा! उस शक्ति का जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन होता है, वह शुद्धरत्नत्रय पर्याय है और वह मोक्ष का मार्ग है। अहा! वह शुद्धरत्नत्रय पर्याय है और वह मोक्ष का मार्ग है। अहा! वह किसके आश्रय से प्रगट होता है — यह बात अलग है; परन्तु वह मोक्ष का मार्ग है पर्याय।

दूसरी बात यह है कि शुद्धरत्नत्रयरूप पर्याय परिणमित होती है, वह स्वतन्त्र है, उसको किसी की भी-द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। मात्र वह पर्याय द्रव्य के सन्मुख ढलती (झुकती) है, इतना ही है, वरना उसका परिणमन स्वतन्त्र है तथा शुद्धरत्नत्रय की पर्याय होती तो द्रव्य के आश्रय से है-द्रव्य के प्रति ढलने पर; तथापि वह त्रिकाली में-ध्रुवद्रव्य में नहीं है; क्योंकि यह तो वर्तमान नया परिणमन है। यहाँ तो वह द्रव्य के आश्रय से होती है — ऐसा विशेष सिद्ध करना है — ऐसी सूक्ष्म बात है।

अहा! कहते हैं — मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है। देखो, यह एक ही बात है; परन्तु यहाँ यह नहीं कहा है कि कथंचित् शुद्धरत्नत्रयय मार्ग है और कथंचित् अशुद्धरत्नत्रय मार्ग है। अशुद्धरत्नत्रय कहो, व्यवहाररत्नत्रय कहो, बाह्यरत्नत्रय कहो-वह मार्ग नहीं है। अहा..! ऐसी स्पष्ट बात है।

अरे भाई! तेरे में सब ही है न प्रभु! तू कहाँ न्यून-अधूरा या विपरीत है ? स्वरूप से ही भगवान! तू शक्ति से परिपूर्ण-भरपूर भरा है न! (प्रभु! मेरे तू सब बातें पूरा...) अहा..! इसका (शक्ति का) पर्यायरूप से परिणमन होना वह मार्ग है। मार्ग ही यह है — इसप्रकार यहाँ एक ही सिद्धान्त कहा है। निरूपण दो प्रकार से है — ऐसा भी यहाँ नहीं लिया है। अहाहा...! भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द आदि अनंतशक्तियों का पूर्णशुद्ध चैतन्यदल है। उसका आश्रय लेने पर 'स्वाश्रयो निश्चय' — इस न्याय से जो पर्याय प्रगट होती हैं, वह शुद्धरत्नत्रय-निश्चयरत्नत्रय है और वह मार्ग है। अहा! चलने का रास्ता-मार्ग शुद्धरत्नत्रय है। इस मार्ग पर जाने से मार्ग का फल (गन्तव्य) मोक्ष-मुक्ति प्राप्त होता है। अहा! ऐसी अलौकिक बात है।

'और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी के विशाल भालप्रदेश में शोभा-अलंकाररूप तिलकपना है (अर्थात् मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी का वरण करना है।)' वरण (विवाह) के समय

स्त्री शोभा-अलंकाररूप कर्म पर तिलक करती है न ? उसको लक्ष्य करके कहते हैं कि मार्ग का फल मुक्तिरूपी स्त्री के विशाल भालप्रदेश में शोभा-अलंकाररूप तिलकपना है। आशय यह है कि मार्ग के फलरूप में पुरुष (आत्मा) मुक्तिरूपी रमणी का वरण करता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। अहा..! मार्ग को प्राप्त पुरुष मुक्ति की-परम आनंद की परिणति को स्वयंवर करके वरण करता है। स्वयं+वर। आहाहा..! स्वयं प्रधानदशा प्रगट करके मोक्ष को वरण करता है, प्राप्त होता है, इसमें किसी की अपेक्षा-गरज नहीं है। (मुक्तिरूपी रमणी=निर्मल आनंद की परिणति, विशाल भालप्रदेश में उसकी शोभा=अलंकाररूप तिलकपना=वरण करना।) अहाहा...! मार्ग के फलरूप पुरुष (आत्मा) निर्मल आनंद की परिणति को शोभा को वरण करता है-प्राप्त करता है।

भाई! यह एक ही मार्ग है और इसी मार्ग से मुक्ति है, अन्य कोई मार्ग नहीं है और न अन्य मार्ग से मुक्ति है — यह सम्यक्एकान्त है। जो राग-व्यवहार है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; वह तो अन्य-बंधमार्ग है। जो व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, वह है तो बंधरूप बंध का मार्ग; उसे व्यवहारमोक्षमार्ग आरोप से (उपचार से) कहा है, वरना वह मोक्षमार्ग कहाँ है ? व्यवहार का लक्षण उपचार से कथन करना है। (व्यवहारमोक्षमार्ग तो उपचारमात्र है, वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है।)

अहा..! भगवान आत्मा ज्ञानानंद का सागर प्रभु अंदर पूर्णानंदस्वरूप से डोल रहा है। परन्तु (यह बात) इसको कैसे स्वीकृत हो ? जो पामर भिखारी होकर (चतुर्गति में) परिभ्रमण करता है। उसको अपनी ऐसी प्रभुता की प्रतीति कैसे आये ? अहा..! अंदर परम स्वभावभाव का आश्रय करने पर अलौकिक लाभ होता है — यह बात अज्ञानी को स्वीकृत नहीं होती। उसका चित्त बाहर में भटकता है; इसलिए उसको अपना आत्मा-पूर्णानंद का नाथ-अति दुर्गम हो गया है। उसको स्वरूप का आश्रय दुर्गम लगता है; इसलिए वह यह मानता है कि अन्य कुछ करें; परन्तु भाई! तू अन्य क्या कर सकता है ? अपने में रहने के सिवा तू अन्य क्या कर सकता है ? तू अपने को जानकर-पहचानकर अपने में ठहर सकता है और यही कर्तव्य है। तीसरी गाथा में आचार्यदेव स्वयं कहेंगे कि नियम से कर्तव्य हो तो वह यही है। क्या ? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही कर्तव्य है, अन्य कोई इसका कर्तव्य है ही नहीं।

देखो, यहाँ कहते हैं कि मार्ग का फल एक ही (मोक्ष ही) है। अहाहा...! क्या

कहा ? जैसे मार्ग एक है, इसीतरह उसका फल भी एक ही है। मार्ग के फल में बंध हो अथवा स्वर्गगति प्राप्त हो — ऐसा है नहीं। (जिससे बंध होता हो अथवा गति प्राप्त होती हो, उसे मार्ग कैसे कहा जा सकता है ?) इसलिए मार्ग दो नहीं हैं; क्योंकि यदि मार्ग दो हों तो उसके फल भी दो होने चाहिए। अब शुद्धरत्नत्रय का फल तो मोक्ष कहा है, तो व्यवहाररत्नत्रय का फल क्या ? क्या उसका फल भी मोक्ष है ? (नहीं।) तो क्या मोक्ष दो प्रकार का है ? नहीं। अरे भाई! व्यवहाररत्नत्रय तो वास्तव में बंधरूप और बंध का ही कारण है। उसे तो उपचार से मार्ग (व्यवहारमार्ग) कहा जाता है; वस्तुतः तो तीनलोक-तीनकाल में शुद्धरत्नत्रय एक ही मार्ग है। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि 'एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।' अहा! अज्ञानी कहते हैं कि दो मार्ग नहीं माननेवाले भ्रम में हैं, जबकि यहाँ कहते हैं कि दो मोक्षमार्ग माननेवाला भ्रम में है।

अहाहा! बेहद-अपरिमित अनंत-आनंद, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतप्रभुता, अनंतस्वच्छता इत्यादि अनंतशक्तियों का एक सत्त्व भगवान आत्मा है, उसका आश्रय लेना, बस यह एक ही मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। अब कहते हैं —

'इसप्रकार वास्तव में (मार्ग और मार्गफल ऐसा) दो प्रकार का, चतुर्थज्ञानधारी (मनःपर्ययज्ञान के धारण करनेवाले) पूर्वाचार्यों ने परमवीतराग सर्वज्ञ के शासन में कथन किया है।'

क्या कहते हैं ? मार्ग एवं मार्गफल — ऐसे दो प्रकार का कथन वीतरागशासन में है। अहा....! ऐसे मार्ग और मार्गफल — ऐसे दो प्रकार हैं अवश्य; परन्तु मार्ग और मार्गफल दो प्रकार का नहीं है तथा मार्ग दो प्रकार का और उसका फल एक प्रकार का — ऐसा भी नहीं है। एक ही मार्ग है और एक ही मार्गफल है। अहाहा...! इसप्रकार मार्ग और मार्गफल — ऐसा दो प्रकार का चतुर्थज्ञानधारी पूर्वाचार्यों ने अर्थात् अनंत गणधरों ने और अन्य जो महान श्रुतधर आचार्य हुए उन्होंने, परमवीतराग सर्वज्ञदेव के शासन में कथन किया है।

अब रत्नत्रय किसको कहते हैं और वह कैसे प्रगट होता है — इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं — 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्न-

त्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निजशुद्ध-आत्मा की प्राप्ति) है।'

देखो, क्या कहा ? कि 'निज परमात्मतत्त्व के.....' अहाहा....! अंदर जो भगवान आत्मा निज परमात्मा है, उसके..... ये बाहर में जो भगवान-परमात्मा विराजते हैं, वे नहीं, वे तो पर-परमात्मा हैं, यह तो निजपरमात्मा अर्थात् स्वयं स्वरूप से ही परमात्मा है, उसकी बात है। वरना इसको भजो या उसको भजो — यह सब तो परलक्ष्य की बातें हैं। अरे प्रभु! तू स्वयं परमात्मास्वरूप है या नहीं ? तू अपने-निजपरमात्मा के लक्ष्य से प्राप्त हो ऐसा है-अन्य (परमात्मा) के लक्ष्य से नहीं। यह टंकोत्कीर्ण बात है कि धर्म स्वलक्ष्य से ही होता है, परलक्ष्य से नहीं, पर के लक्ष्य से तो विकल्प ही होते हैं। निर्विकल्पता तो एक स्वलक्ष्य से ही उत्पन्न होती है।

तो कहते हैं — 'निजपरमात्मा के सम्यक्श्रद्धान...' देखो, यहाँ नवतत्त्व का श्रद्धान ऐसा कुछ नहीं कहा है।

प्रश्न :— हाँ; परन्तु तत्त्वार्थसूत्र और मोक्षमार्गप्रकाशक में नवतत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है

उत्तर :— हाँ; परन्तु भाई! उसका भाव यह है कि अपने त्रिकाली एक ज्ञायकभाव को जानना। वस्तुतः बात तो यह है कि जब नवतत्त्वों में एक निजपरमात्मस्वरूप जीव को जानता है, तब वह नौ को जानता है। सूक्ष्म बात है प्रभु! समयसार की १३वीं गाथा में आता है कि भूतार्थ से एक जीव को-भगवान ज्ञायक को जानने पर पर्याय आदि के समस्त प्रकार उसमें नहीं हैं — ऐसा ज्ञात हो जाता है और इसे ही भूतार्थ से नवतत्त्वों को जानना कहा जाता है।

अहाहा...! भगवान आत्मा, अभेद एक, चिन्मात्रवस्तु स्वयं परिपूर्ण स्वभाव का सागर है। उसकी स्वसंवेदन-ज्ञानपूर्वक प्रतीति होने का नाम सम्यक्श्रद्धान या सम्यग्दर्शन है। अहा.....! यह प्रतीति त्रिकालीध्रुव अभेदद्रव्य के आश्रय से ही होती है। इसकारण आश्रय की बात हो, वहाँ द्रव्य मुख्य-प्रधान है और पर्याय गौण है। जहाँ सीधी पर्याय की (पर्याय को जानने की) बात हो, उसमें मुख्य-गौण नहीं; परन्तु आश्रय करने में तो द्रव्य (एक ज्ञायकभावस्वरूप) ही मुख्य है और पर्याय गौण है।

अहाहा...! कहते हैं — ‘निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग’ — देखा! मार्ग शुद्धरत्नत्रयस्वरूप है — ऐसा कहा है। अहाहा....! स्वयं परमात्मतत्त्व है, निजस्वरूप से परमात्मा ही है, उसे परमतत्त्व कहो, ज्ञायकतत्त्व कहो, परमात्मा कहो या परमस्वरूप कहो — सब एक ही है। अहा....! ऐसा निज-परमात्म तत्त्व की-सन्मुख की श्रद्धा, उसकी सन्मुखता का ज्ञान और उसमें ही सम्यक् अनुष्ठान — ऐसा त्रिस्वरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग है। यहाँ चारित्र के लिए अनुष्ठान शब्द का प्रयोग किया है। लोग शोर मचाते हैं न कि अनुष्ठान करो ...अनुष्ठान करो ? यों कि अनुष्ठान कुछ अलग होगा और चारित्र कुछ अलग होगा; परन्तु बापू! ऐसा नहीं है। स्व-स्वरूप का अनुष्ठान ही चारित्र है। यह अनुष्ठान ही चारित्र है। अहाहा...! निजपरमात्म-स्वरूप में सम्यक्प्रकार से ठहरना-विश्राम लेना — ऐसा यह अनुष्ठान ही चारित्र है।

अहाहा..! अंदर आत्मा-एक ज्ञायकतत्त्व परिपूर्ण प्रभु है। वस्तु है न ? अस्ति अर्थात् सत्ता है न ? इसलिए वह निर्विकल्प स्वसहाय अर्थात् स्वयं अपने से है और इसीलिए परिपूर्ण ही है। क्या वस्तु में अपूर्णता होगी ? (नहीं) इसीतरह क्या वस्तु की त्रिकाली शक्तियों में अपूर्णता होगी ? नहीं।

हाँ; परन्तु अनंतगुणों में से एक-दो कम हो तो क्या बाधा है ?

अरे भाई! यदि एक गुण भी कम हो (मानों) तो द्रव्य ही सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् द्रव्य ही नहीं रहता। (क्योंकि अनंतगुणों का अभेद एकरूप वह द्रव्य है।)

तो गुण अनंत ही चाहिए ?

हाँ, अनंत ही हैं। अरे, पर्याय का एक अंश निकाल दो तो द्रव्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पर्याय का एक अंश निकाल देने पर एक गुण सिद्ध नहीं होता और एक गुण सिद्ध नहीं होने पर अनंतगुणों का एकरूप द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता। अहाहा..! अनंत पर्यायों का पिण्ड वह गुण है और अनंतगुणों का पिण्ड वह द्रव्य है; इसलिए एक पर्याय निकाल देने पर एक गुण सिद्ध नहीं होता और एक गुण सिद्ध नहीं होने पर अनंतगुणों का एकरूप द्रव्य सिद्ध नहीं होता — ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि ‘निज-परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध-रत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष होने से.....।’

हाँ; परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसी व्यवहार की सापेक्षता होती है न? दो पहियों से रथ चलता है, क्या एक पहिये से रथ चलता है?

अहा! पण्डित बनारसीदासजी ने निमित्त-उपादान दोहा में कहा है कि-

एक चक्र सौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव।

इसीतरह यहाँ कहते हैं कि शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग परम निरपेक्ष है। अहाहा....! इतनी तो स्पष्ट बात की है। इसमें अकेला 'निरपेक्ष' ऐसा नहीं, शुद्धरत्नत्रयात्मकमार्ग 'परमनिरपेक्ष' कहा है। आशय यह है कि उसको राग की-व्यवहार की किंचित् अपेक्षा-गरज नहीं है। क्या कहा? कि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करे अथवा नवतत्त्वों की भेदवाली श्रद्धा करे तो उसको सम्यग्दर्शन होता है — ऐसे व्यवहार की-विकल्प की इसे अपेक्षा नहीं है।

अहाहा..! निज-परमात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान अर्थात् सीधा उसका श्रद्धान, सीधा उसका ज्ञान और सीधा उसका अनुष्ठान — ऐसा शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग 'परमनिरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।' परमनिरपेक्ष होने से (स्वसहाय अथवा असहाय होने से) शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग मोक्ष का उपाय है — ऐसा कहते हैं। यदि उपाय सापेक्ष (परसहाय) होवे तो उससे मोक्ष नहीं होता — ऐसा अर्थ है।

अब कहते हैं — 'और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि है।' अहा! शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष है और उसका फल स्वात्मोपलब्धि अर्थात् अपनी आत्मा की पूर्णपर्याय की प्राप्ति है। अहाहा....! परमानंदमय ऐसी पूर्णदशा होना, वह स्वात्मोपलब्धि है। स्व+आत्मा+उपलब्धि=स्वात्मोपलब्धि अर्थात् निजशुद्धात्मा की प्राप्ति। अहो....! द्रव्य तो (त्रिकाल) शुद्ध है ही; परन्तु पर्याय पूर्ण हो गई, वह शुद्धात्मा की प्राप्ति है। राग सर्वथा गया, अपूर्णता गई और अकेला परमज्ञानरूप परमानंदमयदशा प्राप्त हुई, इसका नाम स्वात्मोपलब्धि है और वह मोक्ष-निर्वाण है। अहो! यह तो अलौकिक टीका है।

इसप्रकार मार्ग और मार्गफल कहा है —

अब फुटनोट में समागत अथ देखते हैं —

'शुद्धरत्नत्रय अर्थात् निजपरमात्मतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा, उसका सम्यक्ज्ञान और

उसका सम्यक्-आचरण पर की तथा भेदों की लेश भी अपेक्षारहित होने से वह शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का उपाय है।'

देखो, यहाँ सम्यक्-अनुष्ठान का अर्थ सम्यक्-आचरण अर्थात् सम्यक्चारित्र किया है तथा निज-परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्धरत्नत्रय को पर की अर्थात् परद्रव्य की और भेदों की माने अपने पर्यायभेदों की अर्थात् व्यवहारादि भेदों की लेश भी अपेक्षा नहीं है — ऐसा कहा है; इसीलिए कहते हैं शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का उपाय है। (भाई! मोक्ष का उपाय स्वाधीन-स्वसहाय है, पराधीन-परसहाय नहीं।) अहा....! कैसा स्पष्ट अर्थ किया है ?

‘उस शुद्धरत्नत्रय का फल शुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है।’

टीका में स्वात्मोपलब्धि कही है। उसका अर्थ शुद्धात्मा की पूर्ण प्राप्ति है। अहाहा..! भगवान आत्मा की पूर्ण-आनंद, पूर्णज्ञान, पूर्णशान्ति, पूर्णवीर्य, पूर्णस्वच्छता, पूर्णप्रभुता — ऐसी पूर्णदशा की प्राप्ति को स्वात्मोपलब्धि अथवा शुद्धात्मा की पूर्ण प्राप्ति कहते हैं।

देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को रत्न कहा है तो उनका फल जो मोक्ष है, उसका तो क्या कहना ? (वह तो परमरत्न है।) और भगवान आत्मा में (गर्भितपने) ऐसी अनंतपर्यायें पड़ी हैं तो उसको क्या कहें ? अहाहा! वह तो अनंत रत्नों का महासागर भगवान रत्नाकर है। अहाहा...! भगवान! तू भगवान रत्नाकर है। तू मान या मत मान; परन्तु तू ऐसा ही है प्रभु! तथापि तू संयोगों में भ्रमित होकर प्रसन्न होता है ? प्रभु तुझे यह क्या हुआ है ? अहा..! तेरे कटाक्ष से तो चार कर्मों की राख हो जाए ऐसा तू महाप्रभु है, तो भी तुझे उसकी महिमा नहीं है, आदर नहीं है और यह बाहर में प्रसन्नता-आह्लाद हो जाती है ? विषयों में वीर्य उल्लिसित हो जाता है। भगवान! यह तो दुःख का-संसार का पंथ है; इसलिए वहाँ से हटकर वीर्य (बल-पुरुषार्थ) को अंदर में जोड़ न! अहाहा! अपने आत्मा को प्रसन्न कर न!

अहाहा....! तेरे रत्नत्रय की ऐसी कीमत है कि उसके फल में परमानंदमय मोक्ष मिलता है और उस रत्नत्रय का आधार तू ही है। तेरे (स्वयं के) आश्रय से वह प्रगट होता है। अहा....! तू ऐसे महारत्नों का सागर होने पर भी ये कंकर चुनने लगा है। भाई! हंस अनाज नहीं खाता, वह तो मोती चुगता है। भूखा रहे; किन्तु अनाज नहीं

खाता। इसीतरह भगवान! तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अनमोल रत्नों का भोजन-अनुभव करे, रागादि का भोजन-अनुभव न करे — यह शोभा है। अहा..! आत्मज्ञ संत-ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष कभी भी ज्ञान छोड़कर राग का अनुभव नहीं करते।

कलश-९ पर प्रवचन

देखो, यह नियमसार का जीव अधिकार है। उसमें दूसरी गाथा के बाद का यह नौवाँ कलश है। दूसरी गाथा में मोक्षमार्ग और उसका फल कहा है न ? अब उसका टोटल करते हैं अर्थात् संसार और उसका फल तथा मोक्षमार्ग और उसका फल कलश द्वारा कहते हैं।

यहाँ काम, अर्थ और मोक्ष — ऐसी तीन बातें ली हैं। कहते हैं —

‘मनुष्य कभी कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होनेवाले सुख की ओर गति करता है...’

अहा...! अनंतकाल में अनंतबार स्त्री के भोग के प्रति रति से उत्पन्न होते सुख की ओर इसने गति की है; परन्तु उसका फल दुःखरूप संसार मिला है। अहा..! यहाँ मोक्षमार्ग और उसका फल बताना है न ? तो पहले कुमार्ग का फल संसार परिभ्रमण का दुःख है यह कहते हैं।

शास्त्र में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का कथानक आता है। उसके एक स्त्रीरत्न थी, जिसकी सेवा हजार देव करते थे। वह उस स्त्रीरत्न में ऐसा तल्लीन रहता था कि मरण समय ‘कुरुमति....कुरुमति’ ऐसा करते-करते उसकी देह छूटी। परिणामस्वरूप वह नरक में जा पड़ा। अहा! कामिनी के प्रति तीव्र वासनायुक्त प्रेम के फल में वह तैंतीस सागर की आयु की स्थिति लेकर सातवें नरक में जा पड़ा। अहा! कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होते (कल्पना से माने हुए) सुख का यह फल है। उसने आत्मा से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियसुख की दरकार नहीं की, भगवान द्वारा कथित मार्ग का आचरण नहीं किया और काम से विवश ऐसे आचरण किये तो उनके फल में वह सातवें नरक में गया।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सात सौ वर्ष पर्यंत काम-भोग में लीन रहा, उसके फल में वह सातवें नरक की तैंतीस सागर की स्थिति में गया। अहा. ! यहाँ के एक श्वास के कल्पना के सुख के फल में उसको ११, ५६९२५ पल्योपम का नरक का घोर दुःख आ पड़ा। पल्योपम माने क्या ? एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते

हैं। एक श्वास के कल्पना के सुख का ऐसा फल यह सुख कहाँ है ? यह तो मात्र आकुलता ही है। अरे! इस जीव के भी ऐसे अनंतभव हुए हैं। (इसको पता नहीं है तो क्या हुआ? तीव्र मोहवश तीव्र काम-क्रोधादि का ऐसा ही फल होता है।)

अहाहा..! विषयलोलुपी जीव आत्मा के अनाकुल आनंद के सुख को भूलकर कभी काम के-विषय के सुख में लीन होता है। उस सुख की कल्पना में इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि उसके एक श्वास के माने गये सुख के फल में ग्यारह लाख छप्पन हजार नौ सौ पच्चीस पल्योपम के घोर-अतिघोर दुःख को प्राप्त करता है। इसको इतने भारी भयानक फल का विचार तक नहीं होता। भाई! जैसे मार्ग (रत्नत्रय) का फल मुक्ति है, वैसे ही काम-भोग का फल संसार है, दुःख है। इसप्रकार यह तो भोग की बात की, अब परिग्रह की बात करते हैं।

“और फिर कभी धनरक्षा की बुद्धि करता है.....”

क्या कहा ? पैसा प्राप्त करने की और उसकी रक्षा करने की बुद्धि करता है। ‘पैसा मेरा परमेश्वर और मैं पैसे का दास’ – ऐसा लोग बोलते हैं न ? इसीतरह अहा..! पैसे का दास-किंकर होकर उसकी रक्षा की बुद्धि करता है। तीव्र लोभवश परिग्रह बढ़ाने की और उसकी रक्षा की बुद्धि करता है तो वह भी नरक में जाता है और वहाँ असंख्य अरबों वर्षों तक असह्यदुःख को भोगता है अथवा तिर्यच आदि के दुख प्राप्त होते हैं। यदि तीव्र ममत्वादि हो तो मरकर निगोद में भी जाता है। अहा..! वहाँ इसके दुःख की क्या बात करना ? सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में निगोद में जाता है। वहाँ एक श्वास में अठारह भव करता है, उसके तीव्र दुःख को कौन कहे ? और वे भी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरपर्यंत। (एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम होते हैं।) अरे! भगवान जिनवर का मार्ग प्राप्त न होने से इसकी ऐसी करुणदशा हुई। अब कहते हैं —

‘जो पण्डित कभी जिनवर के मार्ग को प्राप्त करके निज आत्मा में रत हो जाते हैं, वे वास्तव में इस मुक्ति को प्राप्त होते हैं।’

देखो, गाथा में ‘जिणसासणे’ पाठ आया था न? वह यहाँ कहते हैं — वीतरागसर्वज्ञ परमेश्वर ने जो मार्ग कहा है, उस जिनवर के मार्ग को प्राप्त करके अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय मार्ग को प्राप्त करके जो पण्डित पुरुष निज आत्मा में रत

होते हैं.....। अहाहा....! अज्ञानी कामिनी में रत था अथवा धन की रक्षा में लीन था। जबकि यह पण्डित पुरुष निज आत्मा में लीन होता है। अहाहा.....! स्वयं पूर्णानंद का नाथ प्रभु है, उसमें यह लीन होता है तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता होकर वास्तव में मुक्ति को प्राप्त करता है। अहाहा...! इसके असंख्य समय के साधकभाव का-मोक्षमार्ग का फल अनंत.....अनंत सागरोपम का अर्थात् सादि-अनंतकाल का सुख इसको प्राप्त होता है। (यह सादि-अनंत अनंत-समाधिसुख-में लीन होता है।) अहा! असंख्यसमय निजस्वरूप में लीन होता है अर्थात् ऐसा जो असंख्यसमय का शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, उसका फल अनंतकाल की मुक्ति है, परमसुख की प्राप्ति है।

अहा! मोक्ष के लिए मोक्षमार्ग में असंख्यसमय तो चाहिए ही। तो इसके (मोक्षमार्ग के) एक समय का कितना फल आया ? अनंत.....अनंत कोड़ाकोड़ी, जिसका अन्त नहीं आवे इतने काल का सुख। मार्ग का ऐसा अलौकिक फल प्राप्त होता है; परन्तु क्या हो ? जीव विषय और धनरक्षा की प्रवृत्ति की आड़ में उस सुख से वंचित रहते हैं।

विषय के सुखवाले, पैसे की रक्षा करनेवाले और आत्मस्वरूप में लीन रहनेवाले — इन तीनों की बात यहाँ की है। जो निज-आत्मस्वरूप में लीन हैं, जिसने आत्मा में बुद्धि को रोका है, वह भगवान के कहे हुए शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग को प्राप्त करके आत्मा में ही रत होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। जबकि राग में-विषय-तृष्णा में, पुण्य-पाप के परिणाम में रत रहनेवालों को संसार और उसका दुःख प्राप्त होता है।

अहाहा...! जो पुण्य-पापादि रागादि से छूटकर निज भगवान आत्मा में लीन होता है, वह शुद्धरत्नत्रयरूप जिनमार्ग को पाता है। अहा! जिनमार्ग को पाकर सुख-सागर निज आत्मा में ही रत रहता है, वह वास्तव में उसके फल में मुक्ति को प्राप्त करता है, परमानंद को प्राप्त होता है। इसप्रकार यह मार्ग और मार्ग का फल कहा है; परन्तु अरे! अज्ञानी जीव इसके परिज्ञान बिना यों ही संसार में परिभ्रमण करके मरता है।

इसप्रकार यह दूसरी गाथा हुई। ●

चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। — पूज्य गुरुदेवश्री

नियमसार गाथा-३

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणितं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम् ।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम् ॥३॥

(हरिगीत)

जो नियम से कर्तव्य दर्शन-ज्ञान-व्रत यह नियम है ।
यह सार पद विपरीत के परिहार हित परिकथित है ॥३॥

गाथार्थ :— नियम अर्थात् नियम से (निश्चित), जो करनेयोग्य हो वह अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र । विपरीत के परिहार हेतु से (ज्ञान-दर्शन-चारित्र से विरुद्ध भावों का त्याग करने के लिए) वास्तव में “सार” ऐसा वचन कहा है ।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में), “नियम” शब्द को “सार” शब्द क्यों लगाया है, उसके प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रय का स्वरूप कहा है ।

जो सहज परम^१-पारिणामिकभाव से स्थित, स्वभाव-अनन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतना-परिणाम^२ सो नियम^३ (कारणनियम) है । नियम (कार्यनियम) अर्थात् निश्चय से (निश्चित) जो करनेयोग्य-प्रयोजनस्वरूप हो, वह अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र । इन तीनों में से प्रत्येक का स्वरूप कहा जाता है — (१) परद्रव्य का अवलम्बन लिए बिना निःशेषरूप से अन्तर्मुख योगशक्ति में उपादेय (उपयोग को सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख करके

१. इस परम-पारिणामिक भाव में “पारिणामिक” शब्द होने पर भी वह उत्पादव्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है तथा पर्यायार्थिकनय विषय नहीं है, यह परम-पारिणामिकभाव तो उत्पाद-व्यय-निरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है । (विशेष के लिए हिन्दी समयसार गाथा ३२०, श्री जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका और बृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका देखो।)
२. इस शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम में “परिणाम” शब्द होने पर भी वह उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है और पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है, यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम तो उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है ।
३. यह नियम सो कारणनियम है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप कार्यनियम का कारण है । (कारणनियम के आश्रय से कार्यनियम प्रगट होता है।)

ग्रहण करनेयोग्य) — ऐसा जो निज परमतत्त्व का परिज्ञान (जानना) सो ज्ञान है। (२) भगवान परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध अन्तःतत्त्व के विलास^१ का जन्मभूमिस्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न होनेवाला जो परम श्रद्धान वही दर्शन है। (३) निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में अविचल स्थिति (निश्चलरूप से लीन रहना) ही चारित्र है। यह ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप नियम निर्वाण का कारण^२ है। उस “नियम” शब्द को विपरीत^३ के परिहार हेतु “सार” शब्द जोड़ा गया है।

अब, तीसरी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है —

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भवाभामिन्यां समुद्भवमनंगशं यामि ॥१०॥

(वीरछन्द)

इसप्रकार विपरीत रहित सर्वोत्तम रत्नत्रय पाऊँ।
मुक्ति कामिनी से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख मैं नित भाऊँ ॥१०॥

श्लोकार्थ :- इसप्रकार में विपरीतरहित (विकल्परहित) अनुत्तम^४ रत्नत्रय का आश्रय करके मुक्तिरूपी रमणी से उत्पन्न अनङ्ग (अशरीरी, अतीन्द्रिय, आत्मिक) सुख को प्राप्त करता हूँ ॥१०॥

गाथा ३ पर प्रवचन

अहा....! गाथा में क्या कहते हैं ? कि ‘नियम अर्थात् नियम से (निश्चित) यत् कार्य जो करनेयोग्य हो वह.....’

तो क्या करनेयोग्य है ?

पर्याय देखो, पर्याय निश्चित-नियम से करनेयोग्य है।

१. विलास=क्रीड़ा, आनन्द, मौज।

२. कारण जैसा ही कार्य होता है, इसलिए स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तव में अनन्तकाल तक स्वरूप में स्थिर रह जाने का उपाय है।

३. विपरीत=विरुद्ध। (व्यवहारत्नत्रयरूप विकल्पों को-पराश्रित भावों को छोड़कर मात्र निर्विकल्प ज्ञानदर्शनचारित्र का ही-शुद्धरत्नत्रय का ही-स्वीकार करने हेतु “नियम” के साथ “सार” शब्द जोड़ा है।

४. अनुत्तम=जिससे उत्तम कोई दूसरा नहीं है - ऐसा सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ।

कौन-सी पर्याय ? तो कहते हैं ?

‘णाणदंसणचारितं’ ज्ञान को आदि में लेकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पर्याय करने-योग्य है — ऐसा कहते हैं। अहा...! नियम से जो करनेयोग्य है, वह निश्चयज्ञान-दर्शन-चारित्र की पर्याय करनेयोग्य है। निश्चय से यही कर्तव्य है; परन्तु व्यवहाररत्नत्रय की पर्याय कर्तव्य है — ऐसा नहीं हैं — ऐसा इसमें कहते हैं।

अहा..! पर में तो इसका कुछ कर्तव्य है ही नहीं, क्योंकि आत्मा पर का तो कुछ कर सकता ही नहीं है, वह तो मात्र मिथ्या मानता है कि मैं करता हूँ। (वरना पर में क्या करे? पर मैं इसका प्रवेश ही नहीं है।) और अशुभभाव भी करनेयोग्य नहीं है। अरे! वास्तव में तो व्यवहाररत्नत्रय का शुभभाव भी करनेयोग्य नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं। बहुत कड़क बात है बापू! परन्तु यह सत्य है। नियम से बस ज्ञान-दर्शन-चारित्र करने लायक है। भाई! करनेयोग्य बस यह निश्चयज्ञान-दर्शन-चारित्र है।

अहा! वे किसके आश्रय से होते हैं ?

वे द्रव्य के आश्रय से होते हैं। नियम से करनेयोग्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र — ये त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकस्वरूप आत्मद्रव्य के आश्रय से होते हैं, ये कोई पर्याय के आश्रय से नहीं होते; क्योंकि यह-पर्याय तो करनेयोग्य है। अहाहा...! इसका स्पष्टीकरण टीका में आयेगा। अरे भाई! तूने तो आजकल भव के (भव हो वैसे) कर्तव्य-कार्य किए हैं। अहा...! जो अकर्तव्य हैं, उनको तूने कर्तव्य माना है और उसी का फल यह संसार है।

यहाँ कहते हैं — पूर्णानंद का नाथ प्रभु अंदर स्वयं आत्मा है, उसका आश्रय लेकर नियम से करनेयोग्य तो बस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है अर्थात् आत्मा का ज्ञान, उसका श्रद्धान और उसका ही आचरण करने लायक है। अब यह बात जिसके कान में ही नहीं पड़े, उसको समझने का अवसर कहाँ है ? वह कब समझेगा ? अरे भाई ! (एक-एक करके) आयु के समय तो चले जा रहे हैं और तू मृत्यु के मुख में जा रहा है। तू समय-समय मृत्यु के नजदीक जा रहा है। अहा..! तू तो जानता है कि मैं कुछ बढ़ रहा हूँ-बड़ा हो रहा हूँ; परन्तु वास्तव में तो तू मृत्यु के समीप ही जा रहा है। (यदि इस वस्तुस्थिति की समझ अभी नहीं की तो फिर अवसर नहीं मिलेगा।) अहा..! कहते हैं कि करनेयोग्य हो तो यह शुद्धरत्नत्रय ही है।

लो, यहाँ से प्रारम्भ किया है कि निश्चय से जीव को करनेयोग्य होवे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह मोक्षमार्ग कर्तव्य है, जिसका फल सिद्धदशा अथवा मोक्ष है। तीर्थ और तीर्थ का फल — ऐसा (समयसार गाथा-१२ में) आता है न ? तिरने का उपाय वह तीर्थ और उसका फल पूर्णदशारूप मोक्ष है। दोनों पर्याय हैं। (एक साधक और दूसरी साध्य, तीर्थ अथवा मोक्षमार्ग साधक है और मोक्ष साध्य है।)

अब नियम के साथ जोड़े हुए 'सार' पद का प्रयोजन बतलाते हैं। कहते हैं —
 'विपरीत के परिहार हेतु से (ज्ञान-दर्शन-चारित्र भावों से विरुद्धभावों का त्याग करने के लिए) वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा है।'

लो, निश्चयरत्नत्रय से विरुद्धभावों के त्याग के लिए 'सार' पद जोड़ा है।

प्रश्न :— विपरीत माने मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ?

उत्तर :— यहाँ निश्चय से विपरीत व्यवहार की बात है, क्योंकि दोनों नयों का विषय परस्पर विपरीत-विरुद्ध है न! 'उभयनयविरोध' — ऐसा समयसार कलश-४ में आया है न! निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के परस्पर विरोध है; इसलिए विपरीतरूप व्यवहार ज्ञान-दर्शन-चारित्र के परिहार के लिए वास्तव में सार ऐसा वचन कहा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का 'सार' पद जोड़ने में यह आशय है।

अहाहा....! भगवान आत्मा ऊपर-सामान्य-सामान्य — ऐसे द्रव्य ऊपर-पर्याय कर्तव्य है — ऐसा यहाँ कहते हैं। प्रवचनसार (गाथा-५९) में भी आता है कि 'अनादि ज्ञान-सामान्यरूप स्वभाव ऊपर....' अहा...! वहाँ भी 'ऊपर' ऐसा शब्द है। तात्पर्य यह है कि अंदर द्रव्य तो त्रिकाल ज्ञानस्वभाव सामान्य है; परन्तु द्रव्य के ऊपर पर्याय में केवलज्ञान आदि प्रगट होते हैं। यह केवलज्ञानादि ऊपर है अर्थात् पर्याय में है; परन्तु अंदर में नहीं, द्रव्य में नहीं। अहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। यहाँ कहते हैं कि द्रव्य के आश्रय से ऊपर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है — वह नियम से कर्तव्य है।

अहाहा...! अंदर भगवान आत्मा सच्चिदानंदप्रभु अपना परमेश्वर है। उसका ही ज्ञान, उसका ही श्रद्धान और उसमें ही अवस्थितिरूप आचरण, बस यह करनेयोग्य है, तथा 'सार' पद लगाकर उससे विरुद्ध जो व्यवहाररत्नत्रय है, उसका परिहार किया है अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय का परिहार करने के लिए 'सार' पद लगाया है। भाई! व्यवहाररत्नत्रय

है, वह परिहार करनेयोग्य है और यह निश्चयरत्नत्रय करनेयोग्य है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अहा! वीतरागमार्ग ऐसा है। लोगों को कड़क और सूक्ष्म लगता है; परन्तु यही करने से छुटकारा है—मुक्ति है। इसके बिना अन्यत्र कहीं अनाकुल शान्ति संभव नहीं है।

अरे! चौरासी के अवतार में भ्रमते-भ्रमते बाहर में अधिक-महान दिखने के लिए इसने कैसे-कैसे भाव किए हैं! परन्तु अंदर में मैं राग से भिन्न और पर्याय से भी भिन्न चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ — ऐसा भाव एक क्षण भी नहीं किया। अहा...! इसको ऐसे निज चैतन्यपद की महिमा भासित नहीं हुई। व्यवहार की महिमा भासित हुई; परन्तु अंदर निज-चैतन्यदेव की महिमा भासित नहीं हुई; इसीलिए कहते हैं कि व्यवहार परिहार करनेयोग्य है। यह देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, शास्त्रपठन का राग और पंचमहाव्रत पालन का राग — इस राग के आचरण का परिहार करने के लिए 'सार' पद जोड़ा है भाई! सारा ही व्यवहार छोड़नेयोग्य-हेय है, आदरणीय नहीं है। यह बात भले ही कठिन लगे; परन्तु यह सत्य है।

गाथा ३ की टीका पर प्रवचन

'यहाँ (इस गाथा में) नियम शब्द को 'सार' शब्द क्यों लगाया है, उसके प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रय का स्वरूप कहा है।'

'नियमसार' इसमें 'सार' शब्द क्यों लगाया है — इसका स्पष्टीकरण मुनिराज ने कर दिया है। कहते हैं — उसके द्वारा स्वभावरत्नत्रय का प्रतिपादन किया है। अहा...! व्यवहाररत्नत्रय, वह स्वभावरत्नत्रय नहीं है, वह तो विभाव है। जो शुद्धरत्नत्रय इसमें कहेंगे, वह स्वभावरत्नत्रय है और उसमें विभाव का अभाव है।

प्रश्न :— शुद्धरत्नत्रय को स्वभावरत्नत्रय कहा है, तो क्या उसके प्रगटने पर गुण प्रगटता है ? क्योंकि स्वभाव माने गुण — यह अर्थ है न ?

समाधान :— नहीं, वह गुण नहीं है, वह तो पर्याय है। यहाँ स्वभाव कहने का अर्थ यह है कि जो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, वह विभाव है, जबकि यह शुद्धरत्नत्रय स्वभाव है। हैं तो दोनों पर्याय। शुद्धरत्नत्रय को स्वभावरत्नत्रय कहा है; इसलिए वह गुण है अर्थात् सम्यग्दर्शन गुण है, सम्यग्ज्ञान गुण है, सम्यक्चारित्र गुण है — यह अर्थ नहीं है, वह है तो पर्याय; परन्तु अवगुण (विभाव) मिटकर वह पर्याय

प्रगट हुई है, इसलिए उसको स्वभाव कहा है। अहा..! जिसमें विभाव का अभाव है — ऐसे निज त्रिकालीस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र स्वभावरूप है, विभाव नहीं। इसप्रकार यहाँ स्वभावरत्नत्रय का, निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है। अब कहते हैं —

‘जो सहज परम-पारिणामिकभाव से स्थित, स्वभाव-अनंत चतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम सो नियम (कारणनियम) है।’

अहा...! कारणनियम को बतलाते हुए यहाँ दो बोल लिए हैं —

(१) ‘जो सहज परम-पारिणामिकभाव से स्थित’, देखो! इसमें ‘पारिणामिक’ शब्द आया है।

(२) ‘स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम...’ इसमें भी ‘परिणाम’ शब्द आया है। अब इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसतरह है —

(पहले बोल की व्याख्या) ‘इस परम-पारिणामिकभाव में ‘पारिणामिक’ शब्द होने पर भी, वह उत्पादव्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है तथा पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है, यह परम-पारिणामिकभाव तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है।’

क्या कहा? ‘पारिणामिक’ ऐसा शब्द है, वह बदलता-पलटता भाव है — ऐसा बताने के लिए नहीं है। अहाहा.....! पारिणामिकभाव है, वह बदलता-पलटता-परिणामताभाव है — ऐसा नहीं है। अहा.....! यह ‘पारिणामिक’ शब्द सम्प्रदाय में तो कभी सुना भी नहीं हो। अहा! ये पाँचभाव हैं न, उनमें उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक — ये चार भाव क्षणिक पर्यायरूप हैं और एक परम-पारिणामिकभाव त्रिकाली ध्रुवभाव है। क्षायिकभावपने रहे हुए केवलज्ञान और सिद्धदशा है, वह पर्याय है, गुण नहीं।

अहा....! यह पारिणामिकभाव है सो त्रिकाली ध्रुवभाव है, यह वर्तमान पलटती-बदलती उत्पादव्ययरूपदशा नहीं है। अहा! अवस्थारूप से उत्पन्न हो और नष्ट हो, वह पर्यायभाव यह नहीं है। आशय यह है कि यहाँ पारिणामिक शब्द पर्याय के-परिणाम को बतलाने के लिए नहीं है। अहा...! ‘पारिणामिक’ शब्द तो त्रिकालीभाव को, सहज-भाव को, नहीं पलटते-नहीं बदलते भाव को, उत्पादव्ययरहित सदा एकरूप स्थित भाव को बतलाने के लिए है। उत्पादव्ययरूप भाव को परिणाम और इस परमभाव को

‘पारिणामिक’ कहा जाता है, तथापि यह ‘पारिणामिक’ शब्द उत्पादव्ययरूप परिणामन को सूचित करने के लिए नहीं है। अब ऐसी बात कहाँ सुनने को मिलती है।

अहा! वास्तव में जो यह पारिणामिकभाव है, वही अपरिणामी है।

प्रश्न :— तो फिर उसे पारिणामिक क्यों कहा ?

उत्तर :— क्योंकि वह सहजभाव है; इसलिए पारिणामिक कहा है। (अन्वयरूप त्रिकाल है, इसलिए पारिणामिक कहा है।)

प्रश्न :— तो फिर उसको अपरिणामी क्यों कहते हो ?

उत्तर :— क्योंकि वह पलटता-बदलता नहीं है; इसलिए अपरिणामी कहा है। इसप्रकार एक ही भाव के दो नाम हैं। यह पारिणामिकभाव ध्रुव एकाकार है, जबकि मोक्ष का मार्ग पर्यायरूप भाव है, पर्याय है, पलटता भाव है।

अहाहा.....! परमपारिणामिक भाव में ‘पारिणामिक’ शब्द कहा है; परन्तु वह, जो पलटता-बदलता है — ऐसे उत्पादव्यय को-परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है तथा वह पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है। अहा....! पारिणामिक शब्द कहा; इसलिए पारिणामिकभाव पर्यायार्थिकनय का विषय है — ऐसा नहीं है, क्योंकि वह (पारिणामिकभाव) तो त्रिकालध्रुव है, नित्य...नित्य ऐसा अनादि-अनंत अविनाशी है तथा जो पर्यायार्थिकनय का विषय उत्पादव्ययरूप परिणामन है, वैसा यह भाव नहीं है; इसलिए यह पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है। भाई! ऐसी सूक्ष्म बात है! भाषा तो सादी है; परन्तु भाव बहुत गंभीर है।

अहाहा....! भगवान आत्मा वस्तु है या नहीं ? है न। है तो अस्ति है न ? सत्ता है न ? होनेवाला (तत्त्व) है न ? अहा ! इस होनेवाले (अस्तिरूप) भाव ऐसे आत्मा में दो अंश हैं; एक बदलता अंश और दूसरा त्रिकाल टिकता अंश। जो त्रिकाल टिकता ध्रुव अविनाशी अंश है, उसको पारिणामिक कहा है; परन्तु वह (पारिणामिक) उत्पादव्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं कहा है। अहा....! समझ में आया ? यह तो वीतराग-विज्ञान है बापू!

फिर कहते हैं — ‘यह परम-पारिणामिकभाव तो उत्पादव्यय निरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

क्या कहा ? उत्पादव्ययरूप मोक्षमार्ग की जो अवस्था होती है, उससे यह परम-पारिणामिकभाव निरपेक्ष एकरूप है, भिन्न है; कारण कि उत्पादव्यय-नई अवस्था उत्पन्न होना और पुरानी अवस्था का व्यय होना — ऐसा कहते ही दो भाव हो गये, जबकि यह पारिणामिकभाव तो एकरूप है। अहा ! जो उपजे और विनशे — ऐसी अवस्था-पर्याय की अपेक्षारहित यह चीज है। अहा..... ! यह त्रिकाल ध्रुव....ध्रुव....ध्रुव...नित्य... नित्य...नित्य — ऐसी अनादि-अनंत अविनाशी चीज है। अहा ! परम-पारिणामिकभाव-एक ज्ञायकभाव जो है....है....है — ऐसे त्रिकाल हैपने विद्यमान है, उसको यहाँ 'पारिणामिक' शब्द सूचित करता है।

अहा..... ! यह पारिणामिकभाव द्रव्यार्थिकनय का विषय है। माने क्या ? कि द्रव्य-वस्तु, अर्थ=प्रयोजन। द्रव्य जिसका प्रयोजन है अर्थात् जिसका प्रयोजन अखण्ड अभेद एकरूप त्रिकालीवस्तु है, वह द्रव्यार्थिकनय है और यह पारिणामिकभाव है, वह इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय का विषय है। पर्यायार्थिकनय वर्तमान उत्पादव्ययरूप बदलती अवस्था-पर्याय को बतलाता है, जबकि द्रव्यार्थिकनय त्रिकाली एकरूप द्रव्य को बतलाता है।

प्रश्न :— यह तो ठीक; परन्तु यह सब सीखने के बदले छहकाय की दया नहीं पालें..... ?

उत्तर :— छहकाय की दया कौन पाले ? अब सुन तो, (पर में तो आत्मा का कुछ कर्तव्य ही नहीं है।)

प्रश्न :— देश की सेवा करें तो ? (जनसेवा वह प्रभुसेवा — ऐसा कहा है न ?)

उत्तर :— भाई ! देश कहाँ तेरी वस्तु है, वह तो बाहर की अन्य चीज है। भाई ! तेरा देश तो यहाँ (अंतर में) है। अहाहा... ! असंख्यप्रदेशी अनंतगुणों का सम्पूर्ण समाज तेरा देश है। अहाहा.... ! अनंतगुणों का वास्तु ऐसा तेरा देश है। अहाहा.... ! लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने असंख्यातप्रदेशी तेरा देश है भगवान ! और उसमें अनंतगुणों का समाज बसता है। अहा.. ! इतना बड़ा देश और उसमें इतनी बड़ी संख्या (में गुण) बसते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद, वीर्य, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, करण, सम्प्रदान, जीवत्व आदि। अहाहा.... ! अनंत-अनंत शक्तिरूपी समाज का जिसमें एकमेकपने वास

है — ऐसा महान देश प्रभु! तू आत्मा है, और वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अहाहा..! वह ज्ञान का परमज्ञेय और ध्यान का (एकमात्र) ध्येय है। अहा..! ऐसा तेरा तत्त्व बहुत सूक्ष्म है प्रभु!

प्रश्न :— परन्तु यह सब कितना याद रखना ?

उत्तर :— इसमें तो बहुत थोड़ा याद रखने का है। व्यापार-धंधे में कितना याद रखते हैं ? यह तो रुचि का सवाल है। जिसकी रुचि जिसमें होती है, उसे याद रख लेता है।

समयसार की ३२०वीं गाथा की जयसेनाचार्य की टीका में कहा है कि जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह पारिणामिकभावपने है और जो व्यक्तिरूप मोक्ष है; वह क्षायिकभावपने है। अहा....! यह जो व्यक्तिरूप मोक्ष है, वह तो नई उत्पादव्ययरूप पर्याय-परिणाम है और वह पर्यायार्थिकनय का विषय है, जबकि शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो क्षायिकभाव से भी निरपेक्ष त्रिकाल एकरूप भाव है और वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। इस गाथा पर विस्तार से प्रवचन हो गये हैं। (वहाँ से विशेष जान लेना चाहिए।)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह की १३वीं गाथा की टीका में भव्य-अभव्य की बात आती है। वहाँ पारिणामिकभाव के शुद्ध-अशुद्ध — ऐसे दो प्रकार लिए हैं। भव्य-अभव्य के भेद पड़े — यह अशुद्ध-पारिणामिकभाव है और दसप्राणरूप जीवत्व भी अशुद्ध-पारिणामिकभाव है और वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। भेद है, अनेकपना है; वही अशुद्ध है। इसलिए वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। अभेद एकरूप अखण्ड है, वह शुद्ध है (शुद्ध पारिणामिकभाव है) और वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

इसप्रकार यह पारिणामिकभाव की व्याख्या की। अब इस पारिणामिकभाव में क्या स्थित है ? तो कहते हैं कि सहज परम-पारिणामिकभाव से स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम स्थित है और वह नियम (कारणनियम) है।

देखो! क्या कहा ? कि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत-आनंद तथा अनंतवीर्य — ऐसे स्वभावचतुष्टयमय, जो शुद्धज्ञानचेतना है; वह परम-पारिणामिकभाव में स्थित है। यह त्रिकाली ज्ञानचेतना की बात है। अहो! पहले त्रिकाली परम-पारिणामिकभाव कहा और अब उसमें रहे हुए स्थितस्वभाव अनंतचतुष्टय — ये गुण कहे और उस स्वभाव अनंत-चतुष्टय का एकरूप, वह शुद्धज्ञानचेतना है — ऐसा लिया। समझ में आया ?

प्रश्न :— यह अनन्तज्ञानादिचतुष्टय से क्या ध्रुव लेना है ?

उत्तर :— हाँ, ध्रुव लेना, क्योंकि ये त्रिकाली गुण हैं। 'स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम' — ऐसा लिया है न! मतलब कि स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक अर्थात् स्वभाव अनन्तज्ञानादि चार, उनका एकरूप वह शुद्ध ज्ञानचेतनापरिणाम है — ऐसी सूक्ष्म बात है प्रभु!

प्रश्न :— तो क्या यह कारणशुद्धपर्याय है ?

उत्तर :— नहीं, यहाँ तो त्रिकाली गुण की बात है। कारणशुद्धपर्याय की बात तो पन्द्रहवीं गाथा में आगे आयेगी। यहाँ तो कहते हैं — परम-पारिणामिकभाव में-त्रिकाली ध्रुवभाव में स्थित रहे हुए शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है। अब यहाँ जो 'परिणाम' कहा है (जो 'परिणाम' शब्द है), उसकी व्याख्या करते हैं। पहले त्रिकाली परम-पारिणामिकभाव की व्याख्या की थी और अब उसमें स्थित शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम की व्याख्या करते हैं। देखो! गाथा के नीचे फुटनोट —

“इस शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम में 'परिणाम' शब्द होने पर भी वह उत्पादव्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है और पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है, यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है।”

शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम में 'परिणाम' शब्द है, वह उत्पादव्ययरूप अवस्था को सूचित करने के लिए नहीं है; क्योंकि त्रिकाली परम-पारिणामिकभाव में स्थित रहे हुए भाव को यहाँ 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम' कहा है। अहा! पहले त्रिकाली परम-पारिणामिकभाव में 'पारिणामिक' शब्द उत्पादव्यय को सूचित करने के लिए नहीं है — ऐसा कहा था और अब कहते हैं — 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम' में 'परिणाम' शब्द उत्पाद-व्यय को सूचित करने के लिए नहीं है। (यह तो ध्रुव में स्थित ध्रुव गुणों की बात है।)

फिर कहते हैं — वह 'पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है।' अहा! यह त्रिकाली शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम पर्याय को-वर्तमान वर्तती अवस्था को विषय करनेवाले पर्यायार्थिक-नय का विषय नहीं है। यह तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है, ध्रुव है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अहा! सब शब्द एक ही हैं (ऊपर के पारिणामिकभाव के बोल जैसे ही हैं।) अहाहा...! परम-पारिणामिकभाव से स्थित स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक

शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम में 'परिणाम' शब्द उत्पादव्ययरूप परिणाम को सूचित करने के लिए नहीं है।

तो वह क्या सूचित करता है ?

अहाहा...! परम-पारिणामिकभाव की तरह 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम' भी ध्रुवपने को सूचित करता है। अहाहा...! नियम, जो मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है, उसके कारणरूप ऐसा ध्रुव...ध्रुव नियम (कारणनियम) अंदर है — ऐसा कहते हैं। अहो! इनकी (पद्मप्रभमलधारिदेव की) सारी शैली ही ऐसी है और वहाँ से (कार्यनियम के साथ में कारणनियम कहकर) प्रारम्भ की है। फिर आगे प्रायश्चित आदि के बोल में भी कहेंगे। (आत्मा प्रायश्चितस्वरूप है — ऐसा कहेंगे।)

अहाहा....! नियम से करनेयोग्य तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हैं; परन्तु वे उत्पन्न कैसे हों ? किसके आश्रय से उत्पन्न हों ?

तो कहते हैं — त्रिकाली शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम, जोकि परम-पारिणामिकभाव में स्थित है, उसके आश्रय से उत्पन्न होते हैं। अहा...! परम-पारिणामिकभाव में जो स्थित है, वह भी परम-पारिणामिकभाव से ही है। क्या कहा ? अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत-आनंद और अनंतवीर्य का एकरूप, जोकि स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है, वह भी त्रिकालीरूप पारिणामिकभावरूप ही है, ध्रुव भावरूप है; नित्यभावरूप है, एक सदृशभावरूप है और वह उत्पाद-व्यय निरपेक्ष एकरूप है तथा वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अहाहा....! ऐसा वह नियम (कारणनियम) है। अब सम्प्रदाय में तो इस बात की गंध भी नहीं है।

सूक्ष्म बात है प्रभु! कहते हैं — अंदर वस्तु है, उसमें त्रिकाल टिकता अंश; जो ध्रुव एकरूप है, वह परम-पारिणामिकभावरूप है और उस रूप शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है — ऐसा यहाँ बतलाना है। अहाहा...! मोक्ष का मार्ग, जो कि नियम से करनेयोग्य है, वह इस ध्रुव के आश्रय से होता है; इसलिए उस ध्रुव को भी नियम (कारणनियम) कहा गया है।

भाई! यह तो महाभाग्य हो तो ही सुनने को मिले — ऐसी चीज है; क्योंकि यह परमसत्य बात है। अहाहा....! टीकाकार ने क्या (रहस्य) निकाला है। 'नियमेण य

जं कज्जं' नियम, कार्यनियम बतलाना है, उसमें से यह निकाला है कि कार्य है तो उसका कारण भी नियमरूप त्रिकाल है; क्योंकि द्रव्य का त्रिकालीस्वरूप (कारणनियम) न होवे तो, जो उसकी एकसमय की पर्याय (कार्यनियम) कहाँ से प्रगट होता है ? इसलिए कार्यनियम जिसके आश्रय से प्रगट होता है, वह त्रिकाली-कारणनियम विद्यमान है ही। यह तो प्रायश्चित्त अधिकार में भी आयेगा कि स्वभाव अपेक्षा से जीवद्रव्य को भी प्रायश्चित्त कहना। (गाथा-११६)

अहाहा.....! अंदर शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम — ऐसा जो ध्रुव त्रिकालीभाव है, वह कारणनियम है। यह त्रिकाली-कारणनियम ध्रुववस्तु स्थित है; इसलिए ध्रुव है, जबकि यह जो मोक्ष का मार्ग है, वह कार्यनियम है; पर्याय का नियम है और वह त्रिकालीध्रुव-कारणनियम के आश्रय से प्रगट होता है। जो त्रिकाली कारणनियम है, उसके आश्रय से कार्यनियम प्रगट होता है। समझ में आता है? यह समझ में आवे ऐसा है; परन्तु ध्यान तो रखना चाहिए न!

अहाहा.....! यहाँ इस कारणनियम की बात की, वह अज्ञानी के जो व्रत, तप, प्रत्याख्यान हैं, वे यह नियम नहीं हैं और जो व्यवहाररत्नत्रय है; वह भी यह नियम नहीं है तथा नियम से करनेयोग्य निश्चयरत्नत्रय है, वह भी नियम नहीं है। भाई! यह तो त्रिकालीध्रुव वस्तुस्थित त्रिकाली-कारणनियम की बात है। लोग (अज्ञानी) कहते हैं न — 'कुछ नियम लो...कुछ नियम लो...' अब उनको तो नियम की (कारणनियम-कार्यनियम की) गंध भी नहीं है। अहाहा...! व्यवहाररत्नत्रयरूप जो नियम, वह यह नहीं और निश्चयरत्नत्रयरूप जो नियम वह भी यह नहीं, यह तो इनसे अलग चीज है बापू! यह तो त्रिकालीध्रुव-कारणनियम की बात है। अहो ! यह तो वीतरागसर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित अलौकिक पदार्थविज्ञान है। यह तो वीतरागी-विज्ञान है प्रभु!

पाठ में (गाथा में) 'नियम से करनेयोग्य' — ऐसी कार्य से-कार्यनियम से बात है, तो उसमें से यह दूसरा भाव निकाला कि त्रिकालीध्रुव-कारणनियम भी है। अहो! गजब की शैली है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव की यह शैली है कि गाथा में अस्ति से (कथन) हो तो उसमें से नास्ति की बात भी निकालते हैं और गाथा में नास्ति हो तो उसमें से अस्ति की बात भी निकालते हैं। इसीप्रकार यहाँ इन्होंने (पद्मप्रभमलधारिदेव ने) पाठ में कार्य है तो उसके कारणद्रव्य की बात निकाली है। अहाहा...! कार्य है तो उसके

कारणरूप से त्रिकाल अस्तिरूप कारणद्रव्य है — ऐसा निकाला है। अहाहा..! कार्य नियम है, तो उसके कारणरूप त्रिकाल कारणनियम भी है और वह परम-पारिणामिकभाव से स्थित है — ऐसी अलौकिक बात निकाली है।

व्याख्या तो कार्यनियम की करनी है; परन्तु उसके पूर्व कारणनियम सिद्ध करते हैं। कहते हैं — ‘सहज परम-पारिणामिकभाव से स्थित स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञान चेतनापरिणाम, वह नियम (कारणनियम) है।’ अहाहा....! त्रिकालीध्रुव में रहा हुआ ऐसा जो त्रिकाली ध्रुवभाव स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है, वह कारणनियम है; वह उत्पादव्यय निरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अहो! यह तो अद्भुत-अलौकिक बात निकाली है।

अब जो गाथा में है, उस वर्तमान कार्यनियम की बात करते हैं —

‘नियम (कार्यनियम) अर्थात् निश्चय से (निश्चित), जो करनेयोग्य-प्रयोजनस्वरूप हो; वह अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र।’

लो, अब गाथा का अर्थ आया। नियम माने करने योग्य-प्रयोजनस्वरूप कार्य ऐसा मोक्षमार्ग अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र। यह कार्यरूप नियम है। इसका कारण पहले सिद्ध किया है कि त्रिकाल भगवान आत्मा में जो त्रिकाली शुद्धज्ञानचेतनाभाव है, वह कारणनियम है और उसके आश्रय से कार्यनियम, जोकि मोक्ष का मार्ग है, वह प्रगट होता है। (कारण-कार्य की ऐसी संधि है।) मोक्ष का मार्ग वह कार्यनियम और त्रिकालीध्रुव शुद्धज्ञानचेतनाभाव, वह कारणनियम है। अहो! आचार्यदेव ने अलौकिक भाव निकाले हैं।

प्रश्न :— आप (अंत=स्थित) कारण-कारण — ऐसा कहा करते हो, तो उसका कार्य तत्काल आना चाहिए न ? कारण विद्यमान है तो कार्य तुरन्त आना ही चाहिए ?

सामाधान :— हाँ, इससे कौन इंकार करता है ? परन्तु कार्य कब आयेगा ? अहाहा...! स्वयं अन्तर्मुख होकर ‘यह कारण है’ — ऐसा जब ज्ञान में स्वीकार करे, तब आयेगा। ‘यह कारण है’ — ऐसा स्वीकार करे, तब उसको कारण कहा जाता है न ? हाँ, तब वह कारण होता ही है और कार्य भी आता ही है। अंदर ज्ञान में ‘यह कारण है’ — ऐसा स्वीकार आये बिना कारण कहना किसको ?

प्रश्न :— बहुत स्पष्ट नहीं हुआ (कृपया विशेष स्पष्ट कीजिये) ?

समाधान :— अहाहा.... ! जब इस कारण अर्थात् परम-पारिणामिकभाव में स्थित, जो स्वभाव अनंतचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतना, जो स्वभाव परिणाम का पर्याय में-ज्ञान में स्वीकार होता है, तब वह कारण है — ऐसा सिद्ध होता है न ? तो जब कारण ज्ञान और प्रतीति में आता है, तब कार्य हुए बिना नहीं रहता। (कारण का ज्ञान और प्रतीति ही कार्य की सिद्धि है।) इसको जरा न्याय से समझना पड़ेगा प्रभु! ये तो अंदर की बातें हैं भगवान!

गाथा में तो कार्यानियम की बात है; परन्तु उसमें से टीकाकार ने कारणनियम निकाला है। अहा... ! आत्मा को सुखरूप-आनंदरूप — ऐसा जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वह तो पर्याय है, अवस्था है, कार्य है। अहा! इस कार्य का कारण कौन ? तो कहा कि त्रिकाली एक ज्ञायकभाव में स्थित शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम वह कारण है और अन्तर्मुख होकर उस त्रिकाली नियम की ज्ञान प्रतीति करे, तब वह 'है' — ऐसा इसकी श्रद्धा में आता है और तब यह ज्ञान-श्रद्धानरूप कार्य हो ही गया (हुए बिना नहीं रहा।) अहाहा... ! 'यह कारणनियम है' — ऐसा जहाँ ज्ञान में स्वीकार हुआ, वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय परिणामी, अतीन्द्रिय आनंद का परिणामन हो गया। भाई! यह कारण है — इसप्रकार उसके अस्तित्व का ज्ञान में स्वीकार करनेवाले को नियम से कार्य आता ही है — ऐसी अंतर की बात है प्रभु!

अहा ! अज्ञानी को ऐसा (लगता) है कि कारणनियम है तो कार्य आना ही चाहिए। भाई! इससे कौन इन्कार करता है ? परन्तु कब और किसको ? कारण है, उसके अस्तित्व को अपने ज्ञान में स्वीकार करे, तब उसको कार्य आता ही आता है, आये बिना नहीं रहता; परन्तु जिसको कारण का पता ही नहीं हो, प्रतीति ही नहीं हो; उसको कार्य कहाँ से आयेगा ? (इसीलिए तो अज्ञानी के कार्य प्रगट नहीं होता है।)

अहा! वस्तुस्थित त्रिकाली ध्रुव अंश है, उसको कारणनियम कहा और अब कहते हैं कि कार्यानियम अर्थात् 'निश्चय से जो करनेयोग्य हो वह। 'कारणनियम ऊपर पर्याय का करना-अवस्था का करना, वह निश्चय से करनेयोग्य है। (यहाँ 'कारणनियम ऊपर' — ऐसा कहा है, इसका आशय है कि कारणनियम में नहीं; परन्तु उसके ऊपर पर्याय में पर्याय का करना) तथा कार्यानियम 'प्रयोजनस्वरूप' है। इसप्रकार दो अर्थ किये हैं। देखो, पाठ में है — 'निश्चयपने यत् कार्य प्रयोजनस्वरूपं' अर्थात् कार्यानियम माने

जो नियम से करनेयोग्य है, वह प्रयोजनस्वरूप। अहाहा....! प्रयोजन तो द्रव्य का आश्रय लेना, वह है। अहा...! ऐसा करने से जो पर्याय प्रगट हुई, वह प्रयोजनस्वरूप है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। कार्यानियम प्रयोजनस्वरूप है।

अहा...! भगवान आत्मा वस्तु है, वह त्रिकाल अस्ति-सत्तावाला-भाववाला पदार्थ है और ऐसे त्रिकालीभाव में-ध्रुवभाव में स्थित शुद्धज्ञानचेतना भी त्रिकाल ध्रुवभावमय है। अहा! ऐसे त्रिकालीशुद्ध एक ज्ञायकभाव के-ज्ञानमात्रभाव के सन्मुख होकर, जिसने उसका स्वीकार किया; उसको निश्चय से करनेयोग्य कार्य हुआ अर्थात् वह प्रयोजनस्वरूप हुआ — ऐसी अपूर्व बात है।

अहाहा.....! कहते हैं - 'नियम (कार्यानियम) अर्थात् निश्चय से जो करनेयोग्य-प्रयोजनस्वरूप हो वह, अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्र।' लो, यहाँ पहले ज्ञान से शुरुआत की है, क्योंकि इस चीज में से (आत्मा में से) उसका व्यापार होकर ज्ञान न आवे, वहाँ तक श्रद्धान कैसा ? अहा! ज्ञान में 'यह चीज मैं हूँ' — ऐसा भान न हो, वहाँ तक 'यह आत्मश्रद्धान' — ऐसा कहना किसको ?

अहाहा....! यहाँ कहते हैं कि यह ज्ञान-दर्शन-चारित्र नियम से करनेयोग्य कार्य है अर्थात् वह आत्मा को प्रयोजनस्वरूप है। भाई! ये सब जगत के कार्य होते हैं, उन्हें मैं करता हूँ — यह मान्यता अप्रयोजनभूत है; क्योंकि वह अज्ञानमय है, आत्मा को दुःखदायी है, पाखण्ड है और प्रयोजनस्वरूप में बाधक है तथा जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे भी अप्रयोजनस्वरूप कार्य हैं, क्योंकि वे दुःखदायक हैं।

जीव को आनंद चाहिए न ? तो यह कार्यानियम आनंददायक-सुखदायक है — ऐसा कहते हैं। अहा! आनंद का प्रगटना प्रयोजनभूत है और वह इसका नियमरूप कार्य है। अहाहा...! अतीन्द्रिय आनंद का आस्वाद देनेवाली आह्लादरूप पर्याय जीव को प्रयोजनस्वरूप है; क्योंकि जीव का प्रयोजन सुख है और इसीलिए अतीन्द्रिय सुखमय परिणमन हो, वह जीव को प्रयोजनस्वरूप है — ऐसा सुखमय परिणमन इन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप है; इसलिए अनाकुल आनंद को देनेवाली सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की पर्याय प्रयोजनस्वरूप है और निश्चय से करनेयोग्य है।

अहा....! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है बापू! आता है न कि —

‘हरि का मारग है शूरों का, नहिं कायर का काम’

अहा...! इस मार्ग में नपुंसक खड़े नहीं रह सकते, वे तो वापस फिर जाते हैं। इसलिए हे वीरपुरुष! तेरी वीरता यह है कि करनेयोग्य प्रयोजनस्वरूप परिणति के कार्य को कर — ऐसा कहते हैं। पहले झटके ही यह बात ली है। कहते हैं — भगवान! तू पूर्ण है न प्रभु ! अहाहा....! हम जो यह कार्यानियम कहते हैं, उसके उत्साह का अक्षयस्थान-क्षेत्र-धाम तू है न! अहाहा...! जिसमें से प्रयोजनस्वरूप कार्य करना है, उस कारणपने अन्दर पूर्णस्वरूप से (तुम) विद्यमान हो। (उसमें एकाग्रता करके लीन हो जा, तो प्रयोजनस्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप कार्य प्रगट होगा।) अहा! धर्म की बात ऐसी अलौकिक है।

अब अज्ञानी तो दूसरों की सेवा करें — मकान, कपड़े, अनाज आदि दें तो धर्म होगा — ऐसा मानता है; परन्तु भाई ! कौन दे और कौन ले ? सुन तो सही प्रभु ! वह तो वैसा विकल्प होता है, तब वैसी क्रिया होनेयोग्य हो तो होती है। (होती ही है — ऐसा नियम नहीं है।) अरे ! विकल्प भी दुःखदायक है, अप्रयोजनभूत है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अब अज्ञानी यह सुनकर विवाद करता है; परन्तु क्या हो सकता है? वस्तुस्थिति ही ऐसी है। दया, दान आदि के विकल्प अप्रयोजनरूप दुःखदायक ही हैं।

भाई! तेरा प्रयोजन तो आनंद का-अनाकुल आनंद का है; इसलिए जिससे अतीन्द्रिय आनंद का प्रयोजन सिद्ध हो, उसको यहाँ कार्यानियम कहा है और उस कार्यानियम के उत्पन्न होने का क्षेत्र-अक्षयधाम तो कारणनियमरूप से भरपूर भरा है। अहाहा...! जिसमें से कार्य-प्रयोजनस्वरूप सुखमय कार्य का प्रवाह आया ही करे — ऐसे कारण से भरपूर भरा प्रभु! तू सदा पूर्णतत्त्वस्वरूप है — ऐसा कहते हैं। अहा..! यदि इसप्रकार स्वरूप न हो तो कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती।

समझ में आवे उतना समझना बापू! भाषा तो बहुत सादी है और भाव भी सीधा-सरल है। सत् तो सरल ही होता है न ? अहा ! अंदर भगवान आत्मा स्वयं पूर्णानंद का नाथ प्रभु है; परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि राग अथवा एकसमय की पर्यायमात्र में हूँ — ऐसी इसके वर्तमान प्रगट पर्याय में-अवस्था में ही अनादिकाल से आत्मा की रमत मांडी है (आत्मबुद्धि की है); परन्तु इस रमत के पीछे त्रिकाल सच्चिदानंदस्वरूप स्वयं है, उस पर इसकी नजर गई ही नहीं है। गजब है न! कि इसने अनंतकाल में

प्रगट पर्याय में नजर की है; परन्तु अपनी सम्पूर्ण चीज-अक्षय अनादि-अनंत, वस्तु-सुखधाम, उसमें इसने नजर नहीं की है।

यहाँ कहते हैं — भगवान! तू महान है, सच्चिदानंदमय भगवान है। परन्तु अरे! अपनी वर्तमानदशा के अंश सिवाय, मैं एक महान त्रिकाल चिन्मात्रवस्तु हूँ — ऐसा विश्वास इसको कभी नहीं आया। अरे रे ! अपने को अपना विश्वास नहीं आया। दोपहर के व्याख्यान में आया था न कि (ज्ञानी की) वर्तमानपर्याय ऐसा जानती है कि यह त्रिकाली ध्रुववस्तु है, वह मैं हूँ। पर्याय मैं हूँ — ऐसा जो अनादि का (शल्य) था, वह पलटकर वर्तमानदशा-पर्याय ऐसी जानती-अनुभवती है कि यह त्रिकाली ध्रुववस्तु सच्चिदानंदस्वरूप भगवान मैं हूँ।

अहाहा...! भगवान आत्मा चिदानंदप्रभु त्रिकालध्रुव कारणनियम है। उसका ज्ञान में स्वीकार करने पर, उसमें से कार्यानियम का प्रवाह आता है। यह (कारणनियम) 'है' — ऐसे इसके अस्तित्व को स्वीकार करते ही वह कार्यानियम का कारण होता है अर्थात् वह कारणरूप होकर कार्य प्रगट होता है। अहा....! 'मैं ऐसा हूँ' — इसप्रकार ज्ञान-श्रद्धान में स्वीकार होने पर कार्य हुए बिना रहता ही नहीं; परन्तु यों ही (ऊपरी तौर पर) कारण है.....कारण है....ऐसे विकल्पमात्र ही किया करे, उस अज्ञानी को (ज्ञान-श्रद्धान के बिना) कार्य उत्पन्न नहीं होता। भाई! कारण तो त्रिकाल विद्यमान है; परन्तु वह 'है' — इसतरह उसके अस्तित्व का अंदर में ज्ञान-श्रद्धान आना चाहिए न! कारण का भरोसा-विश्वास आना चाहिए न! कारण का अंतर में (अन्तर्मुख ज्ञान में) स्वीकार ही कार्य है — ऐसी अलौकिक बात है प्रभु!

प्रश्न :- यह विचार प्रगट होता है, वह क्या है ?

समाधान :- बापू! यह तो मन में पैदा होता विकल्प है। यह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है। (आत्मा की उपज नहीं है।) आत्मा कोई ऐसा स्थान-खेत नहीं है कि जिसमें राग का पाक हो। अहा.....! जैसे कलथी पके ऐसे खेत से चावल पकने का खेत अलग होता है, इसीतरह जिसमें अतीन्द्रिय आनंद पके — ऐसे आत्मा का क्षेत्र अलग होता है। अहाहा.....! आत्मा का क्षेत्र तो अकेला आनंद पके — ऐसा है। भाई! जिसमें पुण्य-पाप का पाक हो, वह आत्मा का खेत (क्षेत्र) नहीं हैं। अहा! कोयले में भी कहीं कपूर की सुगंध होती है (नहीं होती)। कपूर की सुगंध तो कपूर में ही होती है।

इसीतरह मोक्ष का मार्ग कहीं पर में से या राग में से आता है ? वह तो बापू! आत्मा में से फटकर (प्रगट) होता है। अब आत्मा (स्वयं) क्या चीज़ है — इसका पता न हो और बस यह पुण्य-पाप करे और थोड़ा उघाड़ हो, वह आत्मा या अन्य का काम कर दे, वह आत्मा — ऐसा मानता है। अब उसको कार्य-प्रयोजनस्वरूप कार्य कैसे हो ? जिसको कारण का पता नहीं है, उसको कार्य कहाँ से होगा ? (नहीं होगा।)

यहाँ कहते हैं — त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने भगवान आत्मा चिन्मात्ररूप देखा और कहा है, तो ऐसा जो कारणनियम प्रभु है, उसका अंदर में ढलकर स्वीकार करने पर कार्यानियम प्रगट होता है अर्थात् अंदर में ढलकर कारणनियम का स्वीकार ही कार्यानियम है। अहाहा! ऐसा और इतना मैं हूँ — ऐसा अंदर श्रद्धा-ज्ञान में जहाँ स्वीकार आया, वहाँ ही कार्यानियम प्रगट होता है अर्थात् अन्तर्मुख ज्ञान-श्रद्धान हुआ — यही कार्य है।

अब कहते हैं — ‘उन तीनों में से प्रत्येक का स्वरूप कहा जाता है।’

देखो, चौथी गाथा में भी इन तीनों का स्वरूप कहेंगे; परन्तु वह भेद से कहेंगे, जबकि यहाँ तो इन तीनों का जैसा यथार्थस्वरूप है, वैसा कहते हैं। इन तीनों का अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र का-प्रयोजनस्वरूप कार्यानियम का। जीव को प्रयोजनस्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र है न ? इसलिए उनका वास्तविक स्वरूप कहते हैं। उनमें पहला शब्द ज्ञान है न ? गाथा में पहला ज्ञान है और टीका में भी पहले ज्ञान का अर्थ है। अहाहा.... ! यह ज्ञान किसको कहना ? प्रयोजनभूत ज्ञान, आनंददायकज्ञान.....अहाहा..... ! जिसमें अनाकुलसुख का-आनंद का आस्वाद आवे — ऐसा कार्यरूप-प्रयोजनस्वरूप ज्ञान किसको कहना ? वह बात अब कहते हैं —

“परद्रव्य का अवलंबन लिये बिना, निःशेषरूप से अन्तर्मुख योगशक्ति में से उपादेय (उपयोग को सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख करके ग्रहण करनेयोग्य) ऐसा जो निज-परमतत्त्व का परिज्ञान (जानना) सो ज्ञान है।”

अहाहा... ! कहते हैं — ‘परद्रव्य का अवलंबन लिए बिना’माने क्या ? कि मन और मनजनित विकल्प का अवलम्बन लिए बिना....जहाँ मन और विकल्प का अवलम्बन नहीं है, वहाँ देव-गुरु-शास्त्र के अवलंबन की तो बात ही कहाँ रही ? देखो न! यह स्पष्ट तो है कि ‘परद्रव्य का अवलंबन लिए बिना निःशेषरूप से अन्तर्मुख

योगशक्ति में से उपादेय...’ अहाहा.....! परद्रव्य का अवलंबन बिल्कुल नहीं और सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख होकर, अन्तर्मुख उपयोग के व्यापार द्वारा उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य-प्रगट करनेयोग्य — ऐसा जो निज-परमात्मतत्त्व का परिज्ञान, वह ज्ञान है — ऐसा कहते हैं। अहाहा.....! सम्पूर्ण अन्तर्मुख ऐसे उपयोग में ‘यह आत्मा मैं’ — ऐसा जो ग्रहण अर्थात् ज्ञान, उसको यहाँ ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान कहते हैं और यह ज्ञान सुखरूप है। शेष ये सब वकालात का, डॉक्टरी का या इंजीनियर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है, अज्ञान है; दुःखदायक अज्ञान है।

‘परद्रव्य का अवलंबन लिए बिना.....’ — ऐसा कहा है न ? अब उपदेश में तो क्या आवे ? वरना अंदर स्वयं सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा है — ऐसे स्व का अवलंबन हुआ तो पर का अवलंबन छूट जाता है; परन्तु यहाँ तो समझाना है न! इसको अनादि से पर का-मन का अवलंबन है, वह छुड़ाना है; क्योंकि उसके द्वारा जो ज्ञान होता है, वह अज्ञान है और दुःखरूप है। इसलिए कहा है कि ‘परद्रव्य का अवलंबन लिए बिना.....’ इसमें तो शास्त्र का और पर्याय में जो शास्त्र का (परलक्षी) जानपना-ज्ञान है, उसका भी अवलंबन छोड़ने की बात है। भाई! बहुत भारी बात है; परन्तु यह तो भगवान होने की कॉलेज (विद्यालय) है। अहाहा.....! यह आत्मा भगवानस्वरूप ही है; उसका सम्पूर्ण अन्तर्मुख उपयोग द्वारा स्वीकार करने पर (क्रमशः) पूर्णदशा होकर भगवान की प्राप्ति का कार्य उत्पन्न होता है — ऐसी बात है प्रभु!

वास्तव में जो शास्त्र का परलक्षी ज्ञान है, वह परद्रव्य है। शास्त्र में ऐसा कहा है — ऐसा मन के लक्ष्य से, विकल्प के लक्ष्य से जो जानपना होता है; भले ही वह जानपना शास्त्र के शब्दों से नहीं हुआ है; क्योंकि वह अपनी पर्याय है, तो भी वह परद्रव्य है। उसका अवलंबन लिए बिना निःशेष सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख उपयोग द्वारा ग्रहण करने-योग्य-प्रगट करनेयोग्य — ऐसा जो निज आत्मा का-सच्चिदानंदस्वरूप निज-परमतत्त्व का परिज्ञान, वह ज्ञान है। अहाहा.....! उपयोग को सम्पूर्णरूप से स्व में जोड़ देने पर ‘यह मैं सच्चिदानंदस्वरूप प्रभु आत्मा हूँ’ — ऐसा जो परिज्ञान हुआ, वह ज्ञान है। ऐसी अपूर्व बात है।

यह ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान की व्याख्या चलती है। आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान — ऐसा कहा है न ? अहा! वह कैसे होता है ? तो कहते हैं — उपयोग को सम्पूर्णरूप

से अन्तर्मुख करके कारणनियमरूप शुद्धचेतनामात्र वस्तु आत्मा में जोड़ने पर प्रगट होने योग्य, जो शुद्धात्मा का ज्ञान होता है; वह आत्मज्ञान है। यह मोक्षमार्ग का अवयवरूप सच्चा-सम्यग्ज्ञान है। भगवान! तू त्रिकाल ऐसी (शुद्धचैतन्यमय) वस्तु है न प्रभु! इसलिए उपयोग को सम्पूर्णरूप से वहाँ लगा दे — ऐसा करने से आत्मज्ञान होगा-सुख होगा; क्योंकि आत्मज्ञान सुखमय है। भाई! बाहर में-मन विकल्प में कहीं आत्मा नहीं है; इसलिए बाहर का लक्ष्य छोड़कर अंदर में उपयोग जोड़ देने पर, जो ज्ञान होता है; उसको यहाँ ज्ञान-आत्मज्ञान कहते हैं। अहाहा.....! वस्तु तो जैसी है, वैसी यथार्थ जानना चाहिए न! यों तो ग्यारह अंग नौ पूर्व अनंतबार जाना है; परन्तु वह कहाँ ज्ञान है ? वह ज्ञान नहीं है; क्योंकि उसमें सुख नहीं आया। अहा! आत्मा में जहाँ ज्ञान है, वहाँ आनंद भी है; इसलिए जब आत्मज्ञान प्रगट होता है, तब साथ ही आनंद भी प्रगट होता है। अहाहा...! इस ज्ञान को मोक्षमार्ग का ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अवयव कहते हैं। यहाँ तो ऐसी ही बात है।

अब दर्शन की व्याख्या करते हैं —

“भगवान परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध, अन्तःतत्त्व के विलास का जन्मभूमि स्थान, जो निजशुद्ध जीवास्तिकाय, उससे उत्पन्न होनेवाला; जो परम श्रद्धान वही दर्शन है।”

अहाहा.....! कहते हैं कि ‘भगवान परमात्मा के सुख के अभिलाषी जीव को....’ परमात्मा माने परम+आत्मा अर्थात् अपना जो भगवानमय-चैतन्यलक्ष्मीमय परमात्मस्वरूप है-त्रिकाल परमस्वरूप है, उसके सुख के-आनंद के अभिलाषी जीव को ‘शुद्धअन्तःतत्त्व के विलास का जन्मभूमि स्थान, जो निजशुद्ध-जीवास्तिकाय.....’ अहाहा.....! देखा, शुद्ध अन्तःतत्त्व के विलास का अर्थात् आनंद का, मौज का, क्रीड़ा का जन्मभूमि स्थान उत्पत्ति स्थान निजशुद्ध-जीवास्तिकाय है। भाई! कोई परवस्तु तेरे आनंद का स्थान नहीं है; परन्तु अतीन्द्रिय आनंद उत्पन्न हो — ऐसा क्षेत्र भगवान आत्मा-निजशुद्ध-जीवास्तिकाय है। अहा.....! आनन्द का जन्म देनेवाला क्षेत्र निज शुद्ध-जीवास्तिकाय है। अहाहा! कैसी भाषा का प्रयोग किया है। अकेला ‘जीव’ ऐसा नहीं लेकर ‘जीवास्तिकाय’ लिया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में आत्मा है, वह अस्तिकाय है। अस्ति है और काय अर्थात् असंख्यातप्रदेशी है। अहाहा...! अपना शुद्धजीव असंख्यातप्रदेशी है।

प्रश्न :— यहाँ 'जीवास्तिकाय' क्यों कहाँ है ?

उत्तर :— क्योंकि उसको (जीव को) जन्मभूमि स्थान कहा है न! तो उसका क्षेत्र इतना अर्थात् असंख्यातप्रदेशी है — ऐसा कहते हैं। यहाँ उसका असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र सिद्ध किया है।

अहाहा.....! कहते हैं — “....जो निजशुद्ध-जीवास्तिकाय, उससे उत्पन्न होनेवाला जो परमश्रद्धान, वही दर्शन है” देखो, यह सम्यग्दर्शन की व्याख्या! अज्ञानी कहते हैं कि मात्र देव-गुरु-शास्त्र और नौ तत्त्वों को मानना सम्यग्दर्शन है; परन्तु ऐसा नहीं है प्रभु! यहाँ कहते हैं — अंदर पूर्णपरमात्मस्वरूप से भरे हुए भगवान आत्मा को-पूर्णप्रभु को अन्तर्मुख होकर भरोसे में- प्रतीति में पचाने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। अहाहा....! आनंद के जन्म का स्थान, जो निजशुद्ध-जीवास्तिकाय अर्थात् असंख्यप्रदेशी अनंतगुणरूप, जो पूर्ण एक चैतन्यमात्रवस्तु स्वयं है, उसको अन्तर्मुख होकर भरोसे में-प्रतीति में पचाने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। नौ तत्त्व का भेदरूप विकल्प कोई सम्यग्दर्शन नहीं है।

प्रश्न :— हाँ; परन्तु ऐसा वह आत्मा कैसा होगा ?

समाधान :— भाई! यह भगवान अरूपी की बात है प्रभु! इन्द्रियातीत की बात है। अहा! अपनी वस्तु ऐसी (असंख्यप्रदेशी, अनंतगुणरूप एक चिन्मात्र) है — ऐसा उसका परिज्ञान होने पर उसकी श्रद्धा होती है; क्योंकि जानने में आये बिना श्रद्धा किसकी ? (श्रद्धा कैसी?) जैसे कि कोई कहे कि गधे के सींग देखे नहीं तो भी उसकी श्रद्धा करो; परन्तु किसकी श्रद्धा करें? (किसप्रकार करें?) भाई! यह तो अलौकिक मार्ग है बापू! भगवान! तू अंदर पूर्णप्रभु ही है और उसमें से जो प्रभुपने की पूर्णपर्याय प्रगट होती है, उसका यह उपाय है।

अहाहा.....! देखो न, टीकाकार को भी कितना आह्लाद है! कहते हैं — आनंद की उत्पत्ति का जन्मस्थान, जो निजशुद्ध-जीवास्तिकाय, उससे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति है। टीका में है न ? 'जो निजशुद्ध-जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न होनेवाला जो परमश्रद्धान, वही दर्शन है।' अहा...! ज्ञान की पर्याय में स्वयं ज्ञायक सम्पूर्ण ज्ञेय हुआ-शुद्ध कारणनियम ज्ञान में भासित हुआ; अतः (तत्काल) उसकी प्रतीति इससे (शुद्धजीवास्तिकाय से) उत्पन्न हुई है; परन्तु जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उस पर्याय से प्रतीति हुई है — ऐसा नहीं

है, यह कहते हैं। गजब बात की है। अब बाह्य परनिमित्त से (सम्यग्दर्शन) होता है, यह तो कहीं दूर रह गया (अर्थात् ऐसा तो है ही नहीं)।

प्रश्न :— ज्ञान और श्रद्धा साथ होते हैं; इसलिए ज्ञान से श्रद्धा होती है न ?

समाधान :— नहीं, ऐसा नहीं है। ज्ञानपर्याय के साथ ही श्रद्धा उत्पन्न होती है — यह बात तो सत्य है; परन्तु ज्ञान की पर्याय से श्रद्धा उत्पन्न होती है — ऐसा नहीं है, श्रद्धा तो शुद्धजीवास्तिकाय के आश्रय से प्रगट होती है, उसको कहीं ज्ञानपर्याय का आश्रय नहीं है।

अरे प्रभु! एक बार अपने गीत तो सुन! यहाँ कहते हैं — भगवान! तू शुद्ध-ज्ञानचेतनास्वरूप कारणनियम है और उसके आश्रय से प्रगट होनेवाला परमश्रद्धान ही दर्शन है। 'वही दर्शन है' — ऐसा कहा है न? तात्पर्य यह है कि अन्य (नवतत्त्व का भेद-विकल्प) दर्शन नहीं है, दूसरे प्रकार से दर्शन नहीं है। जैसे शास्त्रादि का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है; परन्तु आत्मा का परिज्ञान वह ज्ञान है, इसीतरह शुद्धजीवास्तिकाय के आश्रय से प्रगट होनेवाला आत्मा का परमश्रद्धान ही दर्शन है। 'परमश्रद्धान ही दर्शन है' — ऐसा कहकर अन्य सम्यग्दर्शन (व्यवहार सम्यग्दर्शन) होने का निषेध किया है।

इसप्रकार ज्ञान और दर्शन की व्याख्या करके अब चारित्र की व्याख्या करते हैं —

“निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में अविचल स्थिति (निश्चलरूप से लीन रहना) ही चारित्र है।”

अहाहा.....! 'निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में.....' अहाहा.....! कैसा है कारणपरमात्मा ? तो कहते हैं — निश्चय त्रिकाल ज्ञानदर्शनस्वरूप है। अहाहा.....! भगवान आत्मा-कारणपरमात्मा प्रभु ज्ञानदर्शनस्वरूप है और उसमें अन्तर्लीनता-स्थिरता-रमणता होती है, उसको चारित्र कहते हैं।

'कारणपरमात्मा में' — यह वस्तु कही; परन्तु उसका भाव क्या ? तो कहते हैं — निश्चय अर्थात् त्रिकाली ज्ञानदर्शनस्वरूपने है, वह कारणपरमात्मा है। अहा! ऐसा त्रिकाली भगवान स्वयं ही है। अरे रे! ऐसा होने पर भी इसने उसको कहाँ (विषयादि में) वाफ दिया है- मार दिया है। देखो न! एक कण्डे का गोबर मिले, वहाँ तो राजी-राजी (प्रसन्न) हो जाता है। अरे! तू कहाँ गया प्रभु!

अहा....! भगवान आत्मा त्रिकाली कारणप्रभु निश्चयज्ञानदर्शनस्वरूप ही है। पंचास्तिकाय (गाथा-१५४) में भी आत्मा नियतज्ञानदर्शनस्वरूप है — ऐसा आता है। जहाँ सम्पूर्ण त्रिकाल जीववस्तु ली है, वहाँ तो वह ज्ञानदर्शनस्वरूप ही है — ऐसा लिया है। भाई! जीवस्वभाव वास्तव में ज्ञानदर्शन है और उसमें निश्चयलीनता-स्थिरता ही चारित्र है और वही मोक्षमार्ग है।

अहा...! जीवस्वभाव किसको कहना? भगवान आत्मा का कायमी-त्रिकालस्वभाव किसको कहना? तो कहते हैं — ज्ञान-दर्शन का एकरूप वह जीवस्वभाव है और उसमें रमणता-लीनता-अवस्थिति को चारित्र कहते हैं और वह चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। त्रिकाली ज्ञानदर्शनमय जीववस्तु कारणजीव है और उसमें अंतर्लीनता-रमणतारूप चारित्र, वह कार्यजीव है — ऐसी अपूर्व बात है।

अहा...! लोग तो कहीं का कहीं चारित्र मान बैठे हैं। अज्ञानी को बाह्यक्रिया और पंचमहाव्रत का भी ठिकाना न हो, तो भी अपने को चारित्र मान बैठे हैं। भाई! ऐसा करने से तुझको दुःख होगा, बाहर में चारित्र मानने से कहीं अंदर में सुख नहीं होगा; क्योंकि बाहर में चारित्र है ही नहीं। अरे! अज्ञानी बाहर के महाव्रतादि के बल से संतुष्ट है; परन्तु भाई! अंदर का (अन्तर्लीनता का) बल प्राप्त हुए बिना यह बाहर के जहर का (दर्शनमोह का) बल तेरे सिर पर चढ़ बैठा है; परन्तु क्या हो बापू! मार्ग तो स्वभाव में अवस्थितिरूप अन्तर्लीनता का ही है।

अब कहते हैं —

“यह ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप नियम निर्वाण का कारण है।”

देखो, ‘यह’ अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप कार्यनियम, निर्वाण का अर्थात् मोक्ष का कारण है। ‘यह’ अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्र तीन कहे, उनका एकरूप। फुटनोट में अर्थ किया है कि ‘कारण के जैसा ही कार्य होता है; इसलिए स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तव में अनंतकाल तक स्वरूप में स्थिर रह जाने का उपाय है।’ अहाहा...! भगवान आत्मा ज्ञानदर्शनमय परमात्मा है। उसमें स्थिरता का अभ्यास ही स्वरूप में पूर्ण स्थिरतारूप मोक्ष का उपाय है।

प्रश्न :- इसमें तो अकेला हो जाने की बात है ?

उत्तर :— हाँ भाई! फिर तुझे (मोक्ष में भी) अकेला रहना है न! तो अभी से ही अकेला हो न! अकेला होने का अभ्यास कर न! सोगानीजी ने एक जगह (द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल-२६८) कहा है कि अंत में तो (मोक्ष में तो) अकेला ही रहना है, तो अब अभी से ही अकेला हो न! यह विकल्प हो तो ठीक — यह रहने दे न! क्योंकि दोपने में (द्वैत में) कहीं मजा-आनंद नहीं है। अहाहा...! अकेला...अकेला - एकान्त अकेला, जो यह ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप नियम है; वह निर्वाण का कारण है। लो, यह मोक्ष का उपाय कहा। अब कहते हैं —

“उस ‘नियम’ शब्द का विपरीत के परिहार हेतु ‘सार’ शब्द जोड़ा गया है।”

देखो! फुटनोट में इसका अर्थ है — “विपरीत=विरुद्ध व्यवहाररत्नत्रयरूप विकल्पों को, पराश्रित भावों को छोड़कर मात्र निर्विकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र का ही-शुद्धरत्नत्रय का ही स्वीकार करने हेतु ‘नियम’ के साथ ‘सार’ शब्द जोड़ा गया है।”

निश्चय और व्यवहार — ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, दोनों नय विरुद्ध हैं और उनका विषय भी विरुद्ध है; इसलिए व्यवहार के परिहार के लिए ‘सार’ शब्द कहा गया है-जोड़ा गया है और इसी का नाम नियमसार है।

कलश-१० पर प्रवचन

‘इसप्रकार में विपरीतरहित (विकल्परहित) अनुत्तम रत्नत्रय का आश्रय करके.....’

देखो, इसमें मुनिराज अपनी बात करके जगत को समझाते हैं कि हे जगत के जीवो! तुमको भी निजशुद्धात्मा, जोकि नित्य आनंदस्वरूप और पूर्णज्ञानस्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही करनेयोग्य है। गाथा के पाठ में **‘णियमेण य जं कज्जं’** — ऐसा है न ? आशय यह है कि सुख के पंथ में जाना होवे तो निश्चय से यही-शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य ही करनेयोग्य है, इसके सिवाय अन्य सब दुःख के पंथ हैं। अहा...! पुण्य-पाप और राग-द्वेष आदि करना या होना — यह दुःख का पंथ है, वह तो दुःख के पर्वत पर सिर फोड़ने जैसा है। बापू! तुझको सुख-स्थायी-कायम रहनेवाला सुख चाहिए हो तो, यहाँ कहते हैं कि विपरीतरहित अर्थात् विकल्परहित अनुपम रत्नत्रय को प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्न :— अनुत्तम रत्नत्रय अर्थात् ?

उत्तर :— अनुत्तम का एक अर्थ तो 'उत्तम नहीं' ऐसा होता है; परन्तु वह अर्थ यहाँ नहीं है। यहाँ तो ऐसा भाव है कि 'जिससे उत्तम दूसरा कोई नहीं है' — ऐसा रत्नत्रय प्राप्त करना चाहिए। अहाहा.....! भगवान आत्मा आनंद का नाथ, प्रभु, एक ज्ञायकस्वरूप अंदर शाश्वतध्रुव है, उसका श्रद्धान करना; उसका ज्ञान करना और उसमें ही ठहरना-रमना — ऐसे शुद्धरत्नत्रय के अतिरिक्त जगत में कोई उत्तम चीज नहीं है। ये पैसा-धूल और इज्जत-आबरू आदि सब तो नरक-निगोद जाने के निमित्त हैं और ये सब धंधे चार गति में भटकाने के धंधे हैं, दुःख के मार्ग में दौड़ने के धंधे हैं। अरे! इसमें जगत मजा मानता है (परन्तु यह अज्ञान है)।

अहाहा...! स्वयं भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का सागर स्वरूप से अतीन्द्रिय आनंदमय ही है; परन्तु अरे! वहाँ (निजस्वरूप में) न जाकर, उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ विकल्प-राग-विकार है; उसके पंथ में गया है। यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय-देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा और पंचमहाव्रत के परिणाम भी राग हैं और उनसे आकुलता है, दुःख है — ऐसा कहते हैं, तो फिर अशुभपरिणाम का तो कहना ही क्या ? वह तो दुःख-महादुःख ही है।

अहाहा.....! मुनिराज कहते हैं — मैं विपरीतरहित अर्थात् रागरहित मेरी वस्तु के (निजशुद्धात्मा के) श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति के भाव को पाता हूँ। अंदर मेरा भगवान त्रिकाली चैतन्यमहाप्रभु नित्य विराजमान है, उसके आश्रय से जो निर्मलरत्नत्रय प्रगट होता है, उसको मैं प्राप्त करता हूँ, अंगीकार करता हूँ अर्थात् वही मुझे उपादेय है; क्योंकि वही परमानंद की प्राप्तिरूप मुक्ति का उपाय है।

अहाहा.....! कहते हैं — अंदर मेरा नाथ स्वभाव से पूर्ण परमात्मा है। उसको मैं सम्यग्दर्शन में पचाता हूँ अर्थात् उसकी प्रतीति करता हूँ तथा उसको मैं स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा जानता हूँ तथा उसमें ही स्थिर होता हूँ; क्योंकि यह मुझे मुक्ति का उपाय है। भाई! यह एक ही सुख प्राप्ति की विधि है। अरे रे! जहाँ प्रीति चाहिए, वहाँ जगत के लोगों को प्रीति नहीं है। श्रीमद्जी ने (भावनाबोध में) कहा है न —

“अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता।

अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम वहाँ विचित्रता ॥”

उन्होंने अठारह वर्ष की उम्र में यह कहा है। अहा...! आत्मा में अनंतसुख भरा है, उसका आश्रय करने पर अनंतसुख प्रगट होता है और वहाँ नामदुःख अर्थात् दुःख है ही नहीं, तो भी अरे! वहाँ इसने मैत्री-समीपता नहीं की है और जहाँ आत्मा की शान्ति से विरुद्ध अनंत आकुलता और दुःख है तथा नामसुख-कल्पनामात्र सुख है, वहाँ प्रेम करता है — यह भारी विचित्रता है, गजब की मूढ़ता है। भाई! इसीलिए कहते हैं—

“उघाड़ न्यायनेत्र को निहार रे! निहार तू,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाल तू।”

अहाहा.....! यह निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही ज्ञाननेत्र है, उन्हें उघाड़!

अहा.....! लोगों को तो सब अनुकूलता होवे तो ऐसा लगता है कि हम सुखी हैं। कबीर ने एक जगह कहा है कि —

“सुखीयो सब संसार, खाय-पीके सोवे।
एक दुखियो दास कबीर, जब जागे तब रोवें।।”

भाई! हरि माने आत्मा के अंतरभजन बिना इन खाने-पीने और सोने में ही तेरा समय व्यर्थ जा रहा है। खा-पीकर प्रमादी होकर आठ-आठ घंटे तक नींद में सोता है। यह क्या है बापू ? यह तो दुःख का पंथ है प्रभु! तेरा वास्तविक पंथ तो अंदर आनंद का धाम तू है। उसको स्वीकार करके, उसमें रमणता-लीनता करना ही सुख का पंथ है।

यहाँ मुनिराज कहते हैं — निज-चैतन्यमहाप्रभु को स्वीकार करके, उसके श्रद्धा-ज्ञान करना और वहाँ ही रमना-लीन होना-विश्राम लेना — यह एक ही मुझको सुख का उपाय है।

प्रश्न :— परन्तु इसमें कोई त्याग ?

उत्तर :— त्याग और ग्रहण दोनों हैं। विकल्पमात्र का-व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प का त्याग होने पर, त्रिकाली आनंदस्वरूप भगवान आत्मा का ग्रहण हुआ; वहाँ निर्मल अनुत्तम रत्नत्रय मार्ग प्रगट हुआ। लो, यह त्याग और यह ग्रहण और यह सुख का उपाय! यहाँ मुनिराज कहते हैं —

‘इसप्रकार मैं विपरीतरहित (विकल्परहित) अनुत्तम रत्नत्रय का आश्रय करके मुक्तिरूपी रमणी से उत्पन्न अनङ्ग (अशरीर, अतीन्द्रिय, आत्मिक) सुख को प्राप्त करता हूँ।’

मुक्तिरूपी स्त्री अर्थात् अपनी परमसुख की दृष्टि-परिणति और उससे उद्भवित अनंग अर्थात् अशरीरी, अतीन्द्रिय, आत्मिक सुख को मैं प्राप्त करता हूँ — ऐसा कहते हैं। देखो अभी भी (पंचमकाल में भी) मुक्तिरूपी परिणति से उद्भवित सुख को प्राप्त करता हूँ — ऐसा कहते हैं।

अहाहा...! मेरा भगवान मैं हूँ, मेरा प्रभु मैं हूँ और ऐसे निजप्रभु की शरण में जाकर, मैं उसमें स्थित रहता हूँ। इससे, उसके फल में मुझको पूर्ण अशरीरी-अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति होगी ही।

हाँ, होगी; परन्तु अभी क्या है? कलश में 'यामि' अर्थात् प्राप्त करता हूँ — ऐसा है न?

वह तो पूर्णसुख की प्राप्ति के उपायभूत अनुत्तम रत्नत्रयरूप मार्ग में स्थित है तो प्राप्त करता हूँ — ऐसा कहा है। अहो! यह तो बहुत थोड़े में बहुत भरा है भाई!

जैसे बिनौला के व्यापारी के गले में बारीक रज जावे तो क्षयरोग होता है, इसीतरह पुण्य-पापरूप विकार की-राग-द्वेष की रज से आत्मा की शक्ति का क्षय होता है। अफीमची की तरह पर में सुख माननेवाले अज्ञानी को पर के नशे में कुछ भान नहीं हैं; परन्तु यह सब तो दुःख का अमल है। प्रभु! पर में, विकार में सुख कहाँ है? तेरा आनन्द तो तेरे में है न नाथ! तो ऐसे निज-नित्यानंदस्वरूप का श्रद्धा-ज्ञान करके उसी में स्थिर हो जा! लो, यह करनेयोग्य कार्य है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने गाथा में यही कहा है न कि 'णियमेण य जं कज्जं' निश्चय से करनेयोग्य बस यह ही है। क्या? निजशुद्धात्मा का-निजानंदस्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान और आचरण ही करनेयोग्य है।

अहा....! भगवान आत्मा अंदर त्रिकाल आनंदस्वरूप से विराजमान है; परन्तु जगत के लोगों को-अज्ञानियों को कुछ सूझ नहीं है; इसलिए मुनिराज कहते हैं, मैं निज-पूर्णानंदस्वरूप आत्मा का निर्मलज्ञान-श्रद्धान और रमणता द्वारा वर्तमान में निराकुल आनंद को प्राप्त करता हूँ और इसी मार्ग से पूर्ण अनंतसुख को प्राप्त करूँगा। यही मोक्ष का उपाय है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अशुभभाव तो दुःख है ही और शुभक्रिया के भाव भी दुःख ही हैं; इसलिए पुण्य-पापरूप दोनों भावों का परिहार करके विपरीतरहित-विकल्परहित अनुत्तम रत्नत्रय को प्राप्त करके मैं अतीन्द्रिय अनंतसुख को प्राप्त करता हूँ — ऐसा कहते हैं। भारी काम है भाई! (क्रियाकाण्डियों को) बहुत कठिन लगता है; परन्तु यही मार्ग है। ●

नियमसार गाथा-४

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिणहं पि य पत्तेयपरूवणा होइ ॥४ ॥

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम् ।
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति ॥४ ॥

(हरिगीत)

है नियम मोक्ष-उपाय उसका फल परम निर्वाण है ।
इन तीन का ही भेद पूर्वक भिन्न-भिन्न विधान है ॥४ ॥

गाथार्थ :— (रत्नत्रयरूप) नियम मोक्ष का उपाय है; उसका फल परम निर्वाण है ।
पुनश्च (भेदकथन द्वारा अभेद समझाने के हेतु) इन तीनों का भेद करके भिन्न-भिन्न
निरूपण होता है ।

टीका :— रत्नत्रय के भेद करने के संबंध में और उनके लक्षणों के सम्बन्ध में
यह कथन है ।

समस्त कर्मों के नाश द्वारा साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला महा-आनन्द का लाभ सो
मोक्ष है । उस महा-आनन्द का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार रत्नत्रयरूप परिणति है । पुनश्च
(निरुपचार रत्नत्रयरूप अभेदपरिणति में अन्तर्भूत रहे हुए) इन तीन का-ज्ञान-दर्शन और
चारित्र का भिन्न-भिन्न निरूपण होता है । किसप्रकार ? यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह
चारित्र है, इसप्रकार भेद करके । (इस शास्त्र में) जो गाथासूत्र आगे कहे जायेंगे, उनमें
दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लक्षण ज्ञात होंगे ।

अब, चौथी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है —

(मंदाक्रान्ता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा
हात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव ।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः ॥११ ॥

(वीरछन्द)

शुद्ध रत्नत्रयमय आत्म ही मोक्षमार्ग है मुनिवर को।
 ज्ञान न इससे कोई अन्य है दर्शन भी नहीं अन्य अहो।।
 और शील भी अन्य नहीं है यही कहें अर्हन्त प्रभो।
 इसे जानकर पुनः न जननी-उदर बसे वह भव्य अहो ॥११ ॥

श्लोकार्थ :- मुनियों को मोक्ष का उपाय शुद्धरत्नत्रयात्मक (शुद्धरत्नत्रयपरिणतिरूप परिणमित) आत्मा है। ज्ञान इससे कोई अन्य नहीं है, दर्शन भी इससे कोई अन्य नहीं है और शील (चारित्र) भी अन्य नहीं है। यह, मोक्ष को प्राप्त करनेवालों ने (अरिहन्त भगवन्तों ने) कहा है। इसे जानकर जो जीव पुनः माता के उदर में नहीं आता, वह भव्य है ॥११ ॥

गाथा ४ पर प्रवचन

“(रत्नत्रयरूप) नियम मोक्ष का उपाय है, उसका फल परम निर्वाण है।”

देखा, क्या कहा ? कि भगवान आत्मा शुद्ध-चैतन्यवस्तु है, उसका जिसमें स्वीकार हुआ है। उस अन्तर्मुख अनुभव में प्रतीति अर्थात् उसका श्रद्धान, उसका वेदना - वेदन माने स्वसंवेदन ज्ञान तथा उसमें जो रमणता-लीनता होती है, वह रत्नत्रयरूप नियम है और वह मोक्ष अर्थात् पूर्णसुख की प्राप्ति का उपाय है। उसका फल पूर्णसुखमय परम-निर्वाणपद है।

अब अज्ञानी कहता है — अपने को यह करना तो है; परन्तु अभी नहीं, कारण कि बाहर में कुछ बराबरी (ठीक-ठाक व्यवस्था) हो जाए, फिर वृद्धावस्था में सब करूँगा। परन्तु भाई! अभी नहीं और फिर.....फिर ऐसे करते-करते जिन्दगी चली जाती है। ‘सम्यग्ज्ञानदीपिका’ में धोबी का दृष्टान्त आता है कि एक धोबी कपड़े लेकर नदी के घाट पर धोने गया, थोड़े कपड़े धोये कि उसे प्यास लगी; परन्तु उसने सोचा कि अभी थोड़े कपड़े और धो लूँ, बाद में पानी पीऊँगा, फिर थोड़े कपड़े धोये इतने में तो उसे चक्कर आया और पानी में गिर गया और देखते ही देखते देह छूट गई। इसीतरह अज्ञानी, अभी नहीं, फिर करूँगा....फिर करूँगा — ऐसा विचारता है; परन्तु बापू! फिर तो फिर ही रहेगा। कोई दिन आज होगा ही नहीं; इसीलिए मुनिराज कहते हैं कि मैं यह जो रत्नत्रयरूप नियम मोक्ष का उपाय है, वह अभी ही करता हूँ; उसका फल परमनिर्वाण है।

अब कहते हैं —

“तथा (एक वचन द्वारा अभेद समझाने के लिए) इन तीन का भेद करके अलग-अलग निरूपण होता है।”

‘एकवचन द्वारा अभेद समझाने के लिए’ माने क्या ? कि निश्चयरत्नत्रय को समझाने के लिए यहाँ व्यवहाररत्नत्रय कहेंगे। अहा.... ! व्यवहारसमकित, व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र के निरूपण द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कैसे होते हैं — यह बताना है; इसलिए इन तीनों का — व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद करके अलग-अलग निरूपण होता है — ऐसा कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय है तो बंध का कारण, तो भी अबंधरूप अभेद को समझाने के लिए उसका निरूपण होता है — ऐसी बात है।

गाथा ४ की टीका पर प्रवचन

“रत्नत्रय के भेद करने के संबंध में और उनके लक्षणों के संबंध में यह कथन है।”

देखो, इसमें रत्नत्रय के भेद करने के विषय में और उनका स्वरूप क्या है, इस विषय में — ऐसे दो प्रकार से कथन हैं, उनमें अब (भेद करने के विषय में) पहली बात—

“समस्त कर्मों के नाश द्वारा साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला महा-आनंद का लाभ सो मोक्ष है।”

समस्त आठों कर्मों का नाश होने पर मोक्ष अर्थात् महा-आनंद का लाभ होता है। ‘समस्त कर्मों के नाश से’ — ऐसा कहा, यह तो व्यय हुआ; परन्तु उत्पाद किसका हुआ ? तो कहा कि ‘साक्षात् प्राप्त महा-आनंद का लाभ’ वह उत्पाद है। अहा.... ! भगवान् आत्मा को उसकी दशा में साक्षात् महा-आनंद का-अतीन्द्रिय अनंत-आनंद का लाभ हुआ, वह मोक्ष है। लो, यह मोक्ष।

मोक्ष माने क्या ?

पर्याय में महा-आनंद का लाभ वह मोक्ष है। मोक्ष (मुक्ति) शब्द है न ? अतः पहले परिभाषा कही कि समस्त आठों ही कर्मों के नाश से मोक्ष होता है। यह नास्ति से कहा; परन्तु उसके (कर्म के) नाश से अस्ति में क्या आया ? तो कहते हैं। साक्षात् महा-आनंद का लाभ प्राप्त होता है। अहाहा.... ! भगवान् आत्मा पूर्ण अमृत का सागर प्रभु है। उसमें

से पूर्ण अमृत की पर्याय प्रगट हो अर्थात् आनंद से तृप्त.....तृप्त परितृप्त पर्याय का लाभ होना मोक्ष है।

अहाहा.....! अंदर वस्तु तो अतीन्द्रिय आनंदमय है ही। वस्तु (आत्मा) ही अतीन्द्रिय आनंद का भरपूर सागर है। आत्मा वस्तु है या नहीं ? है न, तो उसका स्वभाव ही ज्ञान और आनंद है। अब स्वभाव है उसका माप क्या ? अब बिचारे लोगों को इस बात का पता ही नहीं है; इसलिए उनको इसका विश्वास नहीं आता; परन्तु भाई! विचार करके निर्णय तो कर कि वस्तु क्या है ? विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि यह एक ही मार्ग सच्चा है। वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ जीव बाहर में महामहंत-साधु का नाम धराकर घूमते हैं; परन्तु वह मार्ग यथार्थ नहीं है। पूर्व के पुण्य के उदयकाल में बाहर में सामग्री-ठाठबाठ दिखता है और वही अज्ञानी को प्रसिद्ध है। परन्तु अरे! अपना जो अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, उसको वह नहीं देखता।

यहाँ कहते हैं — ‘समस्त कर्मों के नाश द्वारा साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला.....’ साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला, माने पर्याय में प्राप्त होता-प्रगट होता आनंद; क्योंकि अंदर स्वयं आनंदस्वरूप तो है ही। पुण्य-पाप के जो विकल्प हैं, वे दुःख हैं, आनंद की विपरीत अवस्था है। अब गुलांट खाकर ‘मैं अंदर में आनंदस्वरूप भगवान हूँ’ — ऐसा भान करने पर और उसमें ही लीन होने पर साक्षात् अतीन्द्रिय महा-आनंद की पर्याय प्रगट होती है और इसी का नाम मोक्ष है।

अहा.....! जो दुःख उत्पन्न हुआ है, वह तो स्वरूप से विरुद्ध, क्षणिक और कृत्रिम है। अब जो कृत्रिम दुःख खड़ा हुआ है, उससे (दुःख से) विरुद्ध अंदर अकृत्रिम क्या है ? क्या कहा ? कि जो दुःख खड़ा है, वह स्वरूप से विरुद्ध है, तो उस दुःख से विरुद्ध अंदर अविरुद्ध-अकृत्रिम स्वरूप क्या है ? तो कहते हैं — अंदर अकेला अतीन्द्रिय आनंद का नाथ नित्यानंदप्रभु आत्मा अकृत्रिम है और वह अतीन्द्रिय आनंद जो स्वभावरूप है, उसका पर्याय में साक्षात् प्राप्त होने का नाम मुक्ति-मोक्ष है। अहाहा.....! अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप मोक्षशक्तिरूप-ध्रुवरूप तो त्रिकाल विद्यमान है ही; क्योंकि वस्तु है वह ‘मुक्तस्वरूप ही है’, बंधस्वरूप नहीं; परन्तु उसकी पर्याय में-वर्तमान हालत में-अवस्था में साक्षात् महा-आनंद का लाभ प्राप्त हो, तब प्रगटरूप से मोक्ष होता है। पर्याय में महा-अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। ऐसी मोक्ष की व्याख्या!

अब, उस महा-आनंद के लाभ का, पूर्ण आनंददशा की प्राप्ति का कारण क्या है, वह कहते हैं —

“उस महा-आनंद का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार रत्नत्रयरूप परिणति है।”

देखो, कलश-१० में रत्नत्रय को विकल्परहित कहा था न! यहाँ उसको निरुपचार कहते हैं। निरुपचार माने क्या ? कि उपचाररहित, आरोप किये बिना अनारोपित रत्नत्रय। अहा! ऐसी अनारोपित निरुपचार रत्नत्रयपरिणति मोक्ष का उपाय है। यहाँ इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को परिणति-पर्याय कहा है।

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन आदि (तो) गुण है न ?

समाधान :— भाई! ऐसा नहीं है। देखो न, यहाँ क्या कहते हैं कि तीनों ही परिणति है, पर्याय है। सम्यग्दर्शन आदि पर्याय है-अवस्था है। अहा! अवस्थायी तो त्रिकाली वस्तु है; परन्तु उसका सम्यग्दर्शन-उसका अनुभव करके प्रतीति, उसका सम्यग्ज्ञान-उसका अनुभव होकर ज्ञान और उसका सम्यक्चारित्र-उसमें स्थिरता-लीनता ये तीनों पर्याय है, अवस्था है, हालत-दशा है, अंश है और इनको यहाँ परिणति कहा है।

अहा.....! महा-आनंद का साक्षात् लाभ होना मोक्ष है और उस महा-आनंद की प्राप्ति का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार अर्थात् अन-आरोपित वास्तविक अभेद रत्नत्रयरूप परिणति है। देखो, यहाँ व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष का उपाय है, यह बात तक नहीं की है। भाई! निर्मल निरुपचार अभेद रत्नत्रयरूप परिणति यह एक ही मोक्ष का उपाय है। अहा! त्रिकाली निज-परमतत्त्व का परिज्ञान वह ज्ञान, त्रिकाली निज-परमतत्त्व की प्रतीति वह दर्शन और त्रिकाली निज-परमतत्त्व में स्थिरता-लीनता-रमणता वह चारित्र — इसतरह आत्मा की निर्मल निरुपचार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय परिणति — यह एक ही मोक्ष का उपाय है। अब कहते हैं —

“पुनश्च (निरुपचार रत्नत्रयरूप अभेद परिणति में अन्तर्भूत रहे हुए) इन तीन का-ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भिन्न-भिन्न निरूपण होता है।”

‘अन्तर्भूत रहे हुए’ — ऐसा कहा, इसका आशय क्या ? कहीं निश्चय में ये तीन भेद रहे हुए हैं — ऐसी बात नहीं है। तो क्या है ? निश्चयरत्नत्रय के साथ में सहचररूप

वह होता है — ऐसी बात है; और उसका भेदरूप भिन्न-भिन्न निरूपण होता है। अभेद को समझाना है न ? तो उस भेदवाले अर्थात् विकल्पवाले, रागवाले व्यवहाररत्नत्रय द्वारा अभेद को समझाते हैं।

किसप्रकार ? तो कहते हैं —

‘यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र है — इसप्रकार भेद करके।’

यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है — इसप्रकार व्यवहार से भेद के निरूपण द्वारा निश्चय को समझाते हैं। ‘यह ज्ञान है’ — ऐसा जो भेद पड़ा, वह व्यवहार है और उसके द्वारा निश्चय को समझाते हैं। (भेद का आश्रय करने के लिए भेद का निरूपण नहीं है; परन्तु अभेद को समझाने के लिए भेद का निरूपण होता है।)

अब कहते हैं —

‘(इस शास्त्र में) जो गाथासूत्र आगे कहे जायेंगे, उनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लक्षण ज्ञात होंगे।’

व्यवहार के, निश्चयरत्नत्रय का लक्षण तो पहले (तीसरी गाथा में) आ गया है। आगे के गाथासूत्रों में व्यवहाररत्नत्रय का लक्षण बतलायेंगे।

कलश-११ पर प्रवचन

“मुनियों को मोक्ष का उपाय शुद्धरत्नत्रयात्मक (शुद्धरत्नत्रय परिणतिरूप परिणमित) आत्मा है।”

देखो, कलश में ‘यमिनां’ शब्द है न ! अर्थात् धर्मियों को-संयमियों को मुनियों कोभाई! यहाँ मुख्यरूप से तो मुनिवरों की बात है; उसके अन्तर्गत श्रावक और समकृति भी आ जाते हैं। कहते हैं — मुनियों को मोक्ष का उपाय शुद्धरत्नत्रयरूप आत्मा है। शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का उपाय है — ऐसा न कहकर मोक्ष का उपाय शुद्धरत्नत्रयमय आत्मा है — ऐसा कहकर अभेद कर दिया है।

अहा.....! धर्मात्मा को मोक्ष का-साक्षात् परम-आनंद की प्राप्ति का उपाय शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ आत्मा है। अहो! भगवान आत्मा स्वयं शुद्ध-रत्नत्रयरूप परिणति से-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमा है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न :— आत्मा तो अपरिणामी है न ?

समाधान :— भाई! यहाँ पर्याय का परिणमन लेना है न! जो पर्याय परिणमित है, वह इसकी (द्रव्य की) है — ऐसा लेना है; क्योंकि वह (पर्याय) द्रव्य-गुण का अंश है। अहा! द्रव्य-गुण जो त्रिकाल है, उनका ही परिणमता है वह अंश है अर्थात् त्रिकाली द्रव्य का अंश है, वह परिणमता है। यहाँ अभेद करके कहा है कि मुनियों को-धर्मात्मा पुरुषों को मोक्ष का-परमानंद की प्राप्ति का उपाय शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणति से परिणमित आत्मा ही है अर्थात् शुद्धपने परिणमित आत्मा ही मोक्ष का उपाय है। लो ऐसी बात, बहुत सूक्ष्म-अपूर्व!

ऐसा क्यों कहा ? तो कहते हैं; क्योंकि —

“ज्ञान इससे कोई अन्य नहीं है।”

अहा! अंदर भगवान आत्मा ज्ञानानंदप्रभु का जो अन्तर्मुखज्ञान हुआ है, वह आत्मा से कोई अन्य नहीं है; परन्तु अभेद है — ऐसा कहना है। आत्मा को तद्रूप-अभेद होकर जाने वही ज्ञान है और ऐसे ज्ञानरूप परिणमित आत्मा ही मोक्ष का उपाय है।

तो क्या पर्याय और द्रव्य दोनों एक हो गये ? नहीं, पर्याय और द्रव्य कहाँ एक हो गये ? यहाँ तो परिणमित आत्मा कहा है न ? भाई! आत्मा तो ध्रुव (द्रव्य) है और परिणमित वह पर्याय है; और इन दोनों को अभेद करके कहा है कि आत्मा ही मोक्ष का उपाय है अर्थात् इन तीन का (रत्नत्रय का) एकरूप, वह मोक्ष का उपाय है। भाई! बात आवे तब, ऐसे ही आती है न! कि द्रव्य स्वयं द्रवता है। द्रव्यत्वगुण छहों द्रव्यों में सामान्य है। यह द्रव्यत्वगुण किसको कहते हैं ? ‘द्रवति इति द्रव्यम्’ — ऐसी व्याख्या है। अहा! जिस गुणशक्ति के कारण द्रव्य में निरंतर परिणमन हुआ करे, द्रव्य की अवस्था निरंतर बदला करे, उसको द्रव्यत्वगुण कहते हैं। देखो, इसमें गुण-शक्ति के कारण परिणमता है — ऐसा आया; परन्तु अभेदपना बतलाना है तो किसतरह कहेंगे ? इसलिए कहते हैं कि गुण स्वयं जो सामान्यपने है, वही विशेषपने होता है — ऐसी सूक्ष्म बात है।

यहाँ कहते हैं — अंदर जो आत्मा का ज्ञान है, वह कोई अलग वस्तु नहीं है; यह ज्ञान पृथक् है और यह आत्मा (पृथक्) है — ऐसा नहीं है; परन्तु जो ज्ञानरूप परिणमित है, वही आत्मा है।

“दर्शन भी इससे अन्य नहीं है.....”

भाई! सम्यग्दर्शन कोई आत्मा से भिन्न चीज नहीं है। अहा! पूर्णानंदस्वरूप निज आत्मा को अन्तर्दृष्टि द्वारा ग्रहण करने पर प्रतीति हुई, वह आत्मा ही है; इसलिए सम्यग्दर्शन कोई आत्मा से भिन्न चीज नहीं है। जैसे — व्यवहाररत्नत्रय-अनात्मा-पृथक् वस्तु है; इसप्रकार दर्शन पृथक् चीज नहीं है। क्या कहा ? यह देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा और व्रतादि का जो विकल्प है, वह अनात्मा है; वह कोई आत्मा नहीं है। जबकि यह शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

‘और शील (चारित्र) भी अन्य नहीं है।’

देखो, यहाँ चारित्र को शील कहा है।

अहाहा.....! भगवान आत्मा शीलस्वरूप ही है अर्थात् चारित्र उसका स्वभाव ही है। यहाँ कहते हैं — उसमें (आत्मा में) रमणता से परिणति में जो चारित्र प्रगट हुआ, वह भी आत्मा ही है; वह चारित्र कहीं आत्मा से अन्य वस्तु नहीं है। अहाहा.....! प्रभु आत्मा ज्ञानानंद का सागर है और उसमें जो रमणता होती है, वह चारित्र है। यह चारित्र कोई अन्य नहीं है, आत्मा ही है। जबकि व्यवहार का विकल्प तो आत्मा से भिन्न चीज है, अनात्मा है। व्यवहाररत्नत्रय का-पाँच महाव्रतादि का जो विकल्प है, वह आत्मा से भिन्न वस्तु है; परन्तु यह (शुद्ध) चारित्र कोई आत्मा से भिन्न चीज नहीं है — ऐसा सिद्ध करते हैं।

अहाहा.....! लोगों को-क्रियाकाण्डवालों को यह समझना कठिन लगता है। अतः उन्होंने ऐसा मान लिया है कि भगवान की सेवा-भक्ति करना, दान देना, शास्त्र पढ़ना और शरीर से शील पालन करना — यह करने का काम है; परन्तु यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वयं अखण्डानंदप्रभु ध्रुवचैतन्यस्वरूप है और उसमें एकाग्र-लीन होना करनेयोग्य कार्य है, वह चारित्र है और वह आत्मा से भिन्न चीज नहीं है, आत्मा ही है।

कोई अज्ञानी तो खेलने-कमाने में, व्यापार-धंधे में आकंठ निमग्न हो गये हैं; परन्तु भाई! बाहर का सब तो उसके कारण आता और जाता है तथा उसके कारण बदलता है। अब जब व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी आत्मा नहीं है, तब फिर बाहर की चीज का तो क्या कहना? वह तो कहीं दूर ही रह गई। तेरा तो भगवान! तेरा दर्शन, तेरा

ज्ञान और तेरा चारित्र है; वह तू है; क्योंकि वह कोई तुझसे भिन्न चीज नहीं है। इस (शुद्धरत्नत्रय) के अतिरिक्त अन्य सब तुझसे भिन्न हैं।

यह किसने कहा है ? तो कहते हैं —

‘यह, मोक्ष को प्राप्त करनेवालों ने (अरिहन्त भगवंतों ने) कहा है।’

अहा.....! जिनको अरहंतपदरूप परमानंदस्वरूप मोक्ष प्राप्त हुआ है, उन्होंने यह कहा है। ‘मोक्ष को प्राप्त करनेवालों’ का अर्थ ‘अरहंत भगवंतों’ ने क्यों किया ? क्योंकि ‘यह कहा है’ — ऐसा कहना है न ? तो जिसके वाणी होगी, वह कहेगा न ? (इसलिए मोक्ष को प्राप्त करनेवालों का अर्थ सिद्धभगवंत न करके अरहंत भगवान किया है) भगवान अरहंत भावमोक्ष को प्राप्त हैं। भले ही चार अघातिकर्म शेष हों, तो भी परमानंद को प्राप्त हैं और उन अरहंत भगवंतों ने यह कहा है। अब कहते हैं —

‘इसे जानकर जो जीव पुनः माता के उदर में नहीं आता, वह भव्य है।’

अहा.....! आठ-आठ वर्ष के राजकुमार दीक्षा अंगीकार करने के लिए माता के पास जाकर आज्ञा माँगते हैं, तब कहते हैं - हे माता! इस जगत में रही हुई जगत की कोई वस्तु अप्राप्त नहीं रही, सभी वस्तुएँ अनंतबार प्राप्त हुई हैं। इसलिए माता! मैं आज ही अपूर्व — ऐसे आत्मा के चारित्र को अंगीकार करूँगा, जिसको अंगीकार करके मैं पुनः दूसरी माता नहीं बनाऊँगा। इसलिए माता! हे जननी! आज्ञा दे! एक बार रोना हो तो रोले; परन्तु मैं वायदा करता हूँ कि आत्मा के धर्म को अंगीकार करके अब पुनः माता के गर्भ में नहीं आऊँगा।

यहाँ कहते हैं कि जो इस शुद्धरत्नत्रय को अंगीकार करेगा, वह पुनः माता के गर्भ में नहीं आयेगा अर्थात् उसको अब पुनः अवतार नहीं होगा। अहा.....! मुनिराज कहते हैं, हमारा लक्ष्य आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है। हम आनंदधाम प्रभु आत्मा हैं, हमारे में आनंद ध्रुवशक्तिरूप से भरा पड़ा है; हमने उसको पर्याय में साक्षात् प्राप्त करने के लिए इस शुद्धरत्नत्रय को अंगीकार किया है। अहाहा.....! ‘यह जानकर’ अर्थात् निर्मलरत्नत्रय को अंगीकार करके, जो स्वस्वरूप में लीन रहता है, वह जीव पुनः माता के गर्भ में नहीं आता और वह भव्य है, मोक्ष का पात्र है। पुनः माता के गर्भ

में न आवे, वह लायक जीव है; भव्य है। वरना स्वर्ग का भव हो या नरक का — ये सब कलंक हैं। (भव धारण न करे, वह निष्कलंक है।)

अहाहा.....! मोक्ष को प्राप्त करनेवाले भगवंतों ने यह कहा है कि भगवान! तेरा शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तुझसे भिन्न नहीं है, वह तू ही है; तू ही स्वयं उस रत्नत्रय स्वरूप परिणामा है। अहा.....! यह जानकर अर्थात् इसप्रकार आचरण करके, जो जीव पुनः माता के गर्भ में नहीं आता, वह भव्य है। अरे भाई! अवतार तो कलंक है। योगसार (दोहा-१०) में कहा है कि 'जन्म, यह शर्मजनक कलंक है।' जैसे पाँच ऊँगलियों के अतिरिक्त छठवीं लटकती ऊँगली कलंक है; इसीतरह जिनस्वरूप आनंद का नाथ चैतन्य भगवान को अवतार अर्थात् यह शरीर के पिण्ड ग्रहण करना कलंक है। अरे! स्वर्ग का अवतार भी कलंक है। जब पुनः माता के गर्भ में न आवे और भव रहित होकर मुक्ति हो वह निष्कलंक है। ऐसा जीव भव्य है। 'सः भव्य' — ऐसा कहा है न ? तात्पर्य यह है कि आत्मा के शुद्धरत्नत्रय को ग्रहण करके, जो पुनः अवतार धारण नहीं करता, वह भव्य है, मुक्ति के योग्य है।

इसप्रकार यह कलश पूर्ण हुआ। ●

प्रभु! जो भाव तेरे स्वरूप में नहीं है, उन्हें तू अपना बनाने की आकांक्षा करता है तो तुझे ऐसी आकांक्षा करके कहाँ जाना है, उसका फल क्या है उसकी तुझे खबर है ? शरीर तो छूटेगा ही, आत्मा का नाश तो कभी होता नहीं है, तो यह शरीर छोड़कर कहाँ जायेगा ? जिसने राग और पुण्य की क्रिया का सेवन किया है, उससे लाभ माननेरूप मिथ्यात्व का सेवन किया है, वे भविष्य में भी मिथ्यात्व में रहेंगे। मिथ्यात्व के गर्भ में नरक और निगोद के अनंत भव करने की शक्ति है, वहीं अनंतकाल रहेंगे। भिन्न आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर अनादि भवसंतति का छेद हो जाता है, क्योंकि अनंत ज्ञान एवं अनंत आनन्द जिसके फल में प्रकट होता है, ऐसा कारण उसने प्राप्त किया है। अंतर में अभेद ज्ञायक आत्मा का पूर्ण आश्रय करने पर आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियों से खिल उठता है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

नियमसार गाथा-५

अत्तागमतच्चाणं सदहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥
आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम्।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥५॥

(हरिगीत)

रे ! आप्त-आगम-तत्त्व का श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।

निःशेषदोषविहीन जो गुणसकलमय सो आप्त है ॥५॥

गाथार्थ :— आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है; जिसके अशेष (समस्त) दोष दूर हुए हैं — ऐसा जो सकलगुणमय पुरुष वह आप्त है।

टीका :— यह व्यवहारसम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है।

आप्त अर्थात् शंकारहित। शंका अर्थात् सकल मोहरागद्वेषादिक (दोष)। आगम अर्थात् आप्त के मुखारविन्द से निकली हुई, समस्त वस्तुविस्तार का स्थापन करने में समर्थ — ऐसी चतुर वचनरचना। तत्त्व बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व — ऐसे (दो) भेदोंवाले हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष — ऐसे भेदों के कारण सातप्रकार के हैं। उनका (आप्त का, आगम का और तत्त्व का) सम्यक्श्रद्धान सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

अब, पाँचवीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है —

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

(वीरछन्द)

भवभय नाशक भगवन्तों के प्रति क्या तुझको भक्ति नहीं ?
तो जानो तुम भवसमुद्र-थित मगरमच्छ के मुख में ही ॥१२॥

श्लोकार्थ :— भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है ॥१२॥

गाथा ५ की टीका पर प्रवचन

देखो, यह परमागम श्री नियमसार का जीव अधिकार है। इसमें चार गाथा पूर्ण हुई, अब पाँचवीं गाथा है। इसमें क्या कहते हैं ? कि —

‘यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है।’

अहा! जिसको निश्चयसम्यग्दर्शन अर्थात् स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता हो, उसको ऐसा व्यवहार समकित होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। इस गाथा में व्यवहार समकित का स्वरूप कहा जाता है। कहते हैं —

“आप्त अर्थात् शंकारहित। शंका अर्थात् सकलमोह-राग-द्वेषादिक दोष।”

देखो, अपने हित के लिए माननेयोग्य देव अर्थात् आप्त-परमेश्वर शंकारहित होता है। भगवान आप्त को शंका नहीं होती। शंका माने क्या ? कि मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि सभी दोषों को यहाँ शंका कहा गया है। अहाहा...! ये मोह-राग-द्वेष आदि समस्त दोष जिसमें नहीं हैं — ऐसा सकलगुणमय पुरुष वह भगवान आप्त है। इसप्रकार आप्त अर्थात् देव वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे होते हैं, उनकी व्याख्या की।

अब आगम-शास्त्र किसको कहते हैं — यह कहते हैं —

“आगम अर्थात् आप्त के मुखारविन्द से निकली हुई, समस्त वस्तु-विस्तार का स्थापन करने में समर्थ — ऐसी चतुर वचनरचना।”

अहाहा.....! आप्त अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जो सकल दोषरहित कहे हैं वे। उन दोषों का नाम आगामी गाथा में आयेगा। उन आप्त के मुखारविन्द में से-मुखरूपी अरविन्द (कमल) में से निकली हुई.....अहा.....! भाषा तो ऐसी की है कि ‘मुखारविन्द में से निकली हुई’ क्यों ? क्योंकि मुख से बोला जाता है न ? यों तो भगवान की वाणी ओमध्वनि होती है, वह कोई ओंठ मे से नहीं निकलती; ओंठ तो बंद होते हैं। अहाहा.....! भगवान को असंख्यप्रदेशों में केवलज्ञान वर्तता है; इसलिए सर्वांग सम्पूर्ण-अखण्ड ध्वनि होती है। ‘ओम’ ऐसी ध्वनि होती है। अहा! जो परमवीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं, उनको ऐसी (दिव्य) ध्वनि होती है; परन्तु व्यवहार से लोकशैली में ऐसा आता है न कि मुखकमल में से बोला जाता है; इसीलिए यहाँ भी इस शब्द का प्रयोग किया है कि ‘आप्त के मुखकमल में से निकली हुई.....’ क्या ? वाणी, आगम। कैसी है वह वाणी ? तो कहते हैं —

‘समस्त वस्तुविस्तार का स्थापन करने में समर्थ है।’

अहाहा.....! जगत में वस्तु का जो स्वभाव है उसको, अर्थात् अनंत आत्माएँ, अनंतानंत पुद्गल आदि छहद्रव्य हैं, वे प्रत्येक-इसप्रकार अनंत-अनंत वस्तुओं के गुण और पर्यायों का जो विस्तार है; उसका स्थापन करने में समर्थ है। अहा! यह वस्तु ऐसी है, इसप्रकार यथातथ्य स्थापन करने में भगवान की वाणी समर्थ है। अहो! भगवान की वाणी कोई ऐसी अलौकिक चतुर वचनरचना होती है। भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि वस्तु के स्वरूप को यथातथ्य निश्चित करनेवाली परमहितकारी और सातिशय — ऐसी अद्भुत अलौकिक होती है। अहा! भगवान की दिव्यध्वनि की क्या बात! जिसका परमभाग्य हो, उसके कान में पड़ती है।

ईश्वर कहो या परमेश्वर कहो — एक ही है। स्वरूप से तो जीव परमेश्वर स्वरूप ही है; परन्तु वह परमेश्वरता जिनको पर्याय में प्रगट हो गई है; उनको जो दिव्यध्वनि अर्थात् प्रधानवचन है, वह भी सातिशय चतुर वचनरचना है; और उसको आगम कहा जाता है। उस आगम की-भगवान के मुखकमल में से निकली हुई वाणी की श्रद्धा वह व्यवहार समकित है। तो अरहंत परमात्मा कौन हैं ? उनकी वाणी कहाँ है ? यह सब निश्चित करना पड़ेगा या नहीं ? किसी ने भगवान के नाम से अपनी कल्पना से कल्पित शास्त्रों की रचना की हो तो वह कोई भगवान की वाणी नहीं है; इसलिए यहाँ कहते हैं कि समस्त वस्तुविस्तार का स्थापन करने में समर्थ अर्थात् वस्तु और वस्तुव्यवस्था ऐसी ही है — इसप्रकार यथातथ्य कहने में समर्थ ऐसी जो चतुर वचनरचना है, वह भगवान आस की वाणी है। इसप्रकार आस और उनकी वाणी को भलीभाँति पहिचानना पड़ेगा।

इसप्रकार दो बातें हुई —

(१) आस अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा और

(२) आस की वाणी अर्थात् आगम। अब तत्त्वों की बात करते हैं —

“तत्त्व बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व — ऐसे दो भेदोंवाले हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष — ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं। उनका (आस का, आगम का और तत्त्व का) सम्यक्श्रद्धान सो व्यवहारसम्यक्त्व है।”

अहाहा.....! अपना चिदानंदमय परमात्मस्वरूप वह अन्तःतत्त्व है और उसके साथ के अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तथा पुण्य-पाप — ये बहिःतत्त्व हैं। इन दोनों की श्रद्धा सो व्यवहारसमकित है; क्योंकि इसमें दो आये न! अहाहा.....! अकेले परमात्मस्वरूप निज-अन्तःतत्त्व का अनुभव और उसकी श्रद्धा सो निश्चयसमकित है; परन्तु अन्तःतत्त्व के साथ शामिल सातों ही पर्यायों की श्रद्धा को तथा आस की श्रद्धा, आगम की श्रद्धा और इन दो (अन्तः और बहिः) तत्त्वों की श्रद्धा को व्यवहारसमकित कहते हैं। अहा.....! भगवान् आत्मा जो निश्चयवस्तु है, उसकी-अन्तःतत्त्वरूप निज परमात्मा की, जिसको अन्तर में भान होकर प्रतीति हुई है — ऐसे जीव को व्यवहार समकित में ऐसे तत्त्वसंबंधी और देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा होती है — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। चैतन्यमूर्ति निज आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति के साथ ऐसा ही देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का व्यवहार (विकल्प) होता है — ऐसा निर्देश यहाँ करते हैं।

अहो! मुनिराज ने क्या अलौकिक टीका की है।

परन्तु तत्त्व कैसे हैं ? कितने हैं ?

अन्तःस्वरूप स्वयं और बहिःतत्त्वरूप सात — इसप्रकार तत्त्व दो भेदवाले हैं; और इन तत्त्वों की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं। 'अथवा' शब्द से आगे यह कहना है कि इन दो (अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व) की श्रद्धा अथवा जीव-अजीवादि साततत्त्व की श्रद्धा व्यवहारसम्यक्त्व है। अहा! जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष — ये जो साततत्त्व हैं, इनकी श्रद्धा व्यवहारसम्यक्त्व है। पुण्य-पाप गर्भितरूप से आस्रव में आ जाते हैं।

प्रश्न : — यहाँ साततत्त्वों में कौन-सा जीव लेना ?

समाधान : — एकसमय की पर्यायवाला लेना; क्योंकि ये सब भेद हैं न। दूसरे प्रकार से कहें तो जीव माने सम्पूर्ण आत्मा (जीवद्रव्य) लेना। अहा! ये सब एकसमय की पर्यायवाला जीव और अजीव आदि सभी तत्त्व सात प्रकार के हैं और इनकी श्रद्धा व्यवहारसमकित है।

अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व — इसप्रकार दो कहे, वह सामान्य कहा और यह ('अथवा' कहकर) उसका विस्तार कहा है।

प्रश्न :— परन्तु 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में तो नवतत्त्व की श्रद्धा को निश्चयसमकित कहा है ?

समाधान :— हाँ, वहाँ तो तत्त्वों में एकरूप अभेद (अन्तःतत्त्व) की अभेदरूप श्रद्धा की बात है। यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा की बात है और ऐसी भेदरूप श्रद्धा को यहाँ व्यवहारसमकित कहा है। देखो, इस 'नियमसार' के 'शुद्धभाव अधिकार' में (गाथा-५० में) आता है कि अन्तःतत्त्व शुद्ध आत्मा है और ये सब पर्यायें बहिःतत्त्व हैं; क्योंकि पर्याय तो व्यक्त-प्रगट है न! जबकि सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव अंदर (अव्यक्त) है। भाई! त्रिकाली आत्मा एक ज्ञायकभाव पूर्णानंद परमस्वभाव प्रभु को अन्तःतत्त्व कहा है और समस्त पर्यायतत्त्वों को बहिःतत्त्व कहा है। मोक्ष की पर्याय को भी बहिःतत्त्व कहा है; क्योंकि वह प्रगटरूप है न! इसीलिए.....!

यहाँ कहते हैं कि 'उनका' अर्थात् 'आप्त का'-पहले आप्त कहा उनका, 'आगम का'-फिर आप्त की वचनरचना (दिव्यध्वनि) कही उसका, 'और तत्त्व का सम्यक्श्रद्धान वह व्यवहारसम्यक्त्व है।' अर्थात् निश्चयसमकिति को सहचर — ऐसा शुभभावरूप विकल्प होता है।

प्रश्न :— व्यवहारसमकित भी सच्चा समकित है न ?

समाधान :— ऐसा नहीं है बापू! क्योंकि व्यवहारसमकित तो विकल्प है; परन्तु निश्चयसमकित के साथ ऐसा भेद-विकल्प है — ऐसा बतलाना है। अहा! निमित्त (व्यवहारसमकित), नैमित्तिक जो निश्चयसमकित है, उसकी प्रसिद्धि करता है कि यहाँ यह (निश्चय) है। अरे भाई! जिसको व्यवहार समकित का भी ठिकाना नहीं है, उसको तो निश्चयसमकित होता नहीं है और जहाँ निश्चयसमकित हो, वहाँ व्यवहारसमकित में ऐसी ही भेदरूप श्रद्धा होती है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

अब, अभी तो देखो न, चारों तरफ बहुत गड़बड़ है। निश्चय क्या और व्यवहार क्या ? वस्तु क्या और उसकी दशा क्या है ? तथा उसके प्रतिपादक सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे होते हैं ? और उनकी वाणी कैसी होती है ? इत्यादि कुछ भी पता नहीं है; परन्तु भाई! वस्तु के यथार्थ भान बिना तुझको धर्म कैसे होगा ? जहाँ श्रद्धा ही मिथ्या है, जहाँ अज्ञान है; वहाँ धर्म कैसा ? यहाँ कहते हैं कि यह वस्तुस्थिति भगवान के द्वारा कथित

है और इससे कुछ भी कम, ज्यादा अथवा विपरीत माननेवाला मूढ़ अज्ञानी है; फिर भले ही वह ग्यारह अंग का पाठी ही क्यों न हो तथा बाहर की लौकिक पढ़ाई में तो यह बात ही कहाँ है ?

अहा! ऐसी तत्त्व की बात भगवान सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र नहीं होती। अहा! सर्वज्ञ माने ? सर्वज्ञ अर्थात् मोक्ष की पर्याय। अहाहा...! जो एकसमय की पर्याय में तीनकाल-तीनलोक को युगपत् जानने की शक्ति का विकास हुआ है, वह सर्वज्ञ मोक्ष की पर्याय है। वह मोक्ष भी बहिःतत्त्व है और अन्तःतत्त्व तो ऐसी-ऐसी अनंतपर्यायों का पिण्ड सम्पूर्ण सामान्य एकसदृश चैतन्यवस्तु है। अहा....! ऐसे अन्तःतत्त्व और ऐसे बहिःतत्त्व की (दो की) भेदरूप श्रद्धा को व्यवहारसमकित कहते हैं तथा उस अन्तःतत्त्व के अनुभव में, जिसको निश्चयसमकित है, उसको ऐसा सहचररूप व्यवहारसमकित होता है।

अहा! (निश्चय से तो) समकिती अपने शुद्धात्मा का भक्त है और व्यवहार से वह अरहन्त का-तीर्थकर का भक्त होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। अहा....! अंदर भगवान आत्मा सच्चिदानंदप्रभु ध्रुव अखण्डवस्तु है; उसकी निश्चयभक्ति अर्थात् निश्चय-समकित। जहाँ ऐसी निश्चयभक्ति है, जहाँ आत्मभक्ति है, वहाँ उसको व्यवहारभक्ति में अरहन्त परमेश्वर की ही भक्ति होती है, उनके ही बहुमान और गुणानुवाद का विकल्प उसको होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। अहा! जिसको अंतर में शुद्ध अन्तःतत्त्व के आश्रय से निर्मलरत्नत्रयरूप नियम-मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसको बाहर में ऐसा ही व्यवहार होता है अर्थात् वह ऐसे अरहन्त को ही परमेश्वर मानता है। अरहन्त को उनकी पर्याय पूर्ण हुई है और वैसी अनंतपर्यायों का पिण्ड निज अन्तःतत्त्व का सम्यग्दृष्टि को भान है। भाई! इसप्रकार जिसको अभेद का भान है, उसके भेदरूप तत्त्वों की श्रद्धा भी सच्ची होती है।

अहा....! आस्रव, संवर, निर्जरा आदि यह वस्तु की स्थिति है। जैसे आत्मा जीववस्तु है, वैसे अन्य वस्तु अजीव भी है। जीव है, इसलिए अजीव है — ऐसा नहीं है; परन्तु स्वयं से ही अन्य वस्तु अजीव है। अब जब संसार है तो पुण्य-पाप के भाव भी हैं। ये पुण्य-पाप के भाव हैं, वह आस्रव है और जैसे आस्रव हैं, वैसे ही उसका अभाव होकर प्रगट होनेवाली शुद्धता के अंशरूप संवर भी है तथा शुद्धि की वृद्धि होती है, वैसी निर्जरा भी है। उस शुद्धि की पूर्णता होती है, वैसा मोक्ष भी है। तात्पर्य यह

है कि पर्याय में शुद्धता और अशुद्धता के ऐसे प्रकार होते हैं। अहा.....! वस्तु है तो उसकी अशुद्धता (पुण्य-पाप, आस्रव और बंध) तथा शुद्धता (संवर, निर्जरा और मोक्ष) होते हैं। भाई! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। अतः ऐसी स्थितिवाले जो तत्त्व हैं, उनका ज्यों का त्यों श्रद्धान करे-माने अर्थात् आस्रव को अशुद्धतारूप, संवर को आंशिक शुद्धतारूप, निर्जरा की शुद्धि की वृद्धिरूप और मोक्ष को पूर्ण शुद्धतारूप जैसे है, वैसे जाने-माने वह व्यवहारसमकित है। अहा.....! (सम्यग्दृष्टि को) व्यवहारसमकित की ऐसी दशा होती है — ऐसा कहते हैं। बहुत गंभीर बात है प्रभु!

अहा.....! जिसके आश्रय से शुद्ध-शुद्ध पर्याय प्रगट होती है — ऐसे पूर्णानंदमय निजद्रव्यस्वभाव की जिसको अंतर में प्रतीति हुई है, उसको ऐसे (पूर्णशुद्ध) प्रगट पर्यायवाले की (अरहंतादि की) श्रद्धा व्यवहार से बराबर होती है — ऐसा कहते हैं। अहो! अन्तःतत्त्वस्वरूप सच्चिदानंदप्रभु भगवान आत्मा निश्चयदेव है, वही निश्चयगुरु है और वही निश्चयधर्मस्वरूप है। अहा....! ऐसे आत्मा के आश्रय से-स्वाश्रय से जिसको अंतरंग में सम्यक्त्व हुआ है उसको, जिसको पूर्णशुद्धता प्रगट हुई है — ऐसे अरहंतादिदेव की अर्थात् मोक्षतत्त्व की और साधकभावरूप संवर-निर्जरातत्त्व की यथार्थ श्रद्धा होती है। देखो, इसमें देव-गुरु और धर्म तीनों आ गये —

- पूर्ण शुद्धतास्वरूप मोक्ष की श्रद्धा में देव आये,
- संवर-निर्जरा की श्रद्धा में गुरु आये और
- संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है, अतः धर्म भी आ गया।

भाई! जहाँ ऐसा श्रद्धान नहीं है, वहाँ अज्ञान है-मूढ़ता है — ऐसा कहते हैं।

अहा! ऐसे वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, वीतराग की वाणी (आगम) और वीतरागकथित साततत्त्व, इनकी व्यवहारश्रद्धा का भी जहाँ ठिकाना नहीं है; वहाँ उसको निश्चयधर्म नहीं हो सकता; इसलिए यह निःसंदेह है कि जिसके व्यवहार में फर्क है, उसके निश्चय में कुछ माल ही नहीं है अर्थात् उसको निश्चय होता ही नहीं। जिसको निजपूर्णस्वरूप का भान है, उसको ही एक-एक समय की पर्याय की पूर्णतावाले की संवर-निर्जरावाले साधकजीव की-गुरु की और पुण्य-पाप, आस्रव-बंध में रहे हुए बाधकजीव की यथार्थ श्रद्धा होती है।

कलश-१२ पर प्रवचन

‘भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ?’

‘भव के भय को भेदनेवाले.....’ अहा! भाषा तो देखो! ‘भवभयभेदिनी’ — ऐसा कलश में है न! अहाहा.....! ये भगवान भव के भय का भेदन करनेवाले हैं — ऐसा कहते हैं। अरे! सिर पर चौरासी के अवतार की लाठी है; और ऐसे अवतार के-भव के भय के मेंटनेवाले ये त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव सर्वज्ञपरमात्मा हैं — ऐसे भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा को भक्ति होती ही है। यदि तुझे भक्ति नहीं है तो तुझे सर्वज्ञ-स्वभावी निज आत्मा की भक्ति भी नहीं है — ऐसा कहते हैं।

यह व्यवहारश्रद्धा की बात है न! अतः यहाँ से प्रारम्भ किया है कि ‘भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान.....’ अहाहा.....! भगवान भव के भय का भेदन करनेवाले हैं, यह तो निमित्त की मुख्यता की बात है; क्योंकि भगवान की वाणी में भव के अभाव की ही बात आती है। भगवान स्वयं भवरहित हो गये हैं और इसलिए उनकी वाणी में सहज ही भवरहित होने की बात आती है। भव से लाभ है और कोई भव भला है — ऐसी बात भगवान की वाणी में कभी नहीं आती। तो ऐसे भगवान की श्रद्धा तुझे कैसे नहीं होगी ? होगी ही, होनी ही चाहिए — ऐसा यहाँ कहना है। निश्चयश्रद्धा भगवान आत्मा की है तो ऐसे भगवान की भी तुझको श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए।

अहाहा.....! अन्दर जो शक्तिरूप पूर्णज्ञानानंद की लक्ष्मी विद्यमान है, वह जिनको पर्याय में प्रगट हो गई है; उनको भगवान कहते हैं; परन्तु अभी तो बाहर हर कोई (रागी) अपने को भगवान मनवाते हैं; परन्तु ऐसे कोई भगवान नहीं हैं, वे सब तो भिखारी हैं। यहाँ तो आत्मवस्तु का जो बेहद अनंत-अपरिमित ज्ञानानंदस्वभाव है, उस स्वभाव के सत्त्व का तत्त्व जिनकी पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया है, वह भगवान है और ऐसे भगवान की वाणी में भव के भेदन करने की बात आती है। अहा....! भगवान ने स्वयं भव का छेद कर दिया है और उनकी वाणी में भी भव के छेदन करने की ही बात आती है; इसलिए भगवान की वाणी भी भव को छेदनेवाली है। अहा...! ऐसे भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? अर्थात् तुझे भक्ति होनी चाहिए।

यदि भक्ति न हो तो ?

‘तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है।’

यदि तुझे वीतराग परमेश्वर की भक्ति-श्रद्धा नहीं है तो तू चौरासी के अवतार समुद्र के मध्य में रहनेवाले मगरमच्छ के मुख में है अर्थात् तू भवसमुद्र में कहीं गहरा डूबनेवाला है।

अहा! भगवान त्रिलोकीनाथ अरहंत परमात्मा के जैसा आत्मा है, तो जिसको अपनी (निज आत्मा की) भक्ति है। उसको ऐसे (भव-भव का भेदन करनेवाले) भगवान की भक्ति का विकल्प अवश्य होता है, वह यह दर्शाता है; उसको निश्चयसमकित है अर्थात् भेद, अभेद को बताता है। यहाँ जिसको निश्चयसमकित है, उसकी ही बात है; जिसको अकेला व्यवहार है, उसकी बात यहाँ नहीं है।

अहाहा.....! ‘इन भगवान के प्रति’ देखो! ‘इन’ भगवान लिया है। इसका क्या आशय है ? कि जिनकी मोक्षदशा-केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख आदि पर्याय में प्रगट है, वे केवली साक्षात् भगवान हैं, प्रभु हैं। यद्यपि वह पर्याय तो बहिःतत्त्व है; तथापि जिसको अन्दर में निजशुद्ध अन्तःतत्त्व का भान है, उसको ऐसे बहिःतत्त्व की (देवतत्त्व की) श्रद्धा का विकल्प होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। जगत का कर्ता अन्य कोई देव है — ऐसी अज्ञानी लोगों की मान्यता और ऐसा व्यवहार उसको नहीं होता; इसलिए कहा है कि यदि तुझे ऐसे परमेश्वर की भक्ति नहीं है तो तू संसारसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है। तू संसारसमुद्र में कहीं खो जानेवाला है।

‘तुम हमारा भजन किया करो और मैं तुमको मोक्ष दूँगा’ — ऐसा कहनेवाला भगवान ही नहीं है और यह मार्ग भी नहीं है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि ‘मैं जैसा पर्याय में हूँ, वैसा ही तेरा अंदरस्वरूप है; इसलिए यदि अन्तर्दृष्टि द्वारा तुझे अपनी भक्ति प्रगट हुई हो तो तुझे हमारे प्रति भक्ति का विकल्प होता है’ — बस इतना ही। (इस भक्ति से कल्याण हो जायेगा — ऐसा नहीं है)।

भक्ति दो प्रकार से है न? १. निश्चयभक्ति और २. व्यवहारभक्ति। निश्चयभक्ति उसे कहते हैं कि स्वयं सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा सिद्धस्वरूप परमात्मा है; उसकी अन्तर्मुख एकता से प्राप्त श्रद्धान वह निश्चयभक्ति अर्थात् समकित है और उसको निमित्तरूप से बतानेवाली — ऐसे भगवान की श्रद्धा का विकल्प वह व्यवहारभक्ति है।

प्रश्न :— निश्चय और व्यवहार परस्पर साध्य-साधक हैं, परस्पर सापेक्ष हैं - ऐसा भी जयसेनाचार्य की टीका में आता है ?

समाधान :— हाँ, परन्तु इसका अर्थ क्या ? कि जहाँ अंतरंग में निश्चय होता है, वहाँ ऐसा व्यवहार होता ही है और व्यवहार ऐसा हो; वहाँ निश्चय भी ऐसा होता है — इसप्रकार परस्पर सापेक्ष है। श्री प्रवचनसार (श्लोक-१२) में आया है कि जिसको ऐसा सच्चा व्यवहार हो उसको, उस व्यवहार से अनुमान करना कि वहाँ अंदर ऐसा निश्चय है अर्थात् उसको ऐसा निश्चय होता है और जिसको ऐसा निश्चय-छठवें गुणस्थान की वीतरागीदशा होती है, उसको बाहर में व्यवहार भी ऐसा ही-पंचमहाव्रतादि के परिणाम होता है। वहाँ 'अनुसार' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् व्यवहार निश्चयानुसार और निश्चय व्यवहारानुसार होता है। तात्पर्य यह है कि जिसको अन्तरंग में निश्चय होता है, उसको बाहर में ऐसा व्यवहार होता है और बाहर में जिसको ऐसा व्यवहार होता है, उसको अन्तरंग में निश्चय होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। (निश्चय-व्यवहार इसप्रकार साध्य-साधक हैं; परन्तु व्यवहार निश्चय को कर देता है — ऐसा साध्य-साधक नहीं है।)

अहा...! आत्मा महाप्रभु है; क्योंकि उसके गर्भ में संवर, निर्जरा, मोक्ष पड़े हुए हैं। (मोक्षपाहुड़, गाथा-१०४) में आता है कि पंचपरमेष्ठी तेरे पेट में-तेरे आत्मा में हैं अर्थात् भगवान! तू पंचपरमेष्ठी स्वरूप ही है। अहा....! ऐसी संवर-निर्जरा और मोक्ष की दशा का-सम्पूर्ण अनंतदशा का सागर भगवान आत्मा है। जिसको उसकी प्रतीति और अनुभव हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि को ऐसे परमेश्वर की ही-पूर्ण मोक्षदशा-परमसुख की दशा, जिनको प्रगटी है; उन परमेश्वर की ही श्रद्धा बाह्य में होती है। इसके अतिरिक्त उसको अन्य की श्रद्धा-भक्ति नहीं होती। अहा! जिसको पूर्णदशा की श्रद्धा होती है, उस समकिति को ही नौ तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा होती है अर्थात् साधकजीव को ऐसे संवर-निर्जरा होते हैं और साथ ही ऐसा आस्रवादि बाधकभाव भी होता है — यह सब उसकी नवतत्त्व की श्रद्धा में आ जाता है।

यहाँ कहते हैं यदि तुझे इन भगवान की भक्ति नहीं है, तो अरे! 'तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले.....' देखो! भवसमुद्र के किनारे नहीं, परन्तु मध्य में....! अहा....! तू पूर्ण परमात्मस्वरूप है; परन्तु तुझको उसका भान नहीं होवे तो ऐसे भगवान की श्रद्धा

भी तुझे नहीं है और तब तो तू भवसमुद्र के मध्य में है और वह भी (मिथ्यात्वरूप) मगर के मुख में है। तात्पर्य यह है कि चौरासी के अगाध भवसमुद्र में कहीं गहरे डूब जायेगा। वहाँ ऐसे क्षुद्र भव मिलेंगे कि जहाँ मन भी नहीं मिलेगा। अनंतकाल में कदाचित् मनवाला हो तो तिर्यच का भव मिले। अरे! कैसे-कैसे भव होते हैं, देखो न! बाघ, सिंह, सर्प इत्यादि के भव! भाई! इसतरह (भवसागर में) कहीं गहरा डूबा हुआ था कि जहाँ से मनुष्यपना प्राप्त होना अत्यन्त कठिन था; परन्तु अरे रे! इसको विचार ही नहीं है कि मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ ? तथा कहाँ जाऊँगा ? यह क्या हो रहा है ? और इसका क्या फल आयेगा ? भाई! यह विचार करने का अवसर है। (ऐसा अवसर पुनः नहीं मिलेगा)।

अहा! कहते हैं कि यदि देव-गुरु-धर्म और नवतत्त्व की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है तो तुझको आत्मा की भी श्रद्धा नहीं है और तब तो तू भवसमुद्र में डूबा ही डूबा है। अहो! यह भी क्या (अद्भुत) कलश है!

प्रश्न :— यह मार्ग तो कठिन है, इसके बदले जनसेवा करें तो ?

उत्तर :— किसकी सेवा करें बापा! तू कहाँ गहराई में गया ? क्या कर सकता है, इसका भी पता नहीं है। अब इसमें से-बाहर की महत्ता और कर्त्तापने के अभिमान में से निकलना बहुत कठिन पड़ेगा। बाहर की प्रवचनकर्ता की महत्ता में फँस गया तो वहाँ से निकलना कठिन पड़ेगा। बाहर की प्रशंसा, महत्ता और प्रतिष्ठा क्या चीज है ? वह सब तो संसारसमुद्र में डूबने का ही (मार्ग) है; वह तुझे काम नहीं आयेगा। निजस्वरूप की भक्ति और साथ में भव के भय का भेदन करनेवाले भगवान की भक्ति यदि नहीं है तो अन्य कुछ भी तेरे काम नहीं आयेगा।

यह पाँचवीं गाथा हुई। इस गाथा में दोषरहित आप्त कहे हैं न! वे दोष कौन-कौन से हैं, यह बात अगली गाथा में करेंगे। यहाँ आप्त अर्थात् वाणीवाले अरहन्त परमात्मा की बात है, सिद्ध की बात अभी नहीं है। अहा! जिनसे आगम प्रवर्तित होता है, वे ओमध्वनि के प्रवर्तक साक्षात् भगवान अरहन्त परमेश्वर कैसे होते हैं — यह बात अब कहेंगे।

पहले से ही संस्कार डालना चाहिए कि मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, परमात्मा हूँ।

नियमसार गाथा-६

छुहतणहभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू ।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६ ॥
क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः ।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ ॥६ ॥

(हरिगीत)

है दोष अष्टादश कहे रति मोह, चिन्ता, मद, जरा ।

भय, दोष, राग, रु जन्म, निद्रा, रोग, खेद, क्षुधा, तृषा ॥६ ॥

गाथार्थ :— क्षुधा, तृषा, भय, रोष (क्रोध), राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (यह अठारह दोष हैं) ।

टीका :— यह अठारह दोषों के स्वरूप का कथन है ।

(१) असातावेदनीय संबंधी तीव्र अथवा मंद क्लेश की करनेवाली वह क्षुधा है (अर्थात् विशिष्ट-खासप्रकार के असातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर अवस्था, उस पर झुकाव करने से मोहनीय कर्म के निमित्त से होनेवाला, खाने की इच्छारूप दुःख वह क्षुधा है) । (२) असातावेदनीय संबंधी तीव्र, तीव्रतर (अधिक तीव्र), मन्द अथवा मंदतर पीड़ा से उत्पन्न होनेवाली वह तृषा है (अर्थात् विशिष्ट असाता वेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर-अवस्था उस पर झुकाव करने से मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाला, जो पीने की इच्छारूप दुःख वह तृषा है) । (३) इस लोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय तथा अकस्मातभय — इसप्रकार भय सातप्रकार के हैं । (४) क्रोधी पुरुष का तीव्र परिणाम वह रोष है । (५) राग प्रशस्त और अप्रशस्त होता है, दान, शील, उपवास तथा गुरुजनों की वैयावृत्त्य आदि में उत्पन्न होनेवाला, वह प्रशस्तराग है और स्त्रीसंबंधी, राजासंबंधी, चोरसंबंधी तथा भोजनसंबंधी विकथा कहने तथा सुनने के कौतूहलपरिणाम, वह अप्रशस्त राग है । (६) चारप्रकार^१ के श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्यसंबंधी मोह, वह प्रशस्त है और

* श्रमण के चारप्रकार इसप्रकार हैं - १. ऋषि, २. मुनि, ३. यति और ४. अनगार। ऋद्धिवाले श्रमण वे ऋषि हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण वे मुनि हैं, उपशमक अथवा क्षपकश्रेणी में आरूढ श्रमण वे यति हैं और सामान्य साधु वे अनगार हैं - ऐसे चारप्रकार का श्रमणसंघ है ।

उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त ही है। (७) धर्मरूप तथा शुक्लरूप चिन्तन (चिन्ता, विचार) प्रशस्त है और उसके अतिरिक्त (आर्तरूप तथा रौद्ररूप चिन्तन) अप्रशस्त ही है। (८) तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों को वयकृत देहविकार (आयु के कारण होनेवाली शरीर की जीर्णदशा) वही जरा है। (९) वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली कलेवर (शरीर) संबंधी पीड़ा वही रोग है। (१०) सादि-सनिधन, मूर्त इन्द्रियोंवाले, विजातीय नरनारकादि विभावव्यंजनपर्याय का जो विनाश उसी को मृत्यु कहा गया है। (११) अशुभकर्म के विपाक से जनित, शारीरिक श्रम से उत्पन्न होनेवाला, जो दुर्गन्ध के संबंध के कारण बुरी गन्धवाले जलबिन्दुओं का समूह वह स्वेद है। (१२) अनिष्ट की प्राप्ति (अर्थात् कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है। (१३) सर्व जनता के (जनसमाज के) कानों में अमृत उंडेलनेवाले सहज चतुर कवित्व के कारण, सहज (सुन्दर) शरीर के कारण, सहज (उत्तम) कुल के कारण, सहज बल के कारण तथा सहज ऐश्वर्य के कारण आत्मा में जो अहंकार की उत्पत्ति वह मद है। (१४) मनोज्ञ (मनोहर सुन्दर) वस्तुओं में परम प्रीति सो रति है। (१५) परम समरसीभाव की भावना रहित जीवों को (परम समताभाव के अनुभवरहित जीवों को) कभी पूर्वकाल में न देखा हुआ देखने के कारण होनेवाला भाव वह विस्मय है। (१६) केवल शुभकर्म से देवपर्याय में जो उत्पत्ति, केवल अशुभकर्म से नारकपर्याय में जो उत्पत्ति, माया से तिर्यचपर्याय में जो उत्पत्ति और शुभाशुभ मिश्रकर्म से मनुष्यपर्याय में जो उत्पत्ति, सो जन्म है। (१७) दर्शनावरणीयकर्म के उदय से जिसमें ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है, वही निद्रा है। (१८) इष्ट के वियोग में विक्लवभाव (घबराहट) ही उद्वेग है — इन (अठारह) महादोषों से तीनलोक व्याप्त है। वीतरागसर्वज्ञ इन दोषों से विमुक्त है।

(वीतरागसर्वज्ञ को द्रव्य-भाव घातिकर्मों का अभाव होने से, उन्हें भय, रोष, राग, मोह, शुभाशुभ चिन्ता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेग कहाँ से होंगे ?)

और उनको समुद्र जितने सातावेदनीय कर्मोदय के मध्य बिन्दु जितना असातावेदनीय कर्मोदय वर्तता है वह, मोहनीयकर्म के बिल्कुल अभाव में, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषा का निमित्त कहाँ से होगा ? नहीं होगा, क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीयकर्म हो तथापि मोहनीयकर्म के अभाव में दुःख की वृत्ति नहीं हो सकती, तो फिर यहाँ तो जहाँ अनन्तगुने सातावेदनीयकर्म के मध्य अल्पमात्र (अविद्यमान जैसा) असातावेदनीयकर्म वर्तता है, वहाँ क्षुधा-तृषा की वृत्ति कहाँ से होगी ? क्षुधा-तृषा के सद्भाव में अनन्त

सुख, अनन्तवीर्य आदि कहाँ से सम्भव होंगे ? इसप्रकार वीतरागसर्वज्ञ को क्षुधा (तथा तृषा) न होने से उन्हें कवलाहार भी नहीं होता। कवलाहार के बिना भी उनके (अन्य मनुष्यों को असम्भावित ऐसे), सुगन्धित, सुरसयुक्त, सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीररूप नोकर्माहार के योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं और इसलिए शरीरस्थिति रहती है।

और पवित्रता तथा पुण्य का ऐसा संबंध होता है अर्थात् घातिकर्मों का अभाव को और शेष रहे अघाति कर्मों का ऐसा सहज सम्बन्ध होता है कि वीतरागसर्वज्ञ को उन शेष रहे अघातिकर्मों के फलरूप परमौदारिक शरीर में जरा, रोग तथा स्वेद नहीं होते।

और केवली भगवान को भवान्तर में उत्पत्ति के निमित्तभूत शुभाशुभभाव न होने से उन्हें जन्म नहीं होता और जिस देहवियोग के पश्चात् भवान्तरप्राप्तिरूप जन्म नहीं होता, उस देहवियोग को मरण नहीं कहा जाता।

(इसप्रकार वीतरागसर्वज्ञ अठारह दोषरहित हैं।)

इसीप्रकार (अन्य शास्त्र में गाथा द्वारा) कहा है कि —

“सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।
दसअट्टदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो ॥

वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है जहाँ विषयों का निग्रह है, वह देव है, जो अठारह दोष रहित है, इस संबंध में संशय नहीं है।”

और श्री विद्यानन्दिस्वामी ने (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(मालिनी)

“अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रज्ञत्तस्य चोत्पत्तिरामात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

(वीरछन्द)

इष्टप्राप्ति होती सुबोध से बोध शास्त्र से होता है।
और सुशास्त्रों का उद्भव भी आप्त पुरुष से होता है ॥

अतः ज्ञानियों द्वारा पूज्य सदा होते हैं आप्त प्रभो।
किया हुआ उपकार कभी भी नहीं भूलते सज्जन जो ॥

श्लोकार्थः— इष्टफल की सिद्धि का उपाय सुबोध है (अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है), सुबोध सुशास्त्र से होता है, सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं (अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय है); क्योंकि किये हुए उपकार को साधुपुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।”

और (छठवीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा सर्वज्ञ भगवान श्री नेमिनाथ की स्तुति करते हैं) :—

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरतिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ॥१३॥

(वीरछन्द)

शत इन्द्रों से वन्दनीय जो सम्यग्ज्ञान स्वराज्य विशाल।
लौकान्तिक देवों के स्वामी अघ समूह का किया विनाश॥
श्रीकृष्ण भी जिन्हें नमें, जो भव्य-कमल को सूर्य समान।
आनन्दभू हे नेमिजिनेश्वर ! शाश्वत-सुख तुम करो प्रदान॥१३॥

श्लोकार्थः— जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं, जिनका सद्बोधरूपी (सम्यग्ज्ञानरूपी) राज्य विशाल है, कामविजयी (लौकान्तिक) देवों के जो नाथ हैं, दुष्ट पापों के समूह का जिन्होंने नाश किया है, श्रीकृष्ण जिनके चरणों में नमो हैं, भव्यकमल के जो सूर्य हैं (अर्थात् भव्यरूपी कमलों को विकसित करने में जो सूर्य समान हैं); वे आनन्दभूमि नेमिनाथ (आनन्द के स्थानरूप नेमिनाथ भगवान) हमें शाश्वतसुख प्रदान करें ॥१३॥

गाथा ६ की टीका पर प्रवचन

‘यह अठारह दोषों के स्वरूप का कथन है।’

अहाहा.....! भगवान केवली परमात्मा, कि जिनकी वाणी की रचना आगमरूप है, वे कैसे दोषों से रहित होते हैं — उसका यह कथन है।

“असाता वेदनीय सम्बन्धी तीव्र अथवा मंद क्लेश की करनेवाली यह क्षुधा है। (अर्थात् विशिष्ट-खासप्रकार के असातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर-अवस्था उस पर झुकाव करने से मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाला, जो खाने की इच्छारूप दुःख वह क्षुधा है।)”

अहा! जहाँ पूर्ण अमृत का सागर अनुभव में आता है, वहाँ भगवान को क्षुधा कैसी ? अहा...! अंदर आत्मा अनंत अमृत का सागर भरा है, वह जहाँ पर्याय में पूर्ण उछल रहा है, वहाँ ऐसे अमृत के अनुभव करनेवाले भगवान केवली परमात्मा को क्षुधा कैसी ? भाई! भगवान तो अनंत अमृत के आनंद का भोजन कर रहे हैं, उनको क्षुधा नहीं होती। अहा! अरहन्त परमेश्वरदेव उनको कहते हैं, जिनको क्षुधा नहीं होती। अरे! नीचे (चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में) भी जब जीव अमृत सागर प्रभु आत्मा के अनुभव में होता है, तब उसको आहार की इच्छा नहीं होती (यद्यपि बाहर में विकल्प में आने पर वृत्ति उत्पन्न होगी); तो फिर ये केवलीप्रभु तो अनन्त-आनन्द के सागर में डोल रहे हैं, उनको (प्रतिसमय) अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण वेदन है; फिर उनको क्षुधा कैसी ? अहो! अरहन्तदेव को प्रतिसमय अनंत अतीन्द्रिय आनंद के भोगनेरूप भोजन होता है। उनको क्षुधा होती है और वे आहार करते हैं - ऐसा मानना कलंक है। ऐसा माननेवाले सच्चेदेव को पहिचानते ही नहीं।

अहा....! भगवान सर्वज्ञदेव को असाता का तीव्र उदय नहीं होता। ऐसा विशिष्ट-खासप्रकार के-असातावेदनीयकर्म का उदय भगवान के नहीं है और मोहनीय का तो सर्वथा अभाव है। इसकारण भगवान को भोजन की इच्छारूप क्लेश-दुःख-क्षुधा और भोजन नहीं होता। अहा! जिनकी वाणी-दिव्यध्वनि आगम कहलाती है, उन भगवान को क्षुधादि दोष नहीं होते और ऐसे दोषवाले की वाणी को आगम नहीं कहते और न वह देव ही होता है।

अहा! भगवान के शरीर में रोग हुआ और उन्होंने आहार लिया — ये सब कथन मिथ्या हैं। अहा....! जो परमेश्वर हुए उनको भी अभी क्षुधा! अरे! जिनके भक्त जो देव और इन्द्र हैं, उनको भी जहाँ ३३ हजार वर्षों में आहार की इच्छा होती है, वहाँ उनको (भगवान को) दिन-प्रतिदिन आहार! — ऐसा नहीं हो सकता। भाई! तीर्थकर का शरीर तो सदा सुन्दर ही होता है, उनको नोकर्मरूप आहार (शरीर के योग्य परमाणु)

सदा आया ही करते हैं; परन्तु उनको यह कवलाहार नहीं होता। भगवान के कवलाहार माननेवाले भगवान को नहीं पहिचानते हैं और स्वयं पूर्णपरमात्मस्वरूप क्या वस्तु है, इसका भी उनको पता नहीं है। अहा! जिसकी अंशदशा में भी पूर्णता है — ऐसे को जो क्षुधा ठहराते हैं उन्हें, सम्पूर्ण आत्मा का-निज पूर्णानंदस्वरूप अंशी का पता और श्रद्धा नहीं है — ऐसा कहते हैं। यहाँ तो यह स्पष्ट बात है।

अहा.....! शरीर की अवस्था में जठर की विशिष्ट अवस्था होने पर उस पर लक्ष जाता है, तब मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाला; खाने की इच्छारूप दुःख-पीड़ा वह क्षुधा है और वह (क्षुधा) वीतराग परमेश्वर परमात्मा के वे शरीर और वाणीवाले होने पर भी, नहीं होती, हो भी नहीं सकती। अहा! जहाँ मोह का सर्वथा अभाव हुआ और जहाँ अमृत के सागर सर्वांग (सर्वप्रदेशों में) उछला है, वहाँ क्षुधा कैसी ? अरे! समकित में भी, कि जहाँ अमृत का एक अंश अनुभव में आता है; वहाँ भी उसको अन्दर से सारी दुनियाँ की तृष्णा उड़ जाती है अर्थात् रुचि में सारा संसार छूट जाता है, तो फिर निरंतर आत्मा के पूर्ण अमृत के आनन्द के स्वादवाले ऐसे भगवान को-पूर्ण वीतराग परमेश्वर को क्षुधा हो, यह कैसे संभव है ? अहा! जिनके क्षुधादि शेष नहीं हैं, उनको ही भगवान कहा जाता है।

अहा! भगवान आत्मा के अनन्त आनन्द में से एक अंश का भी स्वाद जहाँ समकित में आया वहाँ धर्मी गृहस्थाश्रम में होने पर भी...

प्रश्न :— धर्मी तो बाहर में-गृहस्थाश्रम में नहीं होता है न ?

समाधान :— हाँ, समकित्ती तो अपने आत्मा में-आत्मा के आनन्द में ही है; वह न तो गृहस्थाश्रम में है और न अन्य शरीरादि में ही है; परन्तु भाषा क्या कहें ? (निमित्त-परक भाषा ऐसी ही आती है)। वरना तो (ज्ञानी) राग में नहीं है, पुण्य में नहीं है, शरीर में नहीं है, स्त्री-पुत्र में नहीं है और राज्य में भी नहीं है। अहा! आत्मा के आनन्द के समक्ष धर्मी को इन्द्र का इन्द्रासन और इन्द्राणी के भोग भी जहर के समान अरुचिकर लगते हैं, उसको उनका प्रेम नहीं होता।

यहाँ कहते हैं-‘ भगवान को आहार लेने का भाव आता है, उसे लेने से शरीर सुन्दर-पुष्ट रहता है’- बापू! ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है; और जैसी वस्तुस्थिति नहीं है, वैसा मानना वह तो भ्रम-भ्रान्ति है। भगवान! तू भ्रम में चढ़ गया है।

यह नियमसार सिद्धांतशास्त्र है। इसकी छठवीं गाथा चल रही है। उसमें क्या कहते हैं ? कि जिनको आत्मा के आनंद की पूर्णदशा प्रगट हो गई है — ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमेश्वर को, भले ही शरीर हो तो भी, क्षुधादि दोष नहीं होते। ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

अहा! आत्मा चैतन्यवस्तु द्रव्य है, उसके गुण हैं और वर्तमान....वर्तमान वर्तती पर्याय सो अवस्था है। बस, ये तीन इसकी हयाती (अस्तित्व) में है, यह इसका अस्तित्व है। अहा! आत्मा वस्तु तीन प्रकार से है :— १. द्रव्यपने, २. गुणपने और ३. वस्तुपने-अवस्थापने — इन तीन में वह (आत्मा) है; परन्तु इसके अतिरिक्त आत्मा न तो कर्म में है, न शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्ब में है; क्योंकि ये सब तो पर-वस्तुएँ हैं, इसलिए इनमें आत्मा नहीं है और ये चीजें आत्मा में नहीं हैं। अब इसमें जो राग द्वेष-मोह की एकसमय की अंशदशा है, उस पर अनादि से इसकी रुचि है और उसी को यह मानता है; इसलिए अब जिसको हित करना है, दुःख का अभाव करके सुखी होना है, उसको पर्याय में-दशा में जो राग-द्वेष-मोह ज्ञात होते हैं, उनकी रुचि और उनका आश्रय छोड़ना चाहिए; क्योंकि उनकी रुचि में तो यह (आत्मा) अनादि से है ही और उसी से तो यह दुःखी है। सूक्ष्म बात है प्रभु! परन्तु अरे! राग की और शरीर की रुचि की आड़ में इसने इस बात को सुनने की दरकार नहीं की है।

यहाँ यह हड्डियाँ और शरीर तो जड़ हैं और वे तो उनमें जड़पने जड़ होकर रहे हुए हैं, वे कोई आत्मा में नहीं हैं; न आत्मा चैतन्यवस्तु उनमें है। अब उसमें (आत्मा में) उसकी अनादि की दशा में प्रगट हैं, वे मोह-राग-द्वेष हैं; परन्तु वे दुःखरूप हैं; उनके द्वारा यह अनादि से दुःखी है। इसलिए जिसको दुःख का नाश करना हो, उसको पर्याय में रहा हुआ अंशपने की और राग-द्वेष-मोह की रुचि छोड़कर अर्थात् वे हैं तो भी उनको लक्ष्य में से छोड़कर सम्पूर्ण वस्तु को कि जो अनन्त आनंद का कंद है और जो व्यक्त नहीं होने पर भी अन्दर से त्रिकाल विद्यमान है, उसका आश्रय लेना चाहिए। अहा....! वस्तु जो पूर्ण है, वह पर्यायरूप से प्रगट नहीं है; तथापि वह वस्तुपने तो अन्दर प्रगट ही है, क्योंकि वस्तु है न! अहा! यह वस्तुस्थिति है और यहाँ इसीप्रकार बात चलती है।

अहा....! यह त्रिकालीध्रुव निजचैतन्यवस्तु है, उस पर दृष्टि देने से और उसमें ही लीनता करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति का परिणमन होता है; उसको यहाँ दुःख से मुक्त होने का उपाय कहा गया है और वह सच्चा मोक्षमार्ग है। अहा! जिसको ऐसा

निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट है, होता है; उस धर्मात्मा को देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा कैसी होती है। वह यहाँ कहते हैं। उसमे यह देव के स्वरूप की बात है।

अहा.....! अनादि से संसारदशा थी, उसका नाश होकर जिनको दिव्यशक्ति प्रगट पर्यायरूप परिणम गई है अर्थात् जो पर्यायबुद्धि थी, उसका नाश करके निजस्वभाव में बुद्धि स्थापकर और उसमें ही स्थिर-लीन होकर जिन्होंने वर्तमानदशा में पूर्ण आनन्द, ज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय प्रगट किया है — ऐसी दिव्यता के धारक देव हैं। उन देव को समकित्ती व्यवहारदेव के रूप में मानता है। अहाहा...! निश्चयदेव तो दिव्यशक्ति का भण्डार भगवान आत्मा स्वयं है और जिनको पर्याय में पूर्ण दिव्यता प्रगट हो गई है, उनको ही देव के रूप में सम्यग्दृष्टि स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त अन्य को (रागी को) वह देव के रूप में नहीं मानता; क्योंकि जो क्षुधादि अठारह दोषों से रहित पूर्णदशा को प्राप्त होते हैं, वे ही देव हैं। अहा....! सुख के पंथ में गतिशील सम्यग्दृष्टि-धर्मी पूर्ण सुखी वीतराग को ही देव मानता है।

अहा! जो सर्वज्ञवीतरागदेव होते हैं, उनको क्षुधा नहीं होती — यह बात चलती है। अहाहा....! अनंत-अनंत आनन्द अमृतरस के स्वादवाले स्वरूपानंदी परमात्मा को क्षुधा कैसे हो सकती है कि जिससे वे आहार लें और खायें ? भाई! जो आहार लेता और खाता है, वह परमात्मा ही नहीं होता। भगवान को राग हुआ और उन्होंने.....आहार लिया - यह सब बातें एकदम कल्पित हैं — ऐसा कहनेवाले को सच्चेदेव के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है और उसको स्वयं अंदर में आत्मदेव कैसा है, इसका भी पता नहीं है। अज्ञानवश स्वानुभवरहित वह सच्चेदेव को नहीं स्वीकारता और उससे विपरीतदेव को मानता है। वस्तुतः जिसको पर्यायबुद्धि पलटकर द्रव्यदृष्टि हुई है, उसको ही दोषरहित सच्चेदेव की श्रद्धा होती है और वैसी श्रद्धा को व्यवहार समकित कहते हैं।

भाई! आहार की इच्छारूप दुःख वह क्षुधा है। क्षुधा तो दुःख-पीड़ा है और वह भगवान को कैसे हो ? अहाहा! जिनके अंतर में अमृत के-परमानंद के बहाव पूर्ण बह रहे हैं, उन देवों को क्षुधा नहीं होती और जिसको क्षुधा हो, वह देव ही नहीं है। यदि भगवान आहार लें और उनको क्षुधा का दुःख हो तो अनंत-आनंद को बाधा आती है, भगवान को अनंत-आनंद है, इसमें बाधा आती है; परन्तु न तो ऐसा है और न हो सकता है। अहा...! निर्मलानंद का नाथ पूर्णानंदप्रभु आत्मा अंदर है, जिसको उसका अन्तर्दृष्टि में

स्वीकार हुआ है; वह धर्मी पुरुष, क्षुधादि दोषरहित वीतरागसर्वज्ञदेव को ही देव के रूप में स्वीकार करता है और वही यथार्थ है — इसप्रकार यह पहला (क्षुधा का) बोल हुआ।

“असातावेदनीय सम्बन्धी तीव्र, तीव्रतर (अधिक तीव्र), मन्द अथवा मन्दतर पीड़ा से उत्पन्न होनेवाली वह तृषा है। (अर्थात् विशिष्ट असातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर-अवस्था उस पर झुकाव करने से मोहनीकर्म के निमित्त से होनेवाला; जो पीने की इच्छारूप दुःख वह तृषा है।)”

अहा....! केवली परमात्मा को तृषा नहीं होती। अहा....! अंदर आत्मवस्तु ही ऐसी अतीन्द्रिय सच्चिदानंदस्वरूप प्रभु है कि उसका जहाँ भान होता है, वहाँ धर्मी-सम्यग्दृष्टि पुरुष भी सम्यग्दर्शन में और स्वानुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का निर्विकल्प रस पीता है, तो जिनको परमात्मदशा हो उनको तो निरंतर पूर्ण निर्विकल्प आनंद के रस का ही पीना होता है; परन्तु यह पानी का पीना नहीं होता। ‘निर्विकल्प रस पीजिये’ — ऐसा आता है न..! अहाहा...! निरंतर निर्विकल्प आनंद के रस को पीनेवाले को क्या पीड़ा है कि वह पानी पीवे ? भगवान को तृषा ही नहीं होती, अतः पानी का पीना भी नहीं होता।

भाई! यह पुण्य-पाप के भाव, कि जो विकल्प-राग हैं, वह तो जहर का पीना है बापा! और यह राग का रस-जहर का रस तो (तू) अनादि से पीता है; अरे! परन्तु इसे कुछ भी पता नहीं है। जहर पीकर मानता है कि मैं सुखी हूँ, शरीर ठीक हो तो मानता है कि सुखी हूँ; परन्तु बापू! यह देह तो मिट्टी-धूल जगत की वस्तु है, यह कहाँ इसकी (आत्मा की) है ? और यह कहाँ इसकी (आत्मा की) होकर रही है ? क्या यह आत्मा की होकर रही है ? नहीं, यह तो जड़ की, जड़रूप होकर रही है, यह कभी जीवपने न तो हुई है और न कभी हो सकती है; परन्तु इसका पता इसको नहीं है। अहाहा...! भगवान आत्मा तो देहरहित-देह से भिन्न अकेले अमृतमय आनंद का सागर है।

यहाँ कहते हैं — जिसने उसकी (आत्मा की) अन्तर्दृष्टि करके निर्विकल्प अमृत का प्याला पिया है, जिसको धर्मदृष्टि प्रगट हुई है वह, जिसको तृषा नहीं हो — ऐसे पूर्ण अनंत अमृतरस के आस्वादी को ही देव के रूप में व्यवहार से मानता है। भाई! काम भारी है।

अहा..! जिनको पूर्ण आनंद प्रगट है — ऐसे भगवान केवली को जैसे क्षुधा नहीं होती, वैसे ही तृषा भी नहीं होती — ऐसा कोई दोष नहीं होता; परन्तु अज्ञानी को ऐसे परमात्मा की खबर नहीं है। अहा...! तीव्र, तीव्रतर, मंद अथवा मंदतर पीड़ा से उपजती तृषा भगवान को होती ही नहीं; क्योंकि भगवान को ऐसा विशिष्ट-खासप्रकार का (तृषा उपजावे वैसे) असातावेदनीय का उदय नहीं होता। केवली के साधारण असाता का उदय होता है; परन्तु यहाँ 'विशिष्ट' शब्द है न ? तात्पर्य यह है कि खासप्रकार का उदय नहीं होता तथा भगवान वीतरागपरमेश्वर के मोहनीय का तो सम्पूर्ण अभाव है; इसलिए उनके इच्छा का सर्वथा अभाव ही है और पूर्ण आनंद प्रगट है; तो फिर पीने की इच्छा कैसे होगी ? नहीं हो सकती। भगवान को पीने की इच्छा भी नहीं है और इच्छाजनित तृषा की पीड़ा भी नहीं है। अहाहा...! अरहंतपरमेश्वर सर्वज्ञपरमात्मा को तृषा होती नहीं, हो सकती ही नहीं।

अहाहा...! शरीर में रहने पर भी (यह निमित्त से कथन है) केवलज्ञानी परमात्मा को, कि जो एकसमय में युगपत् तीनकाल-तीनलोक को जानते हैं तथा जो अनंत-आनंदरस को पीते हैं; उन स्वरूपानंदीप्रभु को तृषा होती ही नहीं। अहा...! भगवान अरहंतदेव तो समस्त इच्छाओं का नाश करके अपने स्वरूप में तृप्त...तृप्त...तृप्त हो गये हैं, निजानंदरसलीन स्वरूपगुप्त ऐसे भगवान को तृषा नहीं होती; तो भी उनको तृषा मानना कलंक है, वह भगवान को कलंक लगाता है — ऐसी बात है।

“इस लोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय तथा अकस्मात् भय — इसप्रकार भय सातप्रकार के हैं।”

अहा....! भगवान को कोई भय नहीं होते। जो साक्षात् परमामृत के अनुभव में स्थित हैं, उनको भय कैसा ? अरे! सम्यग्दृष्टि को भी भय नहीं है। समयसार निर्जरा अधिकार में आता है न! अहो! अंदर आत्मा पूर्णानंद का नाथ प्रभु है। अहाहा...! वस्तु...वस्तु...वस्तु.. अस्ति सत्तारूप पदार्थ आत्मा है या नहीं ? है न। अहा...! आत्मा वस्तु अस्ति है, वह स्वभाववान है तो उसका स्वभाव क्या ? अहाहा....! अनंतज्ञान, अनंत-आनंद इत्यादि स्वभाव से वह भरपूर भरा है। स्वभाव है, उसकी हृदय क्या है ? प्रभु आत्मा अनंत-अनंत ज्ञान-आनंद से भरपूर है। अहा! जिसकी ऐसे निजस्वरूप की अन्तर्दृष्टि होकर धर्म की दृष्टि प्रगट हुई है, अन्तर में भान हुआ है, उसको भी भय नहीं होता, वह निर्भय

है; तो फिर जिनको पूर्ण धर्म प्रगट है, उन धर्म के ईश्वर भगवान केवली को भय कैसे होगा ? नहीं होगा, नहीं हो सकता।

अहा....! देव को-भगवान केवली को इस लोक का भय नहीं होता। क्यों ? क्योंकि निजचैतन्यलोक ही अपना लोक है। अब इसमें उनको भय किसका ? अरे! इस लोक में लक्ष्मी चली जायेगी तो ? पुत्री जन्म कर मर जायेगी तो ? आदि भय नहीं होता। जब लोक के पदार्थ इसके चैतन्यलोक में ही नहीं हैं तो भय किसका ? भगवान पूर्ण निर्भय हैं। अहा! जहाँ सम्यग्दृष्टि निर्भय है तो केवली की तो क्या बात! वे तो निर्भय...निर्भय.....पूर्ण निर्भय हैं।

सम्यग्दृष्टि का पहला गुण ही निःशंकपना-निर्भयता है। अहो! निःशंक और निर्भय — ऐसा अखण्डानंदस्वरूप चैतन्य वज्र की मूर्ति, मैं आत्मा हूँ। यह शरीर, राग और पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सब अनात्मा हैं, पर हैं। अहा! ऐसा भान जिसको स्वानुभव की दशा होकर हुआ हो, उस धर्मी को, कि जो सुख के पंथ में आरुढ़ है; उसको भय नहीं होता। वह अंदर निःशंक है न! इसलिए अहा! ऊपर से इन्द्रों का वज्र गिरे तो भी वह भय को प्राप्त नहीं होता। वह सदा जानता है कि 'मेरी नगरी निर्भय है।' अहाहा...!

‘निर्भयनगरी सुहावनी रे, जहाँ बसे मेरा नाथ।’

‘नाथ’ अर्थात् स्वयं। अब जहाँ समकित्ती-धर्मी को भय नहीं है तो जिनको पूर्ण केवलज्ञानदशा-पूर्ण दिव्यशक्ति प्रगट हुई है, उन केवली भगवान को भय कैसे हो सकता है ? अहाहा...! केवलज्ञानी सर्वज्ञदेव को क्या शंका और क्या भय ?

अहा! अज्ञानी तो देव नाम धराता है और हाथ में धारण करता है त्रिशूलादि हथियार। इसका अर्थ क्या ? यही कि वह भयवान है, इसलिए उसे देव नहीं कहा जाता। धनुष, तीर, गदा आदि धारण करनेवाला देव नहीं है, क्योंकि उसको शत्रु का भय लगता है; इसीलिए तो वह हथियार रखता है। हथियारधारीदेव परमेश्वर अथवा परमात्मा नहीं हो सकता। अरे! लोगों को 'मैं कौन हूँ और परमात्मा कौन हैं' कुछ भी पता नहीं है। वे तो इस दुनिया की व्यवस्था में-इस शरीर, स्त्री-पुत्र-परिवार और मकान-व्यापार आदि धूल की, कि जो अपने में नहीं है, उसकी व्यवस्था में पड़े हैं। स्वयं जिनमें नहीं है, उनकी संभाल रखना चाहते हैं और स्वयं जिसमें है; उस आत्मा की संभाल करने की

दरकार ही नहीं करते। यहाँ कहते हैं कि जिसने अपनी निजचैतन्यवस्तु की संभाल की है, उस समकिति को भय नहीं है; तो फिर जो पूर्ण परमात्मा हुए हैं, उनको भय कैसा? जिसने ऐसी निज निःशंक वस्तु को जाना और माना है, उस धर्मी के व्यवहार परमेश्वर भी ऐसे पूर्ण निर्भय होते हैं। वह उनको देव मानता है, अन्य को नहीं।

तथा 'यहाँ से मरकर अन्यत्र कहाँ जाऊँगा?' — ऐसा परलोक का भय समकिति को नहीं है। अहा! मैं कहाँ जाऊँगा? मैं तो चिदानंद-ज्ञानानंदप्रभु आत्मा, जहाँ होऊँ वहाँ सदा अपने में ही हूँ। इन स्त्री-पुत्रादिक में अथवा देव, नारक में कहीं आत्मा नहीं है — ऐसा कहते हैं। भारी बात है भाई! अरे! इसको क्या? कि जो अपने में नहीं है, उसमें रुक गया है और अपने को संभालना एकदम चूक गया है।

यहाँ तो भगवान! तेरे जन्म-मरण के दुःख के चक्कर कैसे मितें और तुझको अन्दर की शाश्वत शान्ति कैसे प्राप्त हो — यह एक ही बात है। बाकी सब तो इस लोक में और परलोक में हैरान-हैरान दुःखी है। करोड़पति दुःखी और अरबपति दुःखी, राजा दुःखी और रंक भी दुःखी; ये सब दुःख की घाणी में पिल रहे हैं। अहाहा....! वस्तु स्वयं भगवान आत्मा आनंद का नाथ है; परन्तु उसकी खबर बिना सभी पुण्य-पाप और मिथ्याभाव की लहर में पड़े हैं, इसलिए दुःखी ही हैं। बाहर में भले ही ठीक हैं — ऐसा दिखता है; परन्तु अंदर में तो होली जलती है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसको अंतर में भान हुआ है कि 'मैं चैतन्यदेव हूँ' उस पुरुष को परलोक का भय नहीं है; तो फिर भगवान को परलोक का भय कैसे हो सकता है ?

तथा भगवान को अरक्षाभय नहीं है। (जहाँ शाश्वत चैतन्यवस्तु त्रिकाली आत्मा अविनश्वर सत् स्वयमेव अपने में सुरक्षित-स्वरक्षित है, वहाँ अरक्षण क्या? इसलिए पूर्ण शाश्वतदशा को प्राप्त भगवान केवली को अरक्षाभय नहीं होता)।

भगवान को अगुप्तिभय नहीं है। गढ़ आदि में छुप जाऊँ, जिससे अगुप्ति टले — ऐसा भय भगवान को नहीं होता। अहा! सर्वज्ञपरमात्मा तो अनंत-आनंद के स्वरूपगढ़ में ही गुप्त रहते हैं, वहाँ किसी का प्रवेश ही नहीं है तो किसका भय ?

भगवान को मरण का भय भी नहीं है। कार्माण शरीर रहे और औदारिक शरीर छूटे, उसको मरण कहते हैं; परन्तु भगवान को तो औदारिक देह छूटने के साथ ही कार्माण शरीर छूट जाता है। अतः उनको मरण ही नहीं है और इसलिए मरणभय भी नहीं है।

भगवान को वेदनाभय नहीं है। जहाँ पूर्ण आनंद का वेदन है, वहाँ अन्य वेदना-शरीर की वेदना कहाँ है कि वेदनाभय होवे ? अरे ! परमेश्वर-परमात्मा किसको कहते हैं — इसका भी अज्ञानियों को पता नहीं है। जिसको निजपरमात्मस्वरूप का पता है, उसको बराबर पता होता है कि अन्य परमेश्वर कैसे होते हैं और जिसको अन्य परमेश्वर का पता नहीं है, उसको अपने परमेश्वर का पता भी नहीं है। वह तो जहाँ-तहाँ बाहर के देवी-देवता को मानता है और सिर को फोड़ता है। भाई! स्वयं देव कैसा है और बाहर में कैसे देव की श्रद्धा होनी चाहिए, उसकी यह बात है।

अहो... ! भगवान का शरीर तो परमौदारिक हो गया है। अन्य जीव उनके शरीर पर नजर करे तो उसके सात भव दिखें ऐसे तो शरीर के रजकण निर्मल-स्वच्छ हो जाते हैं। अब ऐसे शरीर में वेदना हो — क्या यह बात वीतरागमार्ग में होती है बापा ? नहीं होती। यह तो वीतरागपरमेश्वर का मार्ग है प्रभु! अहा! आत्मा स्वयं ही सच्चिदानंदप्रभु है; उसका अंतर में भान और लीनता होकर, जिनको पूर्ण आनंद की प्राप्ति हुई है और वेदना तथा वेदनाभय है ही नहीं।

भगवान को अकस्मात् भय अर्थात् नया कुछ हो जायेगा — ऐसा भय नहीं है। दीवाल गिर जायेगी, बिजली गिर जायेगी — ऐसा भय परमात्मा को नहीं होता। अहा! जहाँ सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा भय नहीं है, वहाँ केवली को भय कैसा ? तथा उनको अकस्मात् और आकस्मिक क्या ? भगवान को केवलज्ञान में तीनकाल-तीनलोक युगपत् प्रत्यक्ष भासित होते हैं, वहाँ उनको नया-आकस्मिक क्या होगा ? कुछ भी नहीं; इसलिए भगवान को विस्मय या अकस्मात् भय नहीं होता।

इसप्रकार देव के सातप्रकार के भय नहीं होते।

‘क्रोधी पुरुष का तीव्र परिणाम वह रोष है।’

जो क्रोधावेश में आ जाए, उसको रोष होता है न ? परन्तु भगवान को वह नहीं होता। राक्षस को मारने के लिए धनुष चढ़ावे और भृकुटि चढ़ावे, वह भगवान नहीं होता। अहा! जो पूर्णानंद के शीतलस्वभाव में परमशांत वीतराग होकर स्थित हैं, उनको रोष नहीं होता और रोष हो वह भगवान नहीं होता।

‘राग प्रशस्त और अप्रशस्त होता है; दान, शील, उपवास तथा गुरुजनों की

वैयावृत्य आदि में उत्पन्न होनेवाला, वह प्रशस्तराग है और स्त्रीसंबंधी, राजासंबंधी, चोरसंबंधी तथा भोजनसंबंधी विकथा कहने तथा सुनने के कौतूहल परिणाम, वह अप्रशस्तराग है।'

देखो, राग के दो प्रकार कहे हैं — १. प्रशस्त तथा २. अप्रशस्त अर्थात् शुभ और अशुभ; और ये भगवान केवली के नहीं होते। अब इसमें विशेष न्याय कहते हैं।

दूसरों को दान देते हैं न! तो शुभराग होता है; शील, ब्रह्मचार्य पालन करे और उपवास करे, उसमें शुभराग होता है। देखो, यहाँ उपवास को शुभराग कहा है तथा गुरुजनों की-अपने गुरु अथवा संत-महामुनिवरों की वैयावृत्य में शुभराग है, वह धर्म नहीं है — ऐसा कहते हैं।

अहा! दान, शील, उपवास और गुरुजनों की सेवा — यह प्रशस्तराग-शुभराग है और यह राग केवली परमात्मा-तीर्थकरदेव के नहीं होता अर्थात् केवली अन्य की स्तुति करे या विनय-वंदना करे ऐसा नहीं होता; क्योंकि भगवान को ऐसा राग नहीं होता। अहा! केवली भगवान छद्मस्थ गुरु की स्तुति-विनय करे — ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि केवली को प्रशस्त राग नहीं है तथा सेवा तो अपने से बड़े की होती है; परन्तु भगवान से बड़ा कौन है ?

प्रश्न :— जो इनसे पूर्व केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं वे बड़े हैं या नहीं ?

समाधान :— नहीं, वे बड़े नहीं हैं। केवली को अन्य केवली के प्रति राग नहीं होता। यह बात इसके बाद (छठवें बोल में) आयेगी। अभी तो गुरुजनों की वैयावृत्य से उत्पन्न होनेवाला प्रशस्तराग केवली के नहीं होता — यह सिद्ध करना है। अहा! जब केवली को केवली के प्रति राग नहीं होता, वहाँ छद्मस्थ के प्रति राग-विनय हो — ऐसा कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, क्योंकि केवली के-देव के-प्रशस्तराग नहीं होता — ऐसा मार्ग है बापा! इसमें दो बातें हुई —

१. कोई दान, शील, उपवास अथवा गुरु की सेवा को धर्म मानें तो भी वह धर्म नहीं है, मात्र शुभराग-प्रशस्त राग है।
२. ऐसा प्रशस्तराग भगवान केवली के नहीं होता।

अब आगे कहते हैं कि स्त्री, राजा, चोर और भोजनसम्बन्धी विकथा कहने तथा सुनने के कौतूहल परिणाम, सो अप्रशस्तराग है।

देखो, यहाँ देशकथा को राजसम्बन्धी कथा में समाहित कर दिया है। अहा! भोजन में ऐसी वस्तुएँ थीं — यह कहने और सुनने का कौतूहलभाव अप्रशस्तराग है— अशुभराग है—पाप का भाव है। फुरसत में हो तो कथा करता है कि आज भोजन में यह था और वह था; परन्तु इसमें लाभ क्या है ? धूल भी लाभ नहीं है, सुन न! यह तो विकथा—पापकथा है, अप्रशस्तराग है और वह भगवान केवली के नहीं होता — ऐसा बात है।

अहा! स्त्रीसंबन्धी, राजासंबन्धी, चोरसंबन्धी और भोजनसंबन्धी विकथा कहने का अथवा सुनने का कौतूहल परिणाम अप्रशस्तराग अर्थात् पाप का भाव है और वह केवली परमेश्वर के नहीं होता। बहुत अपूर्व धर्म है बापू! यह जगत को हाथ में नहीं आया; इसलिए बाड़ा (सम्प्रदाय) बांधकर बैठा है।

श्रीमद् में आता है न —

“अनंतकाल से आथड्यो बिना भान भगवान।
सेव्या नहीं गुरु चरण ने मूक्यू नहीं अभिमान ॥”

अब छठवाँ बोल थोड़ा सूक्ष्म है —

‘चारप्रकार के श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह, वह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त ही है।’

ये चारप्रकार के श्रमण इसप्रकार है — १. ऋषि, २. मुनि, ३. यति और ४. अनगार।’

अहाहा....! यह ऋषि अर्थात् सच्चे जैन श्रमण की बात है; क्योंकि उनके अतिरिक्त अन्य कोई ऋषि नहीं होता। अहाहा...! जैन के ऋषि अर्थात् ? जिन्होंने, आत्मा आनंद-स्वरूप है — ऐसे भानपूर्वक उसमें लीन-प्रलीन होकर, राग को जीतकर उग्ररूप से अंतर में आनंद प्रगट किया है, वे जैनसाधु-ऋषि हैं। अहा! जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, अपितु वस्तु का स्वभाव है। उस स्वभाव की उग्र आराधना में स्थित जैन के सच्चे संत ही ऋषि हैं। शास्त्र में ऋषि के बहुत भेद हैं। यहाँ तो इतना ही लिया है कि ‘ऋद्धिवाले

श्रमण ऋषि हैं।' अहा! उनके प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह, वह प्रशस्तराग है और वह भगवान को नहीं होता।

अब दूसरा प्रकार — **मुनि** :— 'अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण, वे मुनि हैं।' लो! इन केवलियों के प्रति अथवा मुनियों के प्रति वात्सल्य-प्रेम, वह मोह है — ऐसा कहते हैं और वह भगवान केवली के नहीं होता — ऐसी बात है। देखो, केवली को अन्य केवली के प्रति मोह नहीं होता — ऐसा इसमें आया या नहीं? तो फिर केवली को अन्य छद्मस्थ के प्रति प्रेम-वात्सल्य-विनय हो — ये कैसे हो सकता है? ऐसा होता ही नहीं। भाई! तीनकाल-तीनलोक में वीतरागमार्ग का कथिततत्त्व यह है। क्या? कि चारप्रकार के श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य, वह मोह है और वह भगवान केवली के नहीं होता। (यह चतुर्विध संघ कैसे निभे — ऐसा राग भगवान को नहीं होता।) अहा! जहाँ केवली को केवली के प्रति अथवा छद्मस्थ साधु के प्रति मोह ही नहीं है, वहाँ क्या उनका विनय करेंगे? नहीं करेंगे? हाँ, साधु को भगवान केवली के प्रति राग-विनय होता है; क्योंकि साधु को किञ्चित् राग का भाव है न! परन्तु वैसा राग केवली को नहीं होता; क्योंकि भगवान परमवीतराग हैं। भाई! देव-गुरु के प्रति प्रेम-भक्ति-वात्सल्य वह कोई धर्म नहीं है, अपितु शुभराग है और वह पुण्यबंध का कारण है — ऐसा वीतराग का मार्ग है।

प्रश्न :— प्रशस्तराग और मोह में क्या अन्तर है?

समाधान :— यह तो वह का वह है। 'श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह' — ऐसा है न? यहाँ मोह शब्द से परतरफ सावधानी जाती है, इतना कहना है।

अब तीसरा प्रकार — **यति** :— 'उपशमक अथवा क्षपकश्रेणी में आरूढ़ श्रमण, वह यति है।' अहा! जो श्रमण आत्मा की साधना में चढ़े हैं, वे यति हैं और उनके प्रति प्रेम-वात्सल्य सो मोह है। अब ये यति भी अन्य के प्रति प्रेम नहीं करते; वे श्रेणी में आरूढ़ हैं न! अंदर ध्यान में हैं, आत्मा की स्थिरता में रमते हैं; इसलिए उनको अन्य के प्रति प्रेम नहीं है, तब फिर केवली को अन्य के प्रति प्रेम कैसा है? अहा....! एक-एक बात में अन्य कितनी बातें भर दी हैं।

अब चौथा प्रकार — **अनगार** :— 'और सामान्य साधु वे अनगार हैं।'।

प्रश्न :— सामान्य साधु याने?

समाधान :— जो छठवें-सातवें गुणस्थान में विराजामान हैं और जिनको कोई ऋद्धि प्रगट नहीं है, जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान से रहित हैं तथा उपशमक हैं या क्षपकश्रेणी से रहित हैं, वे सामान्य साधु हैं — ऐसा अर्थ है; परन्तु यह अर्थ नहीं है कि सामान्य साधु माने जैन के अतिरिक्त ये सब (अन्य) साधु तथा जैन के नाम से वेश धारण करके बैठे हैं, वे भी नहीं।

इसप्रकार श्रमण के चार भेद किए —

१. ऋषि :— ऋद्धि सहित श्रमण ऋषि है।

२. मुनि :— अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान सहित श्रमण मुनि है।

३. यति :— उपशमक या क्षपकश्रेणी में आरुढ़ श्रमण यति हैं।

४. अनगार :— उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त अर्थात् ऋद्धिरहित, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानरहित और श्रेणीरहित श्रमण सामान्य साधु अनगार हैं। वे पाँचवें गुणस्थान से ऊपर और आठवें गुणस्थान से नीचे छठवे-सातवें गुणस्थान में विराजमान होते हैं।

इन चारों प्रकार के श्रमणों के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह प्रशस्त है और वह भगवान केवली परमात्मा के नहीं होता तथा इनके अतिरिक्त अन्य के प्रति मोह अप्रशस्त अर्थात् अशुभ ही है। कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति के प्रति मोह-राग अशुभ है; और वह भी भगवान को नहीं होता। अरे भाई! चारप्रकार के साधुओं के प्रति वात्सल्य भी शुभराग है, शान्ति को जलानेवाली आग है; तो फिर अशुभ का तो कहना ही क्या ? छहढाला में आता है न कि “राग आग दहे सदा।”

अहा! मुनिवरों को प्रेम से-भक्ति से-वात्सल्य से आहार-पानी देना भी राग-मोह, और भगवान को वह नहीं होता। भगवान किसको आहार दे और कौन ले ? भाई! अनंत...अनंत...आनंद.....आनंद...किसको कहते हैं ? अरे! धर्म किसको कहना यह भी लोगों को पता नहीं है, वे तो बाहर में मान बैठे हैं कि यह भक्ति की और यह भगवान की पूजा की, अतः बस हो गया धर्म; परन्तु इसमें धूल में भी धर्म नहीं हैं। सुन तो सही! तू लाख भक्ति कर; परन्तु यह सब तो शुभराग है और ऐसा प्रशस्त या अप्रशस्त मोह केवली के नहीं होता। उनको चतुर्विध श्रमणसंघ के प्रति भी राग नहीं होता।

प्रश्न :— तो भगवान उपदेश किसलिए देते हैं ?

समाधान :— उपदेश ? कौन उपदेश देता है ? उपदेश तो वाणी है और वाणी वाणी के कारण उसके स्वकाल में निकलती है। वह वाणी भगवान में कहाँ है ? (‘भगवान की वाणी’ यह तो व्यवहार का कथन है।)

‘धर्मरूप तथा शुक्लरूप चिंतन (चिन्ता-विचार प्रशस्त है और उसके अतिरिक्त (आर्त्तरूप तथा रौद्ररूप चिन्तन) अप्रशस्त ही है।’

देखो, क्या कहा ? कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त है और वह भगवान को नहीं है।

प्रश्न :— केवलज्ञानी के शुक्लध्यान तो कहा है न ?

समाधान :— वह तो उपचार से कहा है; क्योंकि कर्म खिरते हैं न! इसलिए इतनी अपेक्षा गिनकर कहा है तथा केवली के कषायों का तो सम्पूर्णतः अभाव हो गया है; परन्तु अभी योग साथ में रहा है न! इसलिए इस अपेक्षा को गिनकर कहा है कि शुक्लध्यान है, वरना उनको शुक्लध्यान है कब ? देखो, केवली को शुक्लध्यान नहीं है — ऐसा इसमें कहते हैं। प्रवचनसार में भी ऐसा आया है कि केवलज्ञानी किसका ध्यान करते हैं। वहाँ समाधान किया कि आनंद का ध्यान धरते हैं अर्थात् वे अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करते हैं; वरना वहाँ भगवान को ध्यान कहाँ है ? वे तो धारावाही अनंत आनंदरूप से ही परिणमते हैं। एकाग्रता तो अंदर पूर्ण पड़ी ही है, नयी एकाग्रता कहाँ करना है। अहो! परमेश्वर शरीर में रहे हुए दिखने पर भी, उनके वाणी निकलती है — ऐसा दिखने पर भी, वे समवसरण में विराजमान हैं — ऐसा दिखने पर भी, वे तो अनंत आनंद में ही स्थित हैं-विराजमान हैं। अहा! यहाँ कहते हैं — ऐसे भगवान को धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान नहीं होता। ऐसा मार्ग बहुत सूक्ष्म है बापू!

तथा इनके अतिरिक्त आर्त-रौद्ररूप अप्रशस्त-खोटे चिंतन-ध्यान हैं, वे भी भगवान को नहीं होते।

“तिर्यचों तथा मनुष्यों को वयकृत देहविकार (आयु के कारण होनेवाली शरीर की जीर्णदशा) वही जरा है।”

देखो, पशुओं और मनुष्यों को, जो वयकृत शरीर का विकार-वृद्धावस्था होती है; वह भगवान को नहीं होती। नारकी को सदा वृद्धावस्था होती है और देव को वह कभी

नहीं होती। अतः यहाँ उनकी बात नहीं ली है; परन्तु मनुष्यों और पशुओं को वयकृत जीर्णावस्था होती है, इसलिए उनकी बात की है। देहविकार माने क्या ? कि ये बाल सफेद होते हैं, शरीर में झुर्रियाँ पड़ती हैं और शरीर जीर्ण होता है (यह देहविकार है)। अहा! ऐसी जरा-अवस्था भगवान के नहीं होती। कोटिपूर्व वर्ष तक देह की स्थिति रहने पर भी भगवान के जरा अवस्था नहीं होती। कैसे होगी ? क्योंकि असाता का उदय कहाँ है ? अहो! पूर्णानंद को प्राप्त भगवान को पूर्ण शान्ति....शान्ति.....शान्ति है और देह भी जरारहित ही है। अहो! अरबों-अरबों वर्षों तक केवलज्ञानपने रहने पर भी शरीर में जरा नहीं होती। अहा....! वे रोटी खाते नहीं और जरा होती नहीं। (ऐसी कोई दिव्य अलौकिक देह भगवान को होती है।)

“वात्त, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली कलेवर (शरीर) सम्बन्धी पीड़ा वही रोग है।”

अहा! गौशाला ने तेजोलेश्या फैकी और उससे भगवान को छह माह तक रोग रहा — यह सब खोटी-कल्पित बातें हैं, एकदम गप्प है; क्योंकि भगवान को यह सब होता ही नहीं। अहा! जहाँ अंदर में अनंत-आनंद की निरोगता प्रगट हुई है, वहाँ देह में रोग कैसा ? अहो! भगवान को तो परमौदारिक अत्यन्त स्वच्छ निर्मल स्फटिक के समान दिव्यदेह होती है; इसलिए ऐसे शरीर में रोग हो ही नहीं सकता है। अब जिसको सच्चेदेव के स्वरूप की श्रद्धा का ही पता न हो, उसको अपने आत्मा के स्वरूप का क्या पता होगा ? वह तो प्रगट अज्ञानी है। देखो, यह भेदरूप समकित की व्याख्या है न ? इसलिए जिसको अंतर में अभेद समकित है उसको सच्चेदेव संबंधी यथार्थ श्रद्धा होती है और वह भेद समकित है — ऐसा कहते हैं।

“सादि-सनिधन, मूर्त इन्द्रियोंवाले, विजातीय नर-नारकादि विभाव-व्यंजनपर्याय का जो विनाश, उसी को मृत्यु कहा गया है।”

‘सादि-सनिधन’ अर्थात् जो नया उत्पन्न हुआ है और जिसका अन्त है — ऐसी मूर्त इन्द्रियोंवाली और आत्मा से विरुद्ध जातिवाली नर-नारकादि विभाव-व्यंजनपर्याय-शरीर पर्याय, उसके विनाश को मृत्यु कहा जाता है और वह भगवान को नहीं है। कार्माण शरीर को साथ लेकर जाने और औदारिक शरीर के नष्ट होने को मृत्यु कहते हैं; परन्तु भगवान को तो औदारिक शरीर के साथ ही कार्माण शरीर भी नाश को प्राप्त होता है;

अतः उनको मृत्यु है ही नहीं। देह छूटने पर पुनः जन्म होने को मृत्यु कहते हैं; परन्तु वह भगवान को कहाँ है ? इसलिए भगवान को मृत्यु नहीं है।

“अशुभ कर्म के विपाक से जनित, शारीरिक श्रम से उत्पन्न होनेवाला, जो दुर्गन्ध के सम्बन्ध के कारण बुरी गंधवाले जल बिन्दुओं का समूह, वह स्वेद है।”

अहो! श्वांस गंध मारे और श्रम से पसीना होकर गंध मारे, वह असाता के उदय के कारण होता है; परन्तु वह पसीना भगवान को नहीं होता, क्योंकि भगवान को उस असाता का उदय नहीं है। अहो! भगवान तो अनंत-अनंत आनंद और अनंतबल में विराजमान हैं; उनको पसीना कैसा ?

देखो, यहाँ अरहन्तदेव के स्वरूप का कथन चल रहा है। जिसको निज आत्मा का श्रद्धान-सम्यग्दर्शन होता है, उसको व्यवहार से ऐसे निर्दोषदेव की ही मान्यता होती है — ऐसा यहाँ कहना है। अहाहा...! भगवान आत्मा निर्मलानंद-ज्ञानानंदप्रभु है। उसका अन्तर में ज्ञान होकर प्रतीति होना-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है और तभी जीव सुख के पंथ में आरुढ़ होता है; परन्तु जहाँ तक पर्याय/अवस्था और शुभाशुभ रागादि पर दृष्टि है, वहाँ तक पर्यायबुद्धिवाला वह जीव दुःखी है। इसीलिए कहते हैं — भाई! ‘सर्वम् त्यज एकम् भज।’ क्या कहा ? ‘सर्वम् त्यज’ अर्थात् निजशुद्धात्मा के अतिरिक्त सभी दृष्टि में से छोड़ दे और ‘एकम् भज’ अर्थात् अनंत-आनंदस्वरूप एक निजशुद्धात्मा को भज। भज यानी वहाँ एकाग्र हो। (अपने में एकाग्र होना ही भजन है।) कहते हैं न! पर से खस, स्व में बस, बस! यह टूंकु ने टच। लो, यह सुखी होने का उपाय है।

परन्तु अरे! इसको राग की-जड़ की मिठास है; परन्तु भाई! यह तो तुझको जहर की मिठास (रुचि) है बापू! तू अनादि से वहाँ रुका है और अमृत मानकर जहर ही पिया है।

प्रश्न :— परन्तु अमृत मानकर पीता है न ?

समाधान :— उसे तो अमृत मानकर ही पियेगा न ? कोई जहर मानकर पीता होगा ? परन्तु वह जहर ही है, अमृत नहीं। अहा! यह तो नियमसार है न! अहा! अमृत का मोक्ष का मार्ग, वह नियमसार है। अहो! आत्मा अमृतस्वरूप सुखकंद-आनंदकंद प्रभु

है; तो उस निजवस्तु की अंतर में दृष्टि करके दिशा बदल दे; तेरी दृष्टि की दिशा राग और पर्याय पर है, उसे बदल दे और निजस्वरूप की दृष्टि कर। संसार अर्थात् उदयभाव के अभाव की यही विधि है। इसी का नाम 'पर से खस और स्व में बस' अथवा 'स्व को भज पर को तज' कहते हैं। भाई! ये शब्द तो थोड़े हैं; परन्तु इनका भाव गंभीर है।

“अनिष्ट की प्राप्ति (अर्थात् कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है।”

अहा! जगत् में कोई अनिष्ट ही नहीं है (और परमवीतराग सर्वज्ञपरमेश्वर को कोई अनिष्ट भासित भी नहीं होता।) इसलिए भगवान को खेद नहीं होता। रोग होना, शत्रु होना, सर्प अथवा बिच्छू काट खाना इत्यादि को अज्ञानी जीव अनिष्ट मानता है; परन्तु भगवान केवली को तो लोक में कोई अनिष्ट ही नहीं है और इसलिए खेद भी नहीं है।

“सर्व जनता के (जनसमाज के) कानों में अमृत उड़लनेवाले सहज चतुर कवित्व के कारण, सहज (सुन्दर) शरीर के कारण, सहज (उत्तम) कुल के कारण, सहजबल के कारण तथा सहज ऐश्वर्य के कारण आत्मा में जो अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।”

अहा! भगवान की दिव्यवाणी और कवित्वशक्ति का क्या कहना! उनकी ऐसी सहज चतुर कवित्वशक्ति होती है कि लाखों-करोड़ों जीवों की सभा उसे सुनकर मानों अमृत पीती हो, इसतरह सभी डोल-नाच उठते हैं। अहा...! भगवान तो सर्व विद्याओं के पारगामी होते हैं; परन्तु उनको ऐसी कवित्वशक्ति का अभिमान नहीं होता। भगवान मदरहित ही होते हैं। इसीतरह सहज (सुन्दर) शरीर के कारण.....आत्मा में जो अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।

अहो! भगवान के शरीर का प्रत्येक अवयव कोमल, सुन्दर, नरम होता है। तीन लोक में किसी को न हो - ऐसी सुन्दर दिव्यदेह भगवान (तीर्थकर) के होती है। उसको देखकर इन्द्र भी चकित हो जाता है। उनके जन्मकाल में दो आँखों से देखकर सन्तोष न होने से इन्द्र हजार नेत्र करके देखता है। अहा! भगवान की देह का रूप ऐसा अद्भुत-अलौकिक होता है। तथापि भगवान को शरीर का मद नहीं होता। क्यों ? क्योंकि शरीर कहाँ उनका अपना है ? वह जड़-मिट्टी-धूल का है। अहा! भगवान तो जन्म से ही सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञान लेकर जन्मते हैं और यह शरीर मुझे है — ऐसा मद तो पहले

से ही समकित हुआ, तब से ही नहीं है; तो फिर पूर्णदशा होने पर यह सुन्दर शरीर मैं हूँ — ऐसा मद कैसे होगा ?

अज्ञानी तो जहाँ शरीर किञ्चित् सुन्दर हो वहाँ अभिमान करता है और शरीर सुन्दर-रूपवान न हो तो पाउडर आदि लगाकर सुन्दर दिखना चाहता है; परन्तु वह तो मुर्दे को श्रृंगारता है बापू! अहा! यह शरीर तो माँस-हड्डी-चमड़े की थैली से युक्त मुर्दा है, इसमें कहाँ आत्मा है ?

प्रश्न :— परन्तु इसका श्रृंगार करने पर तो सुन्दर लगता है न ?

समाधान :— भाई! यह तो सब चुडैल का शरीर है बापा! इस जड़ का क्या श्रृंगार और क्या अभिमान ?

यहाँ कहते हैं — भगवान के सहज सुन्दर शरीर होने पर भी मद नहीं होता। अब समकित्ता को भी शरीरमद नहीं होता तो सर्वज्ञ भगवान को कैसे होगा ? होता ही नहीं। 'सहज (उत्तम) कुल के कारण आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति वह मद है।'

भगवान का जन्म स्वाभाविक ही उत्तमकुल में होता है, तो भी उनको उसका अभिमान नहीं होता कि मेरे पिता ऐसे राजा थे और मैं उनका पुत्र हूँ। हमारा अवतार श्रीमंत लक्ष्मीवंत के गृह में है — इसप्रकार कुल का-धूल का अभिमान भगवान को नहीं होता। अरे! जब सम्यग्दृष्टि को कुलमद नहीं होता, तो फिर भगवान को तो कैसे होगा ? नहीं होगा। कारण कि आत्मा को कुल कैसा ? भगवान आत्मा तो निर्लेप, निराला, चिदानंदप्रभु है। उसमें जब राग भी नहीं है, तो फिर शरीर और कुल कैसा ? इसलिए केवली भगवान को कुल का अभिमान नहीं होता।

'सहजबल के कारण.....आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति वह मद है।'

भगवान को स्वाभाविक इतना अधिक बल होता है कि वैसा अन्य को नहीं होता। भगवान (तीर्थकर) को अतुल-अपार बल होता है, शरीर का बल; तो भी उनको उसका अहंकार-मद नहीं होता।

'सहज ऐश्वर्य के कारण.....आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति वह मद है।'

अहा! महान चक्रवर्ती का पद, बलदेव का पद अथवा महान ईश्वरता का पद प्राप्त हुआ हो, तो भी भगवान को उसका अभिमान नहीं होता। अज्ञानी तो किसी संस्था का

मंत्री या प्रमुख हो तो वहाँ अहंकार में चढ़ जाता है, जबकि भगवान तीनलोक के ईश्वर-स्वामी होने पर भी, उनको ऐश्वर्यमद नहीं होता। गजब बात है न!

“मनोज्ञ (मनपसंद) वस्तुओं में परमप्रीति वही रति है।”

परन्तु भगवान को कोई मनोज्ञ है ही नहीं; और इसकारण रति भी नहीं है।

“परम समरसीभाव की भावनारहित जीवों को (परम समताभाव के अनुभव रहित जीवों को) कभी पूर्वकाल में न देखा हुआ, देखने के कारण होनेवाला भाव वह विस्मय है।”

अहाहा....! भगवान आत्मा समतारस का पिण्ड परम-वीतरागीस्वभाव का रसकंद है। अहा! ऐसे निज-आत्मस्वरूप की भावना से रहित अज्ञानी जीवों को ‘यह क्या ? यह क्या ?’ — ऐसा विस्मयभाव हुआ करता है। कुछ नया देखने पर उनको विस्मय होता है; परन्तु सर्वज्ञभगवान को नया क्या है ? नहीं देखा हुआ क्या है ? कुछ है ही नहीं; इसलिए परमसमरसीभाव से भरपूर भगवान केवली को विस्मय नहीं होता।

“केवल शुभकर्म से देवपर्याय में जो उत्पत्ति, केवल अशुभकर्म से नारक पर्याय में जो उत्पत्ति, माया से तिर्यञ्चपर्याय में जो उत्पत्ति और शुभाशुभ मिश्रकर्म से मनुष्यपर्याय में जो उत्पत्ति, सो जन्म है।”

देखो कर्म के निमित्त से किसी न किसी गति में उत्पन्न होना, वह जन्म है। यहाँ चार बातें ली हैं —

१. जीव केवल पुण्यकर्म से देवपर्याय में उत्पन्न होता है।
२. केवल अशुभ पापकर्म से नारकपर्याय में उत्पन्न होता है।
३. माया से तिर्यञ्चपर्याय में उत्पन्न होता है। अहा! तिर्यञ्चपर्याय में भी जन्मने के बहुत स्थान हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी देव से अधिक हैं। बहुत से देव, नारकी, मनुष्य और स्वयं पशु भी मरकर वहाँ-तिर्यञ्च में जन्मते हैं।
४. कुछ पुण्य और कुछ पाप — ऐसे मिश्रकर्म के निमित्त से मनुष्यपर्याय में जन्म होता है।

अहा! चौरासी का जन्मसमुद्र अपार-अगाध है। यहाँ कहते हैं कि सर्वकर्म से रहित परमपद को-अरहंतपद को प्राप्त भगवान को जन्म नहीं होता।

“दर्शनावरणीय कर्म के उदय से, जिसमें ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है; वही निद्रा है।”

देखो, निद्रा में ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है; परन्तु भगवान को निरंतर ज्ञानज्योति प्रगट ही है; क्योंकि भगवान के दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव है। इसकारण भगवान के निद्रा नहीं होती।

“इष्ट के वियोग से विक्लवभाव (घबराहट) ही उद्वेग है। इन (अठारह) महादोषों से तीनलोक व्याप्त है। वीतरागसर्वज्ञ इन दोषों से विमुक्त है।”

अहा! भगवान को लोक में कोई इष्ट नहीं है, इसलिए उसके वियोग में उद्वेग नहीं होता। अहा! समकित्ती जीव ऐसे अठारह दोषों से रहित देव को ही देव मानता है, इनके अतिरिक्त वह अन्य को कभी देव नहीं मानता। अन्य को देव माननेवाला तो प्रगट मिथ्यादृष्टि ही है। यह कोई पक्ष नहीं है, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। जहाँ पूर्ण आनंद की प्राप्ति हुई, वहाँ फिर ये कोई दोष नहीं रहते।

अब थोड़ा विशेष स्पष्टीकरण करते हैं —

‘वीतरागसर्वज्ञ को द्रव्य-भाव घातिकर्मों का अभाव होने से.....चार घातिकर्म है न! ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय। इन चार द्रव्यकर्मों का और इनके भावकर्म का अभाव होने से वीतरागसर्वज्ञ को.....‘भय, रोष, राग, मोह, शुभाशुभ चिन्ता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेग कहाँ से होंगे?’ जिन्होंने चार घातिकर्मों का अभाव किया है, उनको ऐसे ग्यारह दोष नहीं होते - ऐसा कहते हैं। इसप्रकार ग्यारह दोष कहे।

अब, दो मुख्य दोष क्षुधा और तृषा का जरा विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं —

“और उनको समुद्र जितने सातावेदनीय कर्मोदय के मध्य बिन्दु जितना असातावेदनीय कर्मोदय वर्तता है वह, मोहनीय कर्म के बिलकुल अभाव में, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषा का निमित्त कहाँ से होगा ? नहीं होगा.....”

देखो ? भगवान को महासमुद्र जितना साता का उदय है और किंचित् बिन्दुमात्र-नहींवत् असाता का उदय होता है तथा उनको मोहनीय कर्म का अत्यन्त अभाव है;

इसलिए किंचित् असाता का उदय क्षुधा या तृषा का निमित्त नहीं होता। अहा! जहाँ मोह नहीं है, वहाँ दुःख कहाँ है। मोहनीय के अभाव में दुःख की वृत्ति हो ही नहीं सकती। वही कहते हैं —

“क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीय कर्म हो, तथापि मोहनीयकर्म के अभाव में दुःख की वृत्ति नहीं हो सकती, तो फिर यहाँ तो जहाँ अनन्तगुने सातावेदनीय कर्म के मध्य अल्पमात्र (अविद्यमान जैसा) असातावेदनीयकर्म वर्तता है, वहाँ क्षुधा-तृषा की वृत्ति कहाँ से होगी ? क्षुधा-तृषा के सद्भाव में अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि कहाँ से सम्भव होंगे ? इसप्रकार वीतरागसर्वज्ञ को क्षुधा (तथा तृषा) न होने से उन्हें कवलाहार भी नहीं होता।”

भगवान कवलाहार करें — ऐसा नहीं होता। भगवान को असातावेदनीय है; इसलिए रोग हुआ और दवा ली तथा भगवान को कवलाहार होता है — ये सब अत्यन्त विपरीत कल्पित और झूठी बातें हैं; परन्तु जो जिस सम्प्रदाय में हो, उसको उस सम्प्रदाय की बात ऐसी बैठ जाती है कि उसमें से निकलना अत्यन्त कठिन पड़ता है।

अहा! तीनलोक के नाथ भगवान केवली को अमृत का-आनन्द का भोजन होता है। उनको क्षुधा-तृषा कैसी ? अहा! (उनको) एकसमय की दशा में कितना आनन्द! जिसकी उपमा लोक में नहीं है — ऐसा अनंत....अनंत.....अनंत अतीन्द्रिय आनंद होता है। बापू! यह इन्द्र की, बड़े सेठ की अथवा राजा की सम्पत्ति-धूल में माना हुआ आनन्द तो जहर है। उसके साथ अतीन्द्रिय आनंद की क्या तुलना ? अहा! आत्मा के ऐसे अनुपम आनंद के आस्वादी स्वरूपानंदी भगवान को क्षुधा-तृषा नहीं होती। अरे! समकिति को भी यद्यपि कमजोरी है; इसकारण क्षुधा-तृषा की वृत्ति उठती है तो भी स्वरूपानंद के कारण उसका स्वामी नहीं होता, आनंद के स्वामीपने वर्तता है; तो फिर जिनको पूर्ण आनंद का भोजन है, उन भगवान को भूख-प्यास कैसी ? भाई! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है और उसका फल भी अलौकिक है। भगवान तू महान, तुझे पाने का मार्ग महान और उसका फल भी महान है।

अहा! आनंदमूर्ति प्रभु आत्मा और वेदनामूर्ति — ऐसा जड़ शरीर, इन दोनों की पृथक्ता-भिन्नता का जिसको भान नहीं है, वह अज्ञानी जीव क्षुधा-तृषा के राग से पीड़ित

होता है; परन्तु भगवान को वैसा कुछ भी नहीं होता और इसलिए उनको कवलाहार भी नहीं होता।

यदि केवली को आहार नहीं होता तो उनका शरीर लाखों-करोड़ों वर्षों तक कैसे टिकता है ?

तो कहते हैं — ‘कवलाहार के बिना भी उनके (अन्य मनुष्यों को असंभवित ऐसे) सुगंधित, सुरसयुक्त, समधातु रहित परमौदारिक शरीररूप नोकर्माहार के योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं और इसलिए शरीर स्थिति रहती है।’

केवली को साता के कारण ऐसे रजकण निरंतर आया ही करते हैं और इसलिए शरीर टिकता है — इसप्रकार तेरह बोल हुए। (तेरह दोषों के अभाव का कथन हुआ।)

अब अन्य तीन बोल — शरीर में रहने पर भी भगवान को जरा, रोग और पसीना नहीं होता — यह बात कहते हैं —

“और पवित्रता तथा पुण्य का ऐसा सम्बन्ध होता है अर्थात् घातिकर्मों का अभाव को और शेष रहे अघाति कर्मों का ऐसा सहज सम्बन्ध होता है कि वीतराग सर्वज्ञ को उन शेष रहे अघातिकर्मों के फलस्वरूप परमौदारिक शरीर में जरा, रोग तथा स्वेद नहीं होते।”

अहा! हीरा को रखने की डिब्बी भी अलग ही प्रकार की होती है, वह कहीं थैली में नहीं रहता। इसीप्रकार जहाँ अनन्तचतुष्टयमय परमात्मदशा प्रगट होती है, वहाँ उसकी डिब्बी-शरीर अलग ही जाति का हो जाता है अर्थात् भगवान को परमौदारिक शरीर होता है; इसलिए भगवान के जरा-शरीर की जीर्णता नहीं है, राग नहीं है और पसीना भी नहीं है।

अब अन्तिम दो बोल —

“और केवली भगवान को भवान्तर में उत्पत्ति के निमित्तभूत शुभाशुभभाव न होने से उन्हें जन्म नहीं होता; और जिस देहवियोग के पश्चात् भवान्तर प्राप्तिरूप जन्म नहीं होता, उस देह वियोग को मरण नहीं कहा जाता।”

जिसको पुण्य-पाप के भाव हैं, उसको जन्मना पड़ता है; परन्तु भगवान के तो पुण्य-

पाप के भाव नष्ट हो गये हैं; इसलिए अब उनको जन्म नहीं होता और देहवियोग के बाद जन्म नहीं होवे तो उसको मरण नहीं कहते; इसलिए मरण भी नहीं है — इसप्रकार अठारह बोल पूर्ण हुए।

इसप्रकार वीतरागसर्वज्ञ अठारह दोषरहित हैं।

इसीप्रकार अन्य शास्त्रों में गाथा द्वारा कहा है कि —

“वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है, वह देव है; जो अठारह दोषरहित है; इस सम्बन्ध में संशय नहीं है।”

क्या कहते हैं ? ‘वह धर्म है जहाँ दया है,’ यह दया माने ? भगवान आत्मा की दशा में राग की-विकल्प की उत्पत्ति न हो — ऐसी जो अहिंसा है, वह दया है और वह धर्म है। अहा! धर्म उसको कहते हैं, जहाँ राग की उत्पत्ति नहीं है। राग की उत्पत्ति हिंसा है, अधर्म है। **अहिंसा परमोधर्म:** कहते हैं न ? तो वह यह कि भगवान आत्मा के आश्रय से वीतरागीदशा की उत्पत्ति होती है, वह अहिंसा है, दया है, धर्म है।

अहा! अपनी दया, वह दया है। अपने आत्मा को रागरहित करने का नाम दया है। वरना पर की दया तो कौन पाल सकता है ? अहा! प्रिय में प्रिय स्त्री-अर्धांगिनी को रोग हो जाए तो उसको बचाने के लिए लाखों रुपये खर्च कर देता है, तो भी वह मर जाती है। स्त्री को रखने का-रक्षा करने का भाव होने पर भी रख नहीं सकता। पर की दया पालन का विकल्प उत्पन्न होता है; परन्तु उसको बचा नहीं सकता। यह जो रक्षा का विकल्प हुआ और बच जाए तो उसकी दया की — ऐसा कहा जाता है; वरना पर की दया कौन पाल सकता है ? यदि बचा सकता हो तो अपनी प्रिय स्त्री को मरण किसलिए आने दे।

और संसार की विचित्रता तो देखो! पत्नी मर जाए तो बाहर तो नहीं कहता; परन्तु अन्दर विकल्प आता है कि अब मैं ५० वर्ष में अकेला रह गया, इसके बदले दस वर्ष पूर्व मर गई होती तो दूसरी तो होती। देखो! यह पत्नी के लिए प्रेम और इसकी भावना! बापू! ये सब सगे-सम्बन्धी स्वार्थ के पुतले हैं अर्थात् कोई किसी का सम्बन्धी है ही नहीं। मेरा सगा.....मेरा सगा — ऐसा कहे; परन्तु तेरा किंचित् भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अपनी दया-स्वदया ही दया है, बाकी पर की दया का भाव आवे;

परन्तु पर को कोई बचा नहीं सकता तथा पर की दया का भाव राग है और इसलिए वास्तव में तो वह अपनी हिंसा है। अहा! प्रभु आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसका लक्ष्य करके अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति करने का नाम दया है और वह धर्म है।

“वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है।” अहा! जहाँ पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव रुक गया हो, उसे तप कहते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषय अर्थात् शुभ और अशुभ सब। लौकिक सुनना या भगवान की वाणी सुनना — यह सब इन्द्रिय का विषय है; और उसका निग्रह करके अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव से होनेवाले शुभाशुभभाव को रोककर अतीन्द्रिय निज-आत्मस्वरूप में एकाकार होने का नाम तप है। लो, यह तप! अज्ञानी तो रोटी नहीं खाये और लंघन करे और मानता है कि उपवास हुआ; परन्तु उसमें तो यदि राग मन्द हो तो मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। वह उपवास या तप नहीं है। गजब बात है बापा! यहाँ तेरा मार्ग अलग है नाथ! अहा...! जिससे अनंत-आनंद में रहे, वह भाव (मार्ग) तो अलौकिक ही होगा न!

परन्तु अरे! इसको कुछ विचार ही नहीं है। मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ हूँ ? और कहाँ जाऊँगा ? कुछ विचार ही नहीं, इसको कुछ पड़ी ही नहीं है।

श्रीमद् में आता है न —

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या।

सम्बन्ध दुःखमय कौन है स्वीकृत परिहार क्या ॥

अहाहा....! यह सम्बन्ध क्या है ? तेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है भगवान! मैं तो अपने प्रयोजन को (अतीन्द्रिय आनंद को) साधनेवाला हूँ — ऐसा विचार कर, जो पूर्णानंदस्वरूप निजभगवान आत्मा के आश्रय में प्रवर्तता है; विषय से विरत और स्व में रमता है, उसको तप है। इसका नाम तप है।

‘इच्छा निरोधः तपः’ — ऐसी तप की व्याख्या है न! अहाहा.....! जहाँ पाँच इन्द्रियों की ओर के झुकाव की इच्छा रुक गई है और स्वस्वरूप-निज आनंदस्वरूप में रमने से जहाँ अतीन्द्रिय आनंद की दशा प्रगट हो गई है, वहाँ तप है। अहा...! जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आवे-भोग हो, उसको तप कहते हैं।

अब कहते हैं — ‘वह देव है जो अठारह दोषरहित है।’ बात तो यही सिद्ध करनी है। अहा...! देव उसको कहते हैं, जिसको अठारह दोष नहीं होते। ‘इस विषय में संशय नहीं है।’ इसमें कहीं संदेह का स्थान नहीं है।

तथा श्री विद्यानन्दिस्वामी के श्लोक द्वारा कहा है कि —

श्लोकवार्तिक जो कि तत्त्वार्थसूत्र की टीका है, उसका यह श्लोक है। उसके रचयिता श्री विद्यानन्दिस्वामी हैं। यहाँ श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी बात के आधार के लिए उस श्लोक को दिया है।

अहा...! पहले तो विद्यानन्दिस्वामी ब्राह्मण थे। एक बार एक नग्न मुनिवर-संत शास्त्र-स्वाध्याय कर रहे थे, वहाँ यह बात उनके कान में पड़ गई; उनका मन हुआ कि अहो! यह तो अलौकिक बात है! फिर गये अन्दर, देखा तो — अहो! ऐसे मुनिवर!! और स्वयं साधु हो गये। स्वयं गृहस्थ ब्राह्मण और हो गये दिगम्बर मुनि, महासमर्थ मुनिराज। उन्होंने संस्कृत में विशाल श्लोकवार्तिक रचा है। यह श्लोक उसी ग्रन्थ का है।

क्या कहते हैं ? ‘इष्टफल की सिद्धि का उपाय सुबोध है।’ इष्ट अर्थात् मोक्षमार्ग और उसका फल अर्थात् मुक्ति। अहाहा...! आत्मा सर्व दुःखों से मुक्त होकर पूर्णानन्द को प्राप्त करे, उसका नाम मुक्ति है। अहा...! इस इष्टफल की सिद्धि का उपाय अर्थात् मुक्ति का उपाय सुबोध है, सम्यग्ज्ञान है। यहाँ मुक्ति का उपाय ज्ञान है — ऐसा कहा है।

तो दर्शन (सम्यग्दर्शन) कहाँ गया ?

उसमें-ज्ञान में साथ ही आ गया, क्योंकि दोनों साथ ही होते हैं न! परन्तु यहाँ ज्ञान की प्रधानता से सुबोध-सम्यग्ज्ञान को मुक्ति का उपाय कहा है। अहा! शुद्धनय के अनुसार ‘यह वस्तु है’ — ऐसा शुद्धात्मा का भान होने पर; उसकी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है; इसलिए हैं तो दोनों (ज्ञान और दर्शन) साथ ही; यहाँ ज्ञान की मुख्यता से सुबोध को कारण कहा है।

अहा...! कहते हैं — मुक्ति का उपाय सुबोध-सम्यग्ज्ञान है। अहा..! आत्मा को

परमानंद की-परमसुख की प्राप्तिरूप परमपद का-मुक्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है अर्थात् सम्यग्ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

अहा...! ऐसा सम्यग्ज्ञान कैसे होता है ? तो कहते हैं —

‘सुबोध सुशास्त्र से होता है।’

लो, ऐसा सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है। सुशास्त्र कहा है, कुशास्त्र नहीं।

शंका :— परन्तु एक ओर तो आप कहते हो कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता ?

समाधान :— अरे भाई! यहाँ क्या अपेक्षा है, वह समझना चाहिए। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। देव को मानना है न! तो यह (सुशास्त्र) निमित्त है और उसकी यहाँ प्रसिद्धि (उपस्थिति) सिद्ध करते हैं; क्योंकि ये ही निमित्त होते हैं; परन्तु अन्य कुशास्त्र निमित्त नहीं होते। अहा...! व्यवहार सिद्ध करना है। अरहंतदेव सिद्ध करना है, देव का उपचार सिद्ध करना है। (अर्थात् व्यवहार से देव कैसे होते हैं — यह बताना है।) तो उसमें क्या दोष है ? यह तो निमित्त की भाषा है बापू! देखो, अब क्या कहते हैं ? कि —

‘सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है।’

सच्चेशास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ वीतरागपरमेश्वर से होती है — ऐसा कहते हैं। आप्त यानी हित के लिए माननेयोग्य। अहा...! ऐसे जो आप्त-सर्वज्ञ परमात्मा हैं, उनसे शास्त्र की उत्पत्ति होती है।

देखो, शास्त्र की उत्पत्ति भगवान से होती है — ऐसा कहते हैं। अहा! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहना है न! अतः सुशास्त्र भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के कहे हुए हैं — ऐसा कहते हैं। अहा! पूर्ण वीतराग सर्वज्ञपरमात्मा को ॐ... ऐसी ओमध्वनि सर्वांग से उत्पन्न होती है, वे ऐसे (हमारी-तुम्हारी तरह खण्ड-खण्डरूप भाषा) नहीं बोलते। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा से सुशास्त्र की उत्पत्ति होती है।

इसलिए कहते हैं —

‘इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं।’

श्रीमद् में आता है कि —

‘करुणा हम पावत हैं तुमरी, यह बात रही सुगुरुगम की।’

अहा...! भगवान को कहते हैं — प्रभु! आपकी करुणा से हम यह पाते हैं। यह कथन निमित्त सापेक्ष है। इसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि ‘इसलिए उनके प्रसाद के कारण....’ अर्थात् मुक्तिमार्ग और मुक्ति आसपुरुष के प्रसाद का फल है और इसीलिए आसपुरुष-अठारह दोषरहित अरहन्तपरमात्मा बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं। ‘बुधजनों द्वारा’ क्यों कहा ? क्योंकि मूढ़जनों को आस के स्वरूप का भान नहीं होता।

अहा! आसपुरुष-हित के लिए माननेयोग्य ऐसे सर्वज्ञपरमेश्वर, कि जिनको आत्मा की रिद्धि-सिद्धि पूर्ण प्रगट हो गई है, वे जिनवाणी-सुशास्त्र का निमित्त हैं और सुशास्त्र सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं और उस ज्ञान से मुक्ति होती है। अहा! ऐसा व्यवहार है न! तो यह व्यवहार है, इतना ही यहाँ सिद्ध करते हैं; क्योंकि ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

अहा! प्रभु आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसकी पूर्णज्ञान और आनन्ददशा की प्राप्ति होना, वह इष्टफल-मुक्ति है; और वह इष्टफल-मुक्ति ज्ञान से-सम्यग्ज्ञान से होता है। अर्थात् ज्ञान मुक्ति का कारण है।

शंका :— अकेले ज्ञान को मुक्ति का कारण कहा तो दर्शन, चारित्र और तप कहाँ गये ?

समाधान :— अब सुन तो सही प्रभु! वे सब इसमें आ गये। जो अपने आत्मा का ज्ञान है, उस आत्मज्ञान में दर्शन-चारित्र और इच्छा के निरोधरूप तप आदि सभी आ जाते हैं; क्योंकि वे सब ज्ञान की दशाएँ हैं, वे कोई राग की दशा नहीं हैं।

अहा...! ऐसा सम्यग्ज्ञान-सुबोध सुशास्त्र से (भगवान की वाणी से) होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति भगवान से होती है; इसलिए कहते हैं कि उनके प्रसाद के कारण आसपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य है।

‘अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से.....’

देखा, यहाँ मुक्ति को सर्वज्ञदेव की कृपा का फल कहा है।

प्रश्न :— ऐसा क्यों कहा ?

समाधान :— भाई! स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करता है तो उसमें निमित्त कौन है ? कि सुशास्त्र; और सुशास्त्र में निमित्त कौन है ? कि सर्वज्ञ। लो, यह सिद्ध करना है। अपूर्व बात है भाई! अहा...! कहते हैं कि वाणी से ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होने में यदि कोई वाणी निमित्त होती है तो वह भगवान की ही होती है — ऐसा कहना है और वह वाणी भगवान से उत्पन्न होती है।

प्रश्न :— तो क्या भगवान वाणी के कर्ता हैं ? भगवान है; इसलिए वाणी निकलती है ?

समाधान :— नहीं, परन्तु यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात है, इसलिए ऐसा कहा है; वरना वाणी तो वाणी के कारण निकलती है। वाणी की पर्याय तो वाणी से ही है, (उसमें भगवान का कुछ भी कर्तव्य नहीं है।) परन्तु ऐसी (ओमध्वनि) वाणी में सर्वज्ञदेव ही निमित्त होते हैं और सम्यग्ज्ञान पानेवाले को वैसी वाणी ही निमित्त होती है — ऐसी बात है।

संवर अधिकार में (समयसार गाथा-१९०-१९२ में) आता है कि अध्यवसान आस्रव का कारण है, आस्रव कर्म का कारण है और कर्म नोकर्म का कारण है — ऐसा आता है न! लो, कर्म के कारण शरीर मिलता है, यह कहते हैं; परन्तु क्या हो ? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताना होवे तो क्या कहें ? (निमित्तपरक भाषा ऐसी ही होती है।) तो विपरीतता में ऐसा है तो सुलटे में भी यह है।

यहाँ कहते हैं 'मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय है।

आशय यह है कि जिसको आत्मा का भान हुआ है, वह धर्मीपुरुष भगवान सर्वज्ञदेव को पूजनेयोग्य मानता है — ऐसा व्यवहार है।

जबकि दूसरी ओर 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश में' (भाग ३, बोल २८५) ऐसा आया है कि कितने ही जीवों को भगवान की वाणी सुनने का व्यसन हो गया है तथा वही कहा है कि वह सुनना सो तो नुकसान है। तो ऐसा किसलिए कहा ? क्योंकि वह विकल्प है और उस विकल्प के समय परलक्षी ज्ञान होता है, जो आत्मा को हित का कारण

नहीं हैं। वह निश्चय-परमार्थ की बात है; जबकि यहाँ निमित्त बताते हुए व्यवहार की बात कही है।

प्रश्न :- उसमें (द्रव्यदृष्टि प्रकाश में) ऐसा भी आता है न कि एकांत में बैठकर विचारणा करनी ?

समाधान :- विचारणा अर्थात् एकाग्रता; और एकान्त में बैठना यानी राग से हटकर अन्दर में बैठना — ऐसा उसका अर्थ है। यही एकान्त है, अन्य एकान्त कौन-सा है ? अरे! लोग कथन की अपेक्षा को तो जानते नहीं और विरोध करते हैं; परन्तु ऐसा नहीं होता बापा! जहाँ जैसा है, वहाँ वैसा समझना चाहिए। कहा भी है —

‘ज्यां-ज्यां जो-जो योग्य है वहाँ समझना वह।’
वहाँ-वहाँ वह वह आचरे आत्मार्थीजन वह ॥’

- श्रीमद् राजचंद्र, आत्मसिद्धि

देखो, मृत्यु के समय शरीर में शूल चढ़े, आंतड़ियाँ खिचें और धमनी की तरह श्वास चले, तो भी आत्मा में ही रहता है। यह क्या कोई साधारण बात है ? जबकि अज्ञानी तो मृत्यु के समय ‘हाय रे हाय’ पुकारता है। उस समय कितने ही पैसे हों तो भी क्या काम आयेंगे ? सामने धन का ढेर कर दे और माँगे कि मैंने कमाने में बहुत श्रम किया है, अब तो तू शरण दे! तो क्या वह शरण देगा ? बापू! कोई काम नहीं आयेगा; परन्तु अरे! मोह की जंजाल कैसी है ?

मनुष्य को दो पैर होते हैं। स्त्री आने पर चार पैरवाला हुआ-ढोर हुआ। ढोर को चार पैर होते हैं न ? फिर उसको पुत्र हुआ, तो छह पैरवाला हुआ-भँवरा हुआ। मेरा पुत्र.... मेरा पुत्र... इसतरह गुंजन किया करता है। फिर उस पुत्र की स्त्री आई तो आठ पैरवाला हुआ-मकड़ी हुआ और मुँह में से लार निकालकर उसमें फँसकर मर जाता है।

देखो, यह जंजाल! मुझे स्त्री का काम करना है, पुत्र का काम करना है और उसकी स्त्री का काम करना है — इसतरह बहुत लम्बा लंगर चलता है। परन्तु बापा! तुझे अपना (आत्मा का) काम करना है, यह तो देख। अरे! यह बाहर का काम अपना मानकर मर गया है, करके नहीं; क्योंकि पर के काम तो आत्मा करता ही कब है ? (पर का काम तो कोई कर सकता ही नहीं है।)

यहाँ कहते हैं — मुक्ति सर्वज्ञ की कृपा का फल है। यही श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने (समयसार, गाथा-५ में) कहा है, न कि हमारे गुरु ने अनुग्रह करके हमको शुद्धात्मा का उपदेश दिया है। अहाहा...! भगवान! तू शुद्ध है, बुद्ध है; रागरहित है, प्रभु है ! — इसप्रकार हमको देव-गुरु ने कृपा करके हमारा निधानरूप शुद्धात्मा बताया है और उनकी कृपा के फलस्वरूप हमको हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है — ऐसा कहा है या नहीं ? (कहा है।)

परन्तु प्रभु! वैभव तो निजद्रव्य के आश्रय से प्रगटा है न ? (हाँ, यह परमार्थ है।) परन्तु भाई! इसमें यह सब व्यवहार बतलाया है। द्रव्य के आश्रय से वैभव प्रगटा, उसमें बाह्य में ऐसे ही निमित्त होते हैं — ऐसा सिद्ध करने के लिए निमित्त से ऐसा कहा गया है। अन्य क्या कहा जाए ? अहा! हमारे छद्मस्थ गुरु भी अन्तर्मुख लीन थे-अन्तःनिमग्न थे और उन गुरु ने कृपा करके हमको शुद्धात्मा दिया-बताया।

प्रश्न :— बस, शुद्धात्मा ही दिया-बताया ?

समाधान :— अन्य बहुत अधिक कहा है, उसका सार यह कहना है कि भगवान! तू शुद्धात्मा है, उसको पकड़ और वहाँ लीन हो — ऐसी सूक्ष्म बात है।

अहाहा.....! कहते हैं कि मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से भगवान सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय हैं। क्यों ? 'क्योंकि किए हुए उपकार को साधुपुरुष (सज्जन) नहीं भूलते है।'

देखो, उपकार की-अनुग्रह की बात आई है कि सज्जनपुरुष, जिनसे उपकार हुआ हो; उनका उपकार नहीं भूलते — ऐसा कहकर देव का बहुमान किया है। अहो! भगवान आस-सर्वज्ञदेव ऐसे ही होते हैं और वे ही हमारे ज्ञान में निमित्त हैं अर्थात् उनकी जो दिव्यवाणी है, वह वाणी ही ज्ञान में निमित्त होती है; परन्तु अज्ञानी की वाणी निमित्त नहीं होती। इसप्रकार भगवान की ओमध्वनि का निमित्तपना सिद्ध किया है।

यह नियमसार का जीव अधिकार है। उसमें इस आत्मा के हित के लिए माननेयोग्य भगवान आस-देव कैसे होते हैं, उनका वर्णन चल रहा है। धर्मीजीव ऐसे देव को व्यवहार से देव मानता है। तो जिस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है, वह ज्ञान जिनके वचन से होता है — ऐसे आसपुरुष को ज्ञानीजन देव के रूप में स्वीकार करते हैं, उनको वंदन करते हैं और उनकी पूजन करते हैं।

कलश-१३ पर प्रवचन

अब, मुनि स्वयं ब्रह्मचारी हैं; इसलिए तीर्थकरों में से भगवान नेमिनाथ का स्मरण करके वंदन करते हैं —

चौबीस तीर्थकरों में बाईसवें श्री नेमिनाथ भगवान हुए हैं, वे बालब्रह्मचारी थे। यहाँ उनको स्मरण करके कहते हैं कि प्रभु! आप सौ इन्द्रों से पूज्य हैं। कलश में है न ?

‘जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं.....’ देखो, मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती, तिर्यज्चों का इन्द्र सिंह और अन्य भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी और कल्पवासी — इसप्रकार सब मिलाकर सौ इन्द्र हैं। उनसे भगवान नेमिनाथ पूज्य हैं।

और कहते हैं कि ‘जिनका सद्बोधरूपी राज्य विशाल है।’ अहाहा....! भगवान का सम्यग्ज्ञानरूपी राज्य विशाल है। कैसा ? कि ऐसा राज्य किसी को नहीं होता। एकसमय में लोकालोक को जाने — ऐसा विशाल उनका राज्य है। चक्रवर्ती का राज्य तो छहखण्ड में ही है; जबकि भगवान का राज्य तो तीनलोक में है अर्थात् भगवान तीनलोक को जानते हैं। वैसे भी राज्य करनेवाला क्या करता है ? वस्तुतः तो वह राज्य को जानता ही है; परन्तु तदुपरांत ‘यह राज्य मेरा है’ — ऐसा व्यर्थ ही राग करता है। जबकि भगवान को राग किंचित् भी नहीं है और जानते हैं लोकालोक को। अहा! ऐसे देव, वे देव-परमात्मा के रूप में पूजनेयोग्य हैं। अहा! मैं ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा हूँ — ऐसा अन्तर में भान होकर, जिसको अतीन्द्रिय आनंद का वेदन वर्तता है; उसको ऐसे सर्व दोषरहित अरहन्तपरमात्मा ही देवरूप से माननेयोग्य होते हैं; वह अन्य को कभी देव नहीं मानता है; क्योंकि अन्य कोई देव है ही नहीं। अन्य तो देवरूप का अभिमान करनेवाले देवाभास हैं।

अब कहते हैं — ‘कामविजयी (लोकान्तिक) देवों के जो नाथ हैं।’ अन्तर ‘स्मरतिर’ शब्द है न ? स्मर यानी कामभोग और उनके विजयी लोकान्तिकदेव हैं। ऊपर सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र के पश्चात् पाँचवाँ ब्रह्मस्वर्ग है। उसमें लोकान्तिक देव हैं, वे सभी ब्रह्मचारी होते हैं तथा उनकी आयु स्थिति आठ सागर प्रमाण होती है। (एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में

असंख्य अरब वर्ष होते हैं।) ये जो चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमान हैं, उनसे भी ऊपर पाँचवें स्वर्ग में ये सब कामविजयी लोकान्तिक देव रहते हैं।

वे देव होने पर भी ब्रह्मचारी हैं, उनके इन्द्राणियाँ नहीं होतीं। ऐसे कामविजयी लोकान्तिकदेव लोक के अन्त को प्राप्त हैं; क्योंकि अब एक भव करके, स्वर्ग से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। जब भगवान (तीर्थकर) दीक्षा अंगीकार करने की तैयारी में होते हैं, तब उनका नियोग है कि वे भगवान को आकर सम्बोधित करते हैं कि हे प्रभो! आप दीक्षित होने पधारो, जगत को धर्म की आवश्यकता है; यद्यपि प्रभु तो स्वयं ही तैयार हैं, तथापि ऐसा एक व्यवहार सम्बन्ध होता है। अहा! भगवान इन लोकान्तिकदेवों के नाथ हैं। जो ब्रह्मचारी हैं और एक भव करके मोक्ष जायेंगे, उन लोकान्तिकदेवों के भगवान नाथ हैं — ऐसा कहते हैं।

अहो! ब्रह्मचारी मुनि ने ब्रह्मचारी देवों और ब्रह्मचारी भगवान को स्मरण किया है। अहा! कैसा योग!! नेमिनाथ भगवान बालब्रह्मचारी; टीकाकार मुनि स्वयं भी ब्रह्मचारी और नेमिनाथ भगवान ब्रह्मचारीदेवों से पूज्य — ऐसा कहकर यहाँ इन ब्रह्मचारीदेवों को भी याद किया है। अब कहते हैं —

‘दुष्ट पापों के समूह का जिन्होंने नाश किया है।’ देखो, भगवान ने द्रव्य-भाव घातिकर्मों का नाश किया है न ? तो कहते हैं — दुष्ट पापों के समूह का भगवान ने नाश किया है अर्थात् भगवान को अनंतचतुष्टय प्रगट हुए हैं-ऐसा कहना है। तथा —

नेमिनाथ वासुदेव श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। तो कहते हैं — ‘श्रीकृष्ण जिनके चरणों में नमैं हैं।’ अन्दर ‘वनमाली’ शब्द है न ? श्रीकृष्ण को वनमाली भी कहते हैं। (यहाँ कहना यह है कि भगवान महान पुरुषों द्वारा वंदित हैं।)

तथा ‘भव्यकमल के जो सूर्य हैं।’ ‘अंशुमाली’ यानी सूर्य। अहा! भगवान नेमिनाथ भव्यरूपी कमलों को विकसित करने में निमित्त हैं। अहाहा...! प्रत्येक आत्मा केवलज्ञानमय है; और उस केवलज्ञानरूपी आत्मकमल को खिलाने में-विकसित करने में भगवान नेमिनाथ सूर्य की तरह निमित्त हैं।

अहा...! ऐसे ‘वे आनन्दभूमि नेमिनाथ...’ नेमिनाथ भगवान आनन्द के स्थान हैं, आनन्द की भूमि है अर्थात् जिसमें मात्र अतीन्द्रिय आनंद पकता है पूर्ण और अनन्त..!

अहाहा....! ऐसा उनका क्षेत्र है तो ऐसे आनंद के स्थान भगवान नेमिनाथ 'हमको शाश्वतसुख प्रदान करें' — ऐसा यहाँ कहते हैं।

तो क्या भगवान सुख देते हैं ?

(नहीं भगवान कुछ नहीं देते;) परन्तु भाई! अन्य क्या कहें ? विनय-शक्ति के शब्द तो ऐसे ही होते हैं न ? अहा! अपना शाश्वतसुख पाने का उपादान तो स्वयं ही है; परन्तु यहाँ तो निमित्त बताना है न ? भगवान निमित्त हैं, अतः भक्ति में अन्य क्या कहें ? प्रभु! आपसे मुझे कुछ सुख नहीं होता — क्या ऐसा कहें ? (यह तो विनय की भाषा नहीं है।) तो यहाँ कहते हैं कि ऐसे नेमिनाथ भगवान 'हमको शाश्वतसुख प्रदान करें।' अंदर में शाश्वतसुख की भावना है तो बाहर में 'भगवान हमको सुख प्रदान करें' — ऐसा कहते हैं। आशय यह है कि आप हमारे शाश्वतसुख में निमित्त हो।

अहा! जब तीनलोक के नाथ भगवान श्री नेमिनाथ समवसरण में विराजमान थे, उस समय को याद करके यह बात है। देखो न, श्रीकृष्ण चरणों में नमे हैं — ऐसा कहा है न ? तथा ऐसा भी कहा है कि सौ इन्द्रों से पूज्य हैं। अहा! स्वयं मुनिराज जब यह लिखते हैं, तब तो भगवान मोक्ष पधार चुके हैं; परन्तु जब वे समवसरण में थे, उस प्रसंग को स्मरण करके कहते हैं कि ऐसे भगवान नेमिनाथ हमको शाश्वतसुख प्रदान करें। लो, इसप्रकार टीकाकार मुनिराज भगवान श्री नेमिनाथ की विनय करके उनको वंदन करते हैं। इसप्रकार भूतकाल को वर्तमान बना दिया है। इसतरह यह छठवीं गाथा पूर्ण हुई।

उसका जीवन भी प्रशंसनीय है....

संसार में भटकते-भटकते अनंतबार मनुष्यभव पाकर आत्मा को जाने बिना मरा; परन्तु आत्मा क्या वस्तु है, उसे नहीं जाना। कभी आत्मा का यथार्थ विचार भी नहीं किया, इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता-पकड़ छोड़कर जो आत्मा के स्वरूप में स्थिर हुए हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर ही लिया है, उनकी क्या बात! परन्तु जगत की चिन्ता-पकड़ छोड़कर जिसे आत्मा की चिन्ता-पकड़ हुई है कि अहो! अपने आत्मा को मैंने अनंतकाल से नहीं जान पाया, अनंतकाल में कभी उसका ध्यान नहीं किया, आत्मा को भूलकर बाह्य-पदार्थों की चिन्ता में ही भटकता रहा हूँ; इसलिए अब सत्समागम से आत्मा को पहिचान कर उसका ध्यान करूँगा - ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह, उसकी पकड़ करता है, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

नियमसार गाथा-७

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।

सो परमप्या उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्या ॥७॥

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः ।

स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥७॥

(हरिगीत)

सब दोष रहित अनन्तज्ञान-दृगादि परम विभवमयी ।

परमात्मा है वह किन्तु तद्विपरीत परमात्मा नहीं ॥७॥

गाथार्थ :— (ऐसे) निःशेष दोष से जो रहित है और केवलज्ञानादि परम वैभव से जो संयुक्त हैं, वह परमात्मा कहलाता है; उससे विपरीत वह परमात्मा नहीं है ।

टीका :— यह तीर्थकर परमदेव के स्वरूप का कथन है ।

आत्मा के गुणों का घात करनेवाले घातिकर्म ज्ञानावरणीकर्म, दर्शनावरणीकर्म, अन्तरायकर्म तथा मोहनीयकर्म हैं, उनका निरवशेषरूप से प्रध्वंस कर देने के कारण (कुछ भी शेष रखे बिना नाश कर देने से) जो 'निःशेषदोषरहित' हैं अथवा पूर्व सूत्र में (छठवीं गाथा में) कहे हुए अठारह महादोषों को निर्मूल कर दिया है; इसलिए जिन्हें "निःशेषदोषरहित" कहा गया है और जो "सकल -विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान-केवलदर्शन, परमवीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध" हैं — ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द^१-एकस्वरूप निज-कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा; वही भगवान अर्हत्परमेश्वर है । इन भगवान परमेश्वर के गुणों से विपरीत गुणोंवाले समस्त (देवाभास), भले देवत्व के अभिमान से दग्ध हों; तथापि संसारी हैं — ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है ।

१. नित्यानन्द-एकस्वरूप=नित्य आनन्द ही जिसका एक स्वरूप है ऐसा। (कारणपरमात्मा त्रिकाल निरावरणरहित है और नित्य आनन्द ही उसका एक स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा शक्ति-अपेक्षा से निरावरण एवं आनन्दमय ही है, इसलिए प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है, जो कारणपरमात्मा को भाता है-उसी का आश्रय करता है, वह व्यक्ति-अपेक्षा से निरावरण और आनन्दमय होता है अर्थात् कार्यपरमात्मा होता है। शक्ति में से व्यक्ति होती है, इसलिए शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है। ऐसा होने से शक्तिरूप परमात्मा को कारणपरमात्मा कहा जाता है और व्यक्त परमात्मा को कार्यपरमात्मा कहा जाता है।)

इसीप्रकार (भगवान) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने (प्रवचनसार^१ की गाथा में) कहा है कि —

“तेजो दिट्ठी णाणं इड्डी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥

तेज (भामण्डल), दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान (केवलज्ञान), ऋद्धि (समवसरणादि विभूति), सौख्य (अनन्त अतीन्द्रियसुख), (इन्द्रादिक भी दासरूप से वर्ते ऐसा) ऐश्वर्य और (तीनलोक के अधिपतियों के वल्लभ होनेरूप) त्रिभुवनप्रधान वल्लभपना — ऐसा जिनका महात्म्य है, वे अर्हन्त हैं।”

और इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (आत्मख्याति के २४वें श्लोक में-कलश में) कहा है कि —

(शार्दूलविक्रीडित)

“कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृत
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥

(वीरछन्द)

कान्ति मात्र से ही जो दशों दिशाओं को निर्मल करते ।
तेजस्वी रवि-तेज ढँके अरु निज छवि से जन-मन हरते ॥
दिव्यध्वनि से कानों में जो अमृत-सुख बरसाते हैं ।
वन्दनीय वे अष्ट-सहस्र लक्षणयुत सूरि जिनेश्वर हैं ॥

श्लोकार्थ :- जो कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं; जो तेज द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सूर्यादिक के तेज को ढँक देते हैं, जो रूप से जनों के मन हर लेते हैं, जो दिव्यध्वनि द्वारा (भव्यों के) कानों में मानों कि साक्षात् अमृत बरसाते हों — ऐसा सुख उत्पन्न करते हैं और जो एक हजार तथा आठ लक्षणों को धारण करते हैं; वे तीर्थकरसूरि वंद्य हैं।”

१. देखो, श्री परमश्रुतप्रभावकमंडल द्वारा प्रकाशित 'प्रवचनसार' पृष्ठ-८८

और (सातवीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा श्री नेमिनाथ की स्तुति करते हैं) —

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त-
भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम्।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

(वीरछन्द)

जैसे कमल पुष्प के भीतर अलिंगण सहज समाते हैं।
वैसे जिनके ज्ञान-कमल में लोकालोक समाते हैं ॥
उन नेमीश्वर तीर्थकर की सचमुच पूजा करता हूँ।
उच्च तरंगोंयुत भवदधि को निज भुजबल से तरता हूँ ॥१४॥

श्लोकार्थः— जिसप्रकार कमल के भीतर भ्रमर समा जाता है, उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में यह जगत तथा अजगत (लोक तथा अलोक) सदा स्पष्टरूप से समा जाते हैं, ज्ञात होते हैं, उन नेमिनाथ तीर्थकर भगवान को मैं सचमुच पूजता हूँ कि जिससे ऊँची तरंगोंवाले समुद्र को भी (दुस्तर संसार को भी) दो भुजाओं से पार कर लूँ ॥१४॥

गाथा ७ की टीका पर प्रवचन

“यह तीर्थकर परमदेव के स्वरूप का कथन है —

आत्मा के गुणों का घात करनेवाले घातिकर्म-ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीय कर्म, अन्तरायकर्म तथा मोहनीयकर्म हैं।”

प्रश्न :— एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता - आप तो ऐसा कहते हो न ?

उत्तर :— भाई! यहाँ गुण का अर्थ पर्याय है और आत्मा के गुण की दशा का-पर्याय का घात करनेवाले घातिकर्म हैं — ऐसा जो कहा है, यह निमित्त का कथन है। भाई! यह कथन किस नय का है, उसे जानकर यथार्थ अर्थ समझना चाहिए।

अहा! आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनंतगुण हैं; इसलिए उनके समान ही

उनकी वर्तमान प्रगटपर्याय-दशा होनी चाहिए; तथापि ऐसा न होकर, अपने अपराध से उसमें अशुद्ध परिणमन होता है और उसमें ये घातिकर्म निमित्त हैं; इसलिए इनको 'घात करनेवाले घातिकर्म' कहा जाता है। ज्ञान को आवरण में-घात करने में ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त हैं, दर्शन को आवरण में दर्शनावरण कर्म निमित्त है, वीर्य को आवरण में अन्तराय कर्म निमित्त है और श्रद्धा तथा चारित्र को आवरण में मोहनीयकर्म निमित्त है। अपनी अशुद्धदशा अपने से-अपने अपराध से है, उसमें घातिकर्म मात्र निमित्त हैं।

अब कहते हैं — 'उनका निरवशेषरूप से प्रध्वंस कर देने के कारण (कुछ भी शेष रखे बिना नाश कर देने से) जो 'निःशेष दोषरहित' है।.....'

भगवान सर्व दोषरहित हैं। गाथा में 'णस्मेसदोसरहिओ' शब्द है न ? आशय यह है कि भगवान के सर्व दोष नष्ट होकर, वे 'निःशेष दोषरहित' हैं। उन्होंने कुछ भी शेष रखे बिना चार घातिकर्मों का नाश किया होने से वे 'निःशेष दोषरहित' हैं। 'णमो अरिहंताणम्' कहते हैं न ? अरि माने कर्म-घातिकर्म, उनका भगवान ने नाश किया है-अभाव किया है; इसलिए वे अरिहंत हैं। अब कहते हैं —

“अथवा पूर्व सूत्र में (छठवीं गाथा में) कहे हुए अठारह महादोषों को निर्मूल कर दिया है; इसलिए जिन्हें 'निःशेष दोषरहित' कहा गया है।”

छठवीं गाथा में क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कहे थे न! उनको निर्मूल अर्थात् मूल में से उखाड़कर नष्ट किये होने से भगवान निःशेष दोषरहित हैं। यह जैन परमेश्वर कैसे होते हैं, उसकी बात है। तो कहते हैं —

“और जो सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान-केवलदर्शन, परम वीतरागात्मक आनंद इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध हैं.....”

देखो, यह वैभव! बाकी तुम्हारा बाग-बंगला इत्यादि तो धूल का वैभव है, तेरा वैभव किंचित् भी नहीं है। तूने तो कल्पना से माना है कि मेरे हैं; परन्तु वे तेरे कहाँ है ? तेरा तो ज्ञान और आनंद है। अहो! यहाँ कहते हैं — भगवान परमवीतरागी निर्दोष आनंद और अत्यन्त निर्मल केवलज्ञान-केवलदर्शन इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध हैं। अहा! भगवान को परमनिर्दोष आनंद प्रगट हुआ है।

प्रश्न : — हाँ, परन्तु अज्ञानी भी बाहर में आनंद मानते हैं न ?

उत्तर : — वे तो दुःख को आनंद मानते हैं। रागी जीव, जो दुःख है, उसको कल्पना से आनंद मानते हैं; वरना बाहर में आनंद कहाँ है ? आनंदमूर्ति तो निज सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा है और उसे पाकर भगवान परमवीतरागी निर्दोष अतीन्द्रिय आनंद को प्राप्त हुए हैं। श्रीमद् में आता है न —

‘निर्दोष सुख निर्दोष आनंद लो जहाँ भी प्राप्त हो.....।’

यहाँ कहते हैं — भगवान केवली तीर्थकरदेव पूर्णज्ञान, दर्शन और निर्दोष आनंद इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध हैं। यह दुनिया में नहीं कहते कि हाम, दाम और ठाम सब हैं — ऐसी तीन बातें लौकिक में कही जाती हैं। हाम माने हिम्मतवाला, दाम माने बहुत पैसा-लक्ष्मीवाला और ठाम अर्थात् सरस आनंदमय बँगला-जमीनवाला; परन्तु बापू! यह सब तो धूल की धूल है। यह कहाँ आत्मा है ? यहाँ भगवान को तो हाम, दाम, ठाम सब आत्मा में बसता है। हाम अर्थात् अनंतवीर्य-पुरुषार्थ, दाम अर्थात् अनंत ज्ञान, दर्शन, आनंद की लक्ष्मी और ठाम अर्थात् असंख्यप्रदेशी निजक्षेत्र। ऐसे अलौकिक वैभव से भगवान समृद्ध हैं। अहो! बाहर में समवसरणादिक लक्ष्मी और अंतर में ज्ञान, दर्शन व परमानंद आदि लक्ष्मी — ऐसे अलौकिक वैभव से भगवान समृद्ध हैं।

अब ऐसे परमात्मा कैसे हुए उसकी व्याख्या करते हैं। अहाहा...! वे आत्मा से परमात्मा कैसे हुए वह कहते हैं। वे पहले (अनादि से) बहिरात्मा थे; फिर अन्तरात्मा होकर परमात्मा हुए। तो वैसे परमात्मा किसप्रकार हुए — यह बताकर यह निर्देश करते हैं कि अन्य जीवों को कैसे परमात्मा होना। अहो! टीकाकार की व्याख्या क्या गजब की है! कहते हैं —

‘ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानंद-एकस्वरूप निज-कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा, वही भगवान अर्हत्परमेश्वर है।’

क्या कहते हैं ? (स्पष्टीकरण के लिए गाथा के नीचे का फुटनोट देखें) नित्यानंद-एकस्वरूप=नित्य आनंद ही जिसका एकस्वरूप है ऐसा। अहा! भगवान आत्मा का नित्यानंद ही एकस्वरूप है। ये पर्याय में जो दुःख और रागादि हैं, वे कहीं त्रिकाली आत्मा की चीज (स्वरूप) नहीं है। अहा! आत्मा, जिसको कि यहाँ कारणपरमात्मा कहा गया है और जिसमें से कार्यपरमात्मा प्रगट होता है, वह त्रिकाल नित्यानंदस्वभावी ही है।

कहते हैं — भगवान! तू नित्यानंदस्वभावी है। अहा! समस्त आत्माएँ ऐसे ही हैं। यह वर्तमान पर्याय में पुण्य-पाप विकार और दुःख है, वह तो कृत्रिम है, निजस्वरूप नहीं है; इसलिए अब वहाँ से गुलांट खा तो आत्मा नित्यानंदस्वरूप ही ज्ञात होगा। अहा! आनंद की उल्टी दशा-विकृत अवस्था वर्तमान में है, वह यह सूचित करती है कि आत्मा में इससे उल्टी आनंदशक्ति है।

अहाहा.....! नित्यानंद-एक स्वरूप अर्थात् आनंद ही जिसका एक स्वरूप है — ऐसा भगवान आत्मा है। किसको ? कि प्रत्येक भगवान आत्मा को। अहा! प्रत्येक आत्मा का अंदर त्रिकालीभाव (स्वभाव) ऐसा है; परन्तु माप का बाँट ही खोटा है तो सच्चा माप किसतरह आवे ? अहा! 'मैं ऐसा हूँ' — यह किस माप से मापना (जानना) — ऐसा अज्ञानी को लगता है। तो कहते हैं कि भाई! तू अनुमान कर तो तुझे पता चलेगा कि आत्मा त्रिकाल निरावरण, नित्यानंदमय ही है। अहा! जिनने परमात्मापद प्रगट किया है, उनको वह कहाँ से आया ? क्या अन्दर से आया है? नहीं; जो त्रिकाली नित्यानंदस्वरूप है, उसमें से आया है अथवा वर्तमान में दुःख, अरुचिकर लगता है; वह विकृतदशा किसकी है ? अहा! वह त्रिकाल आनंदस्वरूप की विकृतदशा है-उल्टी दशा है; इसलिए, पुण्य-पाप के विकृतभाव से भिन्न अंदर प्रभु आत्मा अकेला आनंद का सागर है, अकेला आनंद-अमृत का मावा (पाक) है — ऐसा कहते हैं।

कितने ही कहते हैं न कि 'वन में अकेला झाड़ मत हो' (अर्थात् कोई कुटुम्ब-परिवार बिना मत होओ)। परन्तु भाई! यहाँ मुनिराज कहते हैं कि तू तीनों काल अकेला ही है। भगवान! तू परद्रव्य से रहित अकेला ही है। अवस्था में जो राग है, उसको दृष्टि में से निकाल दे तो अकेला आनंद ही तू है। गजब बात है!

अरे! तू अधिक से अधिक तो क्या करता है ? पर से अपने को एकरूप मानता है; परन्तु क्या इससे वह पर तेरा हो जाता है ? नहीं। तथा तू राग को अपने से एकरूप मानता है, परन्तु वह भी तुझरूप नहीं होता। अतः इसप्रकार की मिथ्यामान्यता में ही मैं राग हूँ, मैं देह हूँ — ऐसा तुझे लगता है अर्थात् तू एक मिटकर (मान्यता में) दो हुआ है। अहा! त्रिकाल आनंदमूर्ति एक नित्यानंदस्वरूप भगवान आत्मा देह और पुण्य-पाप के विकल्प के एकत्व में एक मिटकर दो होकर बिगड़ता है। बिगड़े दो; समझ में आया ? परन्तु अहा.....! यह बात इसको जँचती कहाँ है ? सबेरे दो सिगरेट पिए

और दो कप चाय पिए, तब तो भाईसाहब को कुछ स्फूर्ति आती है — ऐसे जहाँ इसके अपलक्षण हैं, वहाँ मैं एकरूप आनंदमूर्ति भगवान आत्मा हूँ — ऐसा मानना, इसको महान् कठिन लगता है अहा...! भाई! इसमें तो अनंत पुरुषार्थ चाहिए।

यह छोटी पीपल होती है न, सो कद में छोटी और रंग में काली होती है। उस छोटी पीपल में अंदर शक्तिरूप से चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है। उसको घिसने से उसमें से चौंसठ पहरी चरपराहट प्रगट होती है; तो वह कहाँ से प्रगट होती है ? क्या बाहर से प्रगट होती है ? नहीं। क्या पत्थर में से प्रगट होती है ? यदि पत्थर में से प्रगट होती हो तो कोयले को घिसो न ? अहा! वह तो पूर्ण चौंसठ पहरी-रूपया-रूपया चरपराहट सत्त्वरूप से छोटी पीपल में भरी है और अन्दर में हरा रंग भी पूर्ण भरा है, वह स्वयं के कारण से और घिसने के निमित्त से प्रगट होता है। अहा! जैसे छोटी पीपल स्वभाव से ही चौंसठ पहरी चरपराहट की सामर्थ्य रखती है; इसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वभाव से निजसत्त्व की सामर्थ्यरूप से परमात्मा ही है। अहा! चींटी का आत्मा हो या पक्षी का, नित्यानंद एकरूप जिसका स्वभाव है — ऐसा प्रत्येक आत्मा भगवानस्वरूप-परमात्मस्वरूप ही है।

यह आलू होता है न! इसके एक टुकड़े में असंख्यात औदारिक शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनंत निगोदिया जीव हैं। अहा! यहाँ तो कहते हैं कि वह प्रत्येक जीव शक्ति से पूर्णानंद-नित्यानंदप्रभु परमात्मा है। आत्मा शक्तिरूप से स्वभाव से ही परमात्मा है इसलिए उसको 'कारणपरमात्मा' कहते हैं। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा आनंद की कार्यदशा के कारणरूप परमात्मा ही है।

प्रश्न : — कारणपरमात्मा हो तो कार्य आना चाहिए न ?

उत्तर : — हाँ; कौन इन्कार करता है ? सुन तो बापू! परन्तु तू उसको कारण बनावे, तब कार्य आयेगा न ? कारण तो है ही; परन्तु उसको दृष्टि में लेकर कारण बनाये, तब कार्य होता है न! अहाहा....! मेरी कारणशक्ति पूर्ण है, मैं पूर्ण कारणपरमात्मा हूँ — इसप्रकार अन्तर्मुख होकर स्वानुभव प्रतीति करे, तब पर्याय में आनंद का कार्य आता ही है; परन्तु जहाँ उसकी सत्ता का स्वीकार ही नहीं है, वहाँ उसको कारण माना ही कहाँ है ? और तब तो कार्य भी कहाँ से आयेगा ?

अहाहा....! कहते हैं — ‘प्रत्येक आत्मा शक्ति अपेक्षा से निरावरण और आनंदमय ही है; इसलिए प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है; जो कारणपरमात्मा को भाता है— उसका ही आश्रय करता है, वह व्यक्ति-अपेक्षा से निरावरण और आनंदमय होता है अर्थात् कार्यपरमात्मा होता है।’

अहाहा..! जो कारणपरमात्मा को भाता है अर्थात् मैं निरावरण नित्यानंदस्वरूप हूँ — ऐसा स्वीकार कर अंदर एकाग्र होकर लीन होता है, वह कार्यपरमात्मा होता है अर्थात् यहाँ जिसको देव कहा है, ऐसा देव होता है। देखो, यहाँ जिसको अकेला होना हो उसको एक का आश्रय करने की बात है।

‘भूदत्थमस्सिदो खलु.....’ ऐसा समयसार की ११वीं गाथा में आया है न! आशय यह है कि आत्मा भूतार्थ त्रिकाल निरावरण नित्यानंदस्वरूप है, उसका अंदर में आश्रय लेता है, वह व्यक्ति अपेक्षा से निरावरण और आनंदमय होता है। जैसे छोटी पीपल में चौंसठ पहरी चरपराहट अंदर भरी है, वह प्रगट होती है; इसीप्रकार जो आत्मा क्षेत्र से शरीरप्रमाण दिखता है, वह पूर्णज्ञान और आनंद से भरपूर तत्त्व है और वह अन्दर में पूर्ण एकाग्र होकर लीन होने पर प्रगट होता है। यह कार्यपरमात्मा होने की विधि है। अरे! मूढ़ जीव पीपल को तो मानता है; परन्तु आत्मा को नहीं मानता।

अहाहा....! मेरे में मेरा परिपूर्ण आनंद है, मेरे आनंद के लिए मुझे किसी अन्य की आवश्यकता-अपेक्षा नहीं है; अरे! शुभ विकल्प की भी आवश्यकता नहीं है। बस! वह तो स्वरूप से ही त्रिकाली आनंद है, उसको स्वीकार होते ही आनंद आता है। सूक्ष्म बात है प्रभु! कहते हैं — अंदर कारणपरमात्मा शक्तिरूप से आनंदमय है, उसकी अंतर-एकाग्रता करने पर; उसका आश्रय करने पर, उसकी भावना करने पर, उसमें लीन होने पर वह व्यक्तिरूप से आनंदमय कार्यपरमात्मारूप से प्रगट होता है — यही उपाय है। बीच में-साधकदशा में दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के विकल्प आते हैं; परन्तु वह उपाय नहीं है, वह तो अन्य वस्तु है।

अहाहा....! भगवान आत्मा अनंत-अनंतगुण-शक्ति का पिण्ड है। जैसे घर में आने वाले महमानों को नई-नई चीजें जिमायी (खिलाई) जाती हैं; इसीप्रकार निज आत्मा के घर जाने पर उसको नई-नई बानगी मिलती हैं। अहाहा...! अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत-आनंद, अनंतस्वच्छता, अनंतप्रभुता इत्यादि शक्ति की व्यक्तिरूप नित नई बानगी

उसको मिलती है। अहा....! शक्ति में जैसा परमात्मपद है, वैसा व्यक्त में आता है। परन्तु कब ? उसका स्वीकार करके अंदर घर में एकाग्र होकर रहे तब; इसलिए भगवान! निज आत्मा में, घर में जा तो तुझको केवलज्ञान और अनंत-आनंद प्राप्त होगा।

परन्तु इसको 'मैं इतना महान हूँ' यह विश्वास नहीं आता। दूसरा कोई महान है — ऐसा विश्वास आता है; परन्तु अपना विश्वास नहीं आता; इसलिए तो लोगों ने अपना सबकुछ ईश्वर को सौंप दिया है कि ईश्वर सबसे महान है-बड़ा है और वही कर्ता-हर्ता है। यहाँ कहते हैं — प्रभु! तू स्वयं ही ईश्वर है, सुन तो सही! वह ईश्वर तो उसका ईश्वर है; वह तेरे ईश्वर कैसे हुए ? अरे! अज्ञानी जीवों की ऐसी मान्यता है कि ईश्वर सब करता है-अपने को मोक्ष भी देता है और अपने को संसार में भी भटकाता है; परन्तु भाई! यदि ऐसा ही होता हो तो तेरा अस्तित्व ही कहाँ गया ? और तेरे हाथ में क्या रहा ?

अहाहा...! तू स्वयं ही ईश्वर पूर्णानंदप्रभु परमेश्वर है। 'तू अपने को परमेश्वर के रूप में स्थाप' — ऐसा आता है न! पण्डित दीपचन्दजी ने कहा है कि तू अपने को पहले से ही परमेश्वर के रूप में स्थाप; क्योंकि भगवान आत्मा में ऐसी परमेश्वर की पूर्णशक्ति है। इसलिए मैं स्वयं प्रभु हूँ, मेरे सिर पर अन्य कोई प्रभु नहीं है और मैं अन्य का प्रभु नहीं हूँ। अहा! जहाँ सभी प्रभु हैं, वहाँ कौन किसका प्रभु होगा ?

यहाँ कहते हैं — भगवान आत्मा शक्तिरूप से, सामर्थ्यरूप से; सत् का जो सत्त्व है, उस रूप से स्वभाव से कारणपरमात्मा ही है। अतः जो उसको भाता है अर्थात् जो उसका आश्रय करता है-व्यवहार का अथवा विकल्प का आश्रय नहीं; किन्तु एक कारणपरमात्मा का ही जो आश्रय करता है; वह व्यक्ति-अपेक्षा से निरावरण और आनंदमय होता है। देखो, यह करने को कहा; क्योंकि —

“शक्ति में से व्यक्ति होती है, इसलिए शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है — ऐसा होने से शक्तिरूप परमात्मा को कारणपरमात्मा कहा जाता है और व्यक्त परमात्मा को कार्यपरमात्मा कहा जाता है।”

अहाहा....! कारणपरमात्मा शक्तिरूप से है, उसका श्रद्धान, ज्ञान और उसमें एकाग्रता-लीनता होवे तो पर्याय में केवलज्ञान हो जाता है और वह कार्यपरमात्मा रूप से प्रगट होता है; इसलिए कहते हैं कि शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है। त्रिकालीध्रुव

द्रव्यस्वभाव कारण है और वर्तमान प्रगटपर्याय कार्य है; इसलिए शक्तिरूप परमात्मा को कारणपरमात्मा कहते हैं और व्यक्तिरूप परमात्मा को कारणपरमात्मा कहते हैं। अहा...! मैं ऐसा कारणपरमात्मा हूँ — ऐसा जिस ज्ञान-श्रद्धान में स्वीकार होता है, उसकी कीमत कितनी! बहुत सरस बात है!

अब कहते हैं — ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानंद-एकस्वरूप निज-कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा....' अहाहा....! भगवान आत्मा तीनों काल आवरणरहित है। क्या वस्तु को आवरण होता है ? यदि वस्तु को आवरण होगा तो वह वस्तु अवस्तु हो जायेगी, वस्तु ही नहीं रहेगी। अहाहा...! जैसे वस्तु निरावरण नित्य है, वैसे ही उसका आनंदस्वभाव नित्य-एकरूप है। अहा...ऐसे निज कारणपरमात्मा की भावना से...लो! यह मोक्ष का मार्ग! यह नियमसार है न! अतः मोक्षमार्ग की व्याख्या की है। भगवान त्रिकाली नित्यानंदमय कारणपरमात्मा की भावना अर्थात् श्रद्धान-ज्ञान और रमणता सो मोक्षमार्ग है; और उससे कार्यपरमात्मा उत्पन्न होता है।

अब यह सब मेरे से होता है — ऐसा इसको जँचता नहीं है। कुछ न कुछ तो बाहर का सहारा चाहिए, कुछ मंदराग की अथवा देव-गुरु-शास्त्र की मदद चाहिए — ऐसी शल्य इसके मन में रहा करती है; क्योंकि अपने को पंगु माना है न! परन्तु भाई! तुझको तेरी मदद है न, तू कहाँ मददरहित है ? तू तो सब बातों से पूरा-भरपूर है न प्रभु! तो फिर तुझे अपने लिए अन्य की आवश्यकता कहाँ है ?

अहाहा.....! कहते हैं — 'निज-कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा, वही अर्हत्परमेश्वर है।' लो, इनको अर्हत्परमेश्वर कहते हैं। अरे! अज्ञानी तो 'णमो अरिहंताणम्' — ऐसा रट लेता है; परन्तु उसे कुछ भी भान नहीं है कि अर्हत् किसको कहना ? अहाहा...! जिनने राग-द्वेष-मोह और अज्ञान को जीतकर पूर्णज्ञान और आनंद की दशा प्रगट की है — ऐसे कार्यपरमात्मा, वह अर्हत्परमेश्वर हैं। भाई! यह कोई पक्ष की बात नहीं, यह तो वस्तु की स्थिति है।

अहाहा....! वस्तु नित्यानंदमय त्रिकालध्रुव कारणपरमात्मभावरूप से है, उसकी भावना करने पर, उसमें एकाग्र-लीन होने पर शक्ति में से कार्यपरमात्मा की व्यक्ति होती

है और वह अर्हत्परमेश्वर है। इसप्रकार कारणपरमात्मा को सिद्ध किया, उसकी भावना-एकाग्रता बताकर मोक्षमार्ग सिद्ध किया और उसके फलरूप में कार्यपरमात्मा होता है — ऐसा कहकर देव को सिद्ध किया। अहा....! इसमें सब सार....सार सब आ गया है। परन्तु भाई! यह कोई 'बातों से बड़ा' हो (बने) ऐसा नहीं है अर्थात् जैसे बड़ा बनने में आटा, तेल अग्नि इत्यादि चाहिए, चाहिए या नहीं ? इसीतरह इसमें भी कितना दृष्टि का जोर चाहिए ? कितना अन्तःपुरुषार्थ चाहिए ? दिशा का कितना परिवर्तन चाहिए ?

अब कहते हैं — “इन भगवान परमेश्वर के गुणों से विपरीत गुणोंवाले समस्त (देवाभास), भले देवत्व के अभिमान से दग्ध हों तथापि, संसारी हैं — ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है।”

अहा...! जो यहाँ कहे गये हैं उनसे विपरीत गुणवाले सभी देवाभास अर्थात् देव होने का दिखावा करनेवाले हैं अर्थात् वे देव नहीं; किन्तु देव के आभासमात्र हैं। इम ईश्वर हैं और जगत् के कर्ता-हर्ता हैं — ऐसा कहनेवाले सभी देवाभास हैं, देवपने के अभिमानी हैं; क्योंकि उनको वस्तु अथवा वस्तुस्वभाव का पता ही नहीं है। वे भले ही देवपने के अभिमान से दग्ध-जल रहे हों तो भी वे संसारी हैं — ऐसा इस गाथा का अर्थ है।

अब भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का आधार देते हुए कहते हैं कि —

‘तेज (भामंडल).....’ अहा! भगवान के शरीर में भामंडल होता है। अहा! जहाँ अंदर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट हुआ, वहाँ उनके शरीर का तेज ऐसा होता है कि सम्पूर्ण शरीर के आसपास तेज का आभामंडल दिखता है। भगवान का भा=तेज, मंडल-चक्र भामंडल अर्थात् प्रकाश का मंडल रचित होता है। अहा! ऐसी पुण्यप्रकृति होती है।

अब ‘दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान (केवलज्ञान).....’ अहो! एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को देखे और जाने ऐसी शक्ति की पूर्णव्यक्तता भगवान को प्रगट हो गई होती है।

‘ऋद्धि (समवसरणादि विभूति).....’ अहा! इन्द्र आकर विशाल समवसरण की सभा रचते हैं। (भगवान को बाहर में भी अद्भुत-अलौकिक विभूति होती है।)

प्रश्न : — तो क्या भगवान को समवसरण की विभूति है ?

उत्तर : — अरे भाई! तू भगवान को पहिचानता ही नहीं। वह विभूति कहाँ भगवान की है ? वह तो पुण्योदय से प्रगट बाहर की वस्तु है। भगवान स्वयं तो केवलज्ञान और पूर्ण-आनंद में हैं, निजानंदरसलीन हैं। उनको इस बाह्यविभूति से क्या सम्बन्ध है ?

प्रश्न : — परन्तु पहले कुछ नहीं था और अब इतनी बड़ी सभा है तथा इन्द्र चँवर ढोलते हैं — यह सब है न ?

उत्तर : — बापू! तुझे पता नहीं है। वीतरागीबिम्ब भगवान तो निजानंद में ही लीन हैं। वह तो भक्तों को ऐसा भाव आता है और उनके ऐसा पूर्व का पुण्य है, उसके कारण इन सब सामग्रियों की रचना होती है; तो भी इन चीजों से भगवान के केवलज्ञान और वीतरागता को कोई आँच-बाधा नहीं है। अहा! क्या हो ? जिसको माप करना नहीं आता, उसके गज-मापक यंत्र ही सब खोटे होते हैं।

अब कहते हैं — ‘सौख्य (अनंत अतीन्द्रियसुख).....’ अहो! भगवान को अनंत अतीन्द्रिय आनंद होता है। कैसा ? कि समकिति को जिसके एक अंश का मीना चढ़ने पर, उसको इन्द्र का इन्द्रासन भी जहरवत् भासित होता है। चक्रवर्ती को छियानवें हजार रानियाँ होती हैं; परन्तु समकित होने से छहखण्ड के राज्यसहित वह सम्पूर्ण वैभव उसको काले नाग के समान लगता है, जहर जैसा ज्ञात होता है।

अहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, जिसको उसका भान होकर आंशिक आस्वाद आया-उसके सुख की भी जहाँ अन्य के साथ तुलना नहीं हो सकती; तो ये तो पूर्णपरमात्मा! अहाहा....! इनके अनंत और पूर्णसुख की तो क्या बात ?

तथा ‘(इन्द्रादिक भी दासरूप से वर्ते ऐसा) ऐश्वर्य,’ अहो! देखो, ईश्वरता! अर्द्धलोक का स्वामी शक्रेन्द्र और ईशानिंद्र भी (भक्तियुक्त होकर) दास की तरह वर्तते हैं — ऐसी भगवान की ईश्वरता है।

“और (तीनलोक के अधिपतियों के वल्लभ होनेरूप) त्रिभुवनप्रधान वल्लभपना” अहो! जो तीनलोक के अधिपति-महान पुरुष हैं, उन इन्द्रों, देवों, मनुष्यों के भी भगवान वल्लभ हैं, प्रिय हैं, इष्ट हैं। भगवान इष्टदेव कहलाते हैं न! तो ऐसे परमेश्वर इष्टदेव हैं। अहा...!

कहते हैं — 'ऐसा जिनका माहात्म्य है, वे अर्हंत हैं।'

लो, जिनको ऐसी अन्तर और बाह्य में ऋद्धि होती है, वे परमेश्वर अरहंत हैं। अहाहा...! जो पवित्रता में पूरे और पुण्य में भी पूरे हैं - ऐसे भगवान अरहंतपरमेश्वर हैं और समकिति ऐसे परमेश्वर को देव के रूप में मानता है। इनके सिवाय कोई देव नहीं हो सकता।

अब जो ऐसा मानते हैं कि भगवान को भूख-प्यास लगती है और उनको राग होता है, वे आहार लेते हैं, उसको तो भगवान अरहंत के स्वरूप का पता ही नहीं है; वे तो अज्ञानी ही हैं। अब जो भगवान के दास है, उन इन्द्रों को भी जब रोग नहीं होता, तो क्या अरहंत को रोग होगा ? यह तो अत्यन्त विपरीत बात है। अहा! अज्ञानी की बात का मेल कहाँ है ?

अहा! आत्मा वस्तु है या नहीं है ? है न; अस्ति है न! सत्ता है न! अहा! जैसे यह शरीर अस्तिरूप मिट्टी-जड़-धूल है, वैसे आत्मा अस्तिरूप त्रिकाल चैतन्यवस्तु है। अहा..! आत्मा अस्तिरूप सत् है तो उसका सत्त्व क्या है ? उसका भाव क्या है ? उसकी शक्ति क्या है ? तो कहते हैं — ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनंद इत्यादि उसका भाव और शक्ति त्रिकाल है। अहा! ऐसी अनंतशक्तियों का भण्डार ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु आत्मा है। जिसने उसका आश्रय लिया है, वह निश्चयसम्यग्दृष्टि है और उसको भगवान अरहंतदेव कैसे होते हैं, उनकी यथार्थ श्रद्धा होती है। अहो! स्वयं को (सम्यग्दृष्टि को) पूर्णज्ञान और आनंद प्रगट नहीं हुए हैं; परन्तु जिनको आत्मा के ज्ञान-आनंदादि पूर्ण प्राप्त हुए हैं; वे अरहंतपरमेश्वर कैसे होते हैं, इसका उसको यथार्थ श्रद्धान होता है।

प्रश्न : — परन्तु ऐसी बात तो पहले बहुत सुनी है ?

उत्तर : — नहीं, इसने पूर्व में कभी सुनी ही नहीं। अहा! सुनी है — ऐसा कब कहा जाए ? कि जब अंदर सच्चिदानंदप्रभु आत्मा की अन्तर्मुखदृष्टि होकर परिणमन हो।

अहा...! यह शरीर, मन, वाणी तो जड़-मिट्टी-धूल है; और जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे विपरीतभाव हैं। ये खाने-कमाने इत्यादि के आरंभरूप भाव होते हैं, वह पापभाव हैं और जो दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भाव हैं, वह पुण्यभाव हैं; परन्तु ये दोनों विपरीत और विकारीभाव हैं। ये कोई आत्मा के त्रिकालीभाव नहीं हैं। अहा!

आत्मा का त्रिकालीभाव तो अनंतज्ञान-दर्शनादि हैं। 'अनंत' क्यों कहा? क्योंकि वह स्वभाव है और जो स्वभाव होता है; उसकी हद-मर्यादा क्या? जिसका जो स्वभाव होता है, उसकी हद-मर्यादा नहीं होती। अतः ऐसा अनंत-बेहद-ज्ञान, बेहद-अपरिमित आनंद, बेहद-अपरिमित शान्ति — यह भगवान आत्मा का स्वभाव है। अहा! जिसको अंतर में ऐसे निजस्वरूप को स्वीकार करके अन्तर्मुखदृष्टि प्रगटी है, वह सम्यग्दृष्टि है। अहा! यह सम्यग्दृष्टि, बाहर में कैसे पुरुष को अपना देव स्वीकार करता है, उन पूर्णता को प्राप्त अरहंतपरमात्मा की यहाँ व्याख्या की है। अब (अमृतचन्द्राचार्य के कलश का) आधार देकर उनके बाहर के वैभव को विशेष कहते हैं —

देखो, भगवान को केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत-आनंद इत्यादि, जो गुण-पर्यायें प्रगट हुए हैं; उनका वर्णन तो इससे पूर्व की आधारवाली गाथा में आ गया है। अब इस कलश में कहते हैं कि उनका शरीर, उनकी वाणी कैसे होते हैं। अहा! यह चैतन्यहीरा जिसमें रखा जाए, वह डिब्बी (शरीर) कैसा होता है — यह अब कहते हैं। जैसे हीरे को थैली में नहीं रखा जाता; इसीतरह अंदर पूर्णता को प्राप्त परमात्मा का-अनंतज्ञान-दर्शन-आनंद को प्राप्त परमात्मा का शरीर (रूप) भी कैसा अलौकिक होता है, वह यहाँ कहते हैं। अहा! जिनको पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, उन अरहंतदेव का पुण्य भी बढ़ गया होता है, वह अब कहेंगे।

कहते हैं —

“जो कांति से दशों-दिशाओं को धोते हैं-निर्मल करते हैं.....”

अहा.....! भगवान अरहंत के आत्मा में-पर्याय में तो तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान वर्तता है; क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही सर्वज्ञ है और वह उनको पूर्ण प्रगट है; परन्तु यहाँ कहते हैं — उनके देह की कांति कोई अद्भुत अलौकिक होती है कि वह दशों-दिशाओं को धोती है-निर्मल करती है अर्थात् दशों-दिशाओं को प्रकाशित करती है। तथा —

“जो तेज द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सूर्योदय के तेज को ढँक देते हैं.....।”

अहाहा.....! भगवान के शरीर तेज के समक्ष सूर्य-चन्द्र का तेज भी ढँक जाता है। अहाहा...! अरहंत के शरीर की कांति-तेज ही कोई अलग जाति का होता है भाई! अहा! जिनको अंतर में चैतन्य का पूर्ण प्रकाश हो गया है, उन परमेश्वर को बाह्य में सूर्य-चन्द्र को ढँक दे; वैसा शरीर का तेज होता है। तथा —

“जो रूप से जनों के मन हर लेते हैं.....”

अहा! परमात्मा के शरीर की कोमलता और सुन्दरता ऐसी होती है कि वह जनों का मन हर लेती है; क्योंकि भगवान के शरीर के रूप के समान रूप-सौंदर्य लोक में किसी का भी नहीं होता।

प्रश्न :— परन्तु शरीर तो आत्मा का नहीं है न ?

उत्तर :— हाँ, शरीर आत्मा का नहीं है; क्योंकि वह तो जड़, जड़ का ही है। तथापि ‘परमात्मा का शरीर’ ऐसा उपचारमात्र से कहा गया है; क्योंकि वह आत्मा के साथ रहा हुआ है न! अहा! परमात्मा के ऐसे सुन्दर शरीर का रूप जनों के मन को हर लेता है — इसप्रकार यह तो शरीर का वर्णन किया। अब भगवान की वाणी कैसी होती है — यह कहते हैं।

“जो दिव्यध्वनि द्वारा (भव्यों के) कानों में मानों कि साक्षात् अमृत बरसाते हों — ऐसा सुख उत्पन्न करते हैं.....।”

अहा! भगवान की दिव्यध्वनि की कोई अलौकिक गर्जना होती है। जिनको आनंदस्वरूप आत्मा की पूर्ण उपलब्धि हुई है, उनकी वाणी की-दिव्यध्वनि की गर्जना भी कोई अलग ही होती है। ऐसी अपने जैसी भाषा उनके नहीं होती; अपितु सर्वांग से ॐ ध्वनि उत्पन्न होती है। कैसी है वह दिव्यध्वनि ? भव्यजनों के कानों में मानों साक्षात् अमृत बरसाती हो! अहाहा! मानों भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा कानों में साक्षात् अमृत उड़ेलते हों — ऐसा सुख उत्पन्न करते हैं। अहाहा....! वह वाणी आत्मा का अमृतमय-आनंदमय स्वभाव प्राप्त होने में निमित्त है न! इसलिए दिव्यध्वनि साक्षात् अमृत बरसाती है — ऐसा कहते हैं।

देखो, वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में अभी सीमंधर भगवान मनुष्यरूप से (सशरीर) साक्षात् विराजमान हैं। उनकी आयु कोटिपूर्व की है और पाँच सौ धनुष की ऊँचाई, दो हजार हाथ ऊँचा शरीर है। उन भगवान की वाणी की-दिव्यध्वनि की गर्जना सर्वांग से उठती है। वह ॐ ध्वनि जगत के भव्यप्राणियों को साक्षात् अमृत बरसता हो — ऐसा सुख देती है। अहा! उस दिव्यध्वनि में क्या आता है ? कि भगवान! तू आनंदस्वरूप-नित्यानंदस्वरूप आनंद का नाथ है। अहा! प्रभु! तू शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप है; ईश्वर-

परमेश्वर है। तेरे में तेरी परिपूर्ण ईश्वरता विद्यमान है, तू पूर्ण ज्ञानानंदस्वभावी है। (अन्तर में एकाग्र होकर उस निजस्वरूप की उपलब्धि कर!) ऐसी दिव्यध्वनि की गर्जना भगवान की वाणी में आती है और इसलिए मानों भगवान अमृत बरसाते हों — ऐसा सुख उत्पन्न होता है।

“और जो एक हजार तथा आठ लक्षणों को धारण करते हैं, वे तीर्थकरसूरि वंद्य हैं।”

तीर्थकर के शरीर में एक हजार आठ लक्षण होते हैं — ऐसा कहते हैं और ऐसे तीर्थकरसूरि वंद्य हैं अर्थात् अरहंतपरमेश्वर के रूप में वंदन करनेयोग्य है।

कलश-१४ पर प्रवचन

अब टीकाकार स्वयं श्लोक कहते हैं, जिसमें तीर्थकर की स्तुति करते हैं —

‘जिसप्रकार कमल के भीतर भ्रमर समा जाता है.....’ अहा! क्या कहा ? कमल मोटा होता है और भ्रमर तो छोटा होता है; इसलिए वह कमल में समा जाता है। क्या कहना है यह ध्यान रखना; ‘उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में.....’ अहाहा! भगवान शक्ति से तो सर्वज्ञस्वरूप थे ही; परन्तु उसमें से उनने अंतर के (स्वभाव के) ध्यान द्वारा सर्वज्ञता प्रगट की है। अहा....! शक्ति में से व्यक्ति प्रगट की है। ‘है’ उसमें से ज्ञान-केवलज्ञान प्रगट किया है, अतः ऐसा जो पूर्ण विकसित ज्ञान है, उस ज्ञानकमल में....! सभी आत्माएँ स्वभाव से ऐसे ही हैं; परन्तु यह बात इसको कैसे जँचे ? जरा कहीं अपमान हो जाए वहाँ (भभक उठता है), नींद नहीं आती; अब ऐसे जीव को आत्मा कैसे जँचे ?

यहाँ कहते हैं — ‘जैसे कमल के भीतर भ्रमर समा जाता है, उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में यह जगत तथा अजगत (लोक तथा अलोक) सदा स्पष्टरूप से समा जाते हैं, ज्ञात होते हैं.....’

अहाहा....! जहाँ शक्ति पूर्ण प्रगट हो गई, वहाँ पूर्ण खिला हुआ ज्ञान किसको नहीं जानेगा ? भाई! अग्नि किसको नहीं जलायेगी ? इसीतरह जो ज्ञान पूर्ण प्रगट हुआ है, वह किसको नहीं जानेगा ? (सबको जानता है।) अहाहा....! तीनकाल-तीनलोक को सहजरूप से-अपनी परिणति को जानते हुए-जानता है और वह भी ‘सदा स्पष्टरूप से

समा जाते हैं-ज्ञात होते हैं' — ऐसा कहते हैं। देखो, इस ज्ञान में सारा लोकालोक स्पष्ट समा जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; जानने में आ जाता है — ऐसा कहते हैं। अहा! जिनको पर्याय की ऐसी पूर्ण प्रगटता हुई है, उनको अरहंतपरमात्मा कहते हैं।

अरे! अज्ञानी तो 'णमो अरहंताणम्, णमो अरहंताणम्' ऐसा बोल जाता है और रट लेता है; परन्तु णमो अरहंताणम् क्या है ? इसका उसको पता नहीं है। अरे भाई! णमो अरहंताणम् यह तो भाषा हुई, यह तो वाचक शब्द हैं; परन्तु इनका वाच्य क्या है ? इनका भाव क्या है ? यह किस चीज को बताते हैं ? अहा! भगवान को एकसमय में ज्ञान की ऐसी कला खिल गई है कि उसमें लोक और अलोक सदा स्पष्टरूप से जानने में आ जाते हैं अर्थात् भगवान को जब से केवलज्ञान प्रगटा है, तभी से उसमें प्रतिसमय लोकालोक प्रत्यक्ष जानने में आ जाता है और ऐसा ही परमार्थ से तू है — ऐसा कहते हैं; परन्तु यह बात इसको कैसे बैठे-समझ में आये ?

अरे भगवान! तू अन्दर आत्मा है या नहीं? भले ही शरीर स्त्री का हो या बालक का; आत्मा कहाँ स्त्री या बालक हो गया है? क्योंकि वह शरीर तो जड़-मिट्टी-धूल है। अहा! इस धूल के ढेर में तू चैतन्य भगवान अलग विराजमान है। अहाहा...! सच्चिदानंद-सत् पानी शाश्वत् ज्ञान और आनंद का धारक ऐसा भगवान आत्मा सदा स्वभाव से-शक्तिरूप से परमेश्वर ही है और वह जिसकी पर्याय में व्यक्त हुआ है, उनको यहाँ साक्षात् अरहंतपरमेश्वर कहते हैं।

तो कहते हैं — 'उन नेमिनाथ.....'

नेमिनाथ को क्यों याद किया ? क्योंकि स्वयं मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ब्रह्मचारी हैं; इसलिए ब्रह्मचारी तीर्थकरदेव को याद किया है। चौबीस तीर्थकरों में वासुपूज्य, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान भी ब्रह्मचारी थे; परन्तु भगवान नेमिनाथ बाहर में अधिक प्रसिद्ध हैं न; इसलिए उनको याद किया है। तो कहते हैं —

“उन नेमिनाथ तीर्थकर भगवान को मैं सचमुच पूजता हूँ.....”

जिन्होंने आत्मा की शक्ति की पूर्णदशा प्रगट की है — ऐसे परमात्मा को मैं वंदन करता हूँ, स्तुति करता हूँ; परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य का मैं आदर-विनय नहीं करता।

क्यों पूजता हूँ ?

“कि जिससे ऊँची तरंगोंवाले समुद्र को भी (दुस्तर संसार को भी) दो भुजाओं से पार कर लूँ।”

अहा! अगाध संसारसमुद्र में-चौरासी के अवतार में भव की तरंगें उछलती हैं। चींटी, कौआ, कुत्ता, मनुष्य, नारकी और देव आदि इन सबके-चतुर्गति में भ्रमण की-भव की हिलोरें उठती हैं। अहा! ऐसी ऊँची तरंगोंवाला (भव) समुद्र है; तथापि कहते हैं कि मैं दो भुजाओं से पार हो जाता हूँ। देखो, यह मुनिराज की भावना! तात्पर्य यह है कि मैं सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र — इन दो के द्वारा तिर जानेवाला हूँ।

अहा! जैसे मैं भगवान को मानता हूँ, वैसे ही मैंने अपने आत्मा को भी जाना और माना है; इसलिए उसमें लीन होकर तिर जानेवाला हूँ। अहा! मैं अन्दर जैसा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, वैसे मैंने अपने आत्मा को जाना है, अनुभव किया है और उस अभ्यास द्वारा मैं तिर जाऊँगा। अहा! भगवान अरहंत व्यवहार से मेरी श्रद्धा में हैं और अन्तरंग निजस्वरूप की श्रद्धा है; अतः उसके द्वारा मैं तिर जानेवाला हूँ — ऐसी भावना व्यक्त करते हैं। अहा! व्यवहार से-निमित्त से ऐसा ही कहा जाता है कि निश्चय और व्यवहार — ये दो मोक्ष के कारण हैं। अतः कहते हैं कि दो भुजाओं से मैं अगाध संसार को तिर जाऊँगा। समुद्र में दोनों हाथ से तैरते हैं न ? इसलिए यहाँ कहते हैं कि मैं दो भुजाओं से संसारसमुद्र को तिर जाऊँगा। अहा! चौरासी के अवतार का कारण तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष है; परन्तु वे मेरे में (आत्मा में) नहीं हैं — ऐसा मैंने अपने शुद्धात्मा को माना है और अब उसी में स्थिरता के द्वारा मैं तिर जाऊँगा — ऐसी निश्चयात्मक भावना करते हैं।

प्रश्न : — मैं तिर जाऊँगा या नहीं — ऐसा क्या भगवान को पूछना नहीं पड़ेगा ?

उत्तर : — नहीं, (क्यों पूछना पड़ेगा ?) जैसा भगवान का आत्मा है, वैसे ही अपना भगवान आत्मा अंदर पुण्य-पाप के विकल्प से पार और देह से भी भिन्न है - ऐसा अनुभव किया है; और ऐसे अनुभव से मैं तिर जाऊँगा — ऐसा निश्चय हुआ है; अतः (भगवान से) किसलिए पूछेगा ?

अरे! यह (जीव) चौरासी के अवतार में गोते खाता है। वहाँ किंचित् अनुकूलता होने पर 'मैं चौड़ा और बाजार सकड़ा' — ऐसे अभिमान में चढ़ जाता है; परन्तु वह

तो कुछ भी नहीं है। तू बड़ा-मोटा हुआ; परन्तु किसमें ? परिभ्रमण में बापा! प्रभु! यह बाह्य अनुकूलताएँ तो परवस्तु हैं, वे तो जड़ हैं और संयोग में आई हैं तथा वियोग में चली जायेंगी। ये क्या काम आयेंगी ? जो चीज तेरे में नहीं है, तेरी नहीं है; वह क्या काम आयेगी ? अहा! यह शरीर, वाणी, लक्ष्मी आदि तुझमें नहीं है और तू इनमें नहीं है; तथापि ये मेरे नहीं हैं और मैं इनका हूँ — इस भ्रम ही भ्रम में भगवान! तू भवसमुद्र में गोते खाता है — यह बहुत विचित्रता है।

देखो, यहाँ मुनिराज स्वयं छद्मस्थ हैं और पाँचवाँ काल है; तो भी कहते हैं मैं दो भुजाओं से तिर जाऊँगा। दो भुजा यानी दर्शन और चारित्र; क्योंकि ये दोनों तिरने का उपाय है। जबकि ज्ञान तो प्रकाशता ही है। अहा....! भगवान अरहंत को जैसा आत्मा परमात्मदशारूप से प्रगट हुआ है, वैसा ही मेरा आत्मा शक्तिरूप से परमात्मस्वरूप है — ऐसा मैंने अनुभव किया है, मुझे अपनी दृष्टि में शुद्धात्मा का पता पड़ा है; इसलिए अब, तिरने के लिए मुझे स्थिरता ही चाहिए और स्थिरता के द्वारा मैं तिर जाऊँगा और संसार को तिरकर-पार करके मैं मुक्तिमहल में पहुँचूँगा ही पहुँचूँगा — ऐसा मुनिराज का निश्चय है।

अहो! चारगति के अवतार तो कलंक.....कलंक हैं। अमृत के सागर भगवान आत्मा के लिए यह भारी कलंक है। मैं इस कलंक से पार होकर मुक्ति प्राप्त करूँगा — ऐसा निश्चय करके मुनिराजश्री भगवान नेमिनाथ को वंदन करते हैं।

इसप्रकार यह सातवीं गाथा पूर्ण हुई, इसमें देव की व्याख्या हुई। अब आठवीं गाथा में आगम की व्याख्या करेंगे। ●

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है....

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करता तो नहीं है, किन्तु स्पर्श भी नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध होती है। आत्मा मात्र ज्ञायक परमानन्द स्वरूप है। यह भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि की पुकार है। ऐसी अध्यात्म की सूक्ष्म वस्तु इस काल जिन्हें अंतर में रुचिपूर्वक परिणमित हो जाती है - ऐसे जीवों को एक-दो-चार भव ही होते हैं, अधिक नहीं होते - ऐसा शास्त्र में आता है; क्योंकि इस काल में केवली, अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी नहीं हैं, आश्चर्य के कारण ऐसे इन्द्रादि देवों का आगमन नहीं होता, चक्रवर्ती आदि कोई चमत्कारिक वस्तुएँ नहीं हैं, तथापि यह आध्यात्मिक सूक्ष्मत्व अंतर में रुच जाता है, उसके भाव विशेष हैं; इसलिए उसे अधिक भव नहीं होते।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-४१

नियमसार गाथा-८

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवन्ति तच्चत्था ॥८ ॥

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥८ ॥

(हरिगीत)

परमात्म-वाणी शुद्ध पूर्वापर रहित निर्दोष है ।
आगम वही, देती वही तत्त्वार्थ का उपदेश है ॥७ ॥

गाथार्थ :— उनके मुख से निकली हुई वाणी जो कि पूर्वापर दोषरहित (आगे-पीछे विरोधरहित) और शुद्ध है, उसे आगम कहा है और उसे तत्त्वार्थ कहते हैं ।

टीका :— यह, परमागम के स्वरूप का कथन है ।

उन (पूर्वोक्त) परमेश्वर के मुखकमल से निकली हुई चतुर वचनरचना का विस्तार, जोकि 'पूर्वापर दोषरहित' है और उन भगवान को राग का अभाव होने से पापसूत्र की भाँति हिंसादि पापक्रियाशून्य होने से 'शुद्ध' है — वह परमागम कहा गया है । उस परमागम ने कि जो (परमागम) भव्यों को कर्णरूपी अञ्चलिपुट से पीनेयोग्य अमृत है, जो मुक्तिसुन्दरी के मुख का दर्पण है (अर्थात् जो परमागम मुक्ति का स्वरूप दर्शाता है), जो संसारसमुद्र के महाभंवर में निमग्न समस्त भव्यजनों को हस्तावलम्बन (हाथ का सहारा) देता है; जो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि* है, जो कभी न देखे हुए (अनजाने, अननुभूत, जिस पर स्वयं पहले कभी नहीं गया है ऐसे) मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी है और जो कामभोग से उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त रागरूप अंगारों द्वारा सिंकते हुए समस्त दीनजनों के महाक्लेश का नाश करने में समर्थ सजल मेघ (पानी से भरा हुआ बादल) है, उसने वास्तव में साततत्त्व तथा नवपदार्थ कहे हैं ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्री समन्तभद्रस्वामी ने (रत्नकरण्डश्रावकाचार में ४२ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

* शिखामणि=शिखर के ऊपर का रत्न, चूड़ामणि, कलंगी का रत्न ।

(परमागम सहज वैराग्यरूपी महल के शिखामणि समान है, क्योंकि परमागम का तात्पर्य सहज वैराग्य की उत्कृष्टता है ।)

(आर्या)

“अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

(वीरछन्द)

न्यूनाधिकता बिना, विपर्यय रहित यथार्थ वस्तु का ज्ञान।
निःसन्देह उसे कहते हैं आगमज्ञाता सम्यग्ज्ञान ॥

श्लोकार्थ :- जो न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीतता बिना यथातथ वस्तुस्वरूप को निःसन्देहरूप से जानता है, उसे आगमियों^१ ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

और (आठवीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा जिनवाणी को-जिनागम को वन्दन करते हैं) —

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ॥१५ ॥

(वीरछन्द)

जो अत्यंत मनोहर शुद्ध तथा शिवपथ के कारण हैं।
भव्यों के कर्णों को अमृत दावानल को जल सम हैं ॥
जैन योगियों द्वारा वन्द्य सदा ऐसे जिनराज वचन।
मन-वच-तन से नित प्रति करता मैं उन वचनों को वन्दन ॥१५ ॥

श्लोकार्थ :- जो (जिनवचन) ललित^२ में ललित हैं, जो शुद्ध हैं; जो निर्वाण के कारण का कारण है, जो सर्व भव्यों के कर्णों को अमृत है, जो भवभवरूपी अरण्य के उग्र दावानल को शांत करने में जल है और जो जैन योगियों द्वारा सदा वंद्य हैं — ऐसे इन जिनभगवान के सद्वचनों को (सम्यक् जिनागम को) मैं प्रतिदिन वंदन करता हूँ ॥१५ ॥

१. आगमियों=आगमवन्तों, आगम के ज्ञाताओं।

२. ललित में ललित=अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न करें ऐसे, अतिशय मनोहर।

गाथा ८ की टीका पर प्रवचन

“यह, परमागम के स्वरूप का कथन है।”

अहा! परमागम अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र किसको कहना, उसके स्वरूप का यह कथन है। देव की व्याख्या (७वीं गाथा में) आ गई; अब आगम-सुशास्त्र की व्याख्या करते हैं। देखो, यहाँ परमागम शब्द का प्रयोग किया है।

“उन (पूर्वोक्त) परमेश्वर के.....” देखो, गाथा में-पाठ में पहला शब्द तस्म है न! तो उसका अर्थ किया कि उन ‘परमेश्वर के’ अर्थात् ऐसे अरहंत सर्वज्ञदेव कि जिनकी ज्ञानादि दिव्यशक्ति पर्याय में प्रगट हो गई है, उनके.....! अहाहा! सभी आत्माएँ शक्ति से दिव्यशक्तिवाले देव हैं; परन्तु जिन्होंने अन्तर (स्वभाव) के ध्यान द्वारा शक्ति की पूर्ण व्यक्तता प्रगट की है — ऐसे परमेश्वर अरहंतदेव के.....।

अहाहा....! कहते हैं-‘उन (पूर्वोक्त) परमेश्वर के मुखकमल से निकली हुई.....’ अहा! वाणी मुख से निकली है — ऐसा समझाने के लिए कहा है; क्योंकि लोग इसतरह समझते हैं। वरना भगवान की वाणी तो ऐसी होती है कि ओंठ नहीं हिलते-बंद रहते हैं, कंठ नहीं धूजता और सर्वांग से ‘ॐ’ ऐसी ध्वनि-गर्जना उत्पन्न होती है। उनको हम-तुम बोलते हैं — ऐसी मुख द्वारा भाषा नहीं होती। ऐसी ॐध्वनि को परमेश्वर के मुखकमल से निकली हुई है — ऐसा कहा है। लोग जानते हैं न कि मनुष्य को वाणी मुख में से निकलती है; इसलिए ‘परमेश्वर के मुखकमल में से वाणी निकली है’ — ऐसा यहाँ कहा है। अहा! ऐसी सर्वांग से उत्पन्न परमेश्वर को ॐध्वनि को आगम कहते हैं; परन्तु अज्ञानी आगम का नाम रखकर अपनी कल्पना से पुस्तक बनावें, वह आगम नहीं कहलाता।

अतः यहाँ कहते हैं कि पूर्वकथित ‘परमेश्वर के मुखकमल से निकली हुई चतुर वचनरचना का विस्तार’ वह आगम है, ‘जोकि पूर्वापर दोषरहित है।’ अहा! पहले कुछ कहा हो और फिर कुछ (विरुद्ध) कहे — ऐसा दोष भगवान की वाणी में नहीं होता। अहा! भगवान की वचनरचना पूर्ण विवेकयुक्त चतुर होती है और पूर्व-पश्चात् के सभी वचन मेलयुक्त-अविरुद्ध होते हैं। पूर्वापर अर्थात् पहले और बाद के वचनों में विरुद्धता हो — ऐसा भगवान की वाणी में होता ही नहीं। कहते हैं —

‘और उन भगवान को राग का अभाव होने से पापसूत्र की भाँति हिंसादि पापक्रिया शून्य होने से “शुद्ध” है, वह परमागम कहा गया है।’

अहाहा! पापसूत्र अर्थात् क्या ? कि जिसमें मारने के, लड़ाई इत्यादि हिंसा के वचन हैं, वे सब पापसूत्र हैं। जबकि भगवान की वाणी ऐसी पापक्रिया से शून्य है। क्यों ? क्योंकि भगवान को राग का अभाव है। भगवान परमवीतराग हैं। इसप्रकार हिंसादि पापक्रिया शून्य होने से परमागम ‘शुद्ध’ है। वे वचन-परमागम शुद्ध हैं-निर्दोष हैं — ऐसा कहते हैं। अहाहा! शुद्धता को बतानेवाले और शुद्धता में से निकले हुए वचन ‘शुद्ध’ हैं; क्योंकि उनमें शुद्धता निमित्तरूप से है न!

भाई! वाणी तो वाणी के कारण से निकलती है; परन्तु यह ‘ॐ’ ध्वनि उत्पन्न होती है, उसमें पूर्णशुद्ध परमात्मदशा निमित्त है। अहा! यहाँ कहते हैं, वह वाणी पापक्रिया शून्य होने से शुद्ध है अर्थात् परमेश्वर की वह वाणी निर्दोष है और वही परमागम है।

अहाहा.....! जो वाणी शुद्ध-निर्दोष है, उसको परमागम कहा जाता है; परन्तु जिन वचनों में पूर्वापर विरुद्धता हो — ऐसे दोषयुक्त कथन हों, वह आगम-परमागम नहीं है। अरे! इसको आगम की पहिचान करना चाहिए न! भगवान अरहन्त के वचन कैसे होते हैं ? कहाँ है ? यह जानना चाहिए न! (क्योंकि परमागम निजप्रयोजन की सिद्धि में निमित्त है।) अब कहते हैं —

‘उस परमागम ने, कि जो (परमागम) भव्यों को कर्णरूपी अंजलिपुट से पीनेयोग्य अमृत है.....’ यह प्यास लगती है तो पानी पीते हैं न! इसीप्रकार संसार की तृषा टालनी-मिटानी होवे तो....(यह परमागम पीनेयोग्य अमृत है)। अरे! विचारे मूढ़ अज्ञानी चारगति में जल रहे हैं, दुःख की होली में सुलग रहे हैं।

प्रश्न : — तो क्या ये पैसेवाले भी दुःखी हैं ? लोग तो उनको सुखी कहते हैं न ?

उत्तर : — हाँ यह पैसावाला कहलाता है न! तो यह तो ‘वाला’ हुआ, इसे ‘वाला’ (एकप्रकार का रोग) निकला, अहा! एक ‘वाला’ निकले तो चिल्लाहट मचाता है; जबकि यह तो पैसावाला, स्त्रीवाला, घरवाला, पुत्रवाला, इज्जतवाला.....अरररर! कितने ‘वाला’ इसके लग रहे हैं ? इसको कितना दुःख ? तथा ‘वाला’ का अर्थ तो यह है कि यह इसका (जीव का) नहीं है; तो भी ‘इसवाला’ मैं हूँ — ऐसा मानकर विचारा भ्रम ही भ्रम में महादुःखी होता है; दुःख की होली में जलता है।

इसीलिए तो कहते हैं कि यह भगवान द्वारा कथित परमागम भव्यों को कर्णरूपी अंजलि से पीनेयोग्य अमृत है। पानी पीने के लिए अंजलि में दो हाथ होते हैं न! इसीतरह सुनने के लिए दो कान होते हैं। अतः यह परमागम दो कान-रूपी अंजलि से पीने योग्य अमृत है। लो, भगवान की वाणी को-परमागम को अमृत कहा है।

श्रीमद् ने भी कहा है न कि —

**‘वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल।
औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल ॥’**

अहो! परमशान्तरस से भरपूर ऐसी वीतराग की वाणी अमृत है। अहा! वह भवरोग की औषधि है। परन्तु अरे! वह वाणी कायर को-वीर्यहीन पुरुष को-नपुंसक को नहीं रुचती, नहीं जँचती। अहा! वीर की वाणी वीर्य को जगानेवाली है। जाग रे जाग प्रभु! तू तो आनंद का नाथ है, चैतन्य महाप्रभु है; तो भी तू आनंद को खोजने कहाँ गया है ? यह तुझे क्या हुआ है ? अहा! ऐसी चेतनवंती भगवान की वाणी भव्यजीवों को कर्णरूपी अंजलि से (भर-भर कर) पीनेयोग्य अमृत है।

प्रश्न :— एक ओर तो आप कहते हो कि भगवान की वाणी सुनने से राग होता है और वह दुःख है, यह किसप्रकार ?

उत्तर :— हाँ सोगानीजी में (दृव्यदृष्टि प्रकाश भाग-३ में) ऐसा आता है। सोगानीजी कलकत्ता के रहनेवाले थे, बड़े लखपति गृहस्थ थे। यहाँ (सोनगढ़ में) संवत् २००२ में आत्मज्ञान प्राप्त किया था। उसका लिखा (दृव्यदृष्टि प्रकाश) बहुत सूक्ष्म है। वे कहते हैं, वीतराग की वाणी और गुरु की वाणी सुनने से राग होता है और राग है, वह दुःख है; दोष का कारण है। जबकि यहाँ कहते हैं — वीतराग की वाणी पीनेयोग्य अमृत है; दोनों बातें सत्य हैं।

किसप्रकार ? किस अपेक्षा से ?

देखो, वाणी की ओर लक्ष्य जाता है, वहाँ तक विकल्प-राग है। अतः इस अपेक्षा से वाणी सुनने पर दुःख होता है — ऐसी सोगानीजी की बात यथार्थ है और वाणी में क्या उपादेय कहना चाहते हैं — यह ध्यान में लेकर अपने लक्ष्य से समझने की दरकार होवे तो वह सुखरूप है अर्थात् वाणी और राग को गौण करके स्वलक्ष्य से सुने तो उसको वह अमृत जैसा फल देती है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा! अज्ञानी को तो अपेक्षा समझे बिना उलझन ही उलझन है। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से बात हो उसे यथार्थ समझना चाहिए।

अहाहा...! कहते हैं — परमागम-भगवान की वाणी कर्णरूपी अंजलि द्वारा पीनेयोग्य अमृत है; परन्तु बनिया अपने व्यापार के बही-खाते देखने से निवृत्त होवे तब न! इसको जिनवाणी सुनने की फुरसत नहीं है। दिमाग की विकृतिवाले कहते हैं कि अभी तो व्यवसाय में ऐसे रच-पच गये हैं कि मरने की भी फुरसत नहीं है। ठीक भाई! जब मर जायेगा, तब यह सब पड़ा रहेगा; इसमें क्या है ? यह तो जहर का प्याला है प्रभु! अब जहर पीता है तो (उसके बदले) यह अमृत पी न!

देखो, तीनज्ञान के धारी एकावतारी इन्द्र भी वाणी सुनने के लिए भगवान के पास आते हैं। सौधर्म देवलोक का इन्द्र शक्रेन्द्र है, वह बत्तीस लाख विमानों का स्वामी है और कितने ही विमानों में तो असंख्यदेव हैं। अहा! वह इन्द्र और शची इन्द्राणी, जोकि दोनों एकावतारी हैं, एक मनुष्य का भव धारण करके उसी भव से मोक्ष जायेंगे; वे भी भगवान की वाणी सुनते हैं। अहा! सौधर्म देवलोक है, यह सब लॉजिक से-न्याय से सिद्ध हो सकनेयोग्य बात है, यों ही मान लेना ऐसी बात नहीं है; परन्तु यहाँ चलते विषय में उसकी सिद्धि करने जायें तो विषय आगे नहीं बढ़ेगा। अहा! यहाँ तो कहते हैं कि वह सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, जिसको तीनज्ञान और एकावतारीपना है, वह भी भगवान की वाणी सुनने आता है। अहा! महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, उनको प्रत्यक्ष सुनने के लिए इन्द्र जाता है। अहा! कौन अमृतरूपी वाणी को सुनने नहीं जायेगा ?

अरे! मूढ़ अज्ञानी नामा करने में (खाता-बही लिखने में) तो रात के दस-ग्यारह बजा देता है; परन्तु यह वाणी सुनने के लिए समय नहीं निकालता। बड़ा मजदूर है न! पाँच-दस लाख की आमदनी हो, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है; परन्तु इसमें क्या है ? यह तो धूल में भी आमदनी नहीं है, सुन तो! ये सब बाहर की अनुकूलतायें तो 'सोजिश' है बापू! यह सोजिश भीतर बैठ जायेगी न, तब चीख-पुकार मचायेगा। यहाँ मुनिराज कहते हैं कि यह भगवान की वाणी-परमागम पीनेयोग्य अमृत है और तू पीता ही नहीं ? पीने के लिए निवृत्त नहीं होता ? तथा कहते हैं —

“जो मुक्तिसुन्दरी के मुख का दर्पण है (अर्थात् जो परमागम मुक्ति का स्वरूप दर्शाता है)।”

भाई! तेरी परसमुख की प्राप्तिरूप मोक्षदशा कैसी होती है, यह भगवान की वाणी बताती है। अहा भगवान! तू अनादि से संसारदशा में-मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष-मोह-रूप दुर्दशा में-जहर में फँस गया है, तो ऐसे तुझे जिसमें अमृत का सागर पूर्ण प्रगट होता है — ऐसी परमानंदमय मोक्षदशा को भगवान की वाणी बताती है अर्थात् परमागम दर्पण की तरह मुक्ति का स्वरूप दर्शाता है।

प्रश्न : — तो क्या इसमें बंध की-बंधन की बात नहीं होती ?

उत्तर : — भाई! परमागम तो मुख्यरूप से मुक्ति की-मुक्तपने की बात बताता है और उसमें जो बंधन की-बंधपने की बात आती है, वह तो जानने के लिए है — ऐसा कहना है। अहा! जीव खुल्ला कैसे हो, उसकी मुक्ति कैसे हो और मुक्ति कैसी होती है — इत्यादि स्वरूप भगवान का परमागम बताता है। अहा! भगवान आत्मा वस्तुरूप से सदा वीतरागभावपने विराजमान है; तथापि उसकी पर्याय में-अवस्था में वह राग और देह के एकत्व में पड़ा है, जोकि संसार है, दुःख है, बंध है। तो इस दुःख से और बंध से कैसे मुक्त हुआ जाता है — यह भगवान की वाणी दर्शाती है। अहा! बंधन से कैसे छूटना और छूटे हुए की दशा (मुक्तदशा) कैसी होती है — यह बात आगम-भगवान का परमागम बताता है। ऐसी बात भगवान के परमागम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होती। अहा! राग करो, पूजा करो, जिससे उसके फल में स्वर्ग मिलेगा — ऐसी बात भगवान की वाणी नहीं बताती। अन्तर्मुख होकर वीतरागता प्रगट कर, कि जिससे उसके फल में मुक्ति हो — यही प्रयोजन भगवान की वाणी प्रगट करती है।

“जो संसारसमुद्र के महाभँवर में निमग्न समस्त भव्यजनों को हस्तावलम्बन (हाथ का सहारा) देता है.....।”

देखो, संसारसमुद्र अगाध है और उसके महाभँवर में अर्थात् चौरासी के अवतारों की परम्परा में यह (जीव) फँस पड़ा है। अरे! भगवान आत्मा अनादि से भवसमुद्र की भारी भँवर में फँसा हुआ है। अरे! चींटी, कौआ, कुत्ता और निगोद पर्यंत के.....देखो तो सही! अररर! इसने कैसे-कैसे भव किये हैं ? लहसुन के एक छोटे से टुकड़े में

अनंतजीव हैं; परन्तु, यह कौन माने ? (मानो या न मानो) इतने में अनंतजीव हैं और वह प्रत्येक जीव अनंतकाल से परिभ्रमण करता है। संसार के ऐसे महाभँवर में पड़ा हुआ ऐसा तू भगवान! अनंतकाल से परिभ्रमण करता है। अहा! भाई! इस जीव को ऐसे परिभ्रमण का काल बहुत लम्बा है।

अहा! जिसके ज्ञान में यह सब प्रतिभासित हुआ, वह ज्ञान कितना विशाल है ? अहा! एक आलू के छोटे से टुकड़े में अनंतजीव, प्रत्येक के अनंतभव और प्रत्येक वर्तमान में अनंतदुःख में डूबा हुआ है। अहा...! यह सब जिसके ज्ञान में-ज्ञान की पर्याय में प्रतिभासित हुआ, वह ज्ञान की दशा कितनी विशाल है ? अहा...! ऐसी-ऐसी (केवलज्ञान की) अनंत-अनंत दशाएँ, जिसके गर्भ में पड़ी हैं — ऐसा भगवान आत्मा तू है प्रभु!

यहाँ कहते हैं — ‘संसारसमुद्र के महाभँवर में.....’ अहा! समुद्र में भँवर होती है न ? तो उसमें यदि जहाज फँस जाये तो वह भँवर मिटने पर ही छूटती है; इसीतरह चौरासी के अवतार यह संसारसमुद्र में महाभँवर है। अहाहा...! देखो न, उसमें फँसा हुआ जीव राजा मरकर सूअर होता है, सूअर मरकर नारकी होता है, नारकी मरकर राजा होता है, चींटी मरकर हाथी होती है और हाथी मरकर नरक जाता है — इसप्रकार चक्र में-भवचक्र में चक्कर खाता है। अहा! इसप्रकार जो संसारसमुद्र के महाभँवर में निमग्न हैं — ऐसे समस्त भव्यजीवों को वीतराग का परमागम हस्तावलम्बन-हाथ का सहारा देता है। महाभँवर में से छूटने का प्रयत्न तो (भव्यजीव) स्वयं करता है; परन्तु उसको सहारा देनेवाला-निमित्त, परमागम है - ऐसा कहते हैं। देखो, यह आगम की व्याख्या! अर्थात् परमागम ऐसा होता है। तथा —

“जो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है.....”

अहाहा....! परमागम वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि अर्थात् चूड़ामणि-शिखर के ऊपर का रत्न है। पहले कहा कि परमागम मुक्ति को बतानेवाला है (यह ज्ञान की बात की); अब वैराग्य की बात करते हैं। कहते हैं — परमागम वैराग्यरस से उत्कृष्ट भरपूर है। यह बाहर से उदासीनता करके वहाँ से वापस हटने की (अन्तर्मुख होने की) बात करते हैं। अरे भगवान! तू कौन है और कहाँ गया है ? अब राग-द्वेष और पुण्य-पाप से पीछे हट; क्योंकि वे तो दुःख के दावानल हैं; उनमें तू जल रहा है प्रभु!

प्रश्न : — तो क्या ये श्रीमंत भी दुःखी हैं ?

उत्तर : — अरे! इनको तो (तृष्णा की धगधगाती) होली जल रही होती है; इनको धूल में भी सुख नहीं है, सुन तो सही। सुख तो बाहर से पीछे हटने में (अन्तर्मुखता में) है। कहाँ ? निजचैतन्यमय आत्मा में। लो, यह परमागम का तात्पर्य! सहजवैराग्यरस की उत्कृष्टता ही परमागम का तात्पर्य है। अहा! तू सबसे-संयोग से, राग से और पर्याय से पीछे हट और वहाँ से हटकर अंदर आ कि जहाँ तेरा भरपूर चैतन्यनिधान पड़ा है। इस परिभ्रमण में कहाँ रहा है ? इसप्रकार भगवान की वाणी पर से वैराग्य-उदासीनता जगाती है। अहा! वीतराग की वाणी-परमागम किसको कहते हैं ? कि जो चारगति के (दुःख के) वेग में बह रहे हैं — ऐसे जीवों को वहाँ से पीछे हटावे और नित्यानंदस्वरूप में स्थापित करे-स्थिर करे, उसका नाम परमागम है।

‘सहजवैराग्यरूपी.....’ ऐसा ‘सहज’ शब्द है न ? अर्थात् यह श्मशानियाँ वैराग्य होता है, वह नहीं; परन्तु उदासीनतारूप स्वाभाविक वैराग्य की बात है। अहा! बीस वर्ष का जवान लड़का मर जाए, तब किंचित् वैराग्य हो जाता है, वह श्मशानियाँ वैराग्य है; जबकि यह तो सहज-स्वाभाविक वैराग्य की बात है। स्वाभाविक वैराग्य यानी क्या ? कि यह निमित्त, रागादिभाव और एकसमय की पर्याय तेरा स्वरूप नहीं है, तू इनमें और ये तेरे में नहीं है; इसलिए वहाँ से पीछे मुड़ जा और निजपरमात्मस्वरूप में-आनंदस्वरूप में स्थिर हो जा। इसप्रकार परमागम जीवों को सहजवैराग्य का सिंचन करता है। अहो! भगवान की वाणी उत्कृष्ट वैराग्यरस के धोध वर्षाकर, जीवों को पर से उदास करके; स्व में समा देता है।

अहो! बीस-बीस वर्ष के राजकुमार....., ये श्रीकृष्ण के भाई गजसुकुमार; इन्होंने जहाँ भगवान की वाणी सुनी, वहाँ वे एकदम उदास-उदास हो गये। माता के पास जाकर दीक्षा के लिए आज्ञा माँगने लगे कि माता! मुझे अभी ही आज्ञा दे; अब मैं जाना चाहता हूँ माँ! अब संसार से बस है! हे माँ! मैं अब राग और राग के फल में नहीं रचूँगा-फसूँगा।

‘माँ मेरी रे अब नहीं फसूँ संसार में’

अहा! पर से भिन्न, शरीर से भिन्न और राग से भी भिन्न मेरा पूर्णानंदमय चैतन्यधाम है, वहाँ अब मैं जाना चाहता हूँ माँ!

प्रवचनसार में भी आता है न कि तीव्र वैराग्यरस बढ़ जाने पर, दीक्षार्थी भव्यजीव बंधुवर्ग, माता-पिता और पत्नी — इन सबसे अनुमति लेता है। अहा...! परमागम में सब भरा है भाई! एक परिभ्रमण हो — ऐसा भाव उसमें नहीं है। तो प्रवचनसार (गाथा-२००) में यह बात आती है। देखो! अहो! इस पुरुष के शरीर की रमणी के आत्मा! तू इस पुरुष के आत्मा को नहीं रमाती — ऐसा तू निश्चय से जान। देखो, क्या कहा? कि तू शरीर की रमणी है और मैं तो आत्मा हूँ; तो तू मुझे-आत्मा को रमा सकती है? नहीं रमा सकती; क्योंकि मैं तो आनंद में रमूँ — ऐसा आत्मा हूँ। इस धूल में-शरीर में रमूँ — ऐसा नहीं हूँ; इसलिए तू इस शरीर को छोड़! अहाहा...! जिसको ज्ञानज्योति प्रगट हुई है — ऐसा यह आत्मा आज स्वानुभूतिरूपी, अपनी अनादि रमणी के पास जाता है। अहा! अब तू नहीं; अपितु स्वानुभूति-मेरे आनंद का अनुभव, वह मेरी रमणी है और उसके पास मैं जाता हूँ। देखो, यह सहजवैराग्य!

इसीतरह बंधुवर्ग से आज्ञा लेता है कि हे बंधु! तू नहीं, अपितु मेरा आत्मा, जो मेरा अपना अनादिबंधु है, उसके पास मैं जाना चाहता हूँ। इसीतरह फिर माता से आज्ञा लेता है कि हे माता! हे जननी! तूने इस आत्मा को जन्म नहीं दिया है; तू तो इस पुरुष के शरीर की जननी है — ऐसा तू निश्चय से जान। जिसको ज्ञानज्योति प्रगट हुई है — ऐसा यह आत्मा आज आत्मरूपी जो अपनी अनादिजननी, उसके पास जाता है; इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। इसप्रकार उसमें (प्रवचनसार में) सबकी बात है। भाई! शास्त्र में क्या नहीं हो ?

और कहते हैं कि “जो कभी न देखे हुए (अनजाने, अननुभूत, जिस पर स्वयं पहले कभी नहीं गया है ऐसे) मोक्षमहल की प्रथमसीढ़ी है...”

अहाहा....! परमात्मा केवली भगवान क्या कहते हैं ? अर्थात् परमागम क्या कहता है ? उसे जानना, वह मोक्षमहल की प्रथमसीढ़ी है। अहा! आगम-परमागम में जो हेय-उपादेय तत्त्व कहे हैं, उन्हें जाने बिना मोक्षमार्ग में एक कदम भी कैसे चला जा सकता है ? नहीं चला जा सकता; इसलिए परमागम मोक्षमार्ग की प्रथमसीढ़ी है।

और कहते हैं-“और जो काम-भोग से उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त रागरूप अंगारों द्वारा सिकते हुए समस्त दीनजनों के महाक्लेश का नाश करने में समर्थ सजल मेघ (पानी से भरा हुआ बादल) है.....”

अहा! देखो, यह क्या कहा ? कि जो विषय-वासना का राग है, वह आग-अंगारा है। बिचारे प्राणी उन रागरूपी अंगारों से निरन्तर जल रहे हैं, सुलग रहे हैं — ऐसा कहते हैं। अहा! जैसे अग्नि में शकरकंद सिकता है, इसीतरह बिचारे अज्ञानी अप्रशस्त और प्रशस्त — ऐसी रागरूप अग्नि में सिकते हैं। यद्यपि यहाँ तो अप्रशस्त-अशुभराग की ही बात की है; तथापि प्रशस्तराग भी आग-अंगारा ही है; इसलिए भगवान का परमागम ऐसे सिकते हुए समस्त दीनजनों के महाक्लेश का नाश करने में समर्थ सजल मेघ है — ऐसा कहते हैं। अहाहा...! पानी से भरा हुआ बादल है। जलविहीन बादल तो बहुत होते हैं; परन्तु वे नहीं; यह परमागम तो पानी से भरा हुआ (सजल) बादल है — ऐसा कहते हैं।

अहा! ऐसे आगम ने **‘उसने वास्तव में साततत्त्व तथा नवपदार्थ कहे हैं।’**

लो, यह भगवान की वाणी में क्या निरूपण है, उसका सार कहा। अहा! तीर्थंकर परमात्मा के मुखकमल से निकली हुई वाणी आगम है और सम्यग्दृष्टि को उस आगम-परमागम की यथार्थ पहिचान और श्रद्धान होता है। अहा! उस आगम की श्रद्धावाला कैसा होता है — यह बात अब (आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार के ४२ वें श्लोक का) आधार देकर कहते हैं —

“जो न्यूनता बिना.....” अहाहा...! भगवान केवली परमात्मा ने जो कहा है, उससे न्यून-कम नहीं जानना चाहिए। यदि वस्तु को (वस्तुस्वरूप को) उससे कम जाने तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है। अहाहा...! वीतराग सर्वज्ञपरमेश्वर, जिन्होंने युगपत् एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को देखा है, उनकी-भगवान अरहन्त की, पहले श्रद्धा करके और अब उनकी वाणी कैसी होती है, उसको ज्ञान-श्रद्धान करने की बात है; इसलिए कहते हैं कि वाणी का ज्ञान करनेवाला वस्तु को न्यून-कम जाने — ऐसा नहीं होता। भगवान ने कहा हो कुछ और उससे कम माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। बहुत कठोर बात है! और कहते हैं —

“अधिकता बिना.....” अहा! वस्तु कही है, उससे अधिक भी नहीं जाने। यह (सम्यग्दृष्टि) भगवान ने कहा हो उससे अधिक कहे — ऐसा नहीं होता; परन्तु जिसे इस आगम को जानने की गरज ही नहीं है, उसका क्या कहना ? वह तो बापा! चौरासी के अवतार में चारगति में परिभ्रमण करेगा।

तथा कहते हैं — (जो) 'विपरीतता बिना यथातथ वस्तुस्वरूप को निःसंदेह रूप से जानता है, उसे आगमियों ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।'

अहाहा...! भगवान ने वस्तुस्वरूप कहा है, उसको धर्मीजीव यथातथ निःसंदेहरूप से जानता है, विपरीत नहीं जानता। अहा! जीव अनंतकाल से जन्म-जरा-मरण की परिपाटी तो कर रहा है। अब जिसको जन्म-मरण के दुःख भाररूप लगे हों अर्थात् मैं दुःखी हूँ — ऐसा जिसको खटकता हो, उसको यह समझना पड़ेगा; यह समझनेयोग्य बात है प्रभु! अरे! मैं आनंदस्वरूप हूँ तो भी मेरा आनंद मुझे नहीं? क्या है यह? — इसप्रकार बाहर में कहीं आनंद भासित न हो, वर्तमान में मैं दुःखी हूँ — ऐसा भार लगे, उसके लिए यह समझनेयोग्य बात है। प्रतिकूल संयोग हों तो दुःखी — ऐसी दुःख की व्याख्या नहीं है। अपितु आत्मा के स्वभाव की विपरीत मान्यता ही महादुःख और महाजहर है; उसे ही मिथ्यात्व कहते हैं।

अहा! भगवान के द्वारा कथित वस्तुस्वरूप से कम, अधिक या विपरीत जानना और मानना मिथ्यात्वरूपी जहर है और उसी के द्वारा मूढ़-अज्ञानी जीव पीड़ित हो रहे हैं। परन्तु अरे! उनको कुछ पता नहीं है और न दुःख लगता है; इसलिए क्या हो सकता है?

प्रश्न :— हाँ, परन्तु धन का ढेर हो, शरीर ठीक हो तो वह सुखी है या नहीं? उसको दुःखी कौन कहे ?

उत्तर :— अरे भाई! अज्ञानी-मूढ़ जीव को क्या सुख है और क्या दुःख है, इसका पता ही कहाँ है ? (उसको कुछ सुध-बुध नहीं है।) अहाहा....! अन्दर परमानंद का नाथ सच्चिदानंद प्रभु आत्मा है, उसके आनंदस्वरूप की निराकुलदशा में विपरीतदशा ही दुःख है। पुण्य-पाप के भाव और उनके फल 'मुझे ठीक हैं' — ऐसी दृष्टि विपरीत दृष्टि है और वह दुःख है। अहा! यह पुण्य करूँगा और उसके फल में स्वर्ग में जाऊँगा और वहाँ सुख भोगूँगा — ऐसी जो तेरी दृष्टि है, वह मिथ्यारूप पाप की दृष्टि है—दुःख दृष्टि है; क्योंकि विपरीत दृष्टि ही दुःख है और उस दुःख के दावानल में अज्ञानी जल रहा है; परन्तु उसको इसका परिज्ञान नहीं है।

अहा! यदि जीव को सुख चाहिए हो तो इसको निर्णय तो करना पड़ेगा न, कि यह वाणी परमागम है और यह वाणी कल्पित है। यहाँ कहते हैं कि धर्मात्मा भगवान की वाणी से न्यून, अधिक अथवा विपरीत नहीं जानता; परन्तु वस्तु को यथातथ

निःसंदेहरूप से जानता है। भाई! भगवान की वाणी से न्यून-कम, अधिक अथवा विपरीत जाननेवाला तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अरे! मूलवस्तु तो पूरी की पूरी पड़ी रह गई है और अज्ञानी बाह्य आचरण को धर्म मानकर करने लगा है; परन्तु यह सब तो धूल-धाणी है बापू!

अहा! मिथ्यात्व का पाप कितना क्रूर और भयंकर है, इसका लोगों को परिज्ञान नहीं है। साधारण हिंसा या राग-द्वेष अथवा भोगादि तो अकेला चारित्र का दोष है; जबकि यह मिथ्याश्रद्धा का दोष तो ऐसा महापाप है कि जो नरक-निगोद के भव कराता है। भाई! इसका तुझे पता नहीं है।

अहा...! भगवान सर्वज्ञदेव, त्रिलोकनाथ तीर्थकर ने आत्मा का स्वरूप, धर्म-अधर्म का स्वरूप और देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप कहा है और वह वाणी परमागम है। अतः इसको यह निर्णय करना पड़ेगा कि कौन-सी वाणी परमागम है और कौन-सी वाणी कल्पित है। अहा! भगवान तीर्थकरदेव ने (लोक में) जाति अपेक्षा छहद्रव्य देखे हैं और प्रतिपादित किये हैं और उनकी संख्या अनंत है; तो उनका प्रत्येक का क्या स्वरूप है? द्रव्य का क्या स्वरूप है? गुण का क्या स्वरूप है? और उसकी अवस्था-पर्याय का क्या स्वरूप है? यह जीव को जानना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि — अहा! आगम के ज्ञाता संत-मुनिवर सम्यग्ज्ञान उसको कहते हैं कि जो वस्तु को यथातथ निःसंदेहरूप से जानता है। अहा! ऐसा सम्यग्ज्ञान आत्मा के उद्धार का कारण है; अन्य जो यह तुम्हारी लौकिक पढ़ाई है। वह सब कुज्ञान और कुविद्या है।

प्रश्न: — परन्तु जिसके द्वारा २५-५० हजार मासिक वेतन मिलता है — ऐसी विद्या भी क्या कुविद्या है ?

उत्तर: — अरे! धूल भी यह विद्या नहीं है, सुन न! जिसके द्वारा भगवान आत्मा ज्ञात न हो, वह सभी कुविद्या है तथा पैसा-धूल मिलना तो पुण्य के उदय का कार्य है; उसका विद्या से क्या सम्बन्ध है? यह धूल-पैसा भी इसको अनंतबार मिला है और कुविद्या में तो यह अनंतकाल से ही पड़ा है, इसमें क्या है? यहाँ तो यह कहते हैं कि भगवान ने जो द्रव्य का स्वरूप कहा है, गुण का स्वरूप कहा है; मलिन अथवा

निर्मलपर्याय का जो स्वरूप कहा है, उसको यथातथ अर्थात् कम, अधिक और विपरीतता से रहित माने और निःसंदेह रूप से जाने..... !

स्वरूप क्या होगा ? ऐसा होगा या वैसा होगा ? अथवा उनका सच्चा होगा या इनका सच्चा होगा - इसप्रकार के संदेह से रहित वस्तु के स्वरूप के जाननेवाले को आगम के ज्ञाता-सिद्धांत को जाननेवाले-सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

कलश-१५ पर प्रवचन

“जो जिनवचन ललित में ललित है.....”

अहा.....! क्या कहते हैं ? कि वीतरागपरमेश्वर के वचन ललित में ललित अर्थात् अनंत प्रसन्नता उत्पन्न करें — ऐसे हैं; क्योंकि वे वीतरागता को बतलाते हैं न! अहाहा...! वीतराग की वाणी चारों तरफ से-संयोग से, पर से, निमित्त से और राग से आत्मा को भिन्न बताकर उदासीनता के प्रति प्रेरित करती है और जो अपना नित्यानन्दस्वभाव है उससे एकता कराती है। अहा....! ‘जिनवाणी’ में ‘जिन’ शब्द है न! तो ‘जिन’ अर्थात् वीतराग। अतः जिनवाणी उसको कहते हैं, जो राग से भिन्न कराकर निजस्वभाव में एकता करावे। राग करनेयोग्य है, भला है और उससे लाभ होता है — ऐसा जिनवाणी नहीं कहती है और ऐसा कहे वह जिनवाणी नहीं हो सकती। अहा...! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि का परिणाम राग है और उससे पुण्यबंध होता है; परन्तु उससे लाभ होता है — ऐसा प्रतिपादित करनेवाली जिनवाणी नहीं है। यहाँ कहते हैं कि वह जिनवाणी चित्त में अनंत प्रसन्नता उत्पन्न करे — ऐसे अमृतरस से भरी है। अहा...! ‘वचनामृत वीतराग के परमशान्तरस मूल।’

भाई! जिनवचन की परीक्षा ही यह है कि जो अतीन्द्रिय शान्ति-आह्लाद उत्पन्न करावे और अशान्ति का अभाव करावे, वह जिनवाणी-जिनवचन है। अरे! सारा लोक अज्ञानवश कषाय की होली में जल रहा है। भले ही बड़ा राजा हो या बड़ा सेठ हो अथवा बड़ा देव हो; वह अज्ञानवश राग की आग में जल रहा है। उसको राग से हटकर जहाँ परमानंद भरा है — ऐसे निज ज्ञानानन्दस्वभाव में स्थिरता का संदेश दे, वह जिनवाणी है। अहो! वीतराग की वाणी अलौकिक होती है। ‘सर्वम् त्यज स्वम् भज।’ अर्थात् पर से हट और स्व में बस — यही संक्षिप्त और सारभूत बात है — ऐसी वीतरागपरमेश्वर की वाणी

है। अहा! जो निमित्त से और राग कि क्रिया से छुड़ाकर निर्विकार निज चिदानन्दमूर्ति निजशुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान करावे और वहीं ठहरना-रमना बतावे, वह जिनवाणी है। वरना वीतराग के नाम से अन्यप्रकार से कहनेवाला तो वीतराग की वाणी का लोप करता है।

परन्तु अरे! इसको कहाँ समझने की पड़ी है। चक्रवर्ती ब्याज निकालना हो तो बनिया झट निकाल दे, (परन्तु यहाँ मूर्ख रहता है!) परन्तु बापा! यह सब तो परिभ्रमण की कला है। अतः (उन्हें छोड़कर) यह कर न! ऐसा कहना है। अहाहा..! वस्तु...वस्तु (ऊपर कलश में) वस्तु कहा है न ? यह कि वस्तु को-वस्तुस्वरूप को यथावत्-निःसंदेह जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है। अहा! उस सम्यग्ज्ञानपूर्वक वस्तु में स्थिर होना-ठहरना-रमना ही इसका चक्रवर्ती ब्याज है। अन्य सब तो दुःख के पाये हैं बापा!

नहीं सुखी देव के देव (इन्द्र) लोक में,
नहीं सुखी सेनापति इहलोक में,
नहीं सुखी पृथ्वीपति राजा,
(सभी दुःखी-रागी परसहाया)।

अहा! देवलोक का देव भी सुखी नहीं है, इस लोक में कोई बड़ा सेनापति भी सुखी नहीं है; बड़ा पृथ्वीपति-जड़ का पति राजा भी सुखी नहीं है; वास्तव में पराधीन सर्व रागी जीव दुःखी ही हैं। अहा! जो मिथ्यात्व के भँवर में फँसे हैं, वे सब दुःखी ही हैं। राग का एक कण (अंश) भी भला है — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और वह महा-मिथ्यात्व के कादव में गहरा फँस गया है। वह महादुःखी है।

अरे भगवान! तू अकेला है तो यह (राग-द्वेषवाला, शरीरवाला) दोकला कहाँ से हो गया ? भाई! तू सदा अकेला ही है। ये दया, दानादि राग का विकल्प उत्पन्न होता है, वह परमार्थ से तेरा स्वरूप नहीं है, वह (राग) तेरी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह तो विभाव है। इसप्रकार कहकर वीतराग की वाणी एकत्व-विभक्त आत्मा को बताती है। अहा! यहाँ कहते हैं कि ऐसे जिनवचन अन्तर में अत्यन्त प्रसन्नता-आह्लाद-आनन्द उत्पन्न करते हैं। अहाहा...! कैसा आनन्द ? इस धूल का आनन्द नहीं। अरे! इस धूल में-पैसे में तो बिचारे सेठ भारी संतप्त हैं, इस सन्ताप के कारण तत्त्व की बात सुनने की भी

निवृत्ति नहीं है। बापा! वह दुःख के दावानल में जल रहा है। अहा! ऐसे दुःख से संतप्त जीवों को जिनवाणी परम (अतीन्द्रिय) आह्लाद उत्पन्न कराती है। जिनवाणी में दो बातें हैं —

- (१) पर से हटना और
- (२) स्व में वसना-जमना-रमना-ठहरना।

अहो! यह दो बातें कहकर जिनवाणी परम आह्लाद उत्पन्न कराती है; परन्तु भगवान! तू राग में (प्रशस्त में भी) रह और उससे तुझे लाभ (धर्म) होगा — ऐसा कहनेवाली वीतराग की वाणी नहीं है। अब कहते हैं —

‘जो शुद्ध है.....।’

देखो, वाणी-जिनवाणी शुद्ध है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि वस्तु-आत्मा निर्विकार शुद्ध है और वाणी भी निर्विकार ‘शुद्ध’ में रहने का कहती है। वह राग-विकार से धर्म नहीं बताती; इसलिए वाणी शुद्ध है। अहाहा....! शुद्ध को बतानेवाली वाणी भी शुद्ध है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : — यहाँ वाणी को शुद्ध किसप्रकार कहा है ?

उत्तर : — क्योंकि वाणी स्वयं शुद्धभाव को बताती है न! इसलिए उपचार करके उसको यहाँ शुद्ध कह दिया है। अहाहा....! श्रीमद्जी ने कहा है न —

**शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम।
अन्य कहिए कितना कर विचार तो पाम॥**

भगवान! तू शुद्ध है, बुद्ध अर्थात् ज्ञान का पिण्ड है, चैतन्यघन है। अहाहा...! चैतन्य से भरा असंख्यप्रदेशी प्रभु है, स्वयंज्योति है अर्थात् प्रकाशने में (स्व-पर को प्रकाशित करने में) किसी अन्य की अपेक्षा-गरज नहीं है तथा सुखधाम अर्थात् आनंद का धाम प्रभु तू है — ऐसा निजस्वरूप बताकर वीतरागपरमेश्वर, वीतराग होने की ही बात कहते हैं। भाई! शास्त्र का तात्पर्य भी वीतरागता ही कहा है न ? उसका अर्थ ही यह है कि ‘स्व में बस, पर से खस।’

भाई! ऐसी शुद्ध को बतानेवाली वीतराग की वाणी भी शुद्ध है और कहते हैं —

“जो निर्वाण के कारण का कारण है.....”

अहाहा...! निर्वाण यानी कि जो अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष है, उसका कारण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, उसका जिनवाणी निमित्तकारण है।

प्रश्न :— हाँ, परन्तु ऐसा सुनने से तो व्यापार-धंधे का उत्साह समाप्त हो जाता है; काम का उत्साह ही भंग हो जाता है ?

समाधान :— बापू! सुन तो सही; तेरे इस व्यापार का, व्यापार के उत्साह से क्या सम्बन्ध है ? उत्साह है वह तो राग है और क्या उत्साह से-राग से व्यापार चलता है ? तथा तू व्यापार (अन्य वस्तु में व्यापार) करता ही कब है ? क्योंकि यह अंगुली हिलती है, यह भी तेरे अधिकार की बात नहीं है। यह जड़ तो जड़ के कारण से हिलती है, तेरे (आत्मा के) कारण से नहीं; परन्तु तुझे मार्ग का पता ही नहीं है, अतः क्या हो ? परन्तु बापू! वीतरागदेव ने वस्तु का स्वरूप ऐसा ही कहा है।

समयसार की तीसरी गाथा में आया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने में रहे हुए धर्म अर्थात् स्वभावों का चुम्बन करता है, स्पर्श करता है; परन्तु कोई (अन्यद्रव्य) अन्यद्रव्य के द्रव्य, गुण अथवा पर्याय को चुम्बन अथवा स्पर्श नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणु को भी नहीं छूता। भाई! यह मूल बात है। भिन्न-भिन्न वस्तुएँ भिन्न-भिन्नरूप रहकर ही स्वयं टिककर बदल रही हैं; इसलिए तू धंधा (पर में प्रवृत्ति) करे और तेरे उत्साह से धंधा चलता है — ऐसी वस्तुस्थिति है ही नहीं।

यहाँ कहते हैं — जिनवाणी-भगवान का आगम, निर्वाण के कारण का कारण है। अहा! यह समयसार, प्रवचनसार आदि परमागम, जो भगवान की वाणी के अनुसार संतों की वाणी है, वह निर्वाण के कारण का कारण है। भाई! परम्परा से भगवान सर्वज्ञदेवकथित वाणी में से यह सब आया है और यह निर्वाण अर्थात् परमसुखस्वरूप, परमशान्तिस्वरूप, परमानन्दमय ऐसी जो मुक्ति, उस मुक्ति के कारण का कारण है। अहा! मुक्ति का कारण शुद्धरत्नत्रय मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग का (बाह्य) कारण यह परमागम है। अहाहा...! आत्मा की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान और आत्मा में रमणता वह सम्यक्चारित्र — इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, उसका निमित्तकारण परमागम (जिनवाणी) है। देखो, मोक्षमार्ग वह मोक्ष का कारण है और सच्चा आगम-परमागम वह मोक्षमार्ग का कारण है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न : — तो यहाँ आगम को मोक्षमार्ग का कारण कहा है ? (यानि कि दोनों भिन्न चीजें हैं तो कारण किसप्रकार कहा) ?

उत्तर : — भाई! यह निमित्त की बात है अर्थात् बाहर में निमित्त हो तो यही होता है। अहा! यदि कोई मोक्षमार्ग का निमित्त होवे तो वह सर्वज्ञपरमेश्वरकथित आगम ही निमित्त होता है; परन्तु अज्ञानी द्वारा कथित कल्पित शास्त्र मोक्षमार्ग के निमित्त नहीं हो सकते — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। अहो! वीतरागीशान्ति के बाह्यनिमित्त भी वीतराग के ही वचन होते हैं।

“जो सर्व भव्य के कर्णों को अमृत है.....”

देखो, यों तो भगवान की वाणी सर्व जीवों के कर्णों को अमृत है; परन्तु यहाँ ‘निखिलभविनाम्’ सर्व भव्यजीवों के कर्णों को अमृत है — ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि सुनकर जिसको अमृत प्रगट होता है — ऐसे भव्यजीवों को वाणी अमृतरूप है — ऐसा यहाँ कहना है। (अभव्यों को अन्दर में अमृत प्रगट ही नहीं होता)।

“जो भवभवरूपी अरण्य के उग्रदावानल को शान्त करने में जल है.....”

अहाहा...! कहते हैं कि वीतराग की वाणी कषायरूपी दावानल को शान्त करने के लिए जल है। जैसे विशाल वन-अरण्य जल रहा हो और यदि उसमें जल बरसे तो वह शान्त हो जाता है; इसीतरह भवभवरूपी.....अहाहा..! एकेन्द्रिय के भव, निगोद के भव, पशु के भव — ऐसे एक-एक शरीर में अनंतजीव होते हैं — ऐसे भवभवरूपी चौरासी लाख अवतारों का परिभ्रमण का महावन है। उसमें राग-द्वेष-मोहादिरूप उग्र दावानल जल रहा है। यहाँ कहते हैं कि उस उग्र दावानल को शान्त करने के लिए वीतराग की वाणी जल है। अहा..! जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे अग्नि-भट्टी हैं, दावानल हैं। जैसे हिंसादिरूप पाप के भाव दावानल हैं, वैसे ही दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पुण्य के भाव भी दावानल हैं, भट्टी हैं और उसको शान्त करने के लिए वीतराग की वाणी जल के समान है। अहा! यह तो एक वीतराग की ही वाणी बताती है कि यह पुण्यभाव, जो कि राग है, उसको छोड़कर यहाँ निज अन्तर की चीज में आ जा, तुझको शान्ति होगी; इसके अलावा शान्ति नहीं होगी। बहुत कड़क बात है बापू! (परन्तु यह वस्तुस्थिति है)।

जैसे कोई कंटीले वन में मार्ग भूल जाये कि जहाँ सर्वत्र काँटे ही काँटे हों और ऊपर से भी काँटे ही गिरते हों तो, उसको मार्ग नहीं सूझता; यहाँ से कहाँ जाना है और कहाँ निकलना है ? बिचारा भारी उलझन में। ऊपर बादल और नीचे (कंटीली) धरती दिखे; परन्तु बीच में मार्ग नहीं मिले तो परेशान होगा या नहीं ? इसीतरह इस भव-भवरूपी वन में महाअग्नि जल रही है। भाई! यह स्त्री का, पुत्र का और धन कमाने का जो प्रेम है, वह सब आग है बापा! वह शमन करना दुष्कर, ऐसी उग्र सुलगती आग है। अब इसको कहाँ जाना ? (तो) यहाँ कहते हैं कि वीतराग की वाणी उस आग को शान्त करने के लिए जल है। वीतराग की वाणी कहती है — प्रभु! तू अन्दर नित्यानन्दस्वरूप है, वहाँ जा! तुझे मार्ग मिलेगा, आग शान्त होगी, शान्ति होगी। लो, ऐसी अलौकिक वाणी! परन्तु लोगों को कठिन पड़ती है — क्या हो ?

देखो, द्वारिका नगरी नौ योजन लम्बी और चार योजन चौड़ी थी। उसके गढ़ सुवर्णमयी थे और कंगुरे मणिरत्नों के थे। वह द्वारिका नगरी जब जली तो छह महीने तक जलती रही। इसीप्रकार अन्दर इस जीव की चैतन्यनगरी अनंतकाल से जल रही है। पुण्य-पाप के भावोंरूप उग्र दावानल से जल रही है। अहा! ये बड़े पैसेवाले और बड़े देवता भी दावानल में जल रहे हैं। यहाँ तो यह बात है भाई! यहाँ तो कहते हैं कि पैसेवाले और महाऋद्धिवाले भी सुखी नहीं हैं। उनको सुखी कौन कहे ? उन जैसे पागल ही उनको सुखी कहते हैं।

अहा! भवभवरूपी जो अरण्य है, उसमें मिथ्यात्व और कषायरूपी उग्र दावानल जीव को अनंतकाल से जला रहा है। उस दावानल को शान्त कैसे किया जाये ? तो कहते हैं कि उसको शान्त करने के लिए भगवान की वाणी जल के समान है। अहा! मिथ्यात्व और पुण्य-पाप से हटकर तू अन्दर भगवान चिदानन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र हो, उसमें लीन हो और वीतरागता प्रगट कर, आग शान्त होकर परमशान्ति प्रगट होगी। लो! यह वीतराग की वाणी बताती है; इसलिए उस आग को शान्त करने के लिए वह जल के समान है।

अहा! भगवान वीतरागदेव ऐसा फरमाते हैं कि हमारे सामने देखने से, हमको मानने से, हमारे लक्ष्य से तुझे राग ही होगा; क्योंकि हम (तेरे लिये) परद्रव्य हैं; और भले ही वह शुभराग हो तो भी आग है, भट्टी है। ऐसा तो वीतराग ही कह सकते हैं, वरना अज्ञानी की क्या ताकत! मार्ग तो ऐसा है बापा!

अहाहा....! अन्दर वीतरागी अमृत से भरपूर भरा हुआ चैतन्य का पुंज प्रभु आत्मा है; परन्तु अरे! इस रंक को वह कैसे बैठे ? अहा! अन्दर देखे तो रत्न देखने को मिलें; परन्तु वह देखता ही नहीं; तो फिर रत्न पायेगा तो कहाँ से ? मोक्षमार्गप्रकाशक (अधिकार पहला, पेज-२०) में कहा है कि — ‘किसी कोढ़ी को अमृत मिले तो भी वह उसका पान नहीं करे अथवा किसी दरिद्री को चिन्तामणिरत्न मिलने पर भी उसको नहीं देखे तो वह महाभाग्यहीन है। इसीतरह कोई भगवान वीतराग द्वारा कथित ऐसे परमागम को न सुने और प्रेम से नहीं विचारे तो उसके अभाग्य की महिमा कौन करे ? (वह तो महा दुर्भागी है)। भले ही वह संसार में कितना भी बड़ा (राजा अथवा सेठ) हो तो भी वह अभागी है।

अहो! भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव ने तो परमवीतरागभाव दिखलाया है और राग के कंकर तो चुन-चुनकर निकालने की बात की है। अहा! यहाँ कहते हैं कि वीतराग की ऐसी वाणी भवभवरूपी अरण्य के उग्र दावानल को शान्त करने के लिए जल के समान है।

“और जो जैन योगियों द्वारा सदा वंद्य हैं — ऐसे इन जिनभगवान के सद्वचनों को (सम्यक् जिनशासन को) मैं प्रतिदिन वंदन करता हूँ।

अहा! देखो, जिनने वीतराग की वाणी जानी है और अन्दर वीतरागता प्रगट की है, उन योगियों को-मुनिवरों को वह (जिनवाणी) सदा वंद्य है; परन्तु राग के अर्थियों को वह वाणी वंद्य नहीं होती। क्यों ? क्योंकि वे वाणी को जानते ही नहीं। भाई! ऐसा धर्म है। वरना बाहर में (राग में) तो होली ही होली है।

अहा! वीतरागदेव कहते हैं — अन्दर तेरा भगवान अनाकुल वीतरागता की मूर्तिस्वरूप नित्य विराजमान है, उसके दर्शन कर और उसमें रम। अब सबेरे उठकर एकदम मन्दिर दौड़ता है तो वहाँ अन्दर जा न प्रभु! क्योंकि मन्दिर तो परवस्तु है। शुभराग होने पर मन्दिर के प्रति लक्ष्य जाता है, परन्तु वह शुभराग कोई धर्म नहीं है। बहुत कठोर, किन्तु सर्वज्ञदेव के द्वारा कही हुई बात है। अहा! भगवान! तू कौन है ? प्रभु! तू परमेश्वर है; मेरी ही जाति का तू है। जैसे मैं परमेश्वर हुआ हूँ, वैसे तू भी परमेश्वर होनेयोग्य है; संसार में परिभ्रमण करनेयोग्य नहीं। विकल्पमात्र से हटकर स्वभाव में आ जा! अहा! ऐसा मार्ग.....!

अहाहा...! वीतराग परमेश्वरदेव की वाणी जैन योगियों द्वारा सदा वंद्य है अर्थात् जिनको आंशिक वीतरागता प्रगट हुई है — ऐसे जैन संतों द्वारा यह वीतरागता को बताने-वाली जिनवाणी आदरणीय है, पूजनीय है। कलश टीका (कलश-३) में भी आया है न कि जिनवाणी सर्वज्ञ अनुसारिणी होने से पूज्य है। भाई! यह समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि आदि जिनवाणी ही है। भगवान की कही वाणी, जो परम्परा से चली आई है; वही यह है। अन्य श्वेताम्बर में यह वाणी आई ही नहीं है और है ही नहीं; क्योंकि उन्होंने तो नये ही कल्पितशास्त्र बनाये हैं। भाई! वस्तु ऐसी है, तुमको रुचे न रुचे तुम्हारी मर्जी, वरना वस्तु इसप्रकार सिद्ध हुई है। इसलिए तो यहाँ आगम के ऊपर जोर दिया है कि सच्चे आगम को पहिचानो-जानो और सच्चे आगम में कहा है, उसप्रकार वस्तु को न्यून-अधिक और विपरीतता से रहित यथातथ जानो।

अहाहा...! मुनिराज कहते हैं कि ऐसे इन जिनभगवान के सदुवचनों को (सम्यक् जिनशासन को) मैं प्रतिदिन वंदन करता हूँ। इसप्रकार भगवान द्वारा कथित सद्वचन जोकि सम्यक् जिनशासन है, उसको मुनिराज वंदन करते हैं; उसकी महिमा जानकर उसका आदर-विनय करते हैं।

इसप्रकार यह आठवीं गाथा पूर्ण हुई।

देखो, पहले देव की व्याख्या की और कहा कि वीतरागसर्वज्ञ अरहन्तपरमात्मा ही यथार्थदेव हैं। भाई! यों ही अरहन्त-अरहन्त करने से कुछ नहीं होता; अपितु उनके स्वरूप को यथार्थरूप से जानना चाहिए। अहा! अरहन्तदेव ऐसे ही होते हैं — धर्मीजीव को ऐसी यथार्थ श्रद्धा होती है। अहा! निज आत्मा की सम्यक् (निश्चय) श्रद्धा के साथ, ऐसा एक देव के स्वरूप की श्रद्धा का भाव उसको अवश्य होता है। फिर यह बताया कि उसको आगम की भी कैसी यथार्थ श्रद्धा होती है। अब आगम में कथित नवतत्त्वों-नवपदार्थों की बात करते हैं। ●

जिसे ऐसा लगे कि मेरा जीवन निष्फल गया,
वह सफलता का मार्ग लेता है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१८१

नियमसार गाथा-९

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९ ॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम्।
तत्त्वार्था इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ॥९ ॥

(हरिगीत)

षट्द्रव्य पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, कालाकाश हैं।
ये विविध गुण-पर्याय से संयुक्त षट् तत्त्वार्थ हैं ॥९ ॥

गाथार्थ :— जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश — यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि विविध गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में) छहद्रव्यों के पृथक्-पृथक् नाम कहे गये हैं।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक दस प्राणों से (संसारदशा में) जो जीता है, जियेगा और पूर्वकाल में जीता था, वह “जीव” है — यह संग्रहनय कहा। निश्चय से भावप्राण धारण करने के कारण “जीव” है। व्यवहार से द्रव्यप्राण धारण करने के कारण “जीव” है। शुद्ध-सद्भूत-व्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण “कार्यशुद्ध* जीव” है। अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार से मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने के कारण “अशुद्धजीव” है। शुद्ध निश्चय से सहजज्ञानादि परमस्वभाव गुणों का आधार होने के कारण “कारणशुद्ध जीव” है। यह (जीव) चेतन है; इसके चेतन गुण हैं। यह अमूर्त है; इसके अमूर्त गुण हैं। यह शुद्ध है; इसके शुद्ध गुण हैं। यह अशुद्ध है; इसके अशुद्ध गुण हैं। पर्याय भी इसीप्रकार है।

* प्रत्येक जीव शक्ति-अपेक्षा से शुद्ध है अर्थात् सहजज्ञानादिक सहित है, इसलिए प्रत्येक जीव “कारणशुद्ध जीव” है, जो कारणशुद्ध जीव को भाता है-उसी का आश्रय करता है, वह व्यक्ति-अपेक्षा से शुद्ध (केवलज्ञानादि सहित) होता है अर्थात् “कार्यशुद्ध जीव” होता है। शक्ति में से व्यक्ति होती है, इसलिए शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है। ऐसा होने से शक्तिरूप शुद्धतावाले जीव को कारणशुद्ध जीव कहा जाता है और व्यक्त शुद्धतावाले जीव को कार्यशुद्ध जीव कहा जाता है। (कारणशुद्ध अर्थात् कारण-अपेक्षा से शुद्ध अर्थात् शक्ति-अपेक्षा से शुद्ध। कार्यशुद्ध अर्थात् कार्य-अपेक्षा से शुद्ध अर्थात् व्यक्ति-अपेक्षा से शुद्ध।)

और जो गलन-पूरणस्वभाव सहित है (अर्थात् पृथक् होने और एकत्रित होने के स्वभाववाला है) वह पुद्गल है। यह (पुद्गल) श्वेतादि वर्णों के आधारभूत मूर्त है; इसके मूर्त गुण हैं। यह अचेतन है; इसके अचेतन गुण हैं।

स्वभावगतिक्रियारूप^१ और विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्वभावगति का और विभावगति का निमित्त सो धर्म है।

स्वभावस्थितिक्रियारूप^२ और विभावस्थितिक्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का (स्वभावस्थिति का तथा विभावस्थिति का) निमित्त सो अधर्म है।

(शेष) पाँच द्रव्यों को अवकाशदान (अवकाश देना) जिसका लक्षण है, वह आकाश है।

(शेष) पाँच द्रव्यों को वर्तना का निमित्त, वह काल है।

(जीव के अतिरिक्त) चार अमूर्त द्रव्यों के शुद्ध गुण हैं; उनकी पर्यायें भी वैसी (शुद्ध ही) हैं।

[अब, नवमी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा छह द्रव्य की श्रद्धा के फल का वर्णन करते हैं :—]

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाभोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम् ।
हृदि सुनिशितबुद्धिभूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६ ॥

१. चौदहवें गुणस्थान के अन्त में जीव ऊर्ध्वगमनस्वभाव से लोकान्त में जाता है, वह जीव की स्वभावगतिक्रिया है और संसारावस्था में कर्म के निमित्त से गमन करता है, वह जीव की विभावगतिक्रिया है। एक पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की स्वभावगतिक्रिया है और पुद्गलस्कन्ध गमन करता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) विभागगतिक्रिया है। इस स्वाभाविक तथा वैभाविक गतिक्रिया में धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

२. सिद्धदशा में जीव स्थिर रहता है, वह जीव की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और संसारदशा में स्थिर रहता है, वह जीव की वैभाविक स्थितिक्रिया है। अकेला परमाणु स्थिर रहता है, वह पुद्गल की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और स्कन्ध स्थिर रहता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविक स्थितिक्रिया है। इस जीव-पुद्गल की स्वाभाविक तथा वैभाविक स्थितिक्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

(वीरछन्द)

जो जिनपति के मार्ग उदधि के मध्य सदा स्थिर रहता।
 वह षट्द्रव्य समूह रत्न है महातेज किरणों वाला ॥
 तीक्ष्ण बुद्धियुत जो नर उसको भूषणार्थ उर धरते हैं।
 परमश्रीरूपी रमणी को वे नर निश्चित वरते हैं ॥१६ ॥

श्लोकार्थ :- इसप्रकार उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्न को, जोकि (रत्न) तेज के अम्बार के कारण किरणोंवाला है और जो जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित है; उसे जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष हृदय में भूषणार्थ (शोभा के लिए) धारण करता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है (अर्थात् जो पुरुष अन्तरंग में छह द्रव्य की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिलक्ष्मी का वरण करता है) ॥१६ ॥

गाथा ९ की टीका पर प्रवचन

“यहाँ (इस गाथा में) छहद्रव्यों के पृथक्-पृथक् नाम कहे गये हैं।”

देखो, भगवान ने छहद्रव्य देखे हैं। अहाहा...! अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाश — इसतरह भगवान के ज्ञान में छहद्रव्य आये हैं। अहा! गाथा में इन छहद्रव्यों को ‘तच्चत्था’ तत्त्वार्थ भी कहा है। यह छहद्रव्य का स्वरूप कथन भगवान की वाणी में आया है। इसको (समकिती को) इन छहद्रव्यों को यथार्थ जैसे कहे हैं, वैसे जानना-मानना चाहिए (अर्थात् समकिती धर्मात्मा छहद्रव्यों को यथार्थ (ज्यों का ज्यों) जानता-मानता है)।

प्रश्न :- परन्तु यह सब जानने में तो बहुत बोझ है ?

उत्तर :- बापू! इसमें बोझ नहीं है। यह तो वस्तुस्थिति है; क्योंकि ज्ञान की एकसमय की पर्याय छहद्रव्यों को जानती है — ऐसा उसका धर्म है और उनको प्रयत्न से जान — ऐसा क्या नहीं कहा है ? योगसार (गाथा-३५) में कहा है कि ‘जानो करि प्रयत्न..’ वहाँ योगसार में तो निश्चय से (निश्चय की मुख्यता से) बात की है; तो भी कहा है कि छहद्रव्यों को प्रयत्न से जानो।

प्रश्न :- छहद्रव्यों को जानना तो व्यवहार है न ?

उत्तर :- (हाँ) तो भी यों ही (ऊपरी-ऊपरी) नहीं, परन्तु (स्वरूपसहित) प्रयत्न से जानो — ऐसा वहाँ कहा है।

अब पहले जीव की व्याख्या करते हैं —

“स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक दस प्राणों से (संसारदशा में) जो जीता है, जियेगा और पूर्वकाल में जीता था, वह ‘जीव’ है — यह संग्रहनय कहा।”

देखो, पहले व्यवहारजीव सिद्ध किया है। ऐसे कि जो पाँच इन्द्रियाँ, तीन — मन, वचन और काय तथा श्वासोच्छ्वास और आयु — इसप्रकार दस प्राणों से संसार अवस्था में जीता है, जियेगा और जीता था; उसको जीव कहते हैं। यह संग्रहनय कहा। संग्रह से सबको एकरूप वर्णन किया। अब कहते हैं —

“निश्चय से भावप्राण धारण करने के कारण जीव है।”

वस्तुतः तो ज्ञान, आनंद, सत्ता भावप्राण धारण करनेवाले को जीव कहते हैं; परन्तु भावप्राणों में अशुद्ध भावप्राण भी लिये जाते हैं न! इसलिए शुद्ध भावप्राण और अशुद्ध भावप्राण — ऐसे दो लेना।

अशुद्ध भावप्राण माने ?

इन जड़ पाँच इन्द्रियों, मन-वचन-काय, श्वासोच्छ्वास और आयु के निमित्त से, जीव की जो अशुद्ध दस प्राण की योग्यता है; वह अशुद्ध भावप्राण है और उसके द्वारा जो जीता है, वह जीव है — यह अशुद्धनय कहा

इसमें क्या कहा वह समझे ?

इन दस प्राणों से जीव जीता है — ऐसा कहना असद्भूतव्यवहारनय का विषय है तथा स्वयं अपनी (अशुद्ध भावप्राण की) योग्यता से जीता है — ऐसा कहना अशुद्धनय का कथन है। पाँच इन्द्रियों की योग्यता, मन-वचन-काय का वीर्य, श्वासोच्छ्वास और आयु के अनुसार रहने की योग्यता, वह अशुद्ध भावप्राण है और उससे जीता है, उसे अशुद्धनय से जीव कहते हैं। रोटी खाने से जीता है, वह जीव — ऐसा नहीं है। यदि अन्दर के भावप्राण कहें तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनंद-सत्ता — ऐसे शुद्ध भावप्राण को धारण करके उनसे जीता है, उसको जीव कहते हैं। तथा —

“व्यवहार से द्रव्यप्राण धारण करने के कारण जीव है।”

यह पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय, श्वासोच्छ्वास और आयु — ये सब द्रव्यप्राण हैं न! तो, व्यवहार से उनको धारण करने के कारण जीव है। अब कहते हैं —

“शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण ‘कार्यशुद्ध जीव’ है।”

अहाहा....! भगवान् आत्मा शक्तिरूप से अन्दर सदा केवलज्ञान स्वभावमय वस्तु है। अब जिसने स्वानुभव द्वारा उसी में पूर्ण लीनता करके केवलज्ञान की कार्यदशा प्रगट की है, उसको कार्यशुद्ध जीव कहते हैं। आशय यह है कि उसका कार्य अब पूर्ण शुद्ध हो गया है। ‘शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से ऐसा कहा है — इसका आशय यह है कि केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त-आनन्द और अनन्तवीर्य — ऐसी जो अनन्तचतुष्टयमय पर्याय प्रगट हुई है, वह पूर्ण शुद्ध है इसलिए शुद्ध; वह अपनी पर्याय है इसलिए सद्भूत और भेद पड़ा इसलिए व्यवहार — इसप्रकार शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से जिन केवलज्ञान, अनन्त-आनन्द आदि प्राणों द्वारा जीता है, वह कार्यशुद्ध जीव है। अहाहा...! (तत्त्व) बहुत सूक्ष्म है!

अरे! अभी तो मूल मुद्दे की बात ही गुप्त (गुम) हो गई है और बाहर की बातें रह गई हैं। अहा! उसमें (बाहर में) ही जिन्दगी चली जाती है और कुछ फल नहीं मिलता; हाँ, एक संसार में परिभ्रमण का फल अवश्य मिलता है अर्थात् उसको चौरासी के अवतार फलते-फूलते हैं।

अहाहा...! जीव को-आत्मा को अरहन्तपद की अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि की प्राप्ति होती है, वह व्यवहार है; क्योंकि वह पर्याय है, भेद है। वह पर्याय जीव में है; इसलिए सद्भूत है और पर्याय पूर्ण निर्मल है; इसलिए शुद्ध — इसप्रकार ‘शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से...’ — ऐसे तीन शब्द हैं या नहीं ? है न! तो कहते हैं कि शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से केवलज्ञानी अरहन्तपरमात्मा को यहाँ कार्यशुद्ध जीव कहा है। अहाहा...! यहाँ ज्ञान, आनन्द आदि की पूर्णदशा को प्राप्त परमात्मा को कार्यशुद्ध जीव कहा है; जबकि त्रिकाली एक ज्ञायकस्वभावी जीव को कारणशुद्ध जीव कहते हैं। इसप्रकार एक जीवद्रव्य में कारण-कार्य के दो भेद हैं। समझ में आया ? हाँ, परन्तु वीतरागमार्ग के पक्ष में चढ़े तो न ?

अहाहा..! कहते हैं — भगवान केवली परमात्मा 'कार्यशुद्ध जीव' हैं। क्यों ? क्योंकि 'केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण 'कार्यशुद्ध जीव' है। देखो, इसमें केवलज्ञानादि शुद्धगुणों — इसतरह 'गुण' शब्द लिया है; परन्तु भाई! यह तो पर्याय है, उसको यहाँ गुण कहा है। जो केवलज्ञानादि हैं, वे तो पर्याय अर्थात् अवस्था हैं और वह क्षायिकभावरूप है; जबकि ज्ञानादिगुण हैं, वे त्रिकाली हैं और वे पारिणामिकभावरूप हैं।

अहाहा...! आत्मा वस्तु है या नहीं ? है; तो वह अत्यन्त गुण का एकरूप (एक-पिण्डरूप) एक सम्पूर्ण वस्तु है और उसको 'कारणजीव' कहते हैं तथा उसका अन्तरंग में स्वीकार होकर, उसमें स्थिरता हो और पूर्णदशा प्रगट हो, उसको कार्यशुद्ध जीव कहते हैं।

इसप्रकार एक जीव में कारण और कार्य के दो भेद पड़ते हैं।

प्रश्न : — आज तो यह एकदम नयी बात आई है ?

उत्तर : — भाई! यह तो तुझे अपरिचय के कारण नयी लगती है, वरना यह तो अनादि की बात है। भगवान तीर्थकरदेव अनंतकाल से यह कहते आये हैं। अहा...! यहाँ कार्यशुद्ध जीव की व्याख्या करते हैं। तो —

- पर में कार्य नीपजे (उत्पन्न हो) वह कार्यशुद्ध जीव नहीं,
- जीव में अशुद्ध रागादि कार्य उत्पन्न हो, वह कार्यशुद्ध जीव नहीं,
- जीव में अपूर्ण (शुद्ध) पर्याय उत्पन्न हो, वह भी कार्यशुद्ध जीव नहीं। परन्तु
- जीव में पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगटे अर्थात् केवलज्ञानादि प्रगटे, वह कार्यशुद्ध जीव है।

भाई! जो कार्यशुद्ध जीव है, वह ऐसी पूर्ण शुद्धपर्यायों का आधार है; पर का आधार नहीं, रागादि का नहीं और अपूर्ण पर्याय का भी नहीं। ऐसी सूक्ष्म बात है। अब कहते हैं—

“अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार से मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।”

देखो, क्या कहते हैं ? कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान — यह पर्याय है और अपूर्ण है इसलिए अशुद्ध है और वह जीव की है इसलिए सद्भूत है,

और भेद है इसलिए व्यवहार है — इसप्रकार अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार से मतिज्ञानादि चार ज्ञान द्वारा जीवे, वह विभाविक जीव-अशुद्धजीव है - ऐसा कहते हैं। चारज्ञान अपूर्ण हैं; अतः वे अशुद्ध हैं, इसलिए अशुद्धजीव है। एक पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त, वह कार्यशुद्ध जीव है और इन चारज्ञानों को प्राप्त है, वह अशुद्धजीव है। देखो, यहाँ मतिज्ञानादि चारज्ञान को विभावगुण कहा है। क्यों ? क्योंकि अपूर्ण होने से विभावपर्याय है तथा उनमें कर्म का निमित्तपना भी है। अब यह वस्तुस्थिति है। अहाहा...! बापू! अन्दर अपनी वस्तु (आत्मा) है, उसको समझे बिना ये तेरे सामायिकादि क्या काम आयेंगे ?

प्रश्न : — पर ये पाठ तो करते हैं न ?

उत्तर : — अब कुछ भी समझे बिना यह सामायिक का पाठ बोल जाए और माने कि सामायिक हो गई; परन्तु इसमें कुछ भी सामायिक नहीं है। अहाहा...! भगवान त्रिकाली चैतन्यप्रभु क्या है और उसकी पूर्ण व अपूर्ण पर्याय क्या है — यह जाने बिना सच्चाज्ञान (सम्यग्ज्ञान) नहीं होता और सच्चेज्ञान के बिना सामायिक कैसी ? सच्चाज्ञान हुए बिना सामायिक होती ही नहीं।

तब कोई कहे कि हमको स्त्री-पुत्रादि की व्यवस्था देखना या यह जानने में रुक जाना ?

अरे भाई! तू किसकी व्यवस्था करता है ? मैं दूसरों की व्यवस्था करता हूँ — यह तेरा मिथ्या अभिमान है। अहा...! वे सब तो जगत के जीव हैं और वे स्वयं के कारण टिक रहे हैं और स्वयं से ही बदल रहे हैं, क्या सब तेरे कारण से निभते हैं ? बापू! ऐसा है ही नहीं।

प्रश्न : — परन्तु हम रोटियाँ देते हैं तो वे निभते हैं न ?

उत्तर : — अहा! कौन रोटी दे ? क्या रोटियाँ तेरी हैं कि तू दे सके, वह तो जड़ की हैं; उस जड़ को तू कैसे दे सकता है ? जड़ का स्वामी तो जड़ है और यदि तू उसका स्वामी हो तो तू भी जड़ हुआ। बापू! यह तो महा अभिमानी का नशा उतर जाये — ऐसा है। अहा! बड़ा अधिकारी हो तो उसको सत्ता का नशा चढ़ता है और

रौब करता है कि मैं बड़ा हूँ — ऐसा हुकम करता हूँ; परन्तु धूल भी बड़ा नहीं है, सुन न! पाप में बड़ा हो रहा है, बड़ा पापी हो रहा है; वरना यह हुकम (आदेश) की वाणी ही तेरी नहीं है। अब कहते हैं —

“शुद्धनिश्चय से सहजज्ञानादि परम-स्वभावगुणों का आधार होने के कारण ‘कारणशुद्ध जीव’ है।”

देखो, यहाँ जो ‘परमस्वभाव ज्ञानादि गुण’ कहे वे गुण ही हैं, पर्याय नहीं; और उनका आधार होने के कारण ‘कारणशुद्ध’ जीव है। अहा! भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि जो त्रिकाली गुण हैं, उन गुणों का आधार है। इसमें द्रव्य आधार और गुण आधेय — ऐसा कहते हैं। अहा! सहजज्ञानादि परम-स्वभावगुणों का आधार द्रव्य है; इसलिए उसको कारणशुद्ध जीव कहते हैं।

प्रश्न :— एकेन्द्रिय जीव, दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव इत्यादि जीव तो सुना था; परन्तु यह कारणशुद्ध जीव, कार्यशुद्ध जीव कहाँ से निकला ?

उत्तर :— अब सुन न बापा! तूने कभी सत्य सुना ही नहीं। ये एकेन्द्रिय और दो इन्द्रिय आदि जीव ही नहीं हैं; क्योंकि अन्दर ज्ञानानन्दमूर्तिरूप जो है, वह जीव है। अहाहा..! यहाँ तो त्रिकाली ज्ञान, आनन्द, आदि गुणों का आधार — ऐसा जो आत्मा, जो स्वयं ध्रुव...ध्रुव शाश्वतवस्तु है; उसको कारणशुद्ध जीव कहते हैं और उसका आश्रय लेकर उसमें ही लीनता करने से जो पूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं, उसे कार्यशुद्ध जीव कहते हैं — इसप्रकार जीव में (कारणशुद्ध जीव और कार्यशुद्ध जीव) ऐसे दो भेद पड़ते हैं। अहो! इसप्रकार जीव की व्याख्या करके मुनिराज ने बहुत स्पष्टीकरण किया है। अतः इसको वस्तु जैसी है, वैसी जानना चाहिए ।

देखो, यहाँ कारणजीव और कार्यजीव की व्याख्या की है। सातवीं गाथा में कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा की व्याख्या थी। वहाँ, केवलज्ञान को प्राप्त अरहन्तपरमात्मा को कार्यपरमात्मा कहा था और उसके कारणरूप त्रिकाली जीव को कारणपरमात्मा कहा था। अहाहा! दोषरहित और केवलाज्ञानादि सहित — ऐसे देव को परमात्मा कहा; परन्तु इससे विपरीत कोई परमात्मा नहीं होता। अहाहा....! परमात्मा किसको कहते हैं ? अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-आनन्द आदि जिनको प्रगट हुए हैं — ऐसी पूर्णदशा को प्राप्त

हैं, उन अरहन्त भगवान को परमात्मा कहते हैं और उनको कार्यपरमात्मा क्यों कहते हैं ? क्योंकि जो त्रिकाली कारणपरमात्मा है, उसमें से वह कार्य हुआ है।

प्रश्न : — परन्तु इसमें अन्य जीव की दया पालनी — ऐसा तो कुछ आया ही नहीं ?

उत्तर : — भाई! यहाँ तो अपने जीव की दया की बात है। स्वयं जीव है या नहीं ? अहाहा..! मैं एक त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकंद हूँ — ऐसा स्वीकार करके, उसमें ही लीन रहना; वह जीव की दया है और वह परमधर्म है। वरना पर की दया तो कौन पाल सकता है ?

अहाहा..! अरिहन्त भगवान पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं अर्थात् जो ज्ञानादिगुण शक्तिरूप त्रिकाल हैं, वे उनको वर्तमान दशा में-अवस्था में पूर्णता को प्राप्त हैं और उनको कार्य-परमात्मा कहते हैं।

अहाहा..! परन्तु वे कार्यपरमात्मा हुए कहाँ से ? त्रिकालकारणरूप वस्तु विद्यमान है, उसमें से। अहाहा..! भगवान आत्मा वस्तुरूप से तो अन्दर सहजज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनन्तशक्ति का आधार — ऐसा कारणपरमात्मा ही है; परन्तु जब उस कारणपरमात्मा को, अन्तर्दृष्टि में स्वीकार करे और उसी में लीन होवे, तब उसका केवलज्ञानादि कार्य प्रगट होता है और तब वह कार्यपरमात्मा होता है। इसप्रकार सातवीं गाथा में कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा की व्याख्या आई थी तथा यहाँ कारणशुद्ध जीव और कार्यशुद्ध जीव की व्याख्या है। अहा! वस्तु तो वह की वही है। यहाँ जीव में (कारण, कार्य) उतारना है; इसलिए कारणशुद्ध जीव और कार्यशुद्ध जीव की बात करते हैं।

अहाहा....! यह जो अन्दर अकेली चैतन्य....चैतन्य....चैतन्य — ऐसी त्रिकाल ध्रुव, नित्य, अभेद, एकरूप, शक्तिरूप वस्तु है; उसको यहाँ कारणशुद्ध जीव कहा है। उसकी व्याख्या इसप्रकार है —

“प्रत्येक जीव शक्ति-अपेक्षा से शुद्ध है अर्थात् सहजज्ञानादिक सहित है; इसलिए प्रत्येक जीव “कारण शुद्ध” जीव है।”

क्या कहा ? कि भगवान आत्मा...प्रत्येक आत्मा, शक्ति अर्थात् स्वभाव की सामर्थ्य अपेक्षा से शुद्ध है तथा वह सहज अर्थात् अकृत्रिम त्रिकाल ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि जो गुण हैं, उन सहित है; इसलिए प्रत्येक जीव कारणशुद्ध जीव है। यहाँ जो

सहजज्ञानादि कहे गये हैं, वह त्रिकाली गुण-शक्तियों की बात है; पर्याय की नहीं। बापू! यह तो ध्यान रखकर सुनना चाहिए — ऐसी सरस बात सुनने मिलना कठिन है। अहा! कहीं नहीं सुनी हो — ऐसी उत्कृष्ट सार-सार बात है।

अहाहा...! जैसे छोटी पीपल के दाने-दाने में चौंसठ पहरी चरपराहट की शक्ति भरी है, उसीतरह प्रत्येक भगवान आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि की शक्ति भरी पड़ी है। अहाहा..! भगवान आत्मा ऐसी-ऐसी अनन्तशक्तियों का समुद्र है। प्रभु! वह पामर नहीं है।

प्रश्न : — परन्तु वह पामर दिखता है न ?

उत्तर : — क्या दिखता है ? वह तो बाहर से व्यर्थ ही ऐसा मानता है। मूर्ख है न ! इसलिए अन्दर परमात्मा होने पर भी अपने को पामर मानता है। देखो, यहाँ कहते हैं कि 'प्रत्येक जीव शक्ति-अपेक्षा से शुद्ध है।' अहाहा...! सहजज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य इत्यादि त्रिकाल गुणों सहित होने से प्रत्येक जीव कारणशुद्ध जीव है। अहो! निगोद से लेकर सभी अनन्त आत्माएँ — प्रत्येक इसप्रकार निश्चय से त्रिकाल कारणशुद्ध जीव है।

“जो कारणशुद्ध जीव को भाता है, उसी का आश्रय करता है; वह व्यक्ति अपेक्षा से शुद्ध (केवलज्ञानादि सहित) होता है अर्थात् 'कार्यशुद्ध जीव' होता है.....”

अहाहा..! कहते हैं — अन्दर स्वयं कारणप्रभु-कारणशुद्ध जीव है, उसकी जो भावना करता है अर्थात् उसमें ही एकाग्र होता है, वह व्यक्तिरूप से अर्थात् प्रगटपर्यायरूप से केवलज्ञानादि सहित होता है। अहाहा...! अन्दर सामान्य...सामान्य....सामान्य ध्रुव, एकरूप चैतन्यवस्तु स्वयं है; उसका ही जो आश्रय करता है अर्थात् लीनता द्वारा उसी में एकाग्र होकर रहता है, वह व्यक्त-प्रगटदशा में पूर्ण केवलज्ञानादि सहित होता है अर्थात् कार्यशुद्ध जीव होता है। अहा! उसका कार्य पूर्ण और सफल (मोक्षरूप) हो गया है न! अतः उसको कार्यशुद्ध जीव कहते हैं। लो, इसमें मोक्ष का कारण और कार्य दोनों आ गये। (भाई!) भाषा तो सादी है; परन्तु भाव तो अन्दर जो है, वही है।

अहा! जैसे छोटी पीपल आकार में छोटी होने पर भी, उसमें हरा रंग और चौंसठ पहरी चरपराहट रस शक्तिरूप से भरा पड़ा है; तो उसको कारण छोटी पीपल कहते हैं और उसको घिसने पर अन्दर विद्यमान शक्ति प्रगट होकर चौंसठ पहरी पूर्ण चरपराहट प्रगट होती है; तो उसको कार्य छोटी पीपल कहते हैं। अहाहा...! इसीप्रकार भगवान

आत्मा शुद्ध चिदानन्दप्रभु है, उसमें केवलज्ञानादि शक्तिरूप से भरे पड़े हैं; तो उसको 'कारणशुद्ध जीव' कहते हैं; और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा उसी में एकाग्र-लीन होकर रहने पर शक्ति विद्यमान है, वह प्रगट होकर केवलज्ञानादि सहित उसकी पूर्णदशा प्रगट होती है; अहा! उसको 'कार्यशुद्ध जीव' कहते हैं। अहा! ऐसी बात! परन्तु इसको अपने घर का पता ही नहीं है और पर की योजना बनाता है, बाहर में होशियारी करता है; परन्तु स्वयं कौन है — इसका कुछ पता नहीं चलता। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे 'दीपक तले अंधेरा' — इसप्रकार स्वयं चैतन्य के प्रकाशरूप होने पर भी मूढ़ अज्ञानी अंधकार में है, उसको कुछ पता नहीं है।

देखो, भगवान के आगम में नवतत्त्व कहे गये हैं। उनमें यह जीवतत्त्व का वर्णन है। कहते हैं कि अन्दर आत्मा शुद्धवस्तु है, वह पर से अत्यन्त भिन्न है और अन्दर निजशक्ति से अभिन्न है। अहाहा..! अपनी ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द आदि जो सहज शक्ति-गुण हैं, उनसे वह अभिन्न है। अहा! उस आत्मस्वरूप को यहाँ 'कारणशुद्ध जीव' कहा गया है और उसमें एकाग्रता करने से, उसको अन्तर्दृष्टि द्वारा स्वीकार करके उसमें लीन होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त-आनन्द इत्यादिरूप जो कार्यदशा प्रगट होती है, उसको यहाँ 'कार्यशुद्ध जीव' कहा है।

अहाहा...! वह किसका कार्य करने जाए ? क्या पर का कार्य करे ? पर का कार्य तो आत्मा कर ही नहीं सकता। क्या वह राग का कार्य करे ? राग भी उसका कर्तव्य नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा को पर का और राग का कर्ता माननेवाला वास्तव में जीव को ही नहीं मानता।

तो जीव क्या (कौन) है ?

अहाहा..! अन्दर भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्तगुण-शक्तिरूप है, वह कारणशुद्ध जीव है। निज ज्ञान-श्रद्धा में उसका स्वीकार करके, जो उसी में एकाग्र-लीन-स्थिर होता है; उसको पर्याय में कार्यशुद्धता प्रगट होती है। (निजस्वभाव में एकाग्रता-लीनता सो चारित्र है)। इसप्रकार केवलज्ञानादि सहित पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसको यहाँ कार्यशुद्ध जीव कहा गया है। उसको ही सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा कहा था और यहाँ उसको कार्यशुद्ध जीव कहा है। लो, यह जीव की व्याख्या है। अहो! आचार्यदेव ने अलौकिक व्याख्या की है।

प्रश्न : — जीव में ही कारणजीव और कार्यजीव — यह क्या ?

उत्तर : — भाई! अन्दर त्रिकालशक्ति कारणरूप से विद्यमान है; इसलिए वह कारणशुद्ध जीव है। अहा...! आत्मा वस्तु-पदार्थ है या नहीं ? अस्ति है या नहीं ? है न; वह अस्ति-होनेरूप है तो उसके ज्ञान, आनन्द आदि गुण-शक्तियाँ भी होनेरूप (अस्तिरूप) त्रिकाल है। अहा! ऐसी शक्तिरूप कारणपरमात्मा अथवा कार्यशुद्ध जीव है तथा यह तो नियमसार है न; अतः जिसको मोक्ष का मार्ग प्रगट करना हो, उसको इस कारणशुद्ध जीव में एकाग्र होना चाहिए — ऐसा कहते हैं। अहा! स्वयं ही कारणपरमात्मा अर्थात् कारणशुद्ध जीव है; उसमें एकाग्र-लीन होने पर, जो पूर्णदशा प्रगट होती है, प्राप्त होती है, वह कार्यशुद्ध जीव है। अहाहा..! जो केवलज्ञानादि सहित है, वह कार्यशुद्ध जीव है। अहो! यह तो अलौकिक बात है! ऐसी बात अन्यत्र कहीं-श्वेताम्बर में भी नहीं है।

“शक्ति में से व्यक्ति होती है; इसलिए शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है। ऐसा होने से शक्तिरूप शुद्धतावाले जीव को कारणशुद्ध जीव कहा जाता है और व्यक्त शुद्धतावाले जीव को कार्यशुद्ध जीव कहा जाता है।”

अहाहा....! कहते हैं — ‘शक्ति में से व्यक्ति होती है.....’ भाई! यह तो प्राप्त की प्राप्ति होती है। जिसमें हो, उसमें से आवे न! जैसे कुँ में पानी हो तो बाल्टी में आता है। अहाहा..! इसीप्रकार भगवान आत्मा अनंतज्ञान, दर्शन, आनन्दादि शक्तियों का महा कुँआ है; उसमें प्रवेश करने से-एकाग्र होने से उसकी पर्याय में व्यक्ति-अपेक्षा से पूर्णदशा प्रगट होती है। आशय यह है कि शक्ति है तो उसमें से प्रगटता होती है; परन्तु अरे! यह तो बाहर में खोजता-फिरता है।

यों तो टीका में पहले साधारण रीति से द्रव्यप्राण और भावप्राण से जीव का वर्णन किया; परन्तु तत्पश्चात् यह विशेष वर्णन किया है कि शक्तिरूप त्रिकालशुद्ध चैतन्यवस्तु कारणशुद्ध जीव है और उसकी शक्ति में से प्रगटनेवाली पूर्ण व्यक्तता कार्यशुद्ध जीव है। इसप्रकार कारणजीव और कार्यजीव के दो भेद किये हैं।

अहाहा...! प्रभु! तेरे कार्य का कारण तेरे ही अन्दर है; इसलिए तुझको व्यवहार की-देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा के विकल्प की, कार्यशुद्ध जीव अथवा कार्यपरमात्मा होने के लिए रंचमात्र आवश्यकता नहीं है तथा निजशक्ति में एकाग्र होने पर जो मोक्षमार्ग

प्रगट होता है, वह भी वस्तुतः कार्यशुद्ध जीव का (मोक्ष का) साक्षात् कारण नहीं है। क्यों ? क्योंकि पूर्ण कार्यशुद्ध जीव का कारण वास्तव में पूर्ण कारणशुद्ध जीव है — ऐसा कहते हैं। परन्तु (अज्ञानी) पामर होकर पड़ा है न; अतः इसको यह बात बैठना बहुत कठिन लगती है। भिखारी होकर वह ऐसा मानता है कि मैं रागी हूँ, मैं दीन-हीन पामर हूँ; परन्तु भगवान! तुझमें तो हम अनंतशक्ति देखते हैं न! प्रभु! तू तो अनंत चैतन्यलक्ष्मी का भण्डार है न! परन्तु अरे! यह बात इसको कैसे बैठे ?

जेतपुर में एक हलवाई का लड़का था। उसका नाम भगवान था। वह बहुत भोला था; इसलिए लोग उसको भगु कहते थे। वह ऐसा बोलता कि महाराज! भगु पशु है। इसीतरह यह (अज्ञानी) अन्दर भगवान होने पर भी पशु (मूढ़) होकर ऐसा बोलता है कि मैं पशु (मूढ़) हूँ। अहा! मैं मनुष्य हूँ, पशु हूँ, पैसेवाला हूँ, निर्धन हूँ, रूपवान हूँ, काला हूँ, शरीरवाला हूँ और अल्पज्ञ हूँ — ऐसा यह अपने को मान बैठता है, वह उस भगु की तरह पशु मूढ़ है। अहा! भगवान! यह सब तू नहीं होता, तू ऐसा है ही नहीं। तू तो भगवान है। तू अन्दर साक्षात् कारणपरमात्मा-कारणभगवान और कारणशुद्ध जीव है; परन्तु इसको मैं अन्दर कारणपरमात्मा हूँ — ऐसी प्रतीति होवे, तब प्रगट हो न! अहाहा...! मैं ऐसा कारणपरमात्मा हूँ, जिसकी ऐसी प्रतीति और ज्ञान होता है और जो उसी में स्थिर-लीन होकर रहता है, उसको पूर्ण आनन्द सहित कार्यशुद्ध जीव प्रगट होता है। भाई यह तो (परमात्मपना तो) घर में है और बाहर निकालने का है, कहीं बाहर से लाना नहीं है, बाहर से आना नहीं है। अन्दर कारणभगवान है, वह प्रकट होकर पर्याय में कार्य भगवान होता है।

भाई! मैं जीव हूँ — ऐसे तुझे निजसत्ता का स्वीकार करना हो तो मैं ऐसा (कारणशुद्ध जीव) हूँ — यह स्वीकार करना पड़ेगा। बापू! मैं पर की दया पालनेवाला और पर को मारनेवाला, लक्ष्मी-धन कमानेवाला और महान दान देनेवाला दानवीर हूँ — यह बात रहने दे प्रभु! क्योंकि यह सब तू है ही नहीं। यह तो तू व्यर्थ ही अपने को ऐसा मानता है। बहुत कड़क बात है बापा!

यहाँ कहते हैं शक्ति त्रिकाल है, उसमें से व्यक्ति होती है। यह तो प्राप्त की प्राप्ति है; 'है' उसमें से आयेगा न; न हो उसमें से क्या आयेगा ? शून्य में से क्या आयेगा ? कुछ आयेगा ही नहीं। ऐसा त्रिकालीध्रुव सच्चिदानन्दप्रभु सहज ज्ञानादिशक्तिरूप से

त्रिकाल विद्यमान है ही, स्वयं अन्दर कारणपरमात्मा रूप है ही और उसमें से व्यक्तिरूप प्रगट होता है; इसलिए कहते हैं कि शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है। इसतरह अन्दर ही अन्दर कारण और कार्य है, बाहर में कुछ नहीं। अहा! पिता पूँजी छोड़ गया हो तो तुरन्त खोजता है; परन्तु यह (धर्मपिता द्वारा छोड़ी हुई पूँजी) नहीं खोजता! क्या हो ? मूढ़ है न!

कहते हैं — ऐसा होने से अर्थात् शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है — ऐसा होने से 'शक्तिरूप शुद्धतावाले जीव को अर्थात् ज्ञान, दर्शन, आनन्द इत्यादि अनन्त सहज गुणवाले-शक्तिवाले जीव को कारणशुद्ध जीव कहा जाता है और व्यक्त शुद्धतावाले जीव को कार्यशुद्ध जीव कहा जाता है। अहाहा..! जैसा निर्मल-पवित्र स्वभाव है, वैसी पूर्ण निर्मलपर्याय प्रगट हो गई है, उसको कार्यशुद्ध जीव कहा जाता है। अहा..! यह तो अकेला मक्खन है।

भाई! यह तेरे परमहित की बात है कि तुझे निज परमकल्याणरूप केवलज्ञान के कार्यरूप होने में किसी अन्य की आवश्यकता-अपेक्षा नहीं है।

अहाहा...! मनुष्य शरीर हो, वज्रवृषभनाराच संहनन हो, चौथा काल और पुण्य का विशिष्ट ऐसा विकल्प हो तो केवलज्ञान होता है — ऐसा कुछ नहीं है।

भगवान! तू अन्दर में पूर्ण कारणभगवानरूप से रहा है वहाँ देख, वहाँ जा और वहाँ ही लीन हो, तुझे परमकल्याणरूप मोक्षदशा अर्थात् कार्यशुद्ध जीव प्रगट हो जायेगा। अन्तःपुरुषार्थ का मार्ग ऐसा है। अन्य चीज निमित्त हो; परन्तु उसकी गरज (अपेक्षा) नहीं है।

अहाहा..! 'कारणशुद्ध' अर्थात् क्या ? 'कारणशुद्ध' अर्थात् कारण अपेक्षा से शुद्ध अर्थात् शक्ति अपेक्षा से शुद्ध। आशय यह है कि प्रगट अपेक्षा से शुद्ध नहीं, परन्तु स्वभाव-सामर्थ्य अपेक्षा से शुद्ध और कार्यशुद्ध अर्थात् कार्य अपेक्षा से शुद्ध अर्थात् व्यक्ति अपेक्षा से शुद्ध। भाई! यदि तुझे जीव को मानना हो तो तू ऐसा जीव है — ऐसा तुझे जानना और मानना पड़ेगा।

यह एकेन्द्रिय और दो-इन्द्रिय आदि जीव हैं — यह बात रहने दे प्रभु! क्योंकि जीव ऐसा है ही नहीं। जीव तो इसको-कारणशुद्ध भगवान को कहते हैं और यदि तूने इसको

जीव नहीं माना तो तूने अपने जीव का घात किया है। अहा! शुद्ध चैतन्यमय जीवन से जीनेवाला ऐसा तेरा जीवतत्त्व है; उसको वैसा न मानकर, मैं दया पालनेवाला, मैं राग करनेवाला — ऐसा माना तो तूने अपने जीव का घात किया है अर्थात् मैं कारणशुद्ध जीव हूँ — ऐसा नहीं मानना ही (अपनी) हिंसा है।

प्रश्न : — तो क्या मैं मनुष्य हूँ — ऐसा मानना हिंसा है ?

उत्तर : — हाँ, वह हिंसा है; क्योंकि तू मनुष्य था ही कब ? अहा! अपने को पामर मानकर-अन्यथा मानकर तू मर गया है।

प्रश्न : — परन्तु यह बनिया तो है न ?

उत्तर : — नहीं, यह बनिया भी नहीं है, लक्ष्मीवाला भी नहीं है और मनुष्य भी नहीं है। अहा! कारणशुद्ध जीव से अलग मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ — ऐसा मानकर इसने जीव का (अपना) घात कर दिया है। अरे! मैं विकल्प तो नहीं, किन्तु मैं अल्पज्ञानवाला-क्षयोपशम के अंशवाला हूँ — ऐसा माननेवाले ने भी जीव को मार दिया है, क्योंकि उसने जीव को अन्यथा माना है। अहा...! मैं देव हूँ, मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, क्षत्रिय हूँ, बनिया हूँ, पर की दया पालनेवाला हूँ, भक्ति करनेवाला हूँ — ऐसा मानकर तूने अपने त्रिकाली कारणजीव का अनादर किया है भगवान! और उसका अनादर करना ही हिंसा है। यहाँ तो यह बात है बापा!

प्रश्न : — परन्तु इसमें तो हिंसा भी जगत् से अलग जाति की है ?

उत्तर : — भाई! वस्तु (कारणजीव) है उसका नकार (अस्वीकार) किया, यही हिंसा है, अन्य क्या ? अहा! जगत को (जगत के जीवों को) स्वयं कौन है, कैसा है इत्यादि कुछ भी पता नहीं है। अहा! वस्तु कारणरूप तो विद्यमान है; परन्तु मैं ऐसा हूँ — यह भान इसको नहीं है। अतः इसने कहीं अन्यत्र ही अपना अस्तित्व माना है और इसीलिए मैं बनिया हूँ, क्षत्रिय हूँ, गरीब हूँ, पैसेवाला हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ और नारकी हूँ तथा मूर्ख अथवा पण्डित हूँ — इसप्रकार यह अपने को अनेकरूप मानता है। परन्तु बापू! ऐसा माननेवाले सभी (सारा जगत) अपने आत्मा के घातक हैं। वस्तुतः तो मैं मुनि हूँ, मैं श्रावक हूँ, मैं समकिति हूँ — इसप्रकार जो अपने को पर्याय जितना ही मानता है, वह भी अपने को घातता है; क्योंकि उसने निज कारणशुद्ध जीव को माना

ही नहीं है। अहा! तू कहाँ मुनि है ? क्योंकि मुनि की अवस्था तो एक समय की है और भगवान! तू तो त्रिकाली कारणशुद्ध जीव कारणपरमात्मा है।

प्रश्न :— मैं लड़के-लड़कियों का पिता तो हूँ न ?

उत्तर :— अहा! किसका लड़का और किसकी लड़की ? वह तो किसी की चीज-कोई अन्य ही द्रव्य है। परन्तु अरे! अभिमान ने जगत को मार दिया है।

प्रश्न :— पुत्र को धन मिले तो पिता प्रसन्न होता है न ?

उत्तर :— परन्तु कोई पुत्र ही नहीं है न! फिर उसको धन मिले और पिता प्रसन्न हो — यह कहाँ से लाया ?

यहाँ कहते हैं कारण शुद्धजीव सहजशक्तिरूप से त्रिकाल पूर्ण भरा पड़ा है, और उसमें से पर्याय में पूर्णता प्रगट होती है। पर्याय में पूर्णता प्रगट होने पर उसको कार्यशुद्ध जीव अथवा कार्यपरमात्मा कहा जाता है। जीव का कार्य पूरा हुआ है न, इसलिए उसको कार्यशुद्ध जीव कहते हैं। यह जीव (कारणजीव और कार्यजीव) सम्बन्धी मूल मुद्दे की बात है।

अब कहते हैं — ‘यह (जीव) चेतन है, इसके (जीव के) गुण चेतन हैं।’

अहाहा..! भगवान आत्मा चेतन है। जाननहार....जाननहार....जाननहार — ऐसा यह चैतन्यसूर्य है। अहाहा....! चैतन्य की जगमग ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा है और उसके गुण भी चेतन ही होते हैं, अचेतन नहीं होते। अहा! जीव के सभी गुण चैतन्य के सम्बन्ध से चेतन होते हैं। तथा ‘यह अमूर्त है, इसके गुण अमूर्त हैं।’

अहा! भगवान आत्मा अमूर्त है। अमूर्त अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित अरूपी चीज-वस्तु है। इसके ज्ञानादिगुण भी अमूर्त और अरूपी हैं। इसप्रकार यहाँ सबप्रकार से स्पर्शादि रहित चेतन की पहिचान कराते हैं; परन्तु इसको कहाँ पड़ी है ? और कहते हैं—

“वह शुद्ध है; उसके गुण शुद्ध हैं। यह अशुद्ध है, इसके गुण अशुद्ध हैं। पर्यायें भी इसीप्रकार हैं।”

देखो, क्या कहते हैं ? कि यह अर्थात् जीव शुद्ध है। पहले कारणशुद्ध जीव कहा था न! तो वह शुद्ध है, भगवान आत्मा शुद्ध है और उसके गुण अर्थात् केवलज्ञानादि

पर्यायें शुद्ध हैं। जो कार्यशुद्ध जीव कहा था, यह उसकी बात है। यहाँ गुण शब्द से पर्याय का वर्णन किया है। अहा! आत्मा की जो केवलज्ञानादि पर्यायें हैं, उनको यहाँ 'शुद्धगुण' कहा है। त्रिकाल कारणशुद्ध जीव का जो कार्य आया, वह कार्यशुद्ध जीव है और यहाँ उस कार्यशुद्ध जीव को शुद्धगुणरूप से वर्णन करते हुए 'यह शुद्ध है, इसके गुण शुद्ध हैं — ऐसा कहा है।

तथा 'यह अशुद्ध है, इसके गुण अशुद्ध हैं' अर्थात् क्या ? कि मति-श्रुतज्ञानादि पर्यायों को अशुद्धगुण कहा गया है। मतिज्ञानादि है तो पर्याय, तो भी उसको अशुद्धगुण कहा है।

प्रश्न : — कोई कहते हैं कि आत्मा में (पर्याय में) रागादि हों तो द्रव्य-गुण अशुद्ध हो जाते हैं, क्या यह सत्य है ?

उत्तर : — नहीं, ऐसा नहीं है। रागादि के कारण पर्याय अशुद्ध है; परन्तु इससे द्रव्य-गुण अशुद्ध है — ऐसा नहीं है। यहाँ तो पर्याय में अपूर्णता अर्थात् मति-श्रुतज्ञानादि भाव हैं; इसलिए पर्याय की अपूर्णता की अपेक्षा से आत्मा को भी अशुद्ध कहा है; किन्तु उसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही हैं। यहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान — इन चारज्ञान की अपूर्ण पर्याय को विभाव कहकर 'अशुद्धगुण' कहा गया है। यहाँ साधकजीव की ज्ञान की इन चार पर्यायों को अशुद्धगुण कहकर पहिचान करायी है।

'यह अशुद्ध है' — ऐसा कहा है न ? क्योंकि ये मति-श्रुतज्ञानादि पर्यायें अशुद्ध (अपूर्ण) हैं; इसलिए जीव को (द्रव्य को) भी अशुद्ध कहा है; किन्तु यह बात तो अशुद्ध-पर्याय की अपेक्षा से है। जबकि ऊपर द्रव्य को शुद्ध कहा था, वह शक्ति अपेक्षा से कहा था। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से बात हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

और कहते हैं — "पर्याय भी इसीप्रकार है।"

देखो, यहाँ पर्याय शब्द से व्यंजनपर्याय की बात है। भगवान सिद्ध को शुद्ध-व्यंजनपर्याय है, जबकि देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यच की जो व्यंजनपर्याय है; वह अशुद्ध-व्यंजनपर्याय है — इसप्रकार यह व्यंजनपर्याय की अपेक्षा से बात है।

अहा! अरहन्तपरमात्मा ही देव है, इनसे विपरीत कोई देव या परमात्मा नहीं है — ऐसा पूर्व में कहा था। तीर्थंकर परमात्मा द्वारा कहा गया सो आगम है, जिससे तत्त्व कहे

गये हैं। उसमें यह जीवतत्त्व कहा। जीवतत्त्व कहो, जीवद्रव्य कहो एक ही है। गाथा में 'तच्चत्था' शब्द है न, इसलिए उसमें तत्त्व और द्रव्य दोनों आ जाते हैं।

इसप्रकार जीव की व्याख्या हुई, इसमें जीव का कोई अलौकिक स्वरूप वर्णन किया गया है। अब पुद्गल की बात करते हैं —

“और जो गलन-पूरनस्वभाव सहित है (अर्थात् पृथक् होने और एकत्रित होने के स्वभाववाला है) वह पुद्गल है।”

देखो, परमाणु इकट्ठे होते हैं और पुनः पृथक् हो जाते हैं — ऐसा पुद्गल परमाणु का स्वभाव है। ये लड्डू इसतरह (गोल) होवे और फिर उनका चूरा हो जाता है — यह सब पुद्गल का सहज ही गलन-पूरनस्वभाव है अर्थात् कोई जीव करे तो लड्डू बँधते हैं और कोई जीव करे तो चूरा हो जाता है — ऐसा नहीं है, यह कहते हैं।

यह शरीर भी पुद्गल पिण्ड है; इसलिए जीव ध्यान रखे तो वह पुष्ट होता है और अच्छी तरह ध्यान नहीं रखे तो गल जाता है — ऐसा नहीं है। क्यों ? क्योंकि उसमें पुद्गल परमाणु स्वयं मिले तो वह पुष्ट होता है और स्वयं बिखरे-पृथक् हो तो वह गल जाता है। भाई! ऐसा ही परमाणु का सहज गलन-पूरणस्वभाव है, जीव उसमें कुछ कर ही नहीं सकता; क्योंकि जीवतत्त्व पुद्गल में और पुद्गल जीव में नहीं है। अतः शरीर को कैसे रखना यह जीव के अधिकार की बात नहीं है। शरीर पुद्गल स्वभाव होने से उसका जैसा होना हो, वह उससे होता है; परन्तु जीव के द्वारा उसकी स्थिति या नाश नहीं होता। यह तो वस्तुस्थिति है बापू!

अहाहा....! कहते हैं — पुद्गल का सहज ही गलन-पूरनस्वभाव है। अब इसके बदले पुद्गल की उस गलन-पूरनक्रिया का स्वामी जीव होवे तो वह मूढ़ हैं, जड़ हैं; क्योंकि जड़ का स्वामी जड़ होता है।

प्रश्न : — परन्तु डॉक्टर इंजेक्शन लगाये तब तो रोगी ठीक होता है न ?

उत्तर : — कौन इंजेक्शन दे ? कोई इंजेक्शन दे ही नहीं सकता और कोई ले भी नहीं सकता। यह तो पुद्गल का जैसा होना हो, वैसा उससे होता है; उससे जीव का कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न : — तो इस कथन का क्या आशय है कि किये हुए उपकार को ज्ञानीजन भूलते नहीं है ?

समाधान : — हाँ, परन्तु यह बात क्या है ? क्या यह पुद्गल की बात है। यह तो, भगवान केवली परमात्मा ने जो तत्त्व कहे हैं और जिसने सुना है तथा ज्ञान में लेकर तदनुसार जो ज्ञान परिणत हुआ — ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा उस उपकार को (निमित्त को) ज्ञान में लोपता नहीं है, यह कहना है। (अर्थात् ज्ञानी को ऐसा विनय का भाव होता है)। वरना बाहर का-पुद्गल का करने की बात इसमें कहाँ है ?

अहाहा...! कहते हैं — पुद्गल का गलन-पूरणस्वभाव है। यह आँख....आँख दृष्टि है न ? सरस तेज दिखता हो, इतने में रोग हो जाए और कुछ नहीं दिखे। अरे प्रभु! यह तो ऐसा होना पुद्गल का स्वभाव है। अब इसको (अज्ञानी को) कुछ पता नहीं है; इसलिए इसने पुद्गल के नाटक को अपना मान लिया है। अहा! प्रभु! तेरी प्रभुता तेरे गुण और तेरी पर्याय में चलती है; परन्तु क्या पर में तेरी प्रभुता चलती है ? यह देह सुन्दर चलती-दौड़ती हो और वहाँ लकवा हो जाए तो एक कदम भी नहीं चलती। बापू! यह तो पुद्गल का-जड़ का स्वभाव है कि उस काल में शरीर में वैसा ही होनेयोग्य होता है तथा वह पुद्गल कहाँ आत्मा को स्पर्श करता है ? वह तो तुझसे अत्यन्त भिन्न है। इसका और तेरा कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। भगवान! तू अपनी सत्ता की सीमा में रहा है और वह उसकी-पुद्गल की सीमा में रहा है। किसी का किसी में प्रवेश नहीं है।

प्रश्न : — यह तो बहुत कठिन बात है ?

उत्तर : — भाई! तुझको अभ्यास नहीं है और विपरीत रास्ते चढ़ गया है; इसलिए अपने को वापस मोड़ना कठिन लगता है; परन्तु वस्तुस्थिति तो यही है। देखो! कहा है न! कि पुद्गल पूरण-गलनस्वभाव सहित है। अहा! ये कर्म में जो पुद्गल परमाणु आते हैं, बँधते हैं और छूटते हैं-खिर जाते हैं, यह पुद्गल का स्वभाव है; यह कहीं जीव के कारण है — ऐसा नहीं है। जीव ने धर्म की दशा प्रगट की; इसलिए कर्म को खिरना पड़ा — ऐसा नहीं है; परन्तु गलन-पूरणस्वभाव होने से कर्म के परमाणु स्वयं ही स्वयं से उस-उस अवस्थारूप होते हैं। अहा! परमाणुओं में ऐसा ही कोई स्वभाव है कि क्षण में अनन्तगुने रस की पर्यायपने परिणमों और क्षण में वही परमाणु एक गुण

रसवाला हो जाए। अहा! कभी बँधे और कभी बिखर जाए — ऐसा ही परमाणु का स्वभाव है; ऐसा ही पुद्गल का शक्तिरूप स्वरूप है और इसीकारण वह व्यक्तपने में भी इस रूप होता है—परिणमता है।

“यह (पुद्गल) श्वेतादि वर्णों के आधारभूत मूर्त है; इसके गुण मूर्त हैं। यह अचेतन है; इसके गुण अचेतन हैं।”

देखो, श्वेतादि रंग तो पर्याय है, तो भी यहाँ उसको गुण कहा है। यह (पर्याय को गुण कहने की) नियमसार की शैली है। अहा! पुद्गल में सफेद, पीला, नीला आदि जो रंग है, वह पर्याय है और जो त्रिकाली वर्ण, रस, स्पर्शादि हैं; वे गुण हैं। यहाँ उन वर्णादि की पर्याय को ही गुण के रूप में कहा गया है; इसलिए कहते हैं कि यह पुद्गल परमाणु सफेद, पीला, नीला आदि वर्णों का आधारभूत मूर्त है। अहा! पुद्गल मूर्त है और उसके गुण मूर्त हैं। पुद्गल के सभी गुण (पर्यायों) मूर्त हैं। जबकि भगवान आत्मा अमूर्त है — इसप्रकार दोनों—पुद्गल और भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न है

कहते हैं — यह पुद्गल अचेतन है और इसके गुण अचेतन हैं। भाई! यह शरीर, हड्डियाँ, अंगुलियाँ इत्यादि हैं, वे अचेतन हैं; क्योंकि यह तो धूल, मिट्टी है और इसके गुण अचेतन हैं। आशय यह है कि इसके गुण चेतन में और चेतन के गुण इसमें नहीं हैं। अहाहा..! शरीर, चेतन में—जीव में नहीं है और जीव, शरीर में नहीं है। बहुत कठिन बात है बापा! परन्तु पुद्गलद्रव्य को इसप्रकार से स्वतन्त्र स्वीकार करना ही यथार्थ ज्ञान है; जबकि मैं पुद्गल में—शरीरादि में कुछ भी फेरफार करता हूँ — ऐसा जानना विपरीत ज्ञान है।

अहा! भगवान सर्वज्ञदेव के ज्ञान में छहद्रव्य जानने में आये हैं। उनका क्या स्वरूप है — इस सम्बन्धी ज्ञान मोक्षमार्ग में स्थित जीव को अवश्य होता है। समकिति जीव के ज्ञान में छहद्रव्यों का स्वरूप यथास्थित—निःसंदेहरूप से जानने में आ गया होता है; क्योंकि जो ज्ञान की एकसमय की पर्याय—अवस्था है, उसमें छहद्रव्यों को जानने की सामर्थ्य होती है। अहा! एकसमय की पर्याय में भी इतनी ताकत! और ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है और ऐसे अनंतगुणों का पिण्ड भगवान आत्मा है। वह चेतन है और पुद्गल अचेतन है; और उसके गुण भी अचेतन हैं।

अहाहा...! पहले कहा कि पुद्गल का सहज पूरण-गलनस्वभाव है अर्थात् पुद्गल परमाणु आते-जाते हैं; भिन्न होते हैं और मिलते हैं — ऐसा स्वतंत्र स्वभाव है। अहा! इस शरीर का बंधन पुद्गल के कारण है। अहा! परमाणुओं का संग्रह होकर जो यह हाथ, पैर, नाक, हड्डियाँ और अंगुलियों इत्यादि की रचना हुई है, वह पुद्गल-जड़ रजकणों की शक्ति से हुई है और उनका पुष्ट होना या गलना भी पुद्गल की शक्ति से है; उसमें जीव का कुछ भी नहीं है; क्योंकि जीव तो अत्यन्त भिन्न चेतनतत्त्व है। भाई! इस आत्मा का और पौद्गलिक शरीर का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न : — साथ रहते हैं, तो भी जीव का और शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर : — साथ रहते हैं, इससे क्या हुआ ? दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव उसे जानता है, बस इतना ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और इसका अर्थ ही यह है कि दोनों भिन्न-भिन्न हैं, यह शरीर पुष्ट हो या जीर्ण हो — यह पुद्गल के स्वभाव के कारण, जीव के कारण शरीर में कुछ होता है — ऐसा है ही नहीं।

प्रश्न : — परन्तु उसमें चेतनपना नहीं है न ?

उत्तर : — उससे क्या ? वह परमाणु है या नहीं ? रजकण है या नहीं ? तो उसमें प्रतिसमय होनेवाला परिणमन, उससे स्वयं से होता है। देखो, यह (शरीर) अवस्था किसकी है ? रजकण की-पुद्गल की है या नहीं ? क्या यह जीव की अवस्था है ? नहीं; क्योंकि यह (शरीर) मूर्त है, रूपी है; रंग-गंध-रस-स्पर्श की दशा है। अतः उसके जो रजकण-परमाणु हैं, वे कायमी (नित्य) हैं; उनके वर्णादिगुण भी नित्य हैं और सफेद-पीली आदि अवस्था है, वह पर्याय है। उस सफेद आदि पर्याय का आधार परमाणु है, जीव नहीं; क्योंकि जीव तो अत्यन्त भिन्न चेतनवस्तु है।

भाई! इन पैसों का आना और जाना भी पुद्गल के स्वभाव के कारण है। यह मनुष्य चतुर-होशियार है; इसलिए कमाता है और पैसा आता है — ऐसा नहीं है।

प्रश्न : — भले ही ऐसा न हो; परन्तु जीव पूर्व का पुण्य तो लेकर आया है न ?

उत्तर : — बापू! पुण्य भी कहाँ इसका है कि यह लेकर आवे ? वह तो पर है, जड़-अचेतन है। उसे कौन लावे ? ये पुण्य के परमाणु तो उसके स्वयं के कारण आये हैं। पूर्व का पुण्यकर्म भी परमाणु हैं और इसलिए उनका पूरण-गलनस्वभाव होने से

वे स्वयं से आते हैं और फिर उदय में आकर स्वयं ही खिर जाते हैं; इसमें जीव को-आत्मा को क्या है ? कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। आत्मा पैसा कमाता है — ऐसा है ही नहीं।

प्रश्न : — परन्तु लोक में तो कहते हैं न कि इसने पैसे इकट्ठे किये ?

उत्तर : — धूल भी नहीं किये, सुन न! इसने तो व्यर्थ में ऐसा अभिमान किया है। यह सब (पैसे का आना-जाना) तो पुद्गल की स्वतन्त्र पूरण-गलनस्वभावरूप वर्तमान योग्यता के कारण होता है, इसमें आत्मा का रंचमात्र भी अधिकार नहीं है। अहा! पुद्गल का ऐसा वास्तविक स्वरूप है — ऐसा आत्मा जानतामात्र जानता ही है; परन्तु उसमें कुछ भी घालमेल (हेराफेरी) करता है — ऐसा नहीं है।

इसप्रकार जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की व्याख्या हुई।

अब तीसरे धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य की व्याख्या करते हैं —

“स्वभावगति क्रियारूप और विभावगति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्वभावगति का और विभावगति का निमित्त सो धर्म है।”

अहाहा...! ऐसी बात सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। देखो, चौदह राजूप्रमाण लोक है। उसमें जीव-पुद्गल गति करते हैं, उसमें निमित्तरूप लोकप्रमाण धर्मास्तिकाय नाम का तत्त्व (द्रव्य) है और उसकी यह व्याख्या है। भाई! जरा सूक्ष्म बात है।

प्रश्न : — क्या इसमें ऐसी व्याख्या है ?

उत्तर : — हाँ, यह नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग है न! मोक्षमार्ग स्वयं पर्याय है, इसलिए इसमें (नियमसार में) पर्याय का वर्णन विशेष है और इसीलिए पर्याय के वर्णन में कारणपर्याय-कार्यपर्याय इत्यादि सब वर्णन इसमें आया है।

तो कहते हैं — ‘स्वभावगति क्रियारूप.....’

अहा! इसकी व्याख्या फुटनोट में इसप्रकार है —

“चौदहवें गुणस्थान के अन्त में जीव उर्ध्वगमन स्वभाव से लोकान्त में जाता है, यह जीव की स्वभावगति क्रिया है।”

अहाहा..! आत्मा का भान होकर केवलज्ञान होने के बाद अयोगीदशा-अवस्था प्रगट होती है, वह चौदहवाँ गुणस्थान है और उसके अन्त में जीव देह से छूटकर सिद्धदशा प्राप्त करता है, तब यहाँ से स्वयं के कारण वह उर्ध्व लोकान्त में जाता है। अतः इसप्रकार उर्ध्वगमन स्वभाव से जीव लोकान्त में जाता है, यह उसकी स्वभावगति क्रिया है। अहा..! जब आत्मा पूर्ण अयोगीदशा प्राप्त करता है, तब शुद्धता की अन्तिम पूर्णदशा होने पर देह छूट जाती है और जैसे धुआँ हवा में ऊपर जाता है; वैसे ही जीव उर्ध्वगमन करता है, वह जीव की स्वभावगति क्रिया है।

“और संसारावस्था में कर्म के निमित्त से गमन करता है, वह जीव की विभावगति क्रिया है। ”

कर्म तो निमित्तमात्र है; वस्तुतः तो जीव स्वयं की योग्यता से ही गमन करता है। यह शरीर यों चलता है तो आत्मा भी-आत्मा के प्रदेश भी ऐसे चलते हैं-गति करते हैं और यह विभावगति क्रिया है और उसमें धर्मास्तिकाय का निमित्तपना है। सिद्धदशा होती है, तब स्वभावगति क्रिया है और जीव संसार में गति-गमन करे, वह विभावगति क्रिया है।

भाई! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा ने जाना और कहा है और यह अनुभव में आनेयोग्य है। प्रभु! बहुत सूक्ष्म बात है।

“एक पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की स्वभावगति क्रिया है और पुद्गल स्कन्ध गमन करता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) विभावगति क्रिया है।”

देखो, यह अँगुली है, वह एक वस्तु नहीं; अपितु बहुत परमाणुओं का दल है। इसके टुकड़े-विभाग करो तो हो सकते हैं। अतः इसके विभाव होते-होते अन्तिम-छोटे से छोटा-अविभागी अंश अर्थात् एक रजकण मात्र रहे, वह परमाणु है। परमाणु=परम+अणु; अन्तिम से अन्तिम सूक्ष्म-सूक्ष्मभाग, वह परमाणु है। ऐसा एक पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की स्वभावगति क्रिया है। उसमें विभावगति क्रिया नहीं है; क्योंकि तब अन्य परमाणु का संबंध नहीं है; इसलिए उसको स्वभावगति क्रिया कहते हैं। आशय यह है कि एक पृथक् रजकण-परमाणु स्वयं स्वतः एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जावे —

ऐसा उसका स्वभाव है अर्थात् स्वभावगति क्रियारूप से परिणमन यह पृथक् परमाणु का स्वभाव है। देखो, टीका में भी कहा है कि 'स्वभावगति क्रियारूप से और विभाव-गति क्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों को.....' अर्थात् जीव-पुद्गलों का जो स्वभावगति का अथवा विभावगति का परिणमन है, वह अपना है और धर्मद्रव्य उसमें निमित्त है।

यह शरीर और ध्वनि तरंगों बहुत रजकणों का दल है। अतः वह विभाविक वस्तु है; इसलिए उनकी गति विभावगति क्रिया है।

प्रश्न :— जब सम्पूर्ण दल (स्कंध) गति करता है, तब उसमें स्थित एक-एक परमाणु की कौन-सी गति क्रिया है ?

उत्तर :— तब एक-एक परमाणु की विभावगति क्रिया है; क्योंकि तब वह प्रत्येक परमाणु स्कंध में रहे हुए अन्य परमाणु के सम्बन्ध में रहा हुआ है। गति के समय उसको अन्य परमाणु का सम्बन्ध है; इसलिए वह पुद्गल की विभावगति क्रिया है। अहा..! यह तो वीतरागी-विज्ञान है।

देखो, यह अँगुली तो अनन्त रजकणों का पिण्ड है। उसकी गति विभावगति क्रिया है। अब यह विभावगति क्रिया तो सम्पूर्ण स्कंध की हुई; परन्तु इसका अन्तिम अंश, जो परमाणु है, उस समय उसकी कौन-सी गति कहना ? तो कहते हैं कि वह भी विभावगति क्रिया है। इसप्रकार —

- (१) सिद्धदशा प्राप्त होने पर जो जीव की उर्ध्वगति होती है, वह जीव की स्वभावगति क्रिया है।
- (२) अकेला पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की विभावगति क्रिया है।
- (३) कर्म के सम्बन्धवाला जीव एक गति से दूसरी गति में जाये अथवा उसके आत्मा के प्रदेश गति करें, वह जीव की विभावगति क्रिया है; क्योंकि उसमें कर्म का निमित्तपना है।
- (४) पुद्गल स्कंध गति करता है, वह पुद्गल की विभावगति क्रिया है।

भाई! बहुत सूक्ष्म है; परन्तु यह तो विषय आया, अतः सभी बातें आयेंगी न! मुनिराज भी (१६ वें) श्लोक में कहेंगे कि अहो! जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य

में रहा हुआ, यह छहद्रव्य का स्वरूप तेज के अम्बार से भरा हुआ है अर्थात् वे पदार्थ अनन्त गुण-पर्याय के तेज से भरे हुये हैं।

अब कहते हैं कि “इस स्वाभाविक और वैभाविकगति क्रिया में धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।” यह धर्मास्तिकाय को सिद्ध करते हैं। कहते हैं — एक धर्मास्तिकाय नाम का चौदह राजूप्रमाण (लोकप्रमाण) द्रव्य है और वह जीव-पुद्गल स्वाभाविकगति क्रिया करें अथवा वैभाविकगति क्रिया करें, उसमें निमित्त है।

इसप्रकार धर्मास्तिकाय द्रव्य को सिद्ध किया है।

अब चौदह राजूप्रमाण एक अधर्मास्तिकाय नाम का अरूपी द्रव्य है, जोकि स्थिति में निमित्त है, उसकी व्याख्या करते हैं —

“स्वभावस्थिति क्रियारूप और विभावस्थिति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का (स्वभावस्थिति का और विभावस्थिति का) निमित्त सो अधर्म है।”

इसका अर्थ फुटनोट में इसप्रकार किया है —

“सिद्धदशा में जीव स्थिर रहता है, वह जीव की स्वाभाविकस्थिति क्रिया है और संसारदशा में स्थिर रहता है; वह जीव की वैभाविकस्थिति क्रिया है।”

आत्मा शरीर रहित अशरीरी परमात्मा होता है, तब सिद्धदशा में वह स्थिर रहता है। वहाँ उसको गतिक्रिया नहीं होती, मात्र स्थिति ही होती है। यह जीव की स्वाभाविक-स्थिति क्रिया है। सिद्धदशा में स्थिर रहना स्वभावस्थिति क्रिया है और जब जीव संसारदशा में स्थिर रहता है, वह जीव की वैभाविकस्थिति क्रिया है।

“अकेला परमाणु स्थिर रहता है, वह पुद्गल की स्वाभाविकस्थिति क्रिया है और स्कंध स्थिर रहता है, वह पुद्गल की (स्कंध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविकस्थिति क्रिया है।”

देखो, एक पृथक् रजकण-परमाणु स्थिर रहता है, वह उसकी स्वाभाविकस्थिति क्रिया है; क्योंकि तब उसका अन्य परमाणु अथवा स्कंध के साथ सम्बन्ध नहीं है। जबकि यह अँगुली अथवा पुस्तकादि, जोकि अनन्त रजकणों के स्कंध हैं, वे स्थिर रहते हैं; वह पुद्गल की वैभाविकस्थिति क्रिया है, उसमें प्रत्येक परमाणु की भी वैभाविकस्थिति क्रिया है; क्योंकि वह प्रत्येक परमाणु स्कंध के अन्य परमाणु के साथ सम्बन्ध सहित है।

“इस जीव-पुद्गल की स्वाभाविक तथा वैभाविकस्थिति क्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।”

इसप्रकार लोकप्रमाण एक अरूपी अधर्मास्तिकाय द्रव्य सिद्ध किया।

अब आकाशद्रव्य की बात करते हैं —

“(शेष) पाँच द्रव्यों को अवकाशदान (अवकाश देना), जिसका लक्षण है; वह आकाश है।”

अहा..! अरूपी और सर्वव्यापक आकाश नाम का एक पदार्थ है। अपने अलावा शेष पाँच द्रव्यों को अवकाश देना, उसका विशेष लक्षण है। इसप्रकार अनन्त सर्वत्रव्यापी अरूपी आकाशद्रव्य कहा।

अब अन्तिम कालद्रव्य —

“(शेष) पाँच द्रव्यों को वर्तना का निमित्तकाल है।”

अहा..! अपने (काल के) अलावा पाँच द्रव्यों को वर्तना का निमित्त बने, वह काल नामक असंख्य अरूपी अणु-कालाणु है। चौदह राजूप्रमाण लोक में असंख्य अरूपी कालाणु हैं, जो स्वयं-स्वतः बदलते जीवादि प्रत्येक पदार्थ को बदलने में (परिणमन में) निमित्त है तथा —

“जीव के अलावा चार अमूर्त द्रव्यों को शुद्ध गुण है, उनकी पर्यायें भी वैसी (शुद्ध ही) हैं।”

अहाहा...! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालद्रव्य के गुण शुद्ध हैं और उनकी पर्यायें-अवस्था-हालत भी शुद्ध ही होती हैं, उनमें जीव-पुद्गल की तरह विभाव नहीं है — ऐसी बात है!

कलश १६ पर प्रवचन

अब नवमी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा छहद्रव्यों की श्रद्धा का वर्णन करते हैं —

अहा! जिसको अन्दर आत्मा की श्रद्धा होती है। उसको साथ ही ऐसे छहद्रव्यों के

स्वरूप की श्रद्धा होती ही है और उसको यह छहद्रव्यों की श्रद्धा मुक्ति का कारण है — ऐसा कलश द्वारा कहते हैं।

‘इसप्रकार.....’ अहा! ऊपर छहद्रव्यों की व्याख्या की है न? अतः ‘इसप्रकार’ कहकर प्रारम्भ किया है।

“उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्न को, जोकि (रत्न) तेज के अम्बार के कारण किरणोंवाला है।.....”

अहाहा.....! एक-एक द्रव्य वस्तु है, वह अनन्तगुण और अनन्तपर्यायों के तेज से भरपूर भरी है। अहा! ऐसे छहद्रव्य के समूहरूपी जो रत्न है, वह तेज के अम्बारवाला है; तेजपुंज है और तेज के अम्बार के कारण किरणोंवाला है। अहा! जिसमें अनन्त अनन्तगुणों की पर्यायरूप किरणें स्फुरायमान हैं — ऐसा वह तेजोमय रत्न है। अहा! ऐसा रत्न कहाँ रहा हुआ है ? तो कहते हैं कि —

“और जो जिनपति के मार्गरूपी समुद्र के मध्य में स्थित है.....”

अहाहा! जिनपति के मार्गरूपी अगाध समुद्र है। वीतरागपरमेश्वरकथित जो मार्ग है, उस मार्गरूपी...अहा! यह नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग है न ? तो उस मोक्षमार्गरूपी समुद्र के मध्य में यह छहद्रव्यों के समूहरूपी तेजोमय रत्न है अर्थात् मोक्षमार्ग में इन छहद्रव्यों का ज्ञान रहा हुआ है अर्थात् भगवान ने जो छहद्रव्य कहे हैं, उनके स्वरूप का-इन छह द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान मोक्षमार्ग के मध्य में रहा है — ऐसा कहते हैं।

अब कहते हैं कि —

“उसे जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष हृदय में भूषणार्थ (शोभा के लिए) धारण करता है.....।”

अहाहा....! जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष...इस नियमसार की ३८वीं गाथा में भी आता है कि ‘स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है — ऐसे आत्मा को “आत्मा” वास्तव में उपादेय है।’ अहाहा...! चैतन्य-चमत्काररूपी वस्तु चिदानन्दमय भगवान आत्मा अनन्तगुण का पिण्ड है। अहा! ऐसा जो यह स्वद्रव्य है, उसमें जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है; वह पुरुष निज-स्वद्रव्य ऐसे आत्मा को उपादेय रूप से अंगीकार करता है, तो वहाँ भी ‘तीक्ष्णबुद्धि’

ली है। भाई! यह दुनियाँ से अत्यन्त भिन्न बात है, शब्द भी अलग है और भाव भी अलग है।

यहाँ कहते हैं - जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष अर्थात् जिसकी बुद्धि सूक्ष्म-तीक्ष्ण है, वह पुरुष हृदय में अर्थात् अन्दर ज्ञान में छहद्रव्यों के ज्ञान को भूषणार्थ धारण करता है, शोभा के लिए धारण करता है। देखो, यह आभूषण और यह शोभा! क्या ? कि छहद्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान वह ज्ञान का आभूषण-श्रृंगार है। अहाहा! जो पुरुष उसको धारण करता है....कहते हैं —

“वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है। (अर्थात् जो पुरुष अन्तरंग में छहद्रव्य की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिलक्ष्मी का वरण करता है।)”

अहाहा... ! वह पुरुष परमश्री अर्थात् मोक्षरूपी लक्ष्मी...आत्मा की अनन्तज्ञान, दर्शन, आनंदरूप दशा की लक्ष्मी—उस रूपी कामिनी अर्थात् परिणति का वल्लभ होता है अर्थात् वह पुरुष पूर्णानन्द परिणति को ऐसा प्रिय होता है कि वह उसको कभी नहीं छोड़ती।

अहा! यह चमड़े, हड्डी और माँस की स्त्री को विवाहता है न ? अरे! विवाहता कहाँ है, वह तो कहा जाता है, मानता है; वरना किसको विवाहे ? धूल को ? परन्तु जैसे लोक में प्रिय स्त्री अपने पति को नहीं छोड़ती; इसीतरह जिसके अन्दर ज्ञान-अनुभव में ऐसा तत्त्व आया, वह परमश्रीरूपी कामिनी का अर्थात् मुक्तिरूपी लक्ष्मी का और उसरूप जो रमणी-स्त्री उसका वल्लभ होता है अर्थात् उसकी परिणति की पूर्ण-शुद्धता से और पूर्ण-आनन्द से वह एक समय के लिए भी अलग नहीं होता — ऐसा कहते हैं। अहाहा... ! उसको मोक्ष लक्ष्मीरूप रमणी का एकसमय के लिए भी विरह नहीं होता — ऐसा कहते हैं।

अहा! अनादि से तो जीव अपनी पूर्णानन्द की शुद्धदशा से रहित है; परन्तु भगवान द्वारा कथित इन छहद्रव्यों का स्वरूप, जिसके ज्ञान में आता है; वह पूर्णानन्द की दशा का वल्लभ होता है।

इन छहद्रव्यों में जीव आया और उसमें कारणजीव व कार्यजीव भी आया। त्रिकाली द्रव्य कारणजीव है और उसकी वर्तमानदशा पूर्ण हो, वह कार्यजीव है। पुद्गल का पूरण-गलनस्वभाव है और धर्म, अधर्म, आकाश व काल का स्वरूप भी भगवान ने कहा है।

अहा..! इन छहद्रव्यों का स्वरूप ज्ञानस्वभाव में जाननेयोग्य है अर्थात् वह ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। अहा..! इन छहद्रव्यों का ज्ञान अन्तर में-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में शोभारूप है तथा इसके फल में पूर्ण-आनन्द, पूर्णज्ञान, पूर्ण-शान्ति, पूर्ण-प्रभुता, पूर्ण-स्वच्छता — ऐसी पूर्णदशा की-मोक्षदशा की प्राप्ति होती है और जीव कभी उस दशा से भिन्न नहीं पड़ता।

“अर्थात् जो पुरुष अन्तरंग में छहद्रव्य की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिलक्ष्मी को वरता है।”

अहा..! जो इन छहद्रव्यों का श्रद्धान-ज्ञान करेगा, वह निज पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करेगा अर्थात् जैसा आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि शक्तिरूप से पूर्ण है, वैसा वर्तमानदशा में प्राप्त होगा। इसमें समझ में आता है या नहीं ? अपना दिमाग लगावे, ध्यान रखे तो समझ में आ सकता है; यदि दिमाग अन्यत्र भटकता होवे तो यह समझ में नहीं आ सकता।

अहा! यह छहद्रव्यों का ज्ञान, उस पुरुष के ज्ञान की शोभा है और वह मोक्षमार्ग में (नियम से) होता है। जो पुरुष उसे धारण करता है, वह पुरुष उसके फलरूप में मुक्तिलक्ष्मी का वरण करता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

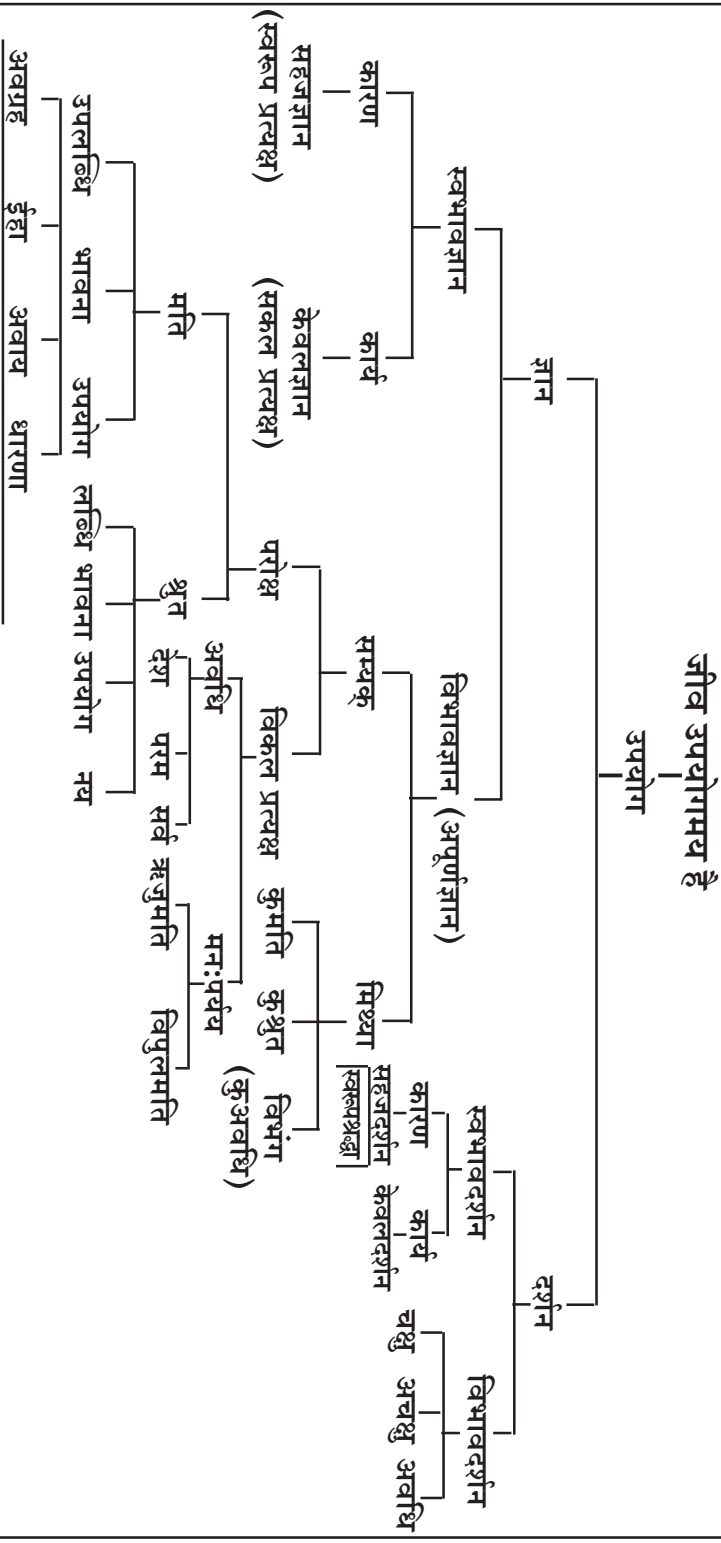
इसप्रकार यह नौवीं गाथा हुई। इसमें जीवद्रव्य का वर्णन करते हुए कारणजीव और कार्यजीव की व्याख्या की गई। अब आगामी गाथा में कहेंगे कि जीव का गुण क्या है ? ●

परवस्तु की एकत्वबुद्धि छुड़ायी है...

प्रचुर आनन्द के वेदन में झूलते हुए संत कहते हैं कि जब जिनेश्वरदेव ने सर्व अध्यवसान छुड़वाये हैं, तब हम ऐसा मानते हैं कि पर जिसका आश्रय है - ऐसा व्यवहार ही सारा छुड़वाया है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग के परिणाम में पर का सम्बन्ध है, स्व का सम्बन्ध नहीं है। जो तुझमें नहीं है और तूने अपना माना है, वह नितान्त मिथ्याभाव है; इसलिए भगवान ने परवस्तु की एकत्वबुद्धि छुड़ायी है तो हम संत ऐसा मानते हैं कि दया-दान-व्रतादि पर के आश्रयरूप दूसरा जितना व्यवहार है, वह सभी भगवान ने छुड़वाया है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१८३

श्री नियमसार गाथा १० से १५ के अनुसार उपयोग का स्वरूप



(इन अवग्रहादि चारों के बहु, बहुविधादि बारह-बारह प्रकार हैं।)

(उपयोग के संबंध में स्मरणीय बिन्दु)

उपयोग — आत्मा के चैतन्यगुण के साथ कतिनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं; उपयोग सभी जीवों में प्रतिस्मय हो रहा है। कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग — यह उपयोग निरपेक्ष परिणामनरूप है; परन्तु प्राटरूप नहीं है, वर्तमान में द्रुवरूप है। इसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। यह उपयोग कभी जीवों में वर्तता है। यह उपयोग अनदि-अनन्ते एकरूप है। इसका आश्रय केवलज्ञान के प्राट होने का कारण है। कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग वर्तमान-वर्तमान है; परन्तु उसमें प्राटरूप परिणामन नहीं है। उसमें से जो केवलज्ञान आदि कार्यरूप पर्याय प्राट होती है, वह उसका सापेक्ष परिणामन है। **कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग** — (केवलज्ञान) कारणस्वभावज्ञान में एकाग्रता के जोर से जो कार्य प्राट होता है, वह केवलज्ञान है। वह सादि-अनन्त एकरूप है, उत्पाद-व्यय सहित है। (महिमा कारण की ही है, कारण त्रिकाल है; कारण के जोर से-बल से कार्य नया प्राट होता है, इसकारण दृष्टि में उसकी महिमा नहीं है; परन्तु कारण, जो कि त्रिकाल एकरूप पड़ा है उसकी महिमा है; भोग कारण का नहीं, कार्य का है।) **दर्शनोपयोग** — आत्मा के चैतन्यगुण का भेदरहित व्यापार दर्शनोपयोग है। **विभावोपयोग** — अपूर्ण दशा में चैतन्य का व्यापार (परिणामन) विभाव उपयोग कहलाता है।

(नियमसार प्रवचन के आधार से)

नियमसार गाथा-१०

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति ॥१० ॥

जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।
ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥१० ॥

(हरिगीत)

उपयोगमय है जीव वह उपयोग दर्शन-ज्ञान है ।
ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव द्विविध विधान है ॥१० ॥

गाथार्थ :— जीव उपयोगमय है । उपयोग ज्ञान और दर्शन है । ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है - स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में) उपयोग का लक्षण कहा है ।

आत्मा का चैतन्य-अनुवर्ती (चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला) परिणाम सो उपयोग है । उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है । दीपक और प्रकाश जैसा उनका संबंध है । ज्ञान और दर्शन के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है (अर्थात् उपयोग के दो प्रकार हैं — ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग) । इनमें ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद के कारण दो प्रकार का है । (अर्थात् ज्ञानोपयोग के भी दो प्रकार हैं - स्वभाव-ज्ञानोपयोग और विभाव-ज्ञानोपयोग) । उनमें स्वभावज्ञान अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है; वह भी कार्य और कारणरूप से दो प्रकार का है (अर्थात् स्वभावज्ञान के भी दो प्रकार हैं — कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान) । कार्य तो सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान है और उसका कारण परम-पारिणामिकभाव से स्थित त्रिकाल निरुपाधिक सहजज्ञान है । केवल विभावरूप ज्ञान तीन हैं — कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग ।

इस उपयोग के भेदरूप ज्ञान के भेद, अब कहे जानेवाले दो सूत्रों द्वारा (११ और १२वीं गाथा द्वारा) जानना ।

[**भावार्थ :**— चैतन्यानुविधायी परिणाम वह उपयोग है । उपयोग दो प्रकार का है — (१) ज्ञानोपयोग और (२) दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग के भी दो प्रकार हैं — (१) स्वभावज्ञानोपयोग और (२) विभावज्ञानोपयोग । स्वभावज्ञानोपयोग भी दो प्रकार

का है — (१) कार्यस्वभावज्ञानोपयोग (अर्थात् केवलज्ञानोपयोग) और (२) कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग (अर्थात् सहजज्ञानोपयोग*) । विभावज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है — (१) सम्यक् विभावज्ञानोपयोग और (४) मिथ्या विभावज्ञानोपयोग (अर्थात् केवलविभाव-ज्ञानोपयोग) । सम्यक् विभावज्ञानोपयोग के चार भेद (सुमतिज्ञानोपयोग, सुश्रुतज्ञानोपयोग, सुअवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानोपयोग) अब अगली दो गाथाओं में कहेंगे । मिथ्या विभावज्ञानोपयोग के अर्थात् केवल विभावज्ञानोपयोग के तीन भेद हैं — (१) कुमति-ज्ञानोपयोग, (४) कुश्रुतज्ञानोपयोग और (३) विभङ्गज्ञानोपयोग अर्थात् कुअवधिज्ञानोपयोग] ।

[अब, दसवीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

(वीरछन्द)

जो नर जिनवर कथित ज्ञान के सकल भेद को लेता जान ।
निजस्वरूप में थिर रहकर वह परभावों को तजे सुजान ॥
निज चैतन्य चमत्कारमय भावमात्र में होता लीन ।
परमश्रीरूपी कामिनी को त्वरित वरे यह पुरुष प्रवीण ॥१७॥

श्लोकार्थः :- जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर, जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में रहते हुए शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है, गहरा उतर जाता है; वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का पति होता है) ॥१७॥

गाथा १० की टीका पर प्रवचन

“यहाँ (इस गाथा में) उपयोग का लक्षण कहा है।”

* सहजज्ञानोपयोग परमपारिणामिकभाव से स्थित है तथा त्रिकाल उपाधिरहित है, उसमें से (सर्व को जाननेवाला) केवलज्ञानोपयोग प्रगट होता है। इसलिए सहजज्ञानोपयोग कारण है और केवलज्ञानोपयोग कार्य है। ऐसा होने से सहजज्ञानोपयोग को कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा जाता है और केवलज्ञानोपयोग को कार्यस्वभावज्ञानोपयोग कहा जाता है।

अहाहा...! भगवान आत्मा का जो ज्ञानदर्शन उपयोग है, उसका लक्षण यहाँ कहते हैं। उसकी व्याख्या —

“आत्मा का चैतन्य-अनुवर्ती (चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला) परिणाम सो उपयोग है।”

अब उसमें नये मनुष्य को तो अटपटा..... जैसा लगता है। अहाहा...! जैसे सूर्य है, उसका प्रकाश गुण (लक्षण) है; उसीप्रकार आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञानदर्शन अर्थात् जानना-देखना — ऐसा जो उपयोग है, वह गुण (लक्षण) है।

पहले (नौवीं गाथा में) द्रव्य-वस्तु कही थी। अब कहते हैं कि जीव का गुण क्या है ? तो कहते हैं जीव का गुण उपयोग है। तो उपयोग माने क्या ?

तो कहते हैं — “आत्मा का....” अहाहा..! अन्दर जो चिदानन्दमय वस्तु भगवान आत्मा है, उसका ‘चैतन्य-अनुवर्ती’ अर्थात् जानने-देखने का जो त्रिकालीभाव है, उसका अनुसरण करके वर्तनेवाला-होनेवाला वर्तमान परिणाम-पर्याय सो उपयोग है। अहाहा..! जैसे बड़ी सर्चलाइट होती है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा वस्तु है; कि जिसमें ज्ञान-दर्शनरूपी, अद्भुत-अलौकिक सर्चलाइट है और उसमें से अन्दर में से अनन्त-अनन्त उपयोगरूप किरणें स्फुरायमान होती हैं। परन्तु अरे! इसको उसका कुछ भी पता नहीं है।

अहाहा..! अन्दर आत्मा चैतन्यसूर्य महाप्रभु है, जबकि यह सर्चलाइट तो जड़ परमाणु है। उस जड़ प्रकाश का भी प्रकाशक जीव का चैतन्य उपयोग है। अहा! यह जड़ प्रकाश है, उसके अस्तित्व को कौन जानता है ? अहो! यह तो चैतन्य उपयोग के प्रकाश में ज्ञात होता है कि यह जड़ प्रकाश है। अतः उस चैतन्य के तेज का अम्बार-प्रकाश सो उपयोग है और वह उपयोग आत्मा का है।

अहो! आचार्यदेव ने परमकरुणा करके ऐसी आलौकिक बात की है; परन्तु इसको व्यापार धंधे के कारण यह पढ़ने की फुरसत मिले तब न! बिचारे को किसी दिन फुरसत नहीं है। परन्तु भाई! अभी इस अवसर में भी फुरसत नहीं मिलेगी तो फिर कब मिलेगी।

पहले लोक में छहवस्तु, जो ज्ञान का विषय है; उसको सिद्ध किया और अब आत्मा का ज्ञान-दर्शन अर्थात् जानना-देखना — ऐसा जो लक्षण है, उसका वर्णन करते हैं। अतः

कहते हैं कि — “आत्मा का....” अहा! आत्मा तो वस्तु है; परन्तु उसका भाव क्या है ? अर्थात् कायमवस्तु तो आत्मा है, उसका भाव क्या है ? कि चैतन्य-चैतन्य; जानने-देखने के स्वभावरूप-शक्तिरूप जो त्रिकालीभाव है, वह उसका गुण है और उस गुण का अनुवर्ती-अनुसरण करके जो वर्तमानदशा-परिणाम होता है, वह उपयोग है। भाई! वह इन्द्रियों को अथवा अन्य को अनुसरण करके होता है — ऐसा नहीं है। यह पुस्तक है, इसको अनुसरण कर अथवा इसके वाचन (स्वाध्याय) को अनुसरण कर ज्ञान का परिणाम होता है — ऐसा नहीं है।

प्रश्न : — क्या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को अनुसरण करके भी नहीं ?

उत्तर : — ऐसा भी नहीं। उसको (कर्म के क्षयोपशम को) अनुसरण करके ज्ञान होता है, यह बात ही कहाँ है ? यहाँ तो यह सामने वस्तु पड़ी है अथवा इन्द्रियाँ हैं; इसलिए जानने का परिणाम होता है, यह भी अत्यन्त झूठ बात है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि चैतन्य के उपयोग का स्वतः सिद्धस्वरूप है।

जैसे शक्कर यह वस्तु हुई। उसकी मिठास यह उसका त्रिकालीस्वभाव-कायमी स्वभाव हुआ और उस मिठास की तारतम्यतावाली कम-ज्यादा मिठास होती है, वह पर्याय है-हालत है। इसीप्रकार यह त्रिकाली भगवान आत्मा सो द्रव्य-वस्तु है, उसके ज्ञान-दर्शनादि शक्ति-गुण सो त्रिकालीस्वभाव है और ऐसे ज्ञान-दर्शन गुण को अर्थात् चैतन्य का अनुसरण कर-उसका आश्रय लेकर जो वर्तमान जानने-देखने के परिणाम होते हैं, उसको यहाँ उपयोग कहा है — यह उपयोग की व्याख्या है। पंचास्तिकाय की ४०वीं गाथा में भी ‘चैतन्य-अनुविधायी परिणाम को उपयोग है’ — ऐसा लिया है और यहाँ चैतन्य अनुवर्ती (चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला) परिणाम सो उपयोग है — ऐसा कहते हैं। दोनों एक ही बात हैं।

इसमें क्या कहना है ? भाई! पर का तो पर में रहा; पर के साथ तो तेरा क्या सम्बन्ध है ? यहाँ तो तेरी सम्पत्ति-पूँजी क्या है, तुझमें क्या है — यह कहते हैं। तो कहते हैं कि आत्मा में जो वर्तमान जानने-देखने के भाव हैं, वह परिणाम अस्ति है न ? तो उन जानने-देखने के परिणाम के समक्ष जानने-देखने की कोई चीज है; उसको लेकर यहाँ (जीव में जानना-देखना) होता है — ऐसा नहीं है; परन्तु अन्दर भगवान आत्मा स्वयं

त्रिकाल चैतन्य-वस्तु है। उसकी चैतन्यज्ञान और दर्शन — ऐसी शक्ति का अनुसरण कर वे होते हैं। इसप्रकार जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता है-स्वतन्त्र अस्ति है — ऐसा कहते हैं। अहाहा..! इसके (जीव के) गुण-द्रव्य के आश्रय से है और उनका परिणाम भी गुण के आश्रय से है अर्थात् जानने-देखनेरूप जो प्रकाश है-कायमी गुण है, वह कायमी गुणरूप प्रकाश द्रव्य के आश्रय से है और वह जो प्रकाश है, उसके आश्रय से, उसका अनुसरण करके — यह जानने-देखने के भाव-परिणाम होते हैं; परन्तु वे परिणाम ज्ञेय को अथवा इन्द्रियों को अनुसरण करके नहीं होते। भारी बात है भाई!

अहा.....! कहते हैं — ‘आत्मा को.....’ अहाहा....! आत्मा — यह तो स्वभाववान त्रिकाली द्रव्यवस्तु हुआ और ‘चैतन्य’ यह इसका ध्रुव, अविनाशी गुण-शक्ति-भाव-स्वभाव हुआ और उसका ‘अनुवर्ती परिणाम’ — उसका अनुसरण करके होनेवाला वर्तमान-परिणाम, वर्तमान-दशा, वर्तमान-अंश, वर्तमान-अवस्था/हालत ‘वह उपयोग है।’ अर्थात् उसको उपयोग कहते हैं। देखो, यह उपयोग का स्वरूप! भाई! तेरे मन में यदि यह हो कि यह आँख आदि इन्द्रियाँ हैं अथवा सामने पुस्तक है तो अन्दर जानने-देखने की पर्याय-वर्तमानदशा होती है तो यह तेरा भ्रम है-भ्रान्ति है; यह तेरा अज्ञान है।

अहाहा...! आत्मा त्रिकाली चेतनद्रव्य है और चैतन्य यह चेतनद्रव्य का गुण है। अहाहा...! चैतन्य अर्थात् जानना-देखना आत्मा का त्रिकाली गुण है। अब इसका वर्तमान क्या है ? तो कहते हैं कि त्रिकाली चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम, वह इसका वर्तमान है और वह उपयोग है।

बापू! यह तो वीतरागी-विज्ञान है। बहुत सूक्ष्म है। इसको समझने के लिए रस-रुचि और गरज चाहिए। उल्लसित वीर्य से अन्दर का प्रयत्न चाहिए। उपयोग को सूक्ष्म करके ध्यान दे तो ही समझ में आवे ऐसा है, वरना यह समझ में नहीं आ सकता।

अहा! देखो न, इसमें तो केवलज्ञान कैसे हो — यह सिद्ध किया है। मोक्षमार्ग प्रगट करे; इसलिए केवलज्ञान होता है ? तो कहते हैं नहीं। तब ? कि जो आत्मा वस्तु है-अस्ति है; उसका जो चैतन्य-जानने-देखने की गुण-शक्ति है, उसका अनुसरण करके केवलज्ञान होता है; क्योंकि केवलज्ञान भी पर्याय है, परिणामरूप चैतन्य का उपयोग है।

अहा! देखो न, सत् को कितना स्वतन्त्र सिद्ध करते हैं! अहो! आचार्यों की सत् को सिद्ध करने की कोई अलौकिक शैली-पद्धति है!

भाई! तुझमें गुण तो अनन्त हैं; परन्तु यहाँ अभी उनकी मुख्यता नहीं है। यहाँ तो, अन्दर सच्चिदानन्दप्रभु आत्मा है और उसमें जानना-देखना ऐसा जो लक्षण है, वह उसका उपयोग है — ऐसा कहते हैं। अहा! उसका जानने-देखने का जो त्रिकालीस्वभाव है, उसका अनुसरण करके होनेवाला वर्तमान परिणाम सो उपयोग है और वह जानना-देखना ही आत्मा है। अतः कहते हैं कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान अथवा अज्ञान आदि जो कोई परिणाम वर्तमानदशा में वर्तता है, वह गुण का-चैतन्य का अनुसरण करके हुआ परिणाम है; परन्तु वह निमित्त को अथवा इन्द्रियों को अनुसरण करके हुआ परिणाम नहीं है। भाई! यह तो तेरा सत् ऐसा (स्वतन्त्र) है — ऐसा यथार्थ समझने की यह बात है।

प्रश्न : — परन्तु इसमें धर्म क्या आया ? जाप करना अथवा ध्यान करना — ऐसा जो धर्म में हो तो समझ में आये ?

उत्तर : — क्या धूल समझ में आये इसमें ? ध्यान करो-ध्यान करो — यह तो सब कोई कहते हैं; परन्तु ध्यान किसका करे ? बापू! अभी स्वयं कौन वस्तु है, इसके भान बिना ध्यान किसका करे ? अहा! स्वयं क्या पदार्थ है ? उसकी शक्ति क्या है ? और उसकी वर्तमानदशा किसका अनुसरण करके होती है ? अब इसके ज्ञान बिना सत् की वास्तविक स्थिति के भान बिना किसमें एकाग्र हो और किसका ध्यान करे ?

प्रश्न : — आप ध्यान की तो बात करते हैं ?

उत्तर : — हाँ, परन्तु ध्येय क्या चीज है, उसका पहले ज्ञान हो तो ध्येय का ध्यान करेगा न ? ध्यान तो एक वर्तमानपर्याय-दशा है। वह दशा किसके लक्ष्य से-किसके आश्रय से होती है ? अहाहा..! स्वयं अनन्तगुण का पिण्ड अभेद-एकरूप चैतन्यवस्तु है। उस पर दृष्टि देने से उसमें एकाग्र होने पर ध्यान होता है। भाई! यह तो दुनिया से अलग जात है। यह कोई क्रियाकाण्ड से मिले — ऐसा नहीं है। अहा! वस्तुस्थिति-वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। (ध्येय के भान बिना ध्यान होता ही नहीं)।

अहा! लोग नहीं कहते कि देशांतर करे-पर्यटन करे तो ज्ञान बढ़ता है ? परन्तु यहाँ

कहते हैं कि मूर्ख हो क्या ? क्योंकि उल्टाज्ञान भी अपने से होता है, बाहर से-बाहर की वस्तु से नहीं। अहा! वस्तु की सत्यता क्या है ? अर्थात् वस्तु की स्थिति-मर्यादा क्या है ? बापू! तुझे इसका पता नहीं है और विपरीत बात को सत्य मान बैठा है।

प्रश्न :— परन्तु पहले व्यक्ति को सिखाकर थोड़ा होशियार-पक्का करे, फिर वह व्यापार करता है न ? यों ही सीधे व्यापार करने लगोगा क्या ?

उत्तर :— भाई! मनुष्य को सिखाने से व्यापार में पक्का होता है और व्यापार करता है — यह सब तेरी मिथ्या बात है-कल्पना है; क्योंकि प्रभु! तेरे में तेरे अस्तित्व से सब होता है; परन्तु पर के अस्तित्व के कारण तुझमें कुछ नहीं होता और यही यहाँ सिद्ध करना है। अहा! इस एक लाइन में तो कितना भर दिया है!

अहा! भगवान आत्मा वस्तु है न! 'भग' माने क्या ? कि ज्ञान-आनन्द की लक्ष्मी को 'भग' कहते हैं और 'वान' अर्थात् वाला। अतः भगवान आत्मा अर्थात् ज्ञान-आनन्द की लक्ष्मी का भरपूर भण्डार। अहा! वह जानने-देखने की शक्ति का भण्डार है; परन्तु वह इस पैसे का भण्डार नहीं है; क्योंकि यह पैसा तो जड़-मिट्टी-धूल है। यहाँ कहते हैं कि उस जड़-धूल के-पैसे के आने-जाने के काल में आत्मा जो जानने की दशा करता है; वह किसके कारण करता है ? अहा! आत्मा पर का कार्य तो करता नहीं-कर ही नहीं सकता; परन्तु उसको (पर को) जानने-देखने का भाव किसके कारण है ? क्या वह पर-वस्तु के कारण है ? तो कहते हैं — नहीं; वह गुण को (ज्ञानगुण का) अनुसरण करके होता है; पर का अनुसरण करके होता है — ऐसा है ही नहीं।

अहाहा! भगवान! सुन प्रभु! अहा! तेरा अस्तित्व क्या है ? तेरी सत्ता क्या है ? और तुझमें क्या होता है ? अहा! भगवान! तू आत्मा चैतन्यवस्तु अनादि-अनन्त है। तुझमें ज्ञान-दर्शन की शक्ति-गुण है और वह भी अनादि-अनन्त है तथा प्रतिसमय अनेक-प्रकार के संयोग में, तुझे जो ज्ञान-दर्शन की अर्थात् जानने-देखने की अवस्था होती है; वह तेरे अन्तर के गुण-शक्ति को अनुसरण करके होती है। अहाहा..! तू जहाँ है, वहाँ तेरा आत्मा का अस्तित्व तो त्रिकाली है और तेरे ज्ञान-दर्शन का स्वभाव-गुण-शक्ति भी त्रिकाली है; इसलिए तू जहाँ, जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के संयोग में खड़ा है, वहाँ संयोगरूप तो तू हुआ नहीं; क्योंकि निजद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में संयोग का प्रवेश ही नहीं है न! और भगवान! उन संयोगों के कारण तेरी वर्तमान जानने की दशा होती है

— ऐसा भी नहीं है; परन्तु वर्तमान जानने-देखने के जो परिणाम-भाव वर्तते हैं, उनका अस्तित्व अन्दर के (ज्ञान-दर्शन) गुण के कारण-अनुसरण करके आया है।

अहा! यह तो गजब-अलौकिक बात की है।

अहा! आत्मा है, वह त्रिकाली वस्तु है, त्रिकाली सत् है और त्रिकाली सत् है तो उसकी उत्पत्ति नहीं होती; और जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका नाश भी नहीं होता। इसप्रकार आत्मा त्रिकाल 'है' पने है। अहा! आत्मा 'है' तो उसकी शक्ति क्या है ? अहा! 'है' — यह तो शक्तिवान वस्तु हुई; परन्तु उसकी शक्ति क्या है ? कि जानना-देखना अर्थात् चैतन्य वह इसकी मूलशक्ति है। तो, उस चैतन्य की वर्तमानदशा क्या है और वह कैसे होती है ? तो कहते हैं कि उपयोग चैतन्य की वर्तमानदशा है और वह अन्तरंग त्रिकाली शक्ति का अनुसरण करके होती है; परन्तु वह बाह्यनिमित्त का अनुसरण करके होती है — ऐसा नहीं है। यह कान है तो सुनने सम्बन्धी ज्ञान होता है — ऐसा नहीं है; इसीतरह आँख है तो अक्षर दिखते हैं और पदार्थ का ज्ञान होता है — ऐसा नहीं है। अहा! जो जानने-देखने का त्रिकाल अस्तित्व पड़ा है, उसका अनुसरण करके जानने-देखने की पर्याय होती है। अहा! बापू! ऐसा वस्तु का सत् स्वरूप है।

अहाहा....! कहते हैं 'आत्मा का...' ऐसा कहकर क्या कहना है ? कि परिणाम आत्मा का है और इसलिए 'का' शब्द प्रयुक्त किया है। तो, 'आत्मा का चैतन्य'...इसमें चैतन्य यह गुण कहा और उसका 'अनुवर्ती' अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला परिणाम सो उपयोग है। यह उपयोग की व्याख्या है।

अब कहते हैं —

“उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है। दीपक और प्रकाश जैसा उनका सम्बन्ध है।”

उपयोग जीव का धर्म अर्थात् स्वभाव है और जीव स्वभाववान अर्थात् धर्मी है — ऐसा कहते हैं। अहा! जैसे दीपक स्वभाववान है और प्रकाश उसका स्वभाव अर्थात् धर्म है। इसीप्रकार जीव धर्मी-स्वभाववान है और उपयोग उसका स्वभाव अर्थात् धर्म है; इसलिए उपयोग पर के कारण है — ऐसा नहीं है। अहा! वर्तमान उपयोग भी पर के कारण नहीं है। इसप्रकार यहाँ पर्याय को स्वतन्त्र सिद्ध किया है। अहा! उपयोग जीव का धर्म अर्थात् स्वभाव होने से आत्मा का जो जानने-देखने का भाव-परिणाम होता

है, वह इन्द्रियाँ हैं; इसकारण होता है अथवा जानने में आनेवाले ज्ञेयों के कारण होता है — ऐसा नहीं है। बापू! सत् का स्वरूप ही ऐसा है कि त्रिकाली आत्मा का जो ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यगुण है, उसका अनुसरण करके वह होता है।

अहा! बाद में इस उपयोग के विशेष भेद कहेंगे; परन्तु ये सब वर्तमान-वर्तमान वर्तते परिणाम अपने सामान्य त्रिकाली ज्ञान-दर्शन भावका अनुसरण करके होते हैं; इसलिए ये ज्ञेय हैं और आँख आदि इन्द्रियाँ हैं; इसलिए अन्दर जानने के परिणाम होते हैं — ऐसा नहीं है।

प्रश्न : — परन्तु आँख बंद करके रखे तो ?

उत्तर : — आँख बंद करे तो 'आँख बंद है' ऐसा जानपना तो है या नहीं। ऐसे जानपने का परिणाम तो वहाँ तब भी है।

प्रश्न : — परन्तु वस्तु तो नहीं दिखती न ?

उत्तर : — भले ही वस्तु नहीं दिखे; परन्तु जानपने के परिणाम तो हैं न ? जानपना कहाँ बंद हुआ है।

वस्तुतः तो वह वस्तु कहाँ दिखती है ? वस्तु सम्बन्धी अपने ज्ञान का परिणाम कि जो अपने ज्ञानगुण का अनुसरण करके हुआ है, वह वास्तव में ज्ञात होता है। अहा! आत्मा त्रिकाल अस्ति-सत् है न ? तो वस्तु-आत्मा जैसे त्रिकाल अस्ति-सत् है, उसीतरह उसका ज्ञान-दर्शन का भाव भी त्रिकालसत् है; और इसीप्रकार उसका अनुसरण करके होनेवाले जानने-देखने के परिणाम भी उसकी पर्यायरूप से उसके अपने कारण से वर्तमान-वर्तमान सत् है। अहा! वह स्वयं के कारण से सत् है। किसी पर के, निमित्त के अथवा इन्द्रियों के कारण से सत् है — ऐसा है नहीं।

प्रश्न : — परन्तु यह तो बहुत सूक्ष्म है ?

उत्तर : — हाँ, सूक्ष्म है। आत्मा-वस्तु स्वयं ही सूक्ष्म है या नहीं ? परन्तु अरे! इसने अन्दर में मैं आत्मा हूँ — यह जानने की दरकार ही नहीं की।

यहाँ कहते हैं कि ये स्पर्शादि इन्द्रियाँ हैं, इसलिए यहाँ जीव में जानना होता है — ऐसा नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ तो जड़-मिट्टी-धूल हैं, अजीव का अस्तित्व है और

जाननेरूप जो उपयोग है, वह तो चेतन है; जीव का अस्तित्व है। अब इस चेतन को जड़-इन्द्रियाँ कैसे करें ? और यह चेतन जड़-इन्द्रियों को-पर को कैसे अनुसरे ? तो क्या है ? तो कहते हैं कि आत्मा का जो ज्ञान-दर्शनगुण त्रिकाल होनेपनेरूप (अस्तिरूप) है, उसका अनुसरण करके इस वर्तमान जानपनेरूप उपयोग का होना है। इसमें कहा है न कि उपयोग धर्म अर्थात् स्वभाव है और जीव धर्मी अर्थात् स्वभाववान है। बापू! उपयोग जीव का स्वभाव है; इसलिए वह त्रिकाली गुण का अनुसरण करके होता है; परन्तु जड़-इन्द्रियों का अथवा पर-ज्ञेयों का अनुसरण करके, वह परिणाम (उपयोग) नहीं होता; क्योंकि वह परिणाम पर में नहीं है-परस्वभाव से नहीं है।

प्रश्न : — परन्तु कर्म का क्षयोपशम हो उस अनुसार ज्ञान होता है न ?

उत्तर : — किसका क्षयोपशम ? जीव का या कर्म का ? कर्म के क्षयोपशम का यहाँ क्या काम है ? कर्म तो कर्म के घर में रहा है। यहाँ तो स्वयं के भीतर ज्ञान-दर्शन का अनुसरण करके जितना भाव (विकासरूप) होता है, वह अपने परिणाम का सत्पना है और इसलिए वह परिणाम अपने त्रिकाली सत् के आश्रय से होता है — ऐसा कहते हैं।

जयधवल में भी लिया है कि यदि इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो —

- तब सामान्यज्ञान विशेषपने हुआ है या नहीं ? तथा
- सामान्यज्ञान विशेषपने हुआ है या इन्द्रियाँ (विशेषपने) हुई हैं ?

अहा! जड़-इन्द्रियाँ ज्ञान के विशेषपने कैसे होंगी ? होती ही नहीं; इसलिए जो ज्ञान त्रिकाल सामान्यरूप है, वही वर्तमान विशेषरूप होता है। इसप्रकार सामान्य का अनुसरण करके ही उपयोग होता है; इन्द्रियों अथवा कर्म का अनुसरण करके नहीं होता है। इस-प्रकार आत्मा का अस्तित्व द्रव्य से, गुण से और पर्याय से कैसा है — यह सिद्ध करते हैं। अरे! परन्तु यह सब समझने की गरज किसको पड़ी है ?

अहाहा....! उपयोग धर्म है और जीव धर्मी है। धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव। किसने ? कि धर्मी ऐसे जीव ने। अहा! ऐसा तेरा अस्तित्व तेरा द्रव्य-गुण और पर्याय-भगवान! तेरे ही कारण है; परन्तु तेरा होनापना-अस्तित्व-वर्तमानदशा का भी पर की सत्ता के अस्तित्व के कारण नहीं है। लो, ऐसा बहुत सूक्ष्म है। यह बाहर की बुद्धि

उघड़ती है न ? भले ही वह अज्ञान हो; तो भी वह बाहर के अभ्यास के कारण है — ऐसा नहीं है; परन्तु वह परिणाम अन्दर का अनुसरण करके होता है।

अहा! यह संसार की पढ़ाई-वकालात और डॉक्टरी की पढ़ाई — यह सब कुज्ञान है; तो भी वह कुज्ञान अन्दर में अपने को अनुसरण करके होता है, पर के कारण नहीं। देश-देशान्तर घूमे और बहुत अभ्यास करे तो बुद्धि खिलती है — ऐसा लोग कहते हैं न ? परन्तु यह बात एकदम झूठ है; क्योंकि वह विकास अन्दर के ज्ञान का अनुसरण करके बाहर आता है। भले ही वह कुबुद्धि है; परन्तु वह विकास बाहर से नहीं आता। देखो न, बहुत लोग बाहर में फिरते हैं और अभ्यास करते हैं; परन्तु किसी की थोड़ी और किसी की बहुत बुद्धि होती है; क्योंकि वह बुद्धि का विकास अन्तर के गुण का अनुसरण करके होता है। भले ही वह अज्ञान है; परन्तु ज्ञान में से-अन्दर योग्यता है, उसमें से वह विकास की परिणति आती है।

प्रश्न : — तो, वह अज्ञान-कुबुद्धि कैसे हैं ?

उत्तर : — क्योंकि वह इस वस्तुस्थिति को स्वीकार ही नहीं करता। अरे! मैं ऐसा एकत्व-विभक्त आत्मा हूँ — यह भी वह कहाँ मानता है ? और इसीलिए वह कुबुद्धि है।

देखो, सामने यह शास्त्र के शब्द हैं; इसलिए यहाँ जीव में ज्ञान का परिणाम होता है — ऐसा नहीं है।

प्रश्न : — तो फिर आप (शास्त्र) किसलिए पढ़ते हो ?

उत्तर : — बापू! कौन पढ़ता है ? क्या जीव जड़ की क्रिया करता है ? वह तो मात्र जानता ही है बस; और यह जानने की क्रिया-जानने का परिणाम अन्दर जानना-देखना — ऐसा जो त्रिकाली गुण है, उसका अनुसरण करके होता है; इसलिए पढ़ते या सुनते समय होनेवाले ज्ञान के परिणाम शब्दों का अनुसरण करके नहीं होते; अपितु जीव के त्रिकाली ज्ञान-दर्शन गुण का अनुसरण करके होते हैं — ऐसी बात है।

प्रश्न : — ऐसा सुनें तो विद्यार्थी पाठशाला में पढ़ने ही नहीं जायेंगे ?

उत्तर : — बापू! यह तो तेरी भ्रान्ति है, वरना उसकी पर्याय का जो उघाड़ (विकास) आनेयोग्य है, वह अन्दर से आयेगा ही और उस काल में बाहर में होनेयोग्य जड़ की

क्रिया होगी; तथापि यहाँ तो यह बात है कि उसका उघाड़ पर के कारण-बाहर की जड़ की क्रिया के कारण नहीं होता।

अब उपयोग के प्रकार कहते हैं —

“ज्ञान और दर्शन के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है (अर्थात् उपयोग के दो प्रकार हैं — ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग)। इनमें ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद के कारण दो प्रकार का है (अर्थात् ज्ञानोपयोग के भी दो प्रकार हैं — स्वभाव ज्ञानोपयोग और विभाव ज्ञानोपयोग)।”

देखो! जानने का व्यापार और देखने का व्यापार — ऐसे उपयोग के दो प्रकार हैं और उसमें जानने के व्यापार के भी दो भेद हैं — एक स्वाभाविक ज्ञानोपयोग और दूसरा वैभाविक ज्ञानोपयोग। इनका स्पष्टीकरण आगे आयेगा।

अब कहते हैं —

“उनमें स्वभावज्ञान अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है....”

अहाहा...! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अरूपी वस्तु है और उसका जो त्रिकाली ज्ञानगुण है, वह स्वभावज्ञान है तथा उसकी केवलज्ञानरूप जो निर्मल पूर्ण अवस्था होती है, वह भी स्वभावज्ञान है। एक त्रिकाल और दूसरा वर्तमान - इसप्रकार दोनों स्वाभाविक ज्ञान हैं और वे अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी हैं।

प्रश्न : — क्या दोनों ही अमूर्त, अतीन्द्रिय, अव्याबाध और अविनाशी हैं ?

उत्तर : — हाँ दोनों ही; त्रिकाली स्वभावज्ञान भी अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है तथा वर्तमान केवलज्ञान भी अपेक्षा से अविनाशी, अमूर्त, अव्याबाध और अतीन्द्रिय है। (केवलज्ञान प्रगट होने के बाद केवलज्ञान....केवलज्ञान....केवलज्ञान...इसप्रकार अनंतकाल तक केवलज्ञान ही रहता है)। अब कहते हैं कि —

“वह भी कार्य और कारणरूप से दो प्रकार का है (अर्थात् स्वभावज्ञान के भी दो प्रकार हैं — कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान)।”

अहाहा..! वह स्वाभाविक ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् कार्यरूप-पर्यायरूप जो केवलज्ञान प्रगट होता है वह; और दूसरा कारणस्वभावज्ञान, जो त्रिकाली गुणरूप स्वभावज्ञान है वह।

प्रश्न :— इसमें कितने भेद समझना ? यह तो याद रखना ही कठिन है ?

उत्तर :— (जब व्यापार की हजारों बातें याद रखते हो तो) इसमें क्या याद रखना है ? यह तो सरल है।

लो, इतनी बात आई —

(१) आत्मा त्रिकाली वस्तु है।

(२) ज्ञान-दर्शन उसके त्रिकाली गुण हैं।

(३) उसका अनुसरण करके होता-वर्तता परिणाम सो उपयोग है। उस उपयोग के बारह प्रकार हैं।

(४) उस उपयोग के पहले दो साधारण भेद कहे —

१. ज्ञान २. दर्शन।

(५) फिर ज्ञानोपयोग के दो भेद कहे —

१. स्वभावज्ञान २. विभावज्ञान। और

(६) फिर स्वभावज्ञान के दो भेद किये —

१. कार्यस्वभावज्ञान २. कारणस्वभावज्ञान।

अब कहते हैं —

“कार्य तो सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान है।”

अहाहा...! आत्मा में एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में कार्यरूप, जो केवलज्ञान होता है; वह सर्वतः निर्मल है और वह युगपत् तीनकाल-तीनलोक को साक्षात्-प्रत्यक्ष जानता है। अहा! ऐसा जो केवलज्ञानरूपी परिणाम है, वह अन्तरंगगुण का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम है और उसको कार्यस्वभावज्ञान कहते हैं। क्यों ? क्योंकि वह कार्य-पर्याय है; इसलिए उसको कार्यस्वभावज्ञान कहा जाता है।

यह तो धीरे-धीरे लेते हैं; परन्तु यह तो बाहर के क्रियाकाण्ड में पड़ा है और किसी दिन (कभी भी) अन्दर की वस्तु का अभ्यास आया ही नहीं, वहाँ क्या हो सकता है ?

अहा! आत्मा अस्तिरूप से-सत् रूप से त्रिकालवस्तु है और उसके ज्ञान-दर्शनगुण शक्तिरूप से त्रिकाल-कायमी है; और उसका अनुसरण करके होनेवाला वर्तमान....वर्तमान वर्तता प्रगट परिणाम सो उपयोग है। अहा! उस उपयोग के दो प्रकार हैं — ज्ञान और दर्शन अर्थात् जानना और देखना — इसप्रकार उपयोग दो प्रकार का है। उसमें जानना — ऐसा जो ज्ञान है, उसके दो प्रकार हैं — एक स्वाभाविकज्ञान और दूसरा विभाविकज्ञान। उस स्वाभाविकज्ञान के भी दो प्रकार हैं — एक कार्यस्वभावज्ञान और दूसरा कारणस्वभाव-ज्ञान। अब यह नियमसार तो घर में रखा होगा; परन्तु निवृत्ति ले तब न!

अहाहा..! भगवान आत्मा का जो त्रिकाली ज्ञानस्वभाव शक्तिरूप है, उसको कारणरूप से ग्रहण करने पर वर्तमान एकसमय में जो केवलज्ञानरूप परिणाम प्रगट होता है; वह कार्यस्वभावज्ञान है। अहा! केवलज्ञान का परिणाम अर्थात् पर्याय है, वह गुण का कार्य है और इसीलिए उसको कार्यस्वभावज्ञान कहते हैं।

भाई! तुझे आत्मा समझना है न ? यदि आत्मा समझना और स्वीकार करना होवे तो यह उसकी सीमा है। क्या ? कि वह —

- (१) द्रव्यरूप से त्रिकाली है। अहा! अनन्तगुण का पिण्ड द्रव्यरूप त्रिकाली है।
- (२) उसके गुणरूप से त्रिकाली है।
- (३) उसके कार्यरूप से वर्तते वर्तमान-वर्तमान परिणामरूप से उसको वर्तनेवाली पर्याय है।

इसप्रकार आत्मा में ही आत्मा की सीमा है, शेष सब सीमा जड़ में और पर में जाती है। अतः यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान पर्याय है और वह आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम है। वह गुण का-ज्ञान का वर्तमान कार्य है, उसको यहाँ कार्यस्वभावज्ञान कहा गया है। अब कहते हैं —

“और उसका कारण परम-पारिणामिकभाव से स्थित त्रिकाल निरुपाधिक सहजज्ञान है।”

देखो, इसप्रकार स्वभावज्ञान के दो भेद किये — एक स्वभावज्ञान कार्यरूप से-पर्यायरूप से पूर्ण है और दूसरा स्वभावज्ञान अन्दर शक्तिरूप से-गुणरूप से पूर्ण है। स्वभावज्ञान, जो पर्यायरूप से पूर्ण है, उसको केवलज्ञान अर्थात् कार्यस्वभावज्ञान कहा और

दूसरा स्वभावज्ञान, जोकि अन्दर शक्तिरूप से पूर्ण है, ध्रुव है और जिसमें से ज्ञानपर्याय आती है, उसको कारणस्वभावज्ञान कहा। बापू! सूक्ष्म तो है; परन्तु धीरे-धीरे समझना।

यहाँ कहते हैं कि 'उसका कारण.....' किसका कारण ? कि केवलज्ञान का कारण। अहाहा! केवलज्ञान होने का कारण तो मोक्षमार्ग है; परन्तु अभी यहाँ यह बात नहीं लेना है। यों तो केवलज्ञान मोक्ष है और उसका कारण मोक्षमार्ग है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो, केवलज्ञानरूपी कार्य त्रिकाली कारण में से आता है; इसलिए उसको कारण कहा है। जैसे कुँए में हो वह पानी बर्तन में आता है, कुँए में ही नहीं हो तो बर्तन में क्या आयेगा ? इसीप्रकार अन्दर पूर्ण चिदानन्दमय भगवान आत्मा ज्ञानशक्ति के उपयोगरूप है और उसमें से केवलज्ञान आता है। देखो, यहाँ पर त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को भी उपयोग कहा है।

अहाहा..! भगवान आत्मा अकेला चैतन्य का गोला है—आत्मा जानने-देखने की सामर्थ्य का गोला है। तो कहते हैं कि केवलज्ञान का कारण 'परम-पारिणामिकभाव से स्थित...' देखो! केवलज्ञान का कारण भगवान आत्मा में सहजस्वभाव से रहा हुआ है, सहजानन्दप्रभु आत्मा में त्रिकालभाव से रहा हुआ है और 'त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप....' अहाहा..! जिसमें तीनों काल कोई उपाधि नहीं है — ऐसा वह है। अहा! ऐसा जो त्रिकाल कारणज्ञान, वह 'सहजज्ञान' है और उसको कारणस्वभावज्ञान कहा गया है — इसप्रकार वस्तु का अस्तित्व है, वह सिद्ध करते हैं।

प्रश्न :— परन्तु उपयोग तो पर्याय है और हमारे पर्याय का क्या काम है ?

उत्तर :— क्या जानने के लिए पर्याय नहीं है ? बापू! यह केवलज्ञान है, वह भी पर्याय है। अहा! इस परमात्मदशा होने के काल में आत्मा को जो केवलज्ञान-जो तीनकाल-तीनलोक को एकसमय में प्रत्यक्ष जाने — ऐसी ज्ञान की पर्याय होती है, वह 'है' या नहीं ? है न! तो वह इसके (जीव के) अस्तित्व का भाव है और उसको कार्यस्वभावज्ञान कहते हैं। ध्रुव शक्तिरूप से अन्दर है, उसका कार्य प्रगट बाहर आया न; इसलिए उसको कार्यस्वभावज्ञान कहा है और अन्तर में उसका कारण, जो सहज त्रिकाली स्वभाव से रहा हुआ है, उसको कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग कहा है। बहुत सूक्ष्म है प्रभु! इसीलिए तो धीरे-धीरे घोंट-घोंटकर (बारम्बार) कहते हैं।

बापू! यह जो केवलज्ञान की दशारूप कार्य है, वह तेरी पर्याय के अस्तित्व में है। यद्यपि वह प्रगटे तब होता है; परन्तु वह है तेरी पर्याय के अस्तित्व में और उसको कार्यस्वभावज्ञान कहते हैं; क्योंकि वह प्रगट कार्यरूप है; और उसका कारण अन्दर त्रिकाल सहज ज्ञानस्वभाव से रहा हुआ है। अहाहा...! जो त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप शक्ति पड़ी है, उस पिण्ड (शक्ति) में से यह कार्य आता है; परन्तु मजबूत संहनन (वज्रवृषभनाराच संहनन) है, उसके कारण अथवा पूर्ण पर्याप्तपने के कारण अथवा मनुष्यपर्याय के कारण अथवा कर्म का अभाव हुआ है; इसलिए उसके कारण केवलज्ञानरूप कार्य होता है — ऐसा नहीं है। वह तो आत्मा का त्रिकाल शक्तिरूप सहज ज्ञानस्वभाव है, उसमें से-उसका अनुसरण करके केवलज्ञानरूप कार्य प्रगट होता है। अहाहा...! वह तो त्रिकाल कारणरूप से विद्यमान है, उसमें से वर्तमान आता है।

अहाहा...! जब केवलज्ञानरूप कार्य प्रगट होता है, तब कर्म का क्षय कर्म के कारण से अवश्य होता है; परन्तु यहाँ तो अपने केवलज्ञान का परिणाम अपने से होता है। कर्म के क्षय के कारण नहीं — ऐसी बात है। क्या कहा ? कि केवलज्ञान होने पर, पहले आवरणरूप जो कर्म निमित्त होता था, वह कर्म अकर्मरूप परिणम जाता है। उस कर्म का अकर्मरूप होना तो उसमें रहा; वह कर्म अकर्मरूप परिणमा; इसलिए यहाँ जीव में केवलज्ञान का परिणाम हुआ है — ऐसा नहीं है। वजनदार बात है भाई!

अहा! परमात्मदशा के काल में आत्मा में से जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग है; क्योंकि कार्य प्रगट हुआ है न ? पर्याय प्रगट हुई है न ? कार्य कहो, पर्याय कहो अथवा परिणाम कहो एक ही है तथा वह कार्य स्वाभाविक कार्य है; क्योंकि उसके होने में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है, कर्म अथवा निमित्त की अपेक्षा नहीं है; वह कार्यज्ञान अन्दर विद्यमान ज्ञानशक्तिरूप त्रिकालकारण का अनुसरण करके होता है। अहा! त्रिकालीज्ञान, जोकि परम-पारिणामिकभाव से स्थित है, उसका अनुसरण करके कार्यज्ञान प्रगट होता होने से उसको (शक्ति को) कारण सहजज्ञान कहते हैं और प्रगट केवलज्ञान की दशा को कार्यसहजज्ञान कहते हैं। लो, ऐसी वस्तु बहुत सूक्ष्म है बापू! इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान! तू अपने कार्य के लिए अन्यत्र मत देख, जहाँ अन्दर कारण पड़ा है; वहाँ देख और उसमें एकाग्र हो। तेरी ज्ञान की पूर्णदशा प्रगट होगी, वह पर के कारण प्रगट नहीं होगी; अपितु तेरे ही कारण से होगी। अहा! अभी जो ज्ञान

की दशा वर्तती है, वह भी तेरे कारण से और पूर्ण होगी वह भी तेरे कारण से। (इसलिए अन्दर कारण है, वहाँ जा और वहाँ एकाग्र हो)।

भाई! धर्म प्राप्त करने के लिए अन्तःपुरुषार्थ करना पड़ेगा। कोई गुरुकृपा से या गुरु के आशीर्वाद से धर्म हो जाए, केवलज्ञान हो जाए — ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

प्रश्न : — ऐसा (स्तुति में) आता तो है ?

उत्तर : — बापू! वह तो निमित्त का कथन है। वस्तुतः अपनी कृपा होने पर अर्थात् अन्दर जो गुणी त्रिकाल कारणभाव से पड़ा है, उसका ग्रहण होने पर उसका अनुसरण करके केवलज्ञान होता है। यह तो प्राप्त की प्राप्ति है बापू! गजब बात है न!

प्रश्न : — देव-शास्त्र-गुरु का अनुसरण करें तो ?

उत्तर : — देव-शास्त्र-गुरु तो बाह्यनिमित्त हैं। बापू! उनका भेदरूप श्रद्धान और उनका अनुसरण अर्थात् विनय-भक्ति यह सब तो विकल्प है, राग है; और राग से तो बंध होता है। प्रभु! बात सूक्ष्म है। (साधकदशा में व्यवहार विकल्प का होना अलग बात है और उसके अनुसरण का अभिप्राय अलग बात है)।

प्रश्न : — गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता — ऐसा कथन भी तो आता है न ?

उत्तर : — अहा! गुरु से ज्ञान होता है अथवा गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, यह तो निमित्त से कथन है; क्योंकि ज्ञान होने में बाह्यनिमित्त ऐसा ही होता है; परन्तु ज्ञान तो स्वयं अपने में एकाग्र हो, अन्तर्दृष्टि करे तभी होता है — ऐसी वस्तुस्थिति है। देखो, यहाँ क्या कहते हैं ? त्रिकाली कारणस्वभावज्ञान का अनुसरण करके-उसका आश्रय पाकर-कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। बापू! यही रीति है और सर्वत्र यही बात है।

अहाहा...! आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप एक वस्तु है, चीज है, अस्ति है, तत्त्व है और उस तत्त्व में ज्ञान-दर्शन की शक्तिरूप स्वभाव है। अहाहा..! आत्मा स्वभाववान वस्तु है तो उसका स्वभाव क्या ? कि ज्ञान और दर्शन। अभी तो यही लेना है न ? अब उसमें जाणनस्वभाव से जो त्रिकाली सत् का सत्त्व है, शक्ति है; उसको कारणस्वभावज्ञान कहते हैं और उसका अनुसरण करके वर्तमान स्वाभाविक अर्थात् पर की अपेक्षा रखे

बिना जो पूर्णदशा प्रगट होती है; उसको कार्यस्वभावज्ञान कहते हैं। देखो, यहाँ तो यह बात है कि कार्यज्ञान की दशा पर ही अपेक्षा बिना ही होती है। अहा! इस बात को ध्यान में लें तो इसके सब विकल्प कम पड़ जायें। अहो! यह तो अन्दर ऐसा भारी 'पावरफुल' (सर्वशक्तिमान) इंजेक्शन है; परन्तु इसको विश्वास आवे तब न!

अहा! अन्तर-एकाग्र होने पर अन्दर में से पावर (शक्ति) फटती है-स्फुरायमान होती है, प्रगट होती है और कार्यरूप केवलज्ञान प्रगट होता है। अहा! अन्दर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप शक्ति है, वह कार्य का (केवलज्ञान का) कारण है। उसका कारण कोई व्यवहारक्रिया, इन्द्रियाँ, मनुष्यदेह अथवा संहनन नहीं है तथा वह देव-शास्त्र-गुरु से हो — ऐसा भी नहीं है। अहा! ऐसा अजब-गजब है! परन्तु क्या हो ? जीवों को अन्तर का अभ्यास ही नहीं है और आत्मविद्या के बिना बाहर के क्रियाकाण्ड में रचे-पचे रहते हैं।

देखो, इसप्रकार कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान — ऐसे स्वाभाविक ज्ञान के दो बोल हुए। अब विभाविक ज्ञान की बात करते हुए कहते हैं —

“केवलविभावरूप ज्ञान तीन हैं — कुमति, कुश्रुत और विभंग।”

अहा! यह सब बाहर की, बाहर के एकत्व सहित बुद्धियाँ हैं न, वह सब कुमति, कुश्रुत आदि कुज्ञान हैं।

प्रश्न : — परन्तु ये (कुबुद्धियाँ) तो कितनी मेहनत से प्राप्त होती हैं ?

उत्तर : — धूल भी मेहनत से प्राप्त नहीं होती, सुन न! यह कुज्ञान की पर्याय भी अन्दर में ज्ञान है, उसका अनुसरण कर होती है, यह तो दृष्टि भ्रान्त-मिथ्या है; इसलिए उसको (ज्ञान को) कुज्ञान कहते हैं; वरना वह कुज्ञान भी होता तो अन्दर शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण करके ही है।

प्रश्न : — यह सब कुज्ञान तो निकाल देने जैसा है न ?

उत्तर : — हाँ; परन्तु यह निकालता कहाँ है ? उल्टे उसे घोंटता है-दृढ़ करता है और फिर उससे मानो मैं होशियार हो गया हूँ — ऐसा मानता है; परन्तु यह सब तो धूल-धाणी और कल्पना है।

प्रश्न :— परन्तु इसमें मन ललचा जाता है ?

उत्तर :— यह धूल भी ललचानेयोग्य नहीं है। जगत में ऐसा ज्ञान होता है; परन्तु इससे क्या ? इस कुज्ञान से कोई सामग्री थोड़े ही आती है; वह तो पूर्व के पुण्य के कारण आती है। कोई ऐसा (अभ्यास का) ज्ञान हुआ; इसलिए वह आती है — ऐसा नहीं है और बाहर के अभ्यासादि से ऐसा ज्ञान हुआ है — यह भी नहीं है; वह तो अन्दर शक्तिरूप है, उसका अनुसरण कर हुआ है।

अहाहा..! कहते हैं - केवलविभावरूप ज्ञान....अर्थात् विभावरूप दूसरे मति-श्रुतादि चार ज्ञान भी हैं; परन्तु वे सम्यग्ज्ञानरूप हैं, जबकि केवल अर्थात् अकेले विभावरूप (विपरीत) ज्ञान तो ये तीन हैं — कुमति, कुश्रुत और विभंग।

अहा...! कुमति माने क्या ? कि जो आत्मा का ज्ञान नहीं है अर्थात् जिसमें आत्मा का सम्यक् आश्रय नहीं; अपितु उल्टा-विपरीतता है और मात्र पर के लक्ष्य से जो बुद्धि विकसित हुई है, वह कुमति है। यद्यपि वह है अपने में और अपने से; तथापि वह कुमति है। अहा! पच्चीस-पचास लाख पैदा करे — ऐसी किसी (अज्ञानी) की बुद्धि होती है और वह मानता है कि मैं बुद्धिमान हूँ, तो वह बुद्धि तो है; परन्तु कुबुद्धि है और यहाँ कहते हैं कि वह कुबुद्धि भी उसके ज्ञान का अनुसरण कर अज्ञानपने हुई है। इसीप्रकार मात्र बाहर की यादशक्ति बहुत हो, वह भी कुमति कहलाता है और वह कुमतिरूप ज्ञान बहुत पठन और बहुत पुस्तकों के अभ्यास किया; इसलिए प्रगटा है — ऐसा नहीं है, यह यहाँ कहते हैं।

वह कुमति साधारण ज्ञान है, जबकि कुश्रुत तर्कज्ञान है। जिसमें विपरीत-उल्टे तर्क सहित ज्ञान हो, वह कुश्रुत है। वह कुश्रुत भी अन्दर के ज्ञान का अनुसरण कर होनेवाला है; बाहर के बहुत चोपड़े (पुस्तके) पढ़े; इसलिए वह होता है — ऐसा नहीं है। यह आई. सी. एस., एल. एल. बी. और एम. ए. इत्यादि का ज्ञान भले ही अज्ञान है; परन्तु यह सब ज्ञान की पर्याय अन्दर के कारण से उघाड़रूप होती है। इसीतरह व्यापार में तर्क उठना, वह कुश्रुत है; परन्तु वह भी अन्दर ज्ञान (शक्ति) है, उसका अनुसरण कर होता है; पर के कारण होता है — ऐसा नहीं है।

तथा किसी अज्ञानी को एक विशेष विकासरूप विभंगज्ञान होता है। यह ऐसा ज्ञान है कि अन्दर सात-द्वीप और समुद्र साक्षात् दिखते हैं — ऐसा एक विभंगावधि-

कुअवधिज्ञान होता है और वह भी अपने ज्ञान का अनुसरण कर होता है, पर के कारण नहीं। देखो, कितने ही जीव मिथ्यादृष्टि होने पर भी उनको राग की मंदता और इस जाति का क्षयोपशम-उघाड़ होता है कि जिससे वह अन्दर में सात द्वीप और समुद्र को भी देखता है। तथापि वह कुज्ञान है, सम्यग्ज्ञान नहीं और वह अन्दर शक्ति का अनुसरण कर होता है; परन्तु बाहर में कर्म का क्षयोपशम हुआ है; इसलिए विभंगज्ञान हुआ है अथवा उसका (कर्म के क्षयोपशम का) अनुसरण करके हुआ है — ऐसा नहीं है।

“इस उपयोग के भेदरूप ज्ञान के भेद, अब कहे जानेवाले दो सूत्रों द्वारा (११ और १२वीं गाथा द्वारा) जानना।”

यह आगे की गाथाओं में कहेंगे।

गाथा १० के भावार्थ पर प्रवचन

“चैतन्यानुविधायी परिणाम सो उपयोग है।”

अहा! यह तो विज्ञान का भी विज्ञान — ऐसा वीतरागी-विज्ञान है बापू! कहते हैं....चैतन्यानुविधायी.....अहा! संस्कृत टीका में ‘अनुवर्ती’ शब्द है और गुजराती टीका में ‘अनुसरण करके वर्तनेवाला’ — ऐसा अर्थ किया है; और यहाँ अनुविधायी शब्द लिया है। सबका अर्थ एक ही है। यह ‘अनुविधायी’ शब्द पंचास्तिकाय की गाथा ४० में आया है।

‘उपयोग दो प्रकार का है (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग।’

एक जानने का और दूसरा देखने का — इसप्रकार उपयोग दो प्रकार का है। सबको भिन्न-भिन्नरूप से जानना सो ज्ञानोपयोग है और अभिन्न-सामान्यरूप से देखना सो दर्शनोपयोग है। दर्शनोपयोग में मात्र सामान्य देखना है और जिसमें वस्तु का भिन्न-भिन्न जानना होता है, वह ज्ञानोपयोग है।

‘ज्ञानोपयोग के भी दो प्रकार हैं — (१) स्वभाव ज्ञानोपयोग, (२) विभाव ज्ञानोपयोग। स्वभाव ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है — (१) कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग (अर्थात् केवलज्ञान पर्याय), (२) कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग (अर्थात् सहजज्ञानोपयोग)।’

इन सबकी व्याख्या टीका में आ गई है। सहज ज्ञानोपयोग की व्याख्या फुटनोट में इसप्रकार है —

“सहज ज्ञानोपयोग परम-पारिणामिकभाव से स्थित है तथा तीनों काल उपाधि रहित है; उसमें से (सबको जाननेवाला) केवलज्ञानोपयोग प्रगट होता है; इसलिए सहज ज्ञानोपयोग कारण है और केवलज्ञानोपयोग कारण है।”

देखो, यह कारण और कार्य की व्याख्या टीका में आई थी न; तो कहते हैं —

“ऐसा होने से स्वभाव ज्ञानोपयोग को कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग कहते हैं और केवलज्ञानोपयोग को कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग कहते हैं।”

लो, यह सब व्याख्यान में विस्तार से आ गया है। अब कहते हैं —

“विभावज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है — (१) सम्यक् विभावज्ञानोपयोग (२) मिथ्या विभावज्ञानोपयोग (अर्थात् केवलविभावज्ञानोपयोग) सम्यक् विभाव-ज्ञानोपयोग के चार भेद (सुमतिज्ञानोपयोग, सुश्रुतज्ञानोपयोग, सुअवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानोपयोग) अब अगली दो गाथाओं में कहेंगे।”

ये सम्यग्ज्ञान के चार भेद सुमति, सुश्रुत, सुअवधि और मनःपर्ययज्ञान भी विभावज्ञान है। क्यों ? क्योंकि वह अपूर्ण-अधूरा ज्ञान है और उसमें कर्म की-निमित्त की अपेक्षा आती है। इन चार भेदों का कथन अगली गाथाओं में करेंगे।

“मिथ्या विभावज्ञानोपयोग के अर्थात् केवलविभावज्ञानोपयोग के तीन भेद हैं — (१) कुमतिज्ञानोपयोग (२) कुश्रुतज्ञानोपयोग और (३) विभंगज्ञानोपयोग अर्थात् कुअवधिज्ञानोपयोग।”

इनकी चर्चा टीका की व्याख्या के समय आ गई है।

कलश-१७ पर प्रवचन

‘जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को.....’

अहा.....! देखो, ये सब ज्ञान के भेद कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग इत्यादि समस्त ज्ञान के भेद भगवान केवली वीतरागी परमेश्वर देवाधिदेव तीर्थकरदेव ने कहे हैं।

‘जिनेन्द्रकथित’ — भगवान जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ — ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि

मुनिराज ने यह तो पहले से ही कहा है कि इस शास्त्र की टीका करने में हम मंदबुद्धि तो कौन ? यह टीका तो केवली के शासन में गणधरों से और परम्परा आचार्यों से चली आती है; इसलिए जो ये सब ज्ञान भेदों का वर्णन किया है, वह परमात्मा ने ही किया है।

इसलिए कहते हैं कि —

‘जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर, जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में रहते हुए शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है-गहरा उतर जाता है.....।’

अहाहा! इन भेदों को जानकर क्या करना ? तो कहते हैं कि परभाव को-विभावभाव को छोड़ना। परभाव का लक्ष्य छोड़ना और निजस्वरूप में स्थित होकर शीघ्र चैतन्य-चमत्कारमात्र तत्त्व में प्रविष्ट हो जाना। अहाहा..! स्वयं अन्दर त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें स्थित रहते हुए अन्दर प्रविष्ट हो जाना-गहरे उतर जाना-लीन हो जाना — ऐसी बात है।

अहाहा...! इसका फल क्या ?

अहा! ज्ञान के इन भेदों को जानकर, जो परभाव को छोड़ता है; पुण्य-पाप के भावों को छोड़ता है अर्थात् उनका लक्ष्य छोड़ता है और अन्दर स्वयं चैतन्यचमत्कारमात्र भगवानस्वरूप है, उसमें गहरा उतर जाता है-लीन हो जाता है; वह केवलज्ञानरूपी मुक्तिलक्ष्मी को पाता है, मोक्ष पाता है। यह नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग है न; इसलिए इसका जोड़-अन्तिम फल मुक्ति बताते हैं। इस नियमसार का-मोक्षमार्ग का फल मोक्ष बताते हैं।

प्रश्न : — हाँ, परन्तु इसको जाने बिना ही सीधे अन्दर उतर जाये तो क्या बाधा है ?

उत्तर : — अरे भाई! जाने बिना अन्दर किसमें उतरेगा और कैसे उतरेगा ? अहा! अन्दर स्वयं द्रव्य-वस्तु क्या है ? पर्याय क्या है ? अन्दर उतरना क्या है और किसमें उतरना है ? इन सबके भान बिना यह उतरेगा किसमें ?

अहाहा...! अन्दर में त्रिकाल ज्ञानस्वरूप वस्तु कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग है, उसकी पूर्णदशा सो कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग है। उसकी चार अपूर्णदशा सो सम्यक् विभावज्ञानोपयोग

है और तीन अज्ञानदशा मिथ्या विभावज्ञानोपयोग है। इसीप्रकार दर्शन में, एक दर्शन स्वभावरूप है और तीन दर्शन विभावरूप हैं। अब इसको यह सब भान हुए बिना कहाँ से हटना-पराङ्गमुख होना है और कहाँ जाना-बसना है — ऐसा विवेक कैसे सूझेगा ? नहीं सूझता।

इसलिए कहते हैं कि जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर, जो पुरुष विभाव का परिहार करके-विभाव का लक्ष छोड़कर, निजचैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में-निजकारण भगवानस्वरूप जो अपना तत्त्व है; उसमें प्रविष्ट हो जाता है, शीघ्र अन्दर गहरा उतर जाता है, वह पुरुष मुक्तिसुन्दरी का स्वामी हो जाता है। ऐसी बात! अन्दर है न कि — “स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः”

अहाहा...! ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव ऐसा शुद्ध चैतन्य का दल स्वयं है, उसके अन्दर अर्थात् पर्याय में ऊपर-ऊपर न रहकर अन्दर ध्रुव में उतरकर; जो पुरुष वहाँ लीन हो रहता है; ‘वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का पति होता है)।’

परमश्री कहने से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी। लो, यह लक्ष्मी है, शेष तो सब धूल है। अहा! अन्तर में एकाग्र होकर रहने से अनन्तज्ञान और आनन्द की जो अपनी परिणति है, उस पूर्ण कार्यदशा का, जोकि कभी छोड़ेगी नहीं उसका, वह पुरुष वल्लभ होता है — ऐसा मार्ग है।

इसप्रकार यह दसवीं गाथा हुई।



परद्रव्य को और आत्मा को अत्यंत अभाव है, व्यवहारनीति के वचन में आता है; परन्तु अध्यात्मदृष्टि से तो विकार का आत्मा में अत्यंत अभाव है। चैतन्यपिण्ड विकार से भिन्न अकेला पृथक् ही पड़ा है, उसे देख! जिसप्रकार तेल पानी के प्रवाह में ऊपर-ऊपर ही तैरता है, पानी की गहराई में प्रवेश नहीं करता, उसीप्रकार चैतन्य के प्रवाह में ऊपर-ऊपर ही तैरता है, चैतन्य की गहराई में प्रविष्ट नहीं होता।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२४

नियमसार गाथा-११-१२

केवलमिन्द्रियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२॥

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधम् ॥११॥
संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम्।
अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादेर्भेदतश्चैव ॥१२॥

(हरिगीत)

इन्द्रिय-रहित, असहाय, केवल वह स्वाभाविक ज्ञान है।
दो विधि विभाविक-ज्ञान सम्यक् और मिथ्याज्ञान है ॥११॥
मति, श्रुत, अवधि, अरु मनःपर्यय चार सम्यग्ज्ञान है।
अरु कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन भेद मिथ्याज्ञान हैं ॥१२॥

गाथार्थ :— जो (ज्ञान) केवल, इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभावज्ञान है; सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप भेद किये जाने पर, विभावज्ञान दो प्रकार का है।

सम्यग्ज्ञान चार भेदवाला है - मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय; और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) मति आदि के भेद से तीन भेदवाला है।

टीका :— यहाँ (इन गाथाओं में) ज्ञान के भेद कहे हैं।

जो उपाधिरहित स्वरूपवाला होने से केवल* है, आवरणरहित स्वरूपवाला होने से क्रम, इन्द्रिय और (देश-कालादि) व्यवधान^१ रहित है, एक-एक वस्तु में व्याप्त नहीं होता (समस्त वस्तुओं में व्याप्त होता है) इसलिए असहाय है, वह कार्यस्वभावज्ञान है। कारणज्ञान भी वैसा ही है। काहे से ? निजपरमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र,

* केवल=अकेला, शुद्ध, मिलावटरहित (निर्भल)

१. व्यवधान=आड़, परदा, अन्तर, आँतर-दूरी, विघ्न।

सहजसुख और सहजपरमचित्शक्तिरूप निजकारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद् जानने में समर्थ होने से वैसा ही है। इसप्रकार शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा।

अब यह (निम्नानुसार) शुद्धाशुद्धज्ञान का स्वरूप और भेद कहे जाते हैं — उपलब्धि^१, भावना और उपयोग से तथा अवग्रहादि^२ भेद से अथवा बहु^३, बहुविध आदि भेद से मतिज्ञान अनेक भेदवाला है। लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। देश, सर्व और परम के भेद से (अर्थात् देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधि — ऐसे तीन भेदों के कारण) अवधिज्ञान तीनप्रकार का है। ऋजुमति और विपुलमति के भेद के कारण मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टि को यह^४ चार सम्यग्ज्ञान होते हैं। मिथ्यादर्शन हो वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान “कुमति ज्ञान”, “कुश्रुतज्ञान” तथा “विभंगज्ञान” — ऐसे नामान्तरों को (अन्य नामों को) प्राप्त होते हैं।

यहाँ (ऊपर कहे हुए ज्ञानों में) सहजज्ञान, शुद्ध अन्तःतत्त्व परमतत्त्व में व्यापक होने से, स्वरूपप्रत्यक्ष^५ है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष (सम्पूर्णप्रत्यक्ष) है। “रुपिष्ववधेः (अवधि-ज्ञान का विषय-संबंध रूपी द्रव्यों में है)” ऐसा (आगम का) वचन होने से अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है। उसके अनन्तवें भाग में वस्तु के अंश का ग्राहक (ज्ञाता) होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं।

और विशेष बात यह है कि उक्त (ऊपर कहे हुए) ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निजपरमतत्त्व में स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है तथा सहजज्ञान (उसके) पारिणामिकभाव

१. मतिज्ञान तीनप्रकार का है, उपलब्धि, भावना और उपयोग। मतिज्ञानावरण क्षयोपशम जिसमें निमित्त है — ऐसी अर्थग्रहणशक्ति (पदार्थ को जानने की शक्ति) सो उपलब्धि है, जाने हुए पदार्थ के प्रति पुनः पुनः चिंतन सो भावना है, “यह काला है” “यह पीला है” इत्यादिरूप अर्थग्रहणव्यापार (पदार्थ को जानने का व्यापार) सो उपयोग है।
२. मतिज्ञान चार भेदवाला है : अवग्रह, ईहा (विचारणा), अवाय (निर्णय) और धारणा। (विशेष के लिए “मोक्षशास्त्र (सटीक)” देखें।)
३. मतिज्ञान बारह भेदवाला है : बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव तथा अध्रुव। (विशेष के लिए “मोक्षशास्त्र (सटीक)” देखें।)
४. सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों को होते हैं। सुअवधिज्ञान किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है। मनःपर्ययज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनिवरों को-विशिष्टसंयमधरों को होता है।
५. स्वरूपप्रत्यक्ष=स्वरूप से प्रत्यक्ष, स्वरूप-अपेक्षा से प्रत्यक्ष, स्वभाव से प्रत्यक्ष।

रूप स्वभाव के कारण भव्य का परमस्वभाव होने से, सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

इस सहजचिद्विलासरूप (१) सदा सहज परमवीतराग सुखामृत, (२) अप्रतिहत निरावरण परमचित्शक्ति का रूप, (३) सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परमचारित्र और (४) त्रिकाल अविच्छिन्न (अटूट) होने से सदा निकट ऐसी परम चैतन्यरूप की श्रद्धा — इस स्वभाव-अनन्तचतुष्टय से जो सनाथ (सहित) है — ऐसे आत्मा को अनाथ मुक्तिसुन्दरी के नाथ को भाना चाहिए (अर्थात् सहजज्ञान-विलासरूप से स्वभाव अनन्तचतुष्टययुक्त आत्मा को भाना चाहिए-अनुभवन करना चाहिए)।

इसप्रकार संसाररूपी लता का मूल छेदने के लिए हँसियारूप इस उपन्यास^१ से ब्रह्मोपदेश किया।

[अब, इन दो गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं —]

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥१८ ॥

(वीरछन्द)

इसप्रकार जो कहा गया वह भेदज्ञान को उर में धार।
सुकृत-दुष्कृत या सुख-दुःख का करते भव्य जीव परिहार ॥
ये समस्त शुभ-अशुभ भाव ही भव-दुःख के हैं कारण मूल।
इन्हें त्याग कर जीव प्राप्त करता है शाश्वत सुख सम्पूर्ण ॥१८ ॥

श्लोकार्थ :— इसप्रकार कहे गये भेदज्ञान को पाकर भव्यजीव घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत^२ या दुष्कृत को, सुख या दुःख को अत्यन्त परिहरो। उससे ऊपर (अर्थात् उसे पार कर लेने पर), जीव समग्र (परिपूर्ण) शाश्वतसुख को प्राप्त करता है ॥१८ ॥

१. उपन्यास=कथन, सूचन, लेख, प्रारम्भिक कथन, प्रस्तावना।

२. सुकृत या दुष्कृत=शुभ या अशुभ।

(अनुष्टुभ्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे ।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ॥१९॥

(वीरछन्द)

परिग्रह का आग्रह छोड़ो बुध ! करो उपेक्षा इस तन की ।
चिन्मय तन जो पूर्ण निराकुल करो भावना उस तन की ॥१९॥

श्लोकार्थः :- परिग्रह का ग्रहण छोड़कर तथा शरीर के प्रति उपेक्षा करके बुध पुरुष को अव्यग्रता से (निराकुलता से) भरा हुआ चैतन्यमात्र जिसका शरीर है, उसे (आत्मा को) भाना चाहिए ॥१९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
द्वेषारम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम् ।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम् ॥२०॥

(वीरछन्द)

शुभ अरु अशुभ राग क्षय करने तथा मोह क्षय करने से ।
द्वेषरूप जल पूरित मन-घट को समूल क्षय करने से ॥
नित्य उदित निरुपधि सर्वोत्तम प्रगटे ज्ञान प्रकाश पवित्र ।
भेदज्ञान-तरु का सत् फल है वन्द्य जगत को मंगल नित्य ॥२०॥

श्लोकार्थः — मोह को निर्मूल करने से, प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त राग का विलय करने से तथा द्वेषरूपी जल से भरे हुए मनरूपी घड़े का नाश करने से, पवित्र, अनुत्तम^१, निरुपधि^२ और नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट होती है। भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल^३ वंद्य है, जगत को मंगलरूप है ॥२०॥

(मालिनी)

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च ।

१. अनुत्तम=जिससे अन्य कोई उत्तम नहीं है ऐसी, सर्वश्रेष्ठ।

२. निरुपधि=उपाधिरहित, परिग्रहरहित, बाह्यसामग्री रहित, उपाधिरहित, छलकपटरहित-सरल।

३. सत्फल=सुन्दरफल, अच्छा फल, उत्तम फल, सच्चा फल।

लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥२१ ॥

(वीरछन्द)

जो अन्तर्मुख अव्याबाधित, आनन्द में जिसका विस्तार।
सहज दशा जिसकी विकसित है, अपने में है सहज विलास ॥
लीन सदा चित् चमत्कार में तमनाशक है ज्योति महान।
जयवन्तो सम्पूर्ण मोक्ष में सहज ज्ञान शाश्वत अभिराम ॥२१ ॥

श्लोकार्थ :- आनन्द में जिसका विस्तार है, जो अव्याबाध (बाधारहित) है, जिसकी सहजदशा विकसित हो गई है, जो अन्तर्मुख है; जो अपने में सहज विलसते (खेलते, परिणमते) चित्त्वमत्कारमात्र में लीन है, जिसने निजज्योति से तमोवृत्ति को (अन्धकारदशा को, अज्ञानपरिणति को) नष्ट किया है और नित्य अभिराम (सदा सुन्दर) है — ऐसा सहजज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में जयवन्त वर्तता है ॥२१ ॥

(अनुष्टुभ्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥२२ ॥

(वीरछन्द)

सहज ज्ञान साम्राज्य अहो जिसका सर्वस्व शुद्ध चेतन।
निज आत्म को लखकर होता हूँ मैं निर्विकल्प चिद्घन ॥२२ ॥

श्लोकार्थ :- सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है — ऐसा शुद्धचैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर, मैं यह निर्विकल्प होऊँ ॥२२ ॥

गाथा ११-१२ टीका पर प्रवचन

“यहाँ (इन गाथाओं में) ज्ञान के भेद कहे हैं।”

देखो, इन दो गाथाओं (११ व १२ में) ज्ञान के भेदों का कथन है। तो कहते हैं—

“जो उपाधिरहित स्वभाववाला होने से केवल है।”

देखो, यह केवलज्ञान की बात है। अहाहा...! आत्मा के त्रिकाली ज्ञानभाव का अवलम्बन कर-अनुसरण कर उत्पन्न हुआ, जो केवलज्ञान है; वह शुद्ध है। अहा! भगवान को परमात्मदशा की प्राप्ति के काल में जो केवलज्ञान होता है वह केवलज्ञान,

अन्दर चैतन्य-चमत्कारमात्र जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूपी आत्मा है, उसको अनुवर्त कर होता है और वह उपाधिरहित स्वभाववाला होने से केवल है अर्थात् अकेला, निर्भल, शुद्ध है तथा वह केवलज्ञान 'आवरणरहित स्वभाववाला होने से क्रम, इन्द्रिय और (देश-कालादि) व्यवधानरहित है....।'

देखो! यह कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान आवरणरहित स्वभाववाला है, आवरणरहित निरावरण है और इसलिए इसको क्रम-क्रम से जानना नहीं होता है, इसको इन्द्रियों का साधन नहीं है, (इन्द्रियरहित प्रत्यक्ष है) तथा देश-कालादि के विघ्न-अन्तराय रहित है अर्थात् इसको किसी देश-काल का आड़-पर्दा अथवा अन्तर नहीं है।

अहाहा...! अपनी केवलज्ञान लक्ष्मी...लो, यह लक्ष्मी है! अहा! जो अन्दर में शक्तिरूप भरी है, कारण केवलज्ञानरूप से (अकेले ज्ञानस्वभाव से) भरी हुई है, अहाहा...! उसमें एकाग्र होने पर उसका अनुसरण कर यह (केवलज्ञान लक्ष्मी) कार्यरूप से प्रगट होती है; यह पर में से, निमित्त में से नहीं आती; और वह, पूर्व की ज्ञानपर्याय प्रगटी थी; इसलिए उसके कार्यरूप से प्रगट होता है — ऐसा भी नहीं है। आशय यह है कि पूर्व में चार ज्ञान हों, उनके कार्यरूप से केवलज्ञान प्रगट होता है — ऐसा नहीं है; परन्तु जो त्रिकाली कारणज्ञान की स्वभावरूप सत्ता है, उसमें एकाग्र होने पर; उसका अनुसरण करके केवलज्ञान प्रगट होता है। अहा! यह केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है और यह क्रम, इन्द्रियाँ तथा देशकाल के विघ्न-व्यवधान से रहित है। अहो! ऐसा केवलज्ञान निजसम्पदा है, निजचैतन्यलक्ष्मी है। यह लक्ष्मी!! शेष सब तो धूल है।

तथा जो (केवलज्ञान) "एक-एक वस्तु में व्याप्त नहीं होता (समस्त वस्तुओं में व्याप्त होता है) इसलिए असहाय है, वह कार्यस्वभावज्ञान है।"

अहा! कार्यस्वभावज्ञान की पर्याय-केवलज्ञान पहले एक को जाने और फिर दूसरे को जाने — ऐसा नहीं है। वह समस्त वस्तुओं में युगपत्-एकसाथ व्यापता है और इसकारण वह असहाय है। यह असहाय की व्याख्या की। क्या ? कि पहले एक को जाने और फिर दूसरे को जाने - ऐसा केवलज्ञान नहीं है; इसलिए वह असहाय है।

अहा! इसप्रकार जो केवल शुद्ध है, क्रम, इन्द्रिय और व्यवधानरहित है और जो असहाय है; वह कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान है। लो, ऐसा अरहन्तपरमात्मा का

केवलज्ञान! वह पर्यायरूप नया प्रगट हुआ है न! इसलिए उसको कार्यस्वभावज्ञान कहा है। अब कहते हैं —

“कारणज्ञान भी वैसा ही है।”

अहाहा! कार्य का कारण, जो अन्दर त्रिकालीज्ञान है; वह भी ऐसा ही केवल-शुद्ध, निरावरण और असहाय है — ऐसा कहते हैं।

“काहे से” ? तो कहते हैं —

“निजपरमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख और सहजपरम चित्शक्तिरूप निजकारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद् जानने में समर्थ होने से वैसा ही है।”

‘निजपरमात्मा में विद्यमान.....’ देखो, अपना आत्मा परमात्मास्वरूप ही है। परमात्मा= परम+आत्मा=परमस्वरूप। अहाहा...! ऐसे त्रिकाल निजपरमस्वरूप परमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन-स्वाभाविक त्रिकालीदर्शन, सहजचारित्र-स्वाभाविक त्रिकालीचारित्र, सहजसुख-स्वाभाविक त्रिकालीसुख और सहजपरमचित्-शक्तिरूप अर्थात् स्वाभाविक परमज्ञान शक्तिरूप निजकारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद् जानने में समर्थ होने से वह कारण-ज्ञान भी वैसा ही है। सूक्ष्म बात है प्रभु!

अहाहा...! त्रिकाली ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य और चारित्र आदिरूप अन्दर वस्तु का त्रिकाली स्वरूप है। अहाहा...! अन्दर जो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा कारणसमयसार स्वरूप विराजमान है, उसके स्वरूप को यह अन्दर का ज्ञान (कारणज्ञान) एकसाथ-युगपद् जानने को समर्थ है। यह शक्ति की बात है। यद्यपि कारणज्ञान है तो ध्रुव...ध्रुव त्रिकाल, तथापि उसकी सामर्थ्य, उसकी शक्ति-ताकत ऐसी है — यह बात यहाँ है। सूक्ष्म बात है बापा!

अहाहा...! वस्तु का स्वरूप अन्दर ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव — ऐसा त्रिकाल उत्पाद-व्यय रहित है अर्थात् सहजदर्शन उत्पाद-व्ययरहित है, सहजचारित्र उत्पाद-व्ययरहित है, सहजसुख उत्पाद-व्ययरहित है और सहजज्ञान भी उत्पाद-व्ययरहित है। अहा! ऐसी उत्पाद-व्ययरहित त्रिकाली शक्तियों रूप जो वस्तु कारणसमयसार का पूर्ण स्वरूप है, उसको अन्दर का कारणज्ञान जानने को समर्थ है। लो, यह निजवैभव! अहो! आत्मा

का निजवैभव अद्भुत चमत्कारिक है। यह निजवैभव बताकर ऐसा कहते हैं कि भगवान! यह जो कार्यरूप केवलज्ञानलक्ष्मी प्रगट होती है वह, यह जो निजकारणसमयसार में विद्यमान, जानने की सामर्थ्यरूप त्रिकाली पूर्णज्ञान है; उसका अनुसरण करके होती है। अहा! निजस्वरूप में जो दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य और ज्ञानादि सहज त्रिकाली शक्तियाँ हैं, उनको उनके साथ विद्यमान पूर्ण त्रिकाली सहजज्ञान जानने को समर्थ है और ऐसे इस ज्ञान का अनुसरण करके केवलज्ञान होता है। अहा! यह ऐसी गजब की बात है। कहते हैं —

“इसप्रकार शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा।”

इसप्रकार कार्यरूप शुद्धज्ञान ऐसा केवलज्ञान और उसका कारण अन्तर में त्रिकाल विद्यमान है - ऐसा कारणरूप शुद्धज्ञान — इसप्रकार दोनों का स्वरूप कहा।

अहो! दिगम्बर शास्त्रों में तो शैली ही कोई अलग-जुदी जाति की है। त्रिकाली कारणस्वभावज्ञान, कारणशुद्धजीव, कारणपरमात्मा, कारणसमयसार इत्यादि की बात अन्यत्र-श्वेताम्बर में भी कहीं नहीं है।

अहाहा...! वस्तु (आत्मा) स्वयं पदार्थ अस्ति है, होनेवाला (अस्तिरूप) तत्त्व है और उसमें अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तचारित्र/वीतरागता (यह त्रिकाली वीतरागता) विद्यमान है और उन्हें उसी त्रिकालीवस्तु में रहा हुआ कारणज्ञान जानने को समर्थ है — ऐसा दर्शाकर कारणशुद्धज्ञान का स्वरूप कहा और उसका अनुसरण कर अन्तर-एकाग्र होने पर वर्तमान प्रगटता, जो केवलज्ञान उसे दर्शाकर कार्यशुद्धज्ञान का स्वरूप कहा है। इसप्रकार शुद्धज्ञान का स्वरूप दर्शाया।

“अब यह (निम्नानुसार) शुद्धाशुद्धज्ञान का स्वरूप और भेद कहे जाते हैं।” उनमें प्रथम मतिज्ञान की बात करते हैं।

“उपलब्धि, भावना और उपयोग से तथा अवग्रहादि भेद से अथवा बहु, बहुविध आदि भेद से मतिज्ञान अनेक भेदवाला है।”

क्या कहा ? कि ‘उपलब्धि, भावना और उपयोग से....’ इसकी व्याख्या फुटनोट में इसप्रकार है कि —

‘मतिज्ञान तीन प्रकार का है — उपलब्धि, भावना और उपयोग।’ देखो, यह

व्याख्या पंचास्तिकाय में जयसेनाचार्य की टीका में (गाथा ४१ में) है और उसके आधार से यह लिया है कि उपलब्धि, भावना और उपयोग — ये मतिज्ञान के तीनप्रकार हैं। मतिज्ञान प्रगट पर्याय है और ये मतिज्ञान की प्रगट पर्याय के तीन भेद हैं। अब उपलब्धि की व्याख्या करते हैं —

‘मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम जिसमें निमित्त है — ऐसी अर्थग्रहणशक्ति (पदार्थ को जानने की शक्ति) सो उपलब्धि है।’

अहा! अन्य पदार्थों को जानने की शक्ति सो उपलब्धि है। उपलब्धि कहो या लब्धि कहो, एक ही है। अहा! वह प्रगट हुई लब्धिरूपदशा अन्तर के त्रिकालीज्ञान का अनुसरण करके होती है, सुनकर या पढ़कर वह प्रगट हो — ऐसा नहीं है।

प्रश्न : — क्या सुनकर या पढ़कर ज्ञान नहीं होता ?

उत्तर : — नहीं, वह ज्ञान पढ़कर या सुनकर होता है — ऐसा नहीं है; अपितु अन्दर त्रिकाली शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण करके होता है। अहा! अन्य पदार्थों को जानने की ताकतवाला मतिज्ञान का वह अंश अन्दर के त्रिकालीज्ञान का अनुसरण कर होता है। ऐसी बात है भाई!

अब भावना की व्याख्या — **‘जाने हुए पदार्थ के प्रति पुनः-पुनः चिन्तन, सो भावना है।’**

अहा! बारम्बार चिन्तवनरूप भाव को भावना कहते हैं। वह भी मतिज्ञान की प्रगट वर्तमानदशा का अंश-भाग है और वह अन्दर विद्यमान शक्तिरूप ज्ञान को अनुसरण करके होता है। मतिज्ञान के तीन भेद-अंश कहे हैं न! एक लब्धिरूप, एक भावनारूप और एक उपयोगरूप। तो अब उपयोग की व्याख्या करते हैं —

‘यह काला है, यह पीला है इत्यादिरूप अर्थग्रहण व्यापार (पदार्थ को जानने का व्यापार) सो उपयोग है।’ ऐसे तीन प्रकार हैं। श्वेताम्बर में कहीं ऐसे तीन प्रकारों की बात नहीं है। वहाँ लब्धि और उपयोग की बात की है; परन्तु एकदम साधारण। अरे! वहाँ बाहर का बहुत है, पुद्गल का सब ग्रंथ है; परन्तु अन्दर की सारी बात ही वहाँ रह गई है।

अहा! वस्तु अर्थात् भगवान् आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, त्रिकाली गुण-शक्ति है और उसका अनुसरण कर वर्तमान मतिज्ञान के प्रकार होते हैं। यह लब्धि, उपयोग और भावना — ऐसे मतिज्ञान, जो तीन के प्रकार होते हैं, वे तीनों त्रिकालीज्ञान का अनुसरण कर होते हैं। (मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम तो उसमें निमित्तमात्र है; उसका अनुसरण करके मतिज्ञान होता है — ऐसा नहीं है)। अब कहते हैं -

‘तथा अवग्रहादि भेद से...’ इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार है —

‘मतिज्ञान चार भेदवाला; अवग्रह, ईहा (विचारणा), अवाय (निर्णय) और धारणा।’

तो अवग्रह माने क्या ?

कि ज्ञान में ‘यह वस्तु है — ऐसा पहले जानने में आवे, उसको अवग्रह कहते हैं। अहा! यह क्या है ? ऐसा जो ज्ञान में जानने में आता है, वह जानने की पर्याय अन्दर त्रिकालीज्ञान का अनुसरण कर होती है, बाहर के ज्ञेय का अनुसरण कर नहीं। ‘अवग्रह’ — यह मतिज्ञान का एक अंश-भाग है। अव=निश्चय से, ग्रह=जानना। दूसरी चीज क्या है — ऐसा अन्दर में जानना सो अवग्रह है और वह अन्दर विद्यमान त्रिकाली शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण कर होता है, ज्ञेय का अनुसरण कर नहीं — ऐसी वजनी बात है भाई!

अहा! यहाँ अस्ति सिद्ध करनी है न ? तो कहते हैं — वस्तु-आत्मा अस्ति है, सत्ता है तथा उसके गुण भी अस्ति हैं-सत्ता है; इसलिए उसकी पर्यायरूप सत्ता भी उनको (द्रव्य-गुण को) अनुसरण कर हुई है। वस्तुतः तो उसमें (द्रव्य में) इसी अंश के आने की वर्तमान योग्यता थी; इसलिए वहाँ यह अंश प्रगट आया है। सूक्ष्म बात है भाई!

अहा! अवग्रह मतिज्ञान-पर्याय का एक भेद है और वह अन्तर में स्थित शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण कर होता है। अहा! यह भगवान् है वह क्या है ? यह शब्द है वह क्या है ? ऐसा पहले जो जाना वह अवग्रह है; तथापि वह जानना पर के कारण नहीं है। अहा! पर को जाना, वह पर के कारण नहीं है; अपितु अन्दर ज्ञान का अनुसरण करके हुआ है और वह जानना अपनी ज्ञान की पर्याय में हुआ है।

अब ‘ईहा’ विचारणा क्या है ?

अहा! मतिज्ञान में विचार चलना ईहा है। यह विचारणा भी परपदार्थ के कारण नहीं होती; विचारणा भी अन्तरज्ञान का अनुसरण करके होती है। यद्यपि यहाँ सम्यग्ज्ञान की

बात चलती है, तो भी अज्ञान सम्बन्धी वस्तु (वस्तुस्थिति) भी यही है। ज्ञान हो या अज्ञान — दोनों में यही वस्तुस्थिति है कि ईहा (विचारणा) की पर्याय अन्तर में ज्ञानभाव का अनुसरण करके ही होती है।

अहा! भगवान आत्मा के ज्ञान की-ज्ञानगुण की सत्ता की यह सीमा-मर्यादा है कि वह त्रिकालीद्रव्य में रहता है और उसका अनुसरण करके होना, यह उसकी वर्तमान पर्याय की सीमा-मर्यादा है। तात्पर्य यह है कि सब ज्ञान अपने ही कारण से होता है, परज्ञेय के कारण नहीं — यह वस्तुस्थिति है।

यद्यपि व्यवहार से कथन आवे, तब ऐसा ही कहा जाता है कि यह जीव भव्य है या अभव्य ? ऐसी ज्ञान में पहली पकड़ हुई, वह अवग्रह है। वहाँ 'धवला' में ऐसा लिया है। जबकि मोक्षमार्गप्रकाशक में यह आता है कि यह मनुष्य दक्षिणी है अथवा काठियावाड़ी ? इस जाति की पहले पकड़ हुई, वह अवग्रह है। यह भव्य है या अभव्य — ऐसी जो विचारधारा आई है, वह भी वास्तव में तो अन्तर के शक्तिरूप ज्ञान का अनुसरण करके आई है; परन्तु जो दूसरा भव्य या अभव्यजीव है, उसका अनुसरण करके नहीं; क्योंकि वस्तु का पूरा अस्तित्व ही स्वयंसिद्ध है और इसीलिए उसका उस-उस समय का वर्तमान सत् उसके त्रिकाल का अनुसरण करके ही होता है। भले ही उसमें अन्य वस्तु निमित्त हो; परन्तु उस निमित्त से ज्ञान हुआ है या होता है — ऐसा नहीं है। ऐसा निश्चय का स्वरूप यहाँ सिद्ध किया है।

प्रश्न : — परन्तु अन्य व्यवहार ग्रन्थों में तो यह आता है कि एक कार्य के दो कारण होते हैं ?

उत्तर : — हाँ, आता है; परन्तु बापू! वह तो अन्य वस्तु का ज्ञान कराने के लिए है, वरना वस्तुस्वरूप तो यह है कि अन्दर जो विचारणा चलती है, वह किसी पर के, इन्द्रिय के, मन के अथवा कर्म के कारण चलती है — ऐसा नहीं है। भाई! वह तो अन्दर भगवान आत्मा की जो ज्ञानगुण की अक्षय-अमेय खान है, उसका अनुसरण करके विचारणा चलती है और वह विचारणा मतिज्ञान की एक 'ईहा' नाम की पर्याय है — ऐसी सूक्ष्म बात है बापा!

अब अवाय (निर्णय) माने क्या ?

कि यह भव्य ही है — ऐसा निर्णय होना सो अवाय है; क्योंकि उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट दिखते हैं; इसलिए वह भव्य है — ज्ञान में ऐसा निश्चय-निर्णय होना अवाय है। अहा! यह निर्णय अपने में विद्यमान ज्ञान के कारण होता है, वह किसी परवस्तु के कारण अथवा पर का अनुसरण कर नहीं होता। ऐसी मतिज्ञान की कितनी ताकत है! अहो! सामनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी है; इसलिए भव्य ही है — ऐसा निर्णय करने की मतिज्ञान की अचिन्त्य ताकत है। अहो! ऐसा मतिज्ञान! तो भी वह निर्णय की पर्याय सामनेवाले जीव के कारण हुई है — ऐसा नहीं है, सामने जीव है तो निर्णय हुआ है — ऐसा नहीं है; परन्तु अन्दर में त्रिकाली स्वभाववान है, उसका अनुसरण कर यह निर्णय हुआ है और होता है। देखो, यह भगवान आत्मा के ज्ञान का वैभव! यह तेरे बाग-बंगला और मोटर आदि तो जड़ का वैभव है बापू! इसमें तुझे क्या है ? तेरा तो एक ज्ञान है और वह तेरा सच्चावैभव और सच्चीशोभा है।

अहा! परपदार्थ के निर्णय के काल में भी वह निर्णय परपदार्थ का नहीं है; क्योंकि वह निर्णय तो अपने ज्ञान का अनुसरण करके हुआ है; परन्तु उस निमित्त का अनुसरण करके नहीं होता है। अहा! पहले-प्रथम का ज्ञान अवग्रह होता है; फिर ईहा-विचारणा और फिर अवाय-निर्णय होता है। इन सब पर्यायों का प्रवाह अन्दर के त्रिकाली ज्ञानगुण का अनुसरण करके आता है अर्थात् उस ध्रुव खान में से-अन्दर में से-प्रवाह आता है, बाहर में से नहीं।

प्रश्न :- क्या वह प्रवाह पढ़ने से नहीं आता ?

उत्तर :- अरे बापू! शास्त्र में कहाँ ज्ञान है कि उसमें से ज्ञान आवे ? ज्ञान तो जिसमें हो, उसमें से ही आयेगा न ? अर्थात् द्रव्यसत्ता और गुणसत्ता त्रिकाल है, उसमें से वर्तमान पर्यायसत्ता का होनापना आता है। त्रिकाल है, उसमें से ज्ञान का प्रवाह बहता है — ऐसी बात है।

अब धारणा किसको कहते हैं ?

कि निर्णय होने के बाद उसको धारण रखनेवाला ज्ञान होता है, वह धारणा है। उस धारणा में से ही स्मृति आती है न ? जो पूर्वभव का जातिस्मरण होता है वह, पूर्व में धारणा की हो, उसमें से आता है। पूर्व में जो धारणा की हो, वह मतिज्ञान का एक

भेद है। वह धारणा भी अपने त्रिकालीज्ञान का अनुसरण करके होती है, परवस्तु का अनुसरण करके नहीं। अहा! जो स्वभाव है, उसकी क्या बात करना!

‘विशेष के लिए मोक्षशास्त्र (टीका सहित) देखो।’

यहाँ तो विशेष यह कहना है कि जो ज्ञानगुणरूप त्रिकाल अस्ति है, उसका अनुसरण करके मतिज्ञान का पर्यायरूप अंश प्रगट होता है। मतिज्ञान के अवग्रहादि समस्त भेद अन्दर स्थित त्रिकाल ज्ञानगुण का अनुसरण कर प्रगट होते हैं; परन्तु सामने ज्ञेय हैं; इसलिए ज्ञान प्रगट होता है — ऐसा नहीं है। परज्ञेय, मन, वचन, इन्द्रियाँ अथवा कर्म — ऐसे किसी पर का अनुसरण करके ज्ञान का होनापना नहीं है। त्रिकालज्ञान के होनापना में से ही वर्तमानज्ञान की-मतिज्ञान की पर्यायों का प्रवाह आता है; इसप्रकार यह चार भेदवाला मतिज्ञान कहा।

देखो, पहले मतिज्ञान के तीन भेद कहे — उपलब्धि, भावना और उपयोग। फिर चार भेद कहे — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा और अब बहु, बहुविध आदि विशेषभेद कहते हैं —

“अथवा बहु-बहुविध इत्यादि भेद से मतिज्ञान अनेक भेदवाला है।”

इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार किया है — ‘मतिज्ञान बारह भेदवाला है — बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव तथा अध्रुव।’

इसप्रकार मतिज्ञान बारह भेदवाला है। वहाँ बहुत को जाने वह ‘बहु’ और एक को जाने वह ‘एक’ है। ‘बहुविध’ अर्थात् बहुत प्रकार से जानना। यह भी अपनी (ज्ञान का अनुसरण कर हुई) पर्याय है। सामने बहुत प्रकार के द्रव्य हैं; इसलिए बहुत द्रव्य ज्ञात होते हैं — ऐसा नहीं है। ‘एकविध’ में एक प्रकार का ज्ञान होता है। ‘क्षिप्र’ एकदम होता है और ‘अक्षिप्त’ धीमे-धीमे होता है। ‘अनिःसृत’ अधूरा होता है और ‘निःसृत’ पूर्ण होता है। ‘अनुक्त’ कहे बिना होता है अर्थात् किसी चिह्न से नहीं, परन्तु यों का यों होता है। ‘उक्त’ कहा हो और होता है। ‘ध्रुव’ हुआ ज्ञान टिकता है और ‘अध्रुव’ ज्ञान नहीं टिकता।

इसप्रकार मतिज्ञान के बारह भेद हैं। ये भेद भी अपनी ज्ञान-पर्याय के हैं और ये ज्ञानगुण का अनुसरण कर होते हैं।

अब श्रुतज्ञान की बात करते हैं —

अब दूसरा श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान अर्थात् यह शास्त्रज्ञान — ऐसा नहीं; परन्तु अन्दर का भावश्रुतज्ञान। मतिज्ञानपूर्वक अन्दर में एक उत्तरतर्करूप ज्ञान होता है, जो अरूपी आत्मा की श्रुतज्ञान पर्याय है अर्थात् मतिज्ञान के पश्चात् विशेष तर्क उठना श्रुतज्ञान है। यहाँ कहते हैं —

‘लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है।’

अहा! उघाड़रूप और भावनारूप — इसप्रकार श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। मतिज्ञान में भी उपलब्धि, भावना और उपयोग — ऐसे भेद थे; परन्तु श्रुतज्ञान के ये (लब्धि और भावना) अलग हैं तथा पंचास्तिकाय में लब्धि और भावना के अलावा श्रुतज्ञान के उपयोग (प्रमाण) और नय — ऐसे दो भेद भी कहे हैं।

प्रश्न : — अब इसमें कितना याद रखना ?

उत्तर : — इसे याद रखने में क्या बड़ी बात है? क्योंकि ज्ञान का अनुसरण कर धारणा होना तो तेरा (ज्ञान का) स्वभाव है।

पंचास्तिकाय में श्रुतज्ञान के दो भेद कहे गये हैं — एक उपयोगरूप, दूसरा नयरूप। इसलिए नयज्ञान भी श्रुतज्ञान का एक भेद है और सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान भी श्रुतज्ञान का एक भेद है; परन्तु यहाँ तो विशेष बात यह है कि श्रुतज्ञान में जो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान होता है, वह अन्दर के ज्ञानगुण का अनुसरण कर होता है और नयज्ञान-शुद्धनयरूप ज्ञान अथवा व्यवहारनयरूप ज्ञान भी श्रुतज्ञान का एक भेद-भाग होने से अन्दर के ज्ञानगुण का अनुसरण कर वर्तता है अर्थात् यहाँ यह कहना है कि परतरफ का जो ज्ञान है, वह भी अपने में से हुआ है; परन्तु बाहर के-पर के कारण नहीं हुआ है — इसप्रकार यहाँ तो पहले से ही कहते आये हैं कि समय-समय ज्ञान के आठप्रकारों में से जिसका परिणामन है; वह परिणामन, अन्दर के त्रिकाली ज्ञानगुण का अनुसरण करके उस-उस प्रकार हुआ है। अहो! यह तो गजब की बात है।

यह तो पहले से ही कह रहे हैं कि **‘चैतन्य-अनुवर्ती परिणामः स उपयोगः’** (गाथा-१०) अर्थात् पर्याय में जो यह उपयोगरूप और नयरूप ज्ञान है अर्थात् प्रमाणरूप और एकदेशरूप जो ज्ञान है, वह श्रुतज्ञान का भाग है और वह श्रुतज्ञान की पर्याय ज्ञानगुण का अनुसरण कर होती है तथा यह जो नयरूप ज्ञान है, वह भी उपयोगरूप ज्ञान है।

क्या कहा ?

कि निश्चय आदि नय भी उपयोगरूप ज्ञान है, लब्धरूप नहीं। सूक्ष्म बात है भाई! परन्तु यह बात आवे, तब तो सब सूक्ष्म ही आयेगी न ? तो कहते हैं कि नयज्ञान और प्रमाणज्ञान — ये दोनों उपयोग हैं और वह उपयोगरूप ज्ञान श्रुतज्ञान है तथा वह श्रुतज्ञान की पर्याय, त्रिकाल शक्तिरूप ज्ञान के भण्डार का अनुसरण कर आती है।

इसप्रकार लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है तथा पंचास्तिकाय में उपयोग (प्रमाण) और नय — ऐसे दो प्रकार दूसरे विशेषरूप से लिया है।

अब तीसरा अवधिज्ञान —

अन्दर में अवधिज्ञान होने पर मन के अवलम्बन बिना और रूपी पदार्थों के अवलम्बन बिना रूपी पदार्थ ज्ञात होते हैं। वह ज्ञान की पर्याय भी अन्दर ज्ञानगुण का अनुसरण करके होती है। उस अवधिज्ञान के तीन भेद हैं —

“देश, सर्व और परम के भेद से (अर्थात् देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधि — ऐसे तीन भेदों के कारण) अवधिज्ञान तीन प्रकार का है।”

अहाहा..! देशावधि अर्थात् थोड़ा सर्वावधि अर्थात् पूरा और परमावधि अर्थात् उत्कृष्ट, सबसे विशेष। भगवान आत्मा में, जो यह अवधिज्ञान की लब्धि पर्याय प्रगट होती है; वह भी अन्दर में विद्यमान ज्ञानगुण का अनुसरण करके प्रगट होती है।

अब मनःपर्ययज्ञान —

यह ज्ञान किन्हीं मुनिराज को ही होता है। यह दो प्रकार का है, वही कहते हैं —

“ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है।”

सामनेवाले जीव के मन में स्थित भाव को, पदार्थ को जाने ऐसा एक आत्मा की ज्ञानपर्याय का यह भेद है। ये सब पर्याय के भेद हैं। उनमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान विशेष स्पष्ट है। ऐसे भेद के कारण मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। यह मनःपर्ययज्ञान की पर्याय भी अन्दर के गुण का अनुसरण कर प्रगट होती है। जब शरीर में चिह्न हों, उनसे अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान जानता है — यह सब बातें व्यवहार की हैं।

अहा! यहाँ तो यह बात है कि ज्ञान ज्ञान से ही जानता है अर्थात् ज्ञान में जानना

स्वयं से ही होता है, उसको इन्द्रियादि की अपेक्षा भी नहीं है। अहा! जीव के गुण की वर्तमान पर्याय स्वयं से स्वतन्त्र ही प्रगट होती है। अहा! यह ऐसा स्वतन्त्र तत्त्व है; इसलिए इसको पर के अवलम्बन या आश्रय की आवश्यकता नहीं है। अब कहते हैं—

“परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टि को यह चार सम्यग्ज्ञान होते हैं।”

क्या कहते हैं ? कि जो यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान — ऐसे चार सम्यग्ज्ञान हैं। वे परमभाव में स्थित...अहाहा!...अपना जो त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वरूप-परमभाव है, परमस्वभाव है; उसमें स्थित सम्यग्दृष्टि को होते हैं। अहाहा..! सच्चिदानन्दस्वरूपप्रभु आत्मा चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य ऐसा परमभावस्वरूप है। अहा..! उसमें जो स्थित है अर्थात् जिसने एक परमभाव को ग्रहण किया है—पकड़ा है — ऐसे सम्यग्दृष्टि को...लो, यह सम्यग्दृष्टि की व्याख्या! अहा! सम्यग्दृष्टि किसको कहते हैं ? कि जो निज परमभाव में स्थित है, वह सम्यग्दृष्टि है और उसको यह चार सम्यग्ज्ञान-मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय होते हैं।

इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार है —

‘सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान समस्त सम्यग्दृष्टि जीवों को होते हैं। सुअवधिज्ञान किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है। मनःपर्ययज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनिवरों को-विशिष्ट संयमधरों को होता है।’

देखा ? सुमति-सुश्रुतज्ञान सर्व सम्यग्दृष्टियों को होता है; परन्तु सुअवधिज्ञान किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टियों को ही होता है, सर्व सम्यग्दृष्टियों को नहीं तथा मनःपर्यय ज्ञान संयमियों में किन्हीं विशिष्ट संयमधरों को ही होता है; परन्तु सर्व मुनिवरों को नहीं होता। अहा! ऐसे भेद पर्याय में हैं, त्रिकालीस्वरूप में कोई भेद नहीं होते; त्रिकालीस्वरूप तो ध्रुव, अभेद, एकरूप है — ऐसा स्वरूप है।

अब कहते हैं कि — ‘मिथ्यादर्शन हो वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ‘कुमतिज्ञान’, ‘कुश्रुतज्ञान’ और ‘विभंगज्ञान’ — ऐसे नामान्तरों को (अन्य नामों को) प्राप्त होते हैं।’

अहा! जहाँ मिथ्याश्रद्धा है...अहा! मिथ्याश्रद्धा माने क्या ? कि यह राग मेरा है और यह भला है, इससे (शुभराग से) मुझको धर्म होता है, राग में से और पर में से मुझे

सुख आता है तथा पर्याय के अंश जितना मैं हूँ, मैं पर्यायस्वरूप ही हूँ — ऐसी-ऐसी विपरीत-मिथ्यामान्यताएँ हैं, वह मिथ्याश्रद्धा है और जहाँ ऐसी मिथ्याश्रद्धा है, वहाँ जो मतिज्ञान है, वह कुमतिज्ञान है — ऐसा कहते हैं। भाई! यह जो शेयर बाजार का और वकालात का या डॉक्टरी का ज्ञान है, वह सब कुमतिज्ञान है। तो भी वह कुमतिज्ञान की पर्याय भी ज्ञान का अनुसरण करके हुई है। अहा! यह तो श्रद्धा में विपरीतता है; इसलिए कुमतिज्ञान है, वरना वह हुई तो अन्दर के गुण का अनुसरण करके है। अहा! अन्दर एक त्रिकाली गुण है, उसमें से उस समय का यह प्रवाह आया है। अहा! गजब बात की है।

मिथ्यादृष्टि जीव का श्रुतज्ञान है सो कुश्रुतज्ञान है। भले ही वह ग्यारह अंग नौ पूर्व तक पढ़ा हो, तो भी वह कुश्रुतज्ञान है; क्योंकि उसकी नजर में-दृष्टि में भगवान आत्मा नहीं आया है। अहा! अज्ञानी ने भगवान आत्मा के तल का तलिया (गहराई) को नहीं जाना है, ऊपर-ऊपर मात्र राग और पर्याय को ही देखा है और उसी को अपना स्वरूप माना है; इसलिए विपरीत श्रद्धावाला होने से उसके श्रुतज्ञान को कुश्रुतज्ञान कहा गया है।

अज्ञानी के अवधिज्ञान को कुअवधिज्ञान अथवा विभंगज्ञान कहते हैं। किसी मिथ्यादृष्टि को, वह अभव्य होवे तो भी उसको विभंगज्ञान होता है; जिसमें सातद्वीप और सातसमुद्र ज्ञात होते हैं; परन्तु यह सब विपरीत ज्ञान है।

अब जोड़ करते हैं —

“यहाँ (ऊपर कहे हुए ज्ञानों में) सहजज्ञान शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है।”

अहाहा! सहजज्ञान अर्थात् त्रिकाली आत्मवस्तु में स्थित स्वाभाविकज्ञान-शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक-व्यापा हुआ है और वह (सहजज्ञान) परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है। अहाहा..! त्रिकालीध्रुव... ध्रुव...ध्रुव — ऐसा जो शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप निजपरमतत्त्व है, उसमें यह त्रिकाली सहजज्ञान व्यापक है और इससे वह स्वरूपप्रत्यक्ष है। यह त्रिकालीज्ञान की बात है। अहा! स्वरूपप्रत्यक्ष की ऐसी व्याख्या यहाँ इस नियमसार में ही आई है। अहा! यह अलौकिक टीका है! इतने सब शास्त्रों में से स्वरूपप्रत्यक्ष का स्वरूप यहीं है।

अहा! नियमसार का अर्थ मोक्षमार्ग है न! और मोक्षमार्ग पर्याय है। तो इस मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण अन्दर में द्रव्य है — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह पर्याय है, तो वह पर्याय आई कहाँ से ? कि अन्दर के त्रिकाली सहजगुण में से वह आती है। अहा! सहजश्रद्धागुण में से सम्यग्दर्शन-सहजज्ञानगुण में से सम्यग्ज्ञान और सहजचारित्रगुण में से चारित्र/वीतरागता आती है। यह अन्दर में कारण त्रिकाल विद्यमान है, उसमें से कार्य आता है — ऐसा कहते हैं। यह तो गजब बात है बापू!

स्वरूपप्रत्यक्ष का अर्थ फुटनोट में यह किया है —

‘स्वरूपप्रत्यक्ष=स्वरूप से प्रत्यक्ष; स्वरूप अपेक्षा से प्रत्यक्ष; स्वभाव से प्रत्यक्ष।’,

यह प्रगट पर्याय की बात नहीं है। यह तो स्वभाव से प्रत्यक्ष ऐसा त्रिकालीगुण अन्दर पड़ा है, उसकी बात है बापू! अहाहा..! कहते हैं — सहजज्ञान-त्रिकाली स्वाभाविकज्ञान स्वभाव से प्रत्यक्ष है, स्वरूप अपेक्षा से प्रत्यक्ष है।

अहाहा..! यह सहजज्ञान-स्वाभाविकज्ञान, केवलज्ञानादि से भिन्न-अलग चीज है; क्योंकि केवलज्ञानादि तो उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं; जबकि यह तो त्रिकाली ध्रुवशक्ति है। अतः कहते हैं — सहजज्ञान स्वरूप से प्रत्यक्ष है; अन्दर में-वस्तु में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है। अहो...! यह तो अलौकिक बात है!

‘केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष (सम्पूर्ण प्रत्यक्ष) है।’

अहा! वर्तमान एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाली पर्याय सकलप्रत्यक्ष है। अहा! केवलज्ञान तीनकाल-तीनलोक को जानता है — यह बात भी व्यवहार से है। इसके बिना समझाने की विधि क्या है ? अतः कहते हैं कि जिसमें तीनकाल-तीनलोक प्रत्यक्ष ज्ञात हों — ऐसा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। अहा! भगवान् आत्मा की कार्यरूप केवलज्ञान पर्याय का ऐसा ही स्वभाव है। देखो, पहले त्रिकाली ज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष कहा और अब यहाँ वर्तमान प्रगट कार्यस्वभावज्ञानरूप केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहा है। यह कारण और कार्य की संधि है। सहजज्ञान त्रिकाली कारण-स्वभावज्ञान है और केवलज्ञान वर्तमान कार्यस्वभावज्ञान है। अहा! ऐसी बात है!

‘रूपिष्ववधे’ (अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध रूपी द्रव्यों में है) ऐसा (आगम का) वचन होने से अवधिज्ञान (एकदेश प्रत्यक्ष) है। उसके अनन्तवें भाग में वस्तु के अंश का ग्राहक (ज्ञाता) होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष है।’

देखो, अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है। अहा! पुद्गलद्रव्य, जोकि रूपी है, वह अवधिज्ञान का विषय है; परन्तु अरूपी द्रव्य उसका विषय नहीं है। देखो, यह आगम का वचन है। अहा! यह केवली परमात्मा की वाणी में आयी हुई बात है; इसलिए कहते हैं कि अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष है। अपूर्ण है न, इसलिए विकलप्रत्यक्ष है।

तथा अवधिज्ञान के अनन्तवें भाग में वस्तु के अंश को जाननेवाला प्रत्यक्ष मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष है। जैसे विकलेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियाँ पूर्ण नहीं-कम हैं; इसीतरह यह मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष अर्थात् पूर्ण नहीं है, अपितु कम-अधूरा-अपूर्ण है।

‘मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं।’

अहा! यह घड़ा है — ऐसा ज्ञात होता है न ? इसलिए परमार्थ से परोक्ष होने पर भी उन दोनों ज्ञानों को व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा गया है; तथापि अन्दर निश्चय स्वसंवेदन में तो वे दोनों प्रत्यक्ष ही हैं। अहा! स्वानुभव में वे प्रत्यक्ष हैं; परन्तु वह दूसरी बात है। अब कहते हैं —

‘और विशेष यह है कि उक्त (ऊपर कहे हुए) ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निजपरमतत्त्व में स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है।’

अहा! यह समस्त ज्ञान के भेद कहे, उनमें साक्षात् मोक्ष का मूल क्या है ? तो कहते हैं कि निज परमतत्त्व में स्थित चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य, ऐसा एक परमभाव जिसका स्वभाव है — ऐसा भगवान आत्मा में स्थित एक सहजज्ञान ही मोक्ष का मूल कारण है। पहले ‘स्वरूपप्रत्यक्ष’ कहा था न ? अहाहा..! जो स्वरूपप्रत्यक्ष है — ऐसा निज-परमतत्त्व में स्थित सहजज्ञान-स्वाभाविकज्ञान ही मोक्ष का मूल है अर्थात् उस मूल में से मोक्ष प्रस्फुटित होता है, उसमें से मोक्ष प्रगट होता है।

अब किसी अज्ञानी को यह लगता है कि धर्म की ऐसी लूखी बातें ?

अरे भाई! यह लूखी बातें नहीं हैं; यह तो वीतराग की वाणी है! इसमें तो परमसुखी

होने की बाते हैं प्रभु! यह तो अकेला अमृत है। तुझको संसार के रस की अधिकता होने से लूखी लगती हैं। देख न, यह क्या कहते हैं ?

“तथा सहजज्ञान (उसके) पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्य का परमस्वभाव होने से, सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।”

अहाहा...! यह सहजज्ञान-मोक्ष का कारणरूप स्वाभाविक ज्ञान, उसके त्रिकाल सहजभावरूप स्वभाव के कारण भव्यों का-योग्यजीवों का परमस्वभाव होने से, मोक्षार्थी को-धर्मीजीव को इसके (सहजज्ञान के) अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है। अरे! वर्तमान प्रगटपर्याय भी उपादेय नहीं है; रागादि तो कहीं दूर ही रह गये। बापू! मार्ग तो यह है! और सत् का-वस्तु का स्वरूप भी यही है कि परम-पारिणामिकभाव में स्थित, जो सहज त्रिकाली ज्ञानस्वभाव है; वही भव्यजीव को उपादेय है, वही अंगीकार करनेयोग्य हैं अर्थात् उसमें ही दृष्टि देनेयोग्य है; उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

अहा! पहले ज्ञान के भेदों का वर्णन किया। कारणस्वभावज्ञान त्रिकाल स्वरूपप्रत्यक्ष है, कार्यस्वभावज्ञान-केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है, मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है; अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष है — इसप्रकार समस्त भेदों का वर्णन किया; परन्तु इनमें सार क्या ? अर्थात् इन सबको जानकर इसे क्या करना चाहिए कि जिससे आत्मा की परमसुख की प्राप्तिरूप मुक्ति हो ? तो कहते हैं —

‘इस सहज चिद्विलासरूप (१) सदा सहज परमवीतराग सुखामृत, (२) अप्रतिहत निरावरण परमचित्शक्ति का रूप, सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परमचारित्र और (३) त्रिकाल अविच्छिन्न (अटूट) होने से सदा निकट — ऐसी परमचैतन्यरूप की श्रद्धा-इस स्वभाव-अनन्तचतुष्टय से जो सनाथ (सहित) है — ऐसे आत्मा को-अनाथ मुक्तिसुन्दरी के नाथ को भाना चाहिए (अर्थात् सहजज्ञान विलासरूप से स्वभाव अनन्तचतुष्टय युक्त आत्मा को भाना चाहिए-अनुभवन करना चाहिए)।’

‘इस सहज चिद्विलासरूप’ अहाहा..! यह आत्मा है, वह स्वाभाविकज्ञान के विलासरूप रहा हुआ है। यह त्रिकालीध्रुव की बात है। ‘यह’ शब्द है सो प्रत्यक्षपना बतलाता है। तो भगवान आत्मा स्वाभाविक ‘चिद्’ अर्थात् ज्ञान के विलासरूप है अर्थात् उसमें त्रिकाल सहजज्ञान का विलास है।

(१) अहाहा..! कहते हैं — यह सहज चिद्विलासरूप आत्मा सदा परमवीतराग सुखामृतस्वरूप है। भगवान आत्मा सदा अन्दर स्वभाव से ही वीतराग परमानन्द की मूर्तिस्वरूप है। अहाहा..! स्वभाव से ही परमसुखामृतस्वरूप भगवान आत्मा है; इसलिए वहाँ ही नजर कर; अन्यत्र नजर करना बन्द कर दे और वहीं अपनी नजर डाल। भगवान! तुझको सुख चाहिए न ? तो प्रभु! तू नित्यानन्दस्वरूप परमसुखामृत से भरा हुआ है, वहाँ नजर डाल!

(२) और वह अप्रतिहत अर्थात् कभी पीछे नहीं पड़े-हलका नहीं हो — ऐसा निरावरण परमचित्शक्ति का रूप है। अहाहा...! अन्दर तू ऐसा भगवान आत्मा है। कैसा ? अप्रतिहत, निरावरण चित्शक्तिरूप ऐसा आत्मा अन्दर स्वभाव से ही नित्यानन्दप्रभु है। अहाहा..! अन्दर स्वाभाविक चित्शक्ति का रूप ऐसा है कि कभी पीछा नहीं पड़ता, हलका नहीं होता।

(३) वह सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप चारित्र है। अहाहा..! यह भगवान आत्मा स्वाभाविक ज्ञानविलासरूप परमसुखामृतस्वरूप है, चित्शक्ति का रूप है और सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमचारित्रमय है। अहाहा! भगवान आत्मा स्वभाव से ही अविचलचारित्र की शक्तिरूप है। भाई! यह जो प्रगट करनी है, उस वर्तमान चारित्रपर्याय की बात नहीं है। यह तो अन्दर आत्मा का स्वरूप ही सदा वीतरागस्वभावरूप-त्रिकाल चारित्रमय है — यह बात है। गजब बात है!

(४) और तीनों काल अविच्छिन्न होने से.....लो, तीनकाल में कभी नहीं टूटता — ऐसा अन्दर चैतन्य के त्रिकाली श्रद्धान का स्वरूप है। अहा! तीनकाल में अटूट होने से अन्दर में सदा निकट ऐसी परमचैतन्य की, जो सहज विलासरूप रहा है, उसकी श्रद्धा भी अन्दर त्रिकाल रहीं है — ऐसा कहते हैं। बहुत सूक्ष्म है बापा! अहाहा! एकसमय की वर्तमान पर्याय को गौण करें तो अन्दर भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप है। अब, आत्मा ऐसा है अर्थात् मैं अन्दर ऐसा हूँ — यह इसने कभी नहीं सुना, तब लक्ष में तो कैसे लेगा ? इसने तो अपने को-आत्मा को पामररूप से माना है और पामर होकर भिखारी होकर ही यह रहा है। क्या हो ? (वस्तु को पहिचाने नहीं तो क्या हो ?)

यहाँ कहते हैं — अन्दर भगवान आत्मा, स्वाभाविकज्ञान के विलासरूप रहा है, परमवीतराग सुखामृत का सागर है, अप्रतिहत चित्शक्ति का रूप है; त्रिकाल अचलित

चारित्र्यमय है और परमचैतन्यरूप की सहजश्रद्धा सहित है। यह त्रिकालीश्रद्धा की बात है; नई श्रद्धा प्रगट होती है, वह तो पर्याय है। उसकी बात नहीं है। यहाँ तो, यह (आत्मा) परमचैतन्यरूप की सहजश्रद्धा से अन्दर सदा भरा ही है — ऐसी बात है।

प्रश्न : — क्या आत्मा ऐसा है ? हमने तो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आत्मा आदि सुना है ?

उत्तर : — भाई! (जैसा तूने सुना है) आत्मा वैसा-एकेन्द्रिय आदि है ही नहीं। इन्द्रियाँ तो जड़-अचेतन हैं और सदा ही चैतन्य के विलासरूप आत्मा तो अन्दर भिन्न ही है। वह तो यहाँ कहे गये स्वभाव अनन्तचतुष्टयमय है। वही यहाँ कहते हैं —

‘इस स्वभाव अनन्तचतुष्टय से जो सनाथ है — ऐसे आत्मा को-अनाथ मुक्तिसुन्दरी के नाथ को भाना चाहिए।’

अन्दर भगवान आत्मा नित्यानन्दप्रभु, त्रिकालध्रुव; अन्तर्मुख है। वह सदा अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य — ऐसे स्वभाव अनन्तचतुष्टय से सनाथ अर्थात् सहित है। आत्मा का स्वरूप अनादि से ऐसे चार स्वभाव से सदा सनाथ ही है, सहित ही है। इसने ऐसे आत्मा का स्वरूप कभी नहीं सुना है। भाई! यह अवसर है। अभी नहीं समझा तो फिर अवसर नहीं मिलेगा।

अहा! यह शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ तो जड़-अचेतन हैं; उनकी यहाँ बात नहीं है तथा पुण्य-पाप के विकल्प भी आस्रव हैं; वे भी भिन्न हैं, उनकी भी यहाँ बात नहीं है तथा इसीप्रकार एकसमय की वर्तमान प्रगटदशा की भी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो इन सबसे रहित, त्रिकाली नित्यानन्दप्रभु है — ऐसे सहज चिद्विलासरूप अनन्तचतुष्टय से सनाथ-सहित है — ऐसे सहज चिद्विलासरूप आत्मा की बात है। अहाहा..! सहज-अनन्तदर्शन, सहज-अनन्तज्ञान, सहज-अनन्तसुख और सहज-अनन्तवीर्य से भगवान आत्मा सदा सनाथ ही है, सुरक्षित ही है। अहा! ऐसा ध्रुव, अविचल, सहज अनन्तचतुष्टयमय भगवान आत्मा है, उसको अनाथ मुक्तिसुन्दरी के नाथ को भाना-अनुभवन करना चाहिए — ऐसा मार्ग है।

अहा! भगवान आत्मा अनाथ है। अनाथ माने क्या ? कि उसके सिर पर कोई नाथ नहीं है, उसके सिर पर कोई स्वामी-मालिक नहीं है; अपितु वह स्वयं ही अपना नाथ है। अहा! ऐसे मुक्तिसुन्दरी के नाथ को भाना-अनुभवना चाहिए — ऐसा कहते हैं।

मुक्तिसुन्दरी अर्थात् सुन्दर शुद्धस्वरूप की चित्स्वरूप परिणति! अहा! आत्मा उसका नाथ है और उस आत्मा का अनुभव करना — ऐसा यहाँ कहते हैं। लो, यह मार्ग और यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र! अहा! अन्दर में वस्तु-आत्मा त्रिकालस्वभाव अनन्तचतुष्टयमय है, उसकी एकाग्रता और भावना करना मोक्षमार्ग है और वह धर्म है; अन्य सब व्यर्थ है।

यहाँ तीन शब्द प्रयुक्त किये हैं — सनाथ, अनाथ और नाथ। त्रिकाल ध्रुव....ध्रुव अविचल चिद्विलासरूप भगवान आत्मा अन्दर में त्रिकाल सहजज्ञानादि अनन्तस्वभाव-चतुष्टयसहित होने से सनाथ है और उसके सिर पर कोई नाथ नहीं है; इसलिए अनाथ है और स्वयं मुक्तिसुन्दरी का नाथ है। अहा! अन्दर में ऐसा निजभगवान आत्मा है, उसको जानकर अन्तर-एकाग्र होना, उसका अनुभव करके; उसमें लीन रहना ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है और उसका फल मुक्ति है, जिसका स्वयं ही नाथ है — ऐसी अलौकिक बात है।

प्रश्न : — परन्तु लोग तो इसको पैसावाला, बंगलावाला और परिवारवाला — ऐसा कहते हैं न ?

उत्तर : — भाई! लोग कहते हैं 'यह वाला' अर्थात् वैसा आत्मा नहीं है। वे सब तो परवस्तुएँ हैं बापा! आत्मा का उनसे क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं।

प्रश्न : — ठीक, परन्तु यह पुण्यशाली-पुण्यवाला तो है न ?

उत्तर : — अहा! आत्मा पुण्यवाला अथवा रागवाला भी नहीं है। लोग (अज्ञानी) कहते हैं, वैसा आत्मा कभी नहीं है। अहा! भगवान त्रिकालीप्रभु एकसमय की पर्याय-वाला भी नहीं है, वहाँ इन सबकी तो बात ही क्या है ? अहा! वह तो सहज अनन्तज्ञान, अनन्तसुखामृत, अनन्तचित्शक्ति और त्रिकालश्रद्धा से भरपूर भगवान है। यहाँ कहते हैं — ऐसे निज आत्मस्वरूप को भाना-अनुभवना चाहिए अर्थात् उसमें एकाग्रता रमणता-लीनता करना चाहिए। यहाँ 'भाना' अर्थात् विकल्प करना — ऐसी बात नहीं है; परन्तु प्रथम उसको श्रद्धा में लेकर, ज्ञेय बनाकर फिर उसमें रमना-लीन होना — ऐसी बात है। यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और यही मोक्षमार्ग है।

'इसप्रकार संसाररूपी लता का मूल छेदने के लिए हँसियारूप इस उपन्यास से ब्रह्मोपदेश किया।'

अहाहा..! जिसमें से चौरासी के जन्म-मरण के अवतार फलते हैं — ऐसी संसाररूपी लता-बेल है और ऐसे (ऊपर कहा वैसे) निजस्वरूप से च्युत होने से उत्पन्न, जो मिथ्यात्वादि विभाव परिणाम हैं; वह इस बेल का मूल है। यहाँ कहते हैं कि संसाररूपी बेल के मूल को छेदने के लिए हँसियारूप इस उपन्यास से-इस कथन से ब्रह्मोपदेश किया। इस उपन्यास से अर्थात् इस कथन से इस सूचन से, लेख से, प्रारम्भिक कथन से प्रस्तावना से ब्रह्मोपदेश किया। देखो, यह उपदेश! अहा! जिसमें संसार बेल मूल से छेदी जाए और ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होवे, वह उपदेश है, ब्रह्मोपदेश है। लो, ज्ञान के भेद कहकर यह टोटल किया! क्या ? कि अन्दर ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाल विद्यमान है, उसकी एकाग्रता कर और उसमें लीन हो — यह ब्रह्मोपदेश है।

अहाहा...! भगवान आत्मा त्रिकाली सहजज्ञानादि शक्तियों से सनाथ है — ऐसा भगवान आत्मा अनाथ है अर्थात् भगवान आत्मा के सिर पर कोई नाथ नहीं है; उसका अन्य कोई स्वामी-मालिक नहीं है। अहा! उसका कोई कर्ता नहीं है; परन्तु (वह) स्वयं अपनी परमपवित्र परिणति का नाथ है। अहा! यहाँ कहते हैं ऐसा (सनाथ, अनाथ और नाथ) आत्मा अन्दर है, उसको अन्तर में एकाग्र होकर भाना चाहिए। यही मुक्ति का उपाय या मोक्ष का मार्ग है — इसप्रकार सम्पूर्ण शास्त्र में जो कहना है, वह यहाँ संक्षिप्त में कह दिया है। जैसे समयसार में बारह गाथा तक पीठिका है, वैसे ही यहाँ बारह गाथाएँ पूर्ण हुई अर्थात् यह शास्त्र के साररूप ब्रह्मोपदेश किया।

अहा! संसाररूपी बेल का मूल मिथ्यात्व है; क्योंकि मिथ्यात्व से चौरासी के अवतार की परम्परा होती है। अरे! चौरासी के अवतार की रखड़पट्टी कैसी है ? रंक का राजा होता है, राजा से नारकी होता, नारकी से पशु होता है, पशु से देव होता है और देव से पुनः एकेन्द्रियादि तिर्यच हो जाता है। इसप्रकार ऐसे अवतार धर-धरकर अरेरे! यह अनन्तबार जन्मा और मरा है। अतः जो यह संसाररूपी बेल फली-फूली है। उसके छेदने का उपाय यह है कि अन्दर चिद्विलासरूप सहज अनन्तचतुष्टयमय ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा है, उसकी भावना करना। अहा! जैसे संसार बेल का मूल मिथ्यात्वभाव है, इसीतरह मुक्ति का मूल भगवान आत्मा है। इसलिए कहते हैं कि अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान स्वयं विराजमान है, उसकी भावना कर और उसमें एकाग्र होकर लीन हो। बस, यही करनेयोग्य कार्य है।

प्रश्न :— परन्तु इसमें व्रत-नियम पालने की बात तो आई ही नहीं ?

उत्तर :— भाई! यह सभी इसमें आ गया है; क्योंकि अन्तर्लीनता होने पर, जहाँ राग ही छूट गया; वहाँ उसको अव्रतादि कुछ रहेंगे ही नहीं। (जब व्रतादि का राग भी क्रमशः छूट जायेगा तो फिर अव्रतादि कैसे रहेंगे ?)

कलश-१८ पर प्रवचन

अहो! दिगम्बर सन्तों ने अमृत के बीज बोये हैं। विवाह के समय गीत गाते हैं न कि 'वेणला भला वाया रे'....परन्तु यह सब तो पाप के बीज हैं बापू! इनसे तो संसार फलता है, जबकि यहाँ तो मोक्ष का मण्डप रोपने का बीज है कि जिसमें से मोक्षरूपी बेल फलती-फूलती है।

अहाहा...! प्रभु! एकबार भगवान आत्मा को दृष्टि में तो ले! अरे! इसको आत्मा की (अपनी) कुछ पड़ी ही नहीं है। अहा! इसने जगत की कीमत (महिमा) की है; परन्तु अपनी कीमत तो आँकी ही नहीं है! अहा! जिस चीज का मूल्य नहीं है, इसने उसका मूल्य किया है; परन्तु स्वयं अनमोल अनुपम आत्मा है, उसकी दरकार ही नहीं की और उसको महादुर्लभ मान लिया है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा, जो निजसत्ता के स्वभाव में नित्य विराजमान है और जो सहज अनन्तज्ञान, और सहज अनन्त-आनन्द से सनाथ प्रभु विराजमान है, उसके सन्मुख होकर, उसमें एकाग्र हो। इससे तुझे मुक्ति और परमानन्द की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त अन्य सब तो धूलधाणी है; इसलिए कहते हैं कि —

'इसप्रकार कहे गये भेदज्ञान को पाकर भव्यजीव घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत या दुष्कृत को, सुख या दुःख को अत्यन्त परिहरो।'

अहाहा...! ऐसे जो ज्ञान के भेद-प्रकार कहे, उनको भलीभाँति जानकर-समझकर.. अहा..! मैं सदा ऐसा ज्ञानस्वभाव ही हूँ — इसतरह सबसे भिन्न होकर-भेदज्ञान पाकर-भव्यजीव, घोर संसार के मूलरूप समस्त सुकृत और दुष्कृत को अत्यन्त परिहरो। देखो, क्या कहते हैं ? कि समस्त सुकृत अर्थात् शुभभाव और दुष्कृत अर्थात् अशुभभाव घोर संसार का मूल है। अहा! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, काम-भोग की वासना, क्रोध, मान, माया और लोभ इत्यादि पापभाव वे दुष्कृत हैं और दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा

इत्यादि पुण्यभाव वे सुकृत हैं। अहा! ये दोनों (सुकृत तथा दुष्कृत) घोर संसार का मूल है। देखो, यहाँ पुण्यभाव को भी घोर संसार का मूल कहा गया है। वह परभाव है न, इसलिए घोर संसार का मूल है।

अहाहा...! कहते हैं घोर संसार का मूलरूप — ऐसे समस्त सुकृत अथवा दुष्कृत अर्थात् शुभ या अशुभ तथा सुख या दुःख को अत्यन्त परिहरो। इन पैसा, इन्द्रिय आदि संयोग में सुख है और नरकादि संयोग में दुःख है — ऐसी कल्पना अर्थात् कल्पनायुक्त सुख-दुःख को अत्यन्त परिहरो। देखो, कर्त्तापना और भोक्तापना दोनों लिया है अर्थात् शुभाशुभभाव का कर्त्तापना और उनका भोक्तापना — इन सुख-दुःख का भोक्तापना — इसप्रकार दोनों को अत्यन्तरूप से छोड़। ऐसी स्पष्ट स्पष्टीकरण पूर्ण बात आने से अज्ञानी की (शुभ के एकान्तपक्षवाले को) कठोर लगती है और फिर वह 'यह कथन आचार्य का नहीं, मुनि का है' — ऐसा कहकर इस बात को निकाल देता है। अरे प्रभु! यह तू क्या करता है ? इसके मन में यह है कि हम यह पूजा-भक्ति आदि सुकृत करते हैं, वह क्या घोर संसार का मूल है ? हाँ भाई! वह घोर संसार का मूल है।

प्रश्न : — शास्त्र में यह भी तो आता है कि पुण्य पवित्रता को करनेवाला है ?

उत्तर : — हाँ आता है। भाई! वहाँ पुण्य, पाप को कम करता है — इस अपेक्षा से, व्यवहार से कहते हैं कि पुण्य पवित्र है और निश्चय से पुण्य तो पवित्रता को कहते हैं। (क्योंकि पुण्य का अर्थ पवित्रता है)। आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र वह पुण्य है कि जो पवित्र है।

अहाहा...! भगवान आत्मा ज्ञानानन्द की मूर्ति स्वयं अन्दर प्रभु है। उसमें (पर्याय में) उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभभाव के विकल्प जहर हैं अर्थात् अमृत से विपरीत ऐसे ये शुभाशुभ जहर का पेय है प्रभु! इसीलिए यहाँ मुनिराज कहते हैं कि इन शुभभाव और अशुभभाव का कर्त्तापना छोड़ तथा इनमें हर्ष-शोक और सुख-दुःख के भोक्तापने की कल्पना भी छोड़, अत्यन्त छोड़!

प्रश्न : — शुभभाव कुछ ठीक है, इसलिए उसको तो आंशिक छोड़ना है न ?

उत्तर : — नहीं; दोनों को अत्यन्त परिहरो। अन्दर (कलश में) ऐसा है या नहीं ? भाई! दान में धन का राग घटाये तो पुण्य होता है और तो भी वह घोर संसार का मूल

है — ऐसा यहाँ कहते हैं। बात कठोर है बापू! परन्तु वह भाव विकल्प-राग है न ? और राग है वह आग है। छहढाला में आता है कि —

‘यह राग आग दहे सदा तातें समामृत सेइये।’

अरे! लोग शुभभाव में ही अटके हुए हैं। परन्तु भाई! शुभ और अशुभ — दोनों भाव घोर संसार का मूल है। यह पर की दया, दान का भाव, भगवान की भक्ति-पूजा का भाव समस्त शुभराग है और वह घोर संसार का मूल है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि उससे पुण्य बंधता है और उसके द्वारा संसार का भव मिलता है। अहा! मूल श्लोक में ही यह बात है कि **‘परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलं।’** अरे भगवान! जिस भाव से तुझको भव मिलता है, उसको भला कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि भव तो संसार है-दुःखरूप है। अशुभभाव टालने के लिए कदाचित् वह शुभभाव हो; परन्तु वह है तो घोर संसार का मूल। यह अज्ञानी को बहुत कठोर लगता है। शुभभाव होना अलग बात है और उसको भला मानना-जानना यह दूसरी बात है।

अहा! पापभाव से बचने के लिए शुभभाव होता है; परन्तु वह है संसार का कारण; क्योंकि उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। अहा! जिस भाव से भव मिलें और जन्म-मरण की परम्परा हुआ करे, उसी भाव से जन्म-मरण का अन्त कैसे आयेगा ? भगवान! दान देने का भाव होता, वह भी शुभवृत्ति का उत्थान है और उसमें से भी संसार फलता है। अहा! आत्मा को अनुकूल शान्ति मिले — ऐसा कुछ शुभवृत्ति में है ही नहीं। अहा! यहाँ कलश में प्रयुक्त भाषा तो देखो! कि —

- समस्त सुकृत और दुष्कृत घोर संसार का मूल है — एक बात; और
- उसको अत्यन्त परिहरो — इसप्रकार दो बातें की हैं।

भाई! राग शुभ हो या अशुभ हो, दोनों कर्मचेतना है और दोनों संसार का मूल है। जबकि सुख-दुःख की कल्पना है, वह कर्मफलचेतना है और दोनों संसार का मूल है। संसार को छेदनेवाली और भव का अन्त करनेवाली तो एक ज्ञानचेतना ही है।

अरे प्रभु! तू चौरासी के अवतार में कहीं गहरा उतरा है! अहा! तेरे परिभ्रमण का अन्त न आवे और तू यों ही परिभ्रमण किया करे, क्या यह ठीक है ? नहीं। तो कहते हैं — भगवान! तेरा आत्मा अन्तर में सहज अनन्तचतुष्टयुक्त चैतन्यमहाप्रभु है। अहा!

पुण्य-पाप और हर्ष-शोक के परिणाम से भिन्न तेरे निर्मलस्वभाव परिणाम उत्पन्न हो — ऐसी तेरी वस्तु है। अहो! पुण्य-पाप और उसके फलरूप से जो भाव होता है, उससे भिन्न तेरी निर्मल-निर्मल पर्याय के उत्पन्न होने का स्थान तू है; तो तू वहाँ जा, वहाँ एकाग्र हो और उसमें लीन हो। इस पुण्य-पाप के संसार का अभाव करने की सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि इस पुण्य-पाप से निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। अहा, प्रभु! कर्म की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों को जहर कहा है न ? समयसार में कहा है कि एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ जहर-विषवृक्ष का फल है। तो प्रभु! वहाँ तीर्थकर प्रकृति को भी जहर कहा है न ? अहो! गजब बात की है! दिगम्बर संतों ने वाणी द्वारा केवली का पेट खोला है। (आशय स्पष्ट किया है)।

अहा! भगवान आत्मा मुक्ति का मूल है। अतः भगवान आत्मा में ज्ञान के जो प्रकार कहे हैं, उन को यथार्थ जानकर अर्थात् सर्व भेदों से भिन्न निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूप को प्राप्त करके अन्तरोन्मुख होने के लिए इन समस्त शुभाशुभभाव और हर्ष-शोक को अत्यन्त छोड़ दे। समस्त शुभ-अशुभ कहा है। यह नहीं कहा है कि शुभ के अथवा अशुभ के एक अंश को भी रख अथवा रखनेयोग्य है। यह बात किसी (शुभ के आग्रह-वाले) को कठोर लगती है; परन्तु हो क्या सकता है ? यह तो वस्तुस्थिति है। अब कहते हैं—

“उससे ऊपर (अर्थात् उसे पार कर लेने पर), जीव समग्र (परिपूर्ण) शाश्वत-सुख को प्राप्त करता है।”

इस शुभाशुभराग को पार कर जाने पर, भगवान आत्मा शाश्वत और परिपूर्ण आनन्द और सुख को प्राप्त करता है, परमानन्द और परमसुख को पाता है। भाई! तेरी यह परिवार और पैसे में सुख की कल्पना तो क्षणभंगुर है, थोड़े काल की है। वस्तुतः यह सुख है कहाँ ? भजन में आता है न —

सगा रे सगा तुम क्या कहो, सगे जलाकर जलेंगे जी;

सगा तो वन की लकड़िया, साथ आकर जलेंगी जी।

यह मेरी स्त्री और यह मेरा पुत्र — ऐसा तू मानता है; परन्तु भाई! यह तो तुझे जलाकर फिर स्वयं भी जलेंगे। यह कहाँ सगे हैं ? ये वन की लकड़िया देह के साथ जलेंगी और कौन जाने तू तो कहाँ चला गया होगा ? अहा! देखो न!

“एक रे दिवस ऐसा आयेगा.....”

अहा! ऐसा एक दिन आयेगा या नहीं ? और तब -

‘निकालो रे निकालो — ऐसा सब कहे, मानों जन्मा ही नहीं था।

एक रे दिवस ऐसा आयेगा।’

आत्मा कहीं चला जायेगा और यह मुर्दा है, वह रहा। यह (शरीर) तो अभी भी मुर्दा ही है। तो इसको निकालो ही निकालो, नहीं तो गंध मारेगा-हवा बिगाड़ेगा। देखो! यह दुनिया और ये सगे ? परन्तु यह था, तब तो घर सुधारता हूँ — ऐसा कहता था न ?

अब सुन! कौन घर सुधारता है ? और इसका घर से क्या सम्बन्ध है ? यदि सम्बन्ध होता तो चला किसलिए जाता ? बापू! इसको (आत्मा को) स्त्री-परिवार आदि घर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह मेरा पति, यह मेरा पिता, यह मेरा पुत्र — इसप्रकार तू हर्षित होता है; परन्तु इन किसी से इसका (आत्मा का) सम्बन्ध नहीं है। यह सब तो संयोग में कल्पना से माना हुआ सुख है, जो क्षण में नष्ट हो जाता है। शरीर को ही आत्मा समझनेवाले अज्ञानी जीव संयोग में सुख मानते हैं; परन्तु वह सुख, सुख नहीं; कल्पनामात्र ही है और क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि — शुभाशुभ को और हर्ष-शोक के भाव को पार कर, संसाररूपी बेल को छेदकर, निजज्ञानानन्दस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता द्वारा शाश्वत सादि-अनन्त और परिपूर्ण सुख को प्राप्त करेगा — ऐसी बात है।

कलश-१९ पर प्रवचन

‘परिग्रह का ग्रहण छोड़कर तथा शरीर के प्रति उपेक्षा करके....’

अहा...! भाई! यह तेरे धूल के ढेर-बँगला, पैसा, गहना और जवाहरात इत्यादि की ममता छोड़।

‘परिग्रहाग्रहं’ — परिग्रह का आग्रह यह शब्द है न ? तो उसका अर्थ यह है कि ग्रहण-पकड़। आशय यह है कि यह सोना का ढेर और जवाहरात-हीरा-माणिक का पिटारा और लाखों का बँगला मेरा है — ऐसी पकड़ छोड़! यह कहते हैं। क्यों ? क्योंकि वे कहाँ तेरे हैं ? यह तेरी पकड़ झूठी है, ममता है। वरना उनमें तू और तुझमें वे नहीं

हैं — यह वस्तुस्थिति है; इसलिए कहते हैं कि इन सबकी दृष्टि छोड़! अहा! हम पैसे वाले और बँगलेवाले हैं — ऐसी मान्यता छोड़ दे; क्योंकि तू तो अन्दर ज्ञानानन्द की लक्ष्मी-चैतन्यलक्ष्मीवाला भगवान है।

और विग्रह अर्थात् शरीर की भी उपेक्षा कर; क्योंकि शरीर तेरी वस्तु नहीं है। अहा! शरीर तो जड़-मिट्टी का ढेर है प्रभु! तू चेतन उसका स्वामी कैसे हो सकता है ? इसलिए उसके प्रति स्वामित्वपना छोड़ दे — ऐसा कहते हैं। अहा! यह बाहर का पैसा, धन, प्रतिष्ठा इत्यादि परिग्रह दृष्टि में से छोड़ दे और शरीर से भी उपेक्षित-मध्यस्थ हो जा — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : — तो हम स्त्री-पुत्रादि और बाग-बँगलादि को छोड़कर साधु हो जायें तो सब परिग्रह छोड़ा कहलायेगा या नहीं ?

उत्तर : — नहीं, ऐसा नहीं है; परन्तु वह परिग्रह मेरा है — ऐसी ममता, ऐसी मिथ्या-मान्यता छोड़ने की बात है। ये सब बाह्यपदार्थ तो छूटे हुए ही पड़े हैं, ये कहाँ तेरे में आ गये हैं ? परन्तु तुझको ऐसा लगता है कि यह शरीर, पैसा, बँगला, स्त्री-पुत्रादि सब मेरे हैं तो ऐसी मिथ्यामान्यता और उसकी ममता छोड़ — ऐसी बात है; क्योंकि यह मिथ्यामान्यता और इन सबके प्रति मेरा ममत्वभाव ही संसारलता का मूल है और इसी में संसारबेल फूलती है।

देखो, यहाँ परिग्रह और विग्रह — ऐसे दो लिए हैं। परिग्रह अर्थात् पैसा, मकान, सुवर्ण आदि और विग्रह अर्थात् शरीर। अहा..! भगवान! जहाँ तू है, वहाँ ये सब चीजें नहीं हैं और जहाँ पर चीजें हैं; वहाँ तू नहीं है। अहा! तू इन चीजों से अत्यन्त भिन्न है। तू अकेला है और सदा अकेला ही रहनेवाला है न प्रभु! तो फिर इन सबकी ममता छोड़ न! परन्तु अरे! जगत में 'आत्मा ऐसा है' — यह बात ही नहीं चलती। लोक में तो 'यह करूँ और वह करूँ' — यह सब चलता है। परन्तु भाई! यह सब तो मिथ्याभाव है, संसार का मूल है। करना सो तो मरना है बापू! सोगानीजी ने कहा है न कि 'शुभराग करना सो मरना है।' यह लोगों को कठोर लगता है; परन्तु भाई! वस्तुस्थिति यही है और ऐसा ही मार्ग है।

प्रश्न : — 'समाज सुधारो' — यह उपदेश अच्छा लगता है ?

उत्तर : — कहा है न कि तू सदा ही अकेला है। समाज कहाँ तेरा है ? और उसको कौन सुधारे ? यह मान्यता तो मिथ्याभावरूप जहर का पेय है बापू! और वह तुझे अच्छा लगता है ? यहाँ तो यह स्पष्ट कहते हैं कि परिग्रह का ग्रहण छोड़ दे, क्योंकि परिग्रह से कुछ लाभ नहीं है — ऐसी बात है।

प्रश्न : — परन्तु पैसा होवे तो दान दें और धर्म टिके ?

उत्तर : — यहाँ उससे इन्कार करते हैं। किसका पैसा और कौन दान दे ? पैसे के दान की क्रिया हो, वह कहीं तेरी क्रिया नहीं है, वह तो जड़ की है और उसमें होनेवाला भाव भी पुण्यभाव है; जोकि बंध का-संसार का कारण है। बापू धर्म तो अन्तर की क्रिया है और वह अन्तर की क्रिया से ही टिकता है, पुण्य से नहीं। तो कहते हैं कि —

‘बुधपुरुष को अव्यग्रता से (निराकुलता से) भरा हुआ चैतन्यमात्र जिसका शरीर है, उसे (आत्मा को) भाना चाहिए।’

अहा...! बुधपुरुष को...अर्थात् हित करने के अभिलाषी विचक्षण पुरुष को परिग्रह और शरीर के प्रति उपेक्षा करके.....अहाहा...! शरीर और शरीर की क्रिया मेरी नहीं है और यह परिग्रह का ढेर मेरी वस्तु नहीं है — इसप्रकार श्रद्धा में गुलांट खाकर एक चैतन्यमूर्ति आत्मा को भाना चाहिए। अहाहा...! अन्दर भगवान आत्मा निराकुल आनन्द से भरपूर भरा हुआ है। यह शरीर और परिग्रह तो आकुलता का स्थान है, जबकि अन्दर भगवान आत्मा पूर्णानन्दप्रभु, सहज निराकुलस्वरूप है-अव्यग्रता से भरा है। देखो, कलश में है कि **‘निर्व्यग्र’**=अव्यग्रता-अनाकुलता, और **प्राय**=अहित, पूर्ण भरा हुआ। अहाहा...! आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु अव्यग्रता-अनाकुलता से भरा भगवान है। इसलिए बुधपुरुष को, चैतन्यमात्र जिसका शरीर है — ऐसे भगवान अनाकुलस्वरूप आत्मा को भाना चाहिए अर्थात् उसमें एकाग्रता करना चाहिए — ऐसा उपदेश है।

अहा...! कहते हैं — आत्मा ज्ञानशरीरी है। यह अन्दर विद्यमान सहजज्ञान आत्मा का शरीर है। यह बाहर का शरीर तो धूल-मिट्टी का जड़पिण्ड है और अन्दर ज्ञान का पुंज-ज्ञान की मूर्ति यह तेरा शरीर है; अतः उसको भाना चाहिए, उसमें एकाग्र होना चाहिए — ऐसा कहते हैं; क्योंकि वह कल्याण का कारण है। भाई! इस ज्ञानशरीरी आत्मा को छोड़कर अन्य सब परिभ्रमण की बातें हैं। अहा..! अज्ञानी को पाँच-पचास करोड़

की सम्पत्ति मिले, वहाँ तो वह पागल हो जाता है; परन्तु बापू! यह तो तेरी भटकने की-परिभ्रमण की चेष्टा है।

प्रश्न : — परन्तु बिना पैसे कहीं धर्म की प्रभावना थोड़े ही होती है ?

उत्तर : — अरे भाई! यह सब तो बाहर की चीज है बापू! यह कहीं तेरी की नहीं होती। तेरा किया या तो विकार होता है अथवा धर्म (अविकारदशा) होता है बस, यह दो बातें हैं। इसके अलावा तीसरा कुछ तेरा किया नहीं होता। विकार तो तूने अनन्तबार किया है; इसलिए भाई! एकबार तो तू इस अनुकूल चैतन्यशरीरी आत्मा की भावना कर, इससे धर्म और धर्म की प्रभावना होगी और तुझको अनुकूल आनन्द की प्राप्ति होगी। अहाहा...! अन्दर निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यशरीरी ज्ञान का पुंज प्रभु आत्मा है; अतः उसकी भावना कर, उसमें एकाग्र होकर वहाँ ही लीनता कर, जिससे तू मुक्तिसुन्दरी का नाथ हो जायेगा।

लो, यह कल्याण का पंथ है और यह धर्म की प्रभावना है।

कलश २० पर प्रवचन

‘मोह को निर्मूल करने से.....’

अहाहा...! क्या कहते हैं कि पर में अपनेपने की मान्यता और राग का कण भी-शुभभाव भी मेरा है और भला है — ऐसी मान्यता सो मोह है, मिथ्यात्व है; और उसको निर्मूल करना (अर्थात् मूल से उखाड़कर नष्ट करना — यह कहते हैं।) भाई! शुभभाव है, वह भी आस्रवतत्त्व है और भगवान आत्मा ज्ञायकतत्त्व है। तो दोनों को एक मानना या भगवान ज्ञायक को आस्रवतत्त्वरूप मानना सो मिथ्यात्व है, मोह है और उसका मूल में से नाश करना योग्य है — ऐसा कहते हैं। अब कहते हैं —

“प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त राग का विलय करने से तथा द्वेषरूपी जल से भरे हुए मनरूपी घड़े का नाश करने से.....।”

देखो, पहले श्रद्धा का दोष दूर करके अब कहते हैं — चारित्र का दोष जो शुभाशुभराग है और अरोचकभावरूप जो द्वेष है, उसको भी दूर करना-नाश करना। अहा...! जो भगवान की भक्ति, वंदना, दान, व्रतादि का भाव है, वह शुभराग है और स्त्री-पुत्रादि के प्रति प्रेम है, वह अशुभराग है। उस शुभाशुभराग का अभाव करना —

यह कहते हैं और प्रतिकूलता लगने पर जो अन्दर मन में अरोचकता लगती है, वह द्वेष है। अहा! ऐसे द्वेषरूपी जल से भरे हुए मनरूपी घड़े का नाश करना — ऐसी बात करते हैं। अहा! पहले मोह को निर्मूल करने की बात की और अब शुभाशुभराग और द्वेष का नाश करने को कहते हैं।

शरीर में रोग आवे, बिच्छू डंक मारे, श्वास एक सरीखा नहीं चले और घबराहट होवे, कोई अपशब्द कहे और अपमान करे, इत्यादि प्रसंग में मन में जो अरोचकता लगती है, वह द्वेष है और उससे मन भरा हुआ है। इसलिए कहते हैं कि उसका नाश करना। क्यों ? तो कहते हैं —

“नाश करने से पवित्र, अनुत्तम, निरुपाधि और नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट होती है।”

अहाहा...! अन्दर भगवान आत्मा जगमग ज्योतिस्वरूप त्रिकाल है। मोह को छोड़कर, शुभाशुभभाव को तोड़कर और द्वेष के जल से भरे हुए मनरूप घट को फोड़कर, उसके (आत्मा के) अनुभव में लीन रहने से वह पवित्र, निरुपाधि अर्थात् समस्त परिग्रह की उपाधि से रहित, जिसमें कोई उत्तम नहीं है — ऐसी अनुत्तम-सर्वश्रेष्ठ और नित्य प्रकाशमान ज्ञानज्योति प्रगट होती है अर्थात् पर्याय में प्राप्त होती है। अहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेष का नाश करने से, अन्दर विराजमान परमपवित्र नित्य प्रकाशमान जगमग ज्ञानज्योति प्रगट होती है अर्थात् पर्याय में प्राप्त होती है। अर्थात् आत्मा की परमपवित्र पूर्णदशा की उत्पत्ति होती है। अहा! मोह-राग-द्वेष का व्यय होने पर अन्दर पूर्ण ज्ञान की-केवलज्ञान की दशा प्राप्त होती है। अहा..! अन्दर ध्रुव....ध्रुव...ध्रुव ज्ञानज्योतिस्वरूप स्वयं है, उसके आश्रय में रहने से मोह-राग-द्वेष का नाश होकर यह ज्ञान प्रगट होता है — ऐसी बात है। समझ में आता है.... ?

“भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंद्य है, जगत को मंगलरूप है।”

अहाहा..! शुभाशुभराग के विकल्प से अन्दर नित्यानन्द चैतन्यज्योतिस्वरूप आत्मा भिन्न है। अतः शुभाशुभ से भेद करके...भाई! करनेयोग्य तो यह है, शेष सब तो व्यर्थ है। अरे! पहले श्रद्धान में-अभिप्राय में तो भिन्नता कर; ज्ञान में तो ले कि मैं चैतन्य ज्योतिस्वरूप (राग से) भिन्न हूँ। अरे! इसने अनादि से ममतारूपी वृक्ष बोया है और उसके फल में इसको चौरासी के अवतार फले हैं-प्राप्त हुए हैं, परिभ्रमण का दुःख प्राप्त

हुआ है; परन्तु यदि यह भेदज्ञानरूपी वृक्ष बोवे तो उसको यह सत्फल (मुक्ति) मिलता है कि जो वंद्य है। सत्फल माने क्या ? सुन्दर फल, अच्छा फल, उत्तम फल, सच्चा फल अर्थात् परम-आनन्द और शान्ति ही सत्फल है और वह वंद्य है-वंदनीय है।

प्रश्न : — इस साधारण मनुष्य को ऐसी बड़ी बात ?

उत्तर : — प्रभु! तू साधारण नहीं है, तू तो अन्दर चैतन्यमहाप्रभु है। अपने स्वभाव से ही प्रत्यक्ष हो सके — ऐसा तू साक्षात् आत्मा है न प्रभु! तुझे किसी पर की अपेक्षा नहीं है, तू ऐसा भगवान है। अरे! परन्तु यह इसको कैसे बैठे ? पंगु होकर रहनेवाले को यह बात कैसे बैठे ? परन्तु भाई! तेरा कोई नाथ नहीं है — ऐसा तू अनाथ है और स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान से सनाथ है; तो फिर तुझको किसकी आवश्यकता है ? किसी की भी नहीं। अहा! कहते हैं — ऐसा भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंद्य है, वह जगत को मंगलरूप है।

अहा! कहते हैं — मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष का अभाव करके स्व-स्वरूप में लीन-स्थिर होने पर अन्दर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र और आनन्द की परम-पवित्रदशा प्रगट होती है। अहा! ऐसा जो यह भेदज्ञान का सत्फल है, वह जगत को मंगलमय है। लो, यह मांगलिक! अन्य कोई पाँच-पचास लाख की आमदनी होवे अथवा घर में पुत्र का विवाह होवे, वह मांगलिक नहीं है। बापू! यह तो पाप की-संसार की होली है। अन्दर स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके उसका फल परम पवित्रता प्राप्त हो, वह जगत में मंगलरूप है। पहले मोहादि पाप का नाश करना कहा है न, तो उसमें ही मांगलिक का अर्थ आ गया; क्योंकि पाप का नाश करे, वह मंगल है। मं=पाप, और गल=गाले अर्थात् पाप को गाले-नष्ट करे, वह दशा मंगल है अथवा मंग=पवित्रता; और ल=प्राप्त करना। अहा! पाप का नाश करके पवित्रता को प्राप्त करे — ऐसी दशा वह मांगलिक (दशा) है; इसलिए ऐसा भेदज्ञान का फल मांगलिक है और वह वंद्य है।

इसप्रकार मांगलिक किया।

कलश २१ पर प्रवचन

अहाहा....! भगवान आत्मा त्रिकालध्रुव ज्ञानस्वभावमय शुद्धचैतन्यवस्तु है। अहा! अपनी वस्तु अन्दर ऐसी है कि जिसका सर्वस्व एक ज्ञानस्वभाव है। अहा! उसको यहाँ

(गाथा-११ व १२ में) स्वभावज्ञान अथवा कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा गया है — ऐसे निजकारणस्वभाव-उपयोग में एकाग्र होकर उसका ध्यान किये जाने पर अर्थात् उसको ध्येय बनाने पर शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है और उसके फल में मोक्ष होता है। वह मोक्ष कैसा है — यहाँ उसकी व्याख्या है।

परन्तु अरे! इसने अनन्तकाल में कभी यह बात सुनी ही नहीं है और इसीलिए इसको अपनी चीज दुर्लभ हो गई है; मानो स्वयं अलभ्य हो — ऐसा इसको लगता है; परन्तु प्रभु! यह तो तेरे घर की चीज है, इसलिए वह प्राप्त न हो — ऐसा कैसे हो सकता है ? अहा! एकसमय की दशा से भी भिन्न त्रिकाल ज्ञानमूर्ति प्रभु आत्मा का सर्वस्व ज्ञानस्वभाव है। अतः उसमें एकाग्रता करके लीन हो, जिससे तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होगी। यह मोक्षमार्ग है और इससे मोक्ष होता है। अहा! मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या है।

तो कहते हैं —

‘आनन्द में जिसका फैलाव है.....’

अहाहा....! ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु आत्मा ऐसा है। कैसा ? कि जिसमें आनन्द का फैलाव है, इसलिए उसकी जो दशा प्रगट होती है; वह भी आनन्दमय प्रगट होती है। अहा...! आत्मा की पूर्ण एकाग्रता से जो मुक्ति की पर्याय प्रगट होती है, उसका आनन्द में विस्तार है; वहाँ आनन्द फलता है - ऐसा कहते हैं। जबकि इस संसारदशा में तो अकेले दुःख का ही विस्तार है। पुण्य-पाप का फल, वह अकेले दुःख का ही विस्तार रूप है; इसलिए पुण्य-पाप से हटकर एक ज्ञानानन्दस्वाभावी आत्मा में एकाग्रता करने से उसके फल में निराकुल आनन्द का फैलाव होता है अर्थात् जिसमें पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द फलता है, वह मुक्ति है — इसप्रकार इस श्लोक (कलश) में मुक्तपर्याय की बात है।

जैसे गुलाब का फूल जब संकोचरूप हो, तब बाहर में बन्द कलीरूप दिखता है; परन्तु जब वह विकसित होता है, तब वह खिल उठता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा चित्त्वमत्कार प्रभु यद्यपि अन्तर के स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दमय है; तो भी अपने जो वस्तु नहीं है — ऐसे शरीर, मन, वाणी इन्द्रियाँ मेरे हैं और पुण्य-पाप के विकल्प

होते हैं, वह मेरे हैं — ऐसी मान्यता इसकी अनादि से होने के कारण इसका आनन्दभाव पर्याय में संकुचित हो गया है—मुरझा गया है। अहा...! स्वयं नित्यानन्दप्रभु त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभावरूप विद्यमान होने पर भी, अपना इन्कार (अस्वीकार) करने से इसकी दशा में आनन्द का भाव मुरझा गया है (अप्रगट हो गया है) और अनादि से इसको दुःखरूप दशा प्रगट है। भले ही वह बड़ा राजा हुआ हो या बड़ा देव हुआ हो; परन्तु वह अनादि से अज्ञानदशा में दुःख के समुद्र में ही डूब रहा है।

यहाँ कहते हैं — अन्तर पूर्णानन्द का नाथ प्रभु स्वयं है — ऐसा भान होने पर, निज-कारणपरमात्मा को प्राप्त करके, जब अन्तर एकाग्रता-लीनता द्वारा सिद्धपद को पाता है—मोक्षपद को पाता है; तब उस दशा का आनन्द में—अतीन्द्रिय आनन्द में फैलाव होता है। अहाहा....! तब आत्मा की दशा में, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द स्वभावरूप है, वैसा खिलकर प्रगट फैलावरूप-विस्ताररूप होता है — ऐसा मोक्ष पूर्ण विकसित कमल की तरह अतीन्द्रिय आनन्द के फैलाव से भरपूर होता है। तथा —

‘जो अव्याबाध (बाधा रहित) है।’

अहाहा..! भगवान आत्मा की मोक्षदशा में जो परमानन्द, अनन्त-आनन्द का फैलाव हुआ है, वह अव्याबाध है, बाधारहित है। देखो, इस संसार में तो प्रतिपल और प्रतिक्षण कदम-कदम पर बाधा ही बाधा है, विघ्न ही है; क्योंकि पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वे ही विघ्न हैं। अहा! शुभाशुभभाव आत्मा की शान्ति को विघ्नकारक हैं। जबकि भगवान आत्मा की जो मुक्ति होती है, उसमें कोई विघ्न अथवा विरोध नहीं होता; वह ऐसी अव्याबाध है — ऐसी दशा को मोक्ष कहते हैं।

अरे! विषय-वासना में डूबे हुए जगत को मोक्षतत्त्व क्या है — यह भी पता नहीं है। बापू! यह जो विषय-भोग की वासना है, वह दुःख है और इससे भी विशेष तेरी यह मान्यता कि ‘यह मुझे सुखरूप है’ अनन्तदुःख का मूल है। आशय यह है कि जो राग की, विषय की, भोग की अथवा मान आदि की वासना उत्पन्न होती है; वह पाप है, दुःख है; परन्तु इसकी अपेक्षा भी ‘यह मुझे ठीक है, इसमें मुझे मजा (आनन्द) आता है’ — ऐसी जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व का अनन्तपाप है और अनन्तदुःख का मूल है। मोक्ष में अकेले निराबाध परमानन्द के फैलाव के समक्ष इस संसार में अकेले दुःख के फैलाव की बात कही। अरे भगवान! इसको यह भी पता नहीं है कि संसार में कितना दुःख है!

अहाहा...! अव्याबाध माने क्या ? अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव में कल्लोल करता आत्मा पर्याय में पूर्णभाव से खिल उठा, वहाँ उसका फैलाव पूर्ण आनन्द में है और वह विघ्नरहित अव्याबाध है; उसकी पूर्ण एकान्त आनन्द की दशा में कोई विघ्न-बाधा-अन्तराय-विरोध नहीं होता। जबकि संसार में तो प्रतिपल इसकी शान्ति में बाधा होने से अकेला दुःख ही है। यहाँ संसार में अकेला दुःख ही है, उसके सामने मोक्ष में परम आनन्द है-पूर्ण आनन्द है, अकेला आनन्द है — ऐसा लेना है। अतः कहते हैं कि पर-पदार्थ से मुझे सुख है, पुण्य-पाप के विकारी भावों से मुझे आनन्द आता है और विषय-भोग की वासना की कल्पना में मुझे अच्छा लगता है — ऐसा भाव महामिथ्यात्व है और वह अनन्त तीव्र दुःख से फैला हुआ भाव है। अहा! इस मिथ्यात्व के भाव में इसको (जीव को) प्रतिक्षण विघ्न-बाधा ही है। जबकि आत्मा की मोक्षदशा में उसे कोई बाधा या विरोध है ही नहीं — ऐसी अव्याबाधसुख की दशा सो मोक्ष है।

‘जिसकी सहजदशा विकसित हो गई है।’

अहा! जिसने आत्मस्वभाव का आराधन-सेवन करके मुक्ति प्राप्त की है, उसको उस मुक्तदशा में सिद्धपद में ज्ञान-आनन्द आदि सहजदशाएँ विकसित हो गई हैं; जबकि यह निगोद में था, तब ये सभी अवस्थाएँ संकोचित थीं।

अहा! इस शकरकंद की एक कटकी में असंख्य औदारिक शरीर हैं और उस एक-एक शरीर में अभी तक के सिद्धभगवंत हो गये हैं, उनसे अनन्तगुना निगोद के जीव हैं। अहा! उन निगोदिया जीवों की ज्ञान और आनन्द आदि दशा अत्यन्त मूंद गई होती है। भाई! ऐसी निगोद की दशा में यह (जीव) अनन्तबार गया है और जब तक मिथ्यात्व है — यह शरीर मेरा, यह स्त्री मेरी, यह पुत्र मेरा, यह परिवार मेरा, यह देश मेरा और यह पुण्य-पाप के भाव मेरे और मुझे इनमें अच्छा लगता है — ऐसा मिथ्यात्वभाव है, वहाँ तक इसमें नरक-निगोद के भव करने की ताकत है। यह बात है बापा!

यहाँ तो सिद्धपद की बात है न ? अतः उसके सामने (तुलना में) यह निगोद की बात की है। सिद्धपद में तो सहजदशा विकसित हो गई है अर्थात् अन्दर में जो त्रिकाल सहजज्ञान, सहज-आनन्दस्वरूप है, वह तब पूर्ण व्यक्त होकर पर्याय में प्रगट हो जाता है। अहा! जैसे छोटी पीपल में अन्दर शक्तिरूप से चौंसठ पहरी चरपराहट रस भरा पड़ा है, उसको घिसने से बाहर में व्यक्तरूप उसकी चौंसठ पहरी चरपराहटरूप सहजदशा

प्रगट होती है; इसीप्रकार भगवान आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्णरस भरा पड़ा है तो उसकी एकाग्रता द्वारा वह अवस्था में व्यक्त होकर पूर्ण विकसित हो उठता है।

प्रश्न :— यह धर्म ? यह तो बहुत कड़क बाते हैं ?

उत्तर :— यह तो तेरी मूलवस्तु क्या है, उसकी बात है। अरे! तूने अनन्तकाल में यह सुना नहीं है। जो तेरी बात नहीं है, उसको अपनी मानी है और जो तेरी अपनी बात है; उसको तूने उड़ा दिया है।

अब कहते हैं — ‘जो अन्तर्मुख है.....’

मोक्षदशा की पर्याय अन्तर्मुख है, सिद्धपद अन्तर्मुख है; जबकि संसारदशा की विकारी अवस्था बहिर्मुख है। यही विशेष कहते हैं —

‘जो अपने में सहज विलसते (खेलते, परिणमते) चित्त्वमत्कारमात्र में-
लीन है....।’

अहाहा....! शब्द थोड़े पड़ते हैं! ‘जो’ अर्थात् भगवान आत्मा का-निज सहज ज्ञानानन्दस्वभाव का-स्वभाव का-आराधन करने से जो सिद्धपद प्रगट हुआ, जो मोक्षदशा प्रगट हुई; वह मोक्षदशा अपने में अर्थात् सहज विलसते-आनन्दादि अनन्त अवस्था से परिणमते-विकसते चित्त्वमत्कार में लीन है। अहाहा...! अन्दर भगवान आत्मा चित्त्वमत्कारमात्र वस्तु है और उसके आश्रय में रहने से जो सिद्धपद-मोक्षपद प्रगट हुआ है, वह उसमें ही तल्लीन है, सहजशुद्ध चिदानन्दरस में लीन है, अन्यत्र बाहर में लीन नहीं है।

अब कहते हैं —

‘जिसने निजज्योति से तमोवृत्ति को (अन्धकारदशा को, अज्ञानपरिणति को)
नष्ट किया है।’

अहाहा...! भगवान आत्मा अन्दर त्रिकाल चैतन्यज्योतिस्वरूप है। अहाहा..! ज्ञान की जगमग ज्योतिर्मय अपरिमित स्वभाव का सागर प्रभु आत्मा है। अतः उसके भान और ध्यान द्वारा इसने तमोवृत्ति का अज्ञान अंधकार का नाश किया है। अहा! राग में हूँ और राग में आनन्द है; पुण्य में हूँ और उसमें आनन्द है, मैं स्त्री का पति हूँ और

उसमें आनन्द है — यह सब मिथ्यात्वभावरूप तमोभाव है तमोवृत्ति है, अज्ञानभाव है; और यहाँ कहते हैं कि उसको निजज्योति से प्रगट निज सहजज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया है।

अहाहा...! भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु अन्दर पूर्णज्ञान का घनपिण्ड है; परन्तु उसका अस्वीकार करके, उससे परान्मुख रहकर संसारदशा में यह अल्पज्ञता ही मेरा स्वरूप है और यह दया, दान आदि का विकल्प और उसका फल जो यह पैसा-धूल आदि हैं, वे मेरे हैं — ऐसी मान्यतारूप मोहान्धकार के द्वारा इसने ज्ञानज्योति का अनादर किया है।

अहा! प्रभु! यह वीतराग का मार्ग जगत से अलग है! यह तो जगत से निराला मार्ग है।

कहते हैं — मैं चिन्मात्रज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा हूँ — ऐसा भान करके, उसमें ही अन्तर्लीन होकर प्रगट निज-ज्ञानज्योतिरूप सहजज्ञान द्वारा भगवान ने समस्त मोहान्धकार का-अज्ञान अन्धकार का पूर्ण अभाव कर दिया है। अहाहा..! प्रभु आत्मा चैतन्य के नूर का पूर है; तो ऐसे अन्दर के ज्ञानानन्द के ध्रुवप्रवाह में मग्न होकर-निमग्न होकर भगवान ने समस्त अज्ञानरूपी अन्धकार का सम्पूर्ण अभाव किया है। अहाहा...! आत्मा की स्वाधीन, परमसुखरूप, अन्तर्लीन ऐसी पूर्ण सहजज्ञान और आनन्द की दशा का नाम मोक्ष है।

‘और जो नित्य अभिराम (सदा सुन्दर) है.....’

अहाहा...! निज आत्मा के अन्तरस्वभाव में से परमविकासरूप प्राप्त ज्ञान और आनन्द की दशा नित्य अभिराम है-सदा सुन्दर है, अतिशय सुन्दर है, परम शोभनीक है; जबकि संसारदशा तो राग-द्वेष-मोह द्वारा महा-अंधकारमय होने से असुन्दर है, अशोभनीक है।

प्रश्न :— अब ऐसा वीतराग का कैसा मार्ग है ?

उत्तर :— भाई! तूने (अन्तर में प्रमोद लाकर) इसकी बात नहीं सुनी है प्रभु! और इसीलिए तुझे इसमें नया लगता है। परन्तु यहाँ कहते हैं - भगवान सिद्ध को परम विकासरूप प्रगट मोक्ष की दशा-सर्वोत्कृष्ट आनन्द की दशा नित्य सुन्दर है। जबकि संसारी को तो सदा दुःख ही है। अहा..! अज्ञानी तो दुःखमय मोहान्धकार के विस्तारमय घेरा में (व्यूह में) पड़ा है! अब कहते हैं —

“ऐसा सहजज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में जयवंत वर्तता है।”

अहा! त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वरूप तो जयवंत है ही; परन्तु उसकी दशा, जो अब पूर्ण विकासरूप हुई है, वह भी जयवंत वर्तती है — ऐसी बात है। आशय यह है कि जिसको वह दशा प्रगट हुई है, वे सिद्धपरमात्मा अब फिर से अवतार-जन्म लें — ऐसा नहीं होता। मोक्ष में जाने के पश्चात् (लौकिक मान्यतानुसार) यहाँ भक्तों पर कष्ट पड़ा है; इसलिए राक्षसों का संहार करने के लिए भगवान को नया अवतार लेना पड़ता है — ऐसा इस मोक्ष का स्वरूप नहीं है। अहा! भगवान को जो अनन्तज्ञान और अनन्त-आनन्द की दशा प्रगट हुई है, वह अब जयवंत वर्तती है अर्थात् ऐसी की ऐसी सादि-अनन्तकाल रहेगी। अहा! जब से वह शुरू हुई, तब से लेकर अनन्तकाल तक ऐसी की ऐसी रहेगी। लो, ऐसा मोक्ष का स्वरूप है (जो मोक्षार्थी को जानना चाहिए।) अहा! नवतत्त्व में मोक्षतत्त्व आता है या नहीं ? तो मोक्षतत्त्व कैसा है — यह जानना पड़ेगा या नहीं ? (इसीलिए यहाँ मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है, उसे यथास्थित जानना चाहिए।)

कलश २२ पर प्रवचन

“सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है।”

अहाहा...! इस चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है, वह उसका राज्य-साम्राज्य है और वह उसका सर्वस्व है। अब तुम्हारे व्यापार में ऐसा कुछ नहीं आयेगा, वहाँ तो दौड़ा-दौड़ और धमाधम होती है।

प्रश्न : — परन्तु बिना धमाधम कहीं रुपये आते हैं ?

उत्तर : — अब रुपये आवें या नहीं आवें — यह तो उनके कारण हैं। क्या वे धमाधम से आते हैं ? वे तो पूर्व के पुण्य के परमाणु हों तो आते हैं।

प्रश्न : — परन्तु पैसा आता तो इसके पास है न ?

उत्तर : — इसके (आत्मा के) पास क्या आता है ? क्या धूल आती है ? वह जड़ क्या आत्मा के पास (आत्मा में) आता है ? नहीं आता; परन्तु वह पैसा मेरा है — ऐसी ममता इसके पास आती है।

प्रश्न : — तब तो सब ममता की ही दुकानें हुई ?

उत्तर :— तो अन्य क्या है ? सभी अज्ञानियों ने ममता की दुकानें लगा रखी हैं। अहा! जो पदार्थ इसके नहीं हैं, उन्हें निज मानकर यह ममता ही करता है। परवस्तु मेरी है — ऐसा मानने का नाम ही ममता है। अरे! मैं जो (चिन्मात्रस्वरूप) हूँ, वह मेरा नहीं है — ऐसा मानकर इसने अपने को अनन्तकाल से छोड़ दिया है। अहा! अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्दमय सदा सिद्धस्वरूप है, स्वयं सदा ही त्रिकाली भगवानस्वरूप है। अहा! देवाधिदेव तीर्थकरदेव ने आत्मा को ऐसा देखा है, तो उसे छोड़कर, जैसे बालक 'मम' खाना चाहता है; इसीतरह अज्ञानी 'मम' अर्थात् जो इसका स्वरूप नहीं है — ऐसे राग-द्वेष और उनके फल को (हर्ष-शोक को) निज मानकर भोगता है। देखो, इसप्रकार अज्ञानी जीव 'मम' अर्थात् राग-द्वेष की ममता को भोगते हैं; जबकि धर्मात्मा जीव आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

अहा! अन्दर निर्मलानन्द का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु आत्मा है, उसमें 'यह मैं हूँ' ऐसी दृष्टि होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव और भोग होता है और यह धर्मी का अनुभव तथा भोग है। जबकि अज्ञानी को राग-द्वेष का अनुभव है, बस वह रागादि जहर का अनुभव और भोग है; शेष इन स्त्री, पुत्र और पैसों को तो (ज्ञानी अथवा अज्ञानी) कोई भी नहीं अनुभवते; क्योंकि ये सब तो जड़ और पर हैं और क्या जड़ को आत्मा भोग सकता है ? किसप्रकार भोगेगा ?

प्रश्न :— उनकी (स्त्री-पुत्रादि की) सेवा तो करता है न ?

उत्तर :— किंचित् भी सेवा नहीं करता। किसकी सेवा करे ? क्या इन मांस और हड्डियों की सेवा करे ? यह (शरीर) तो मांस और हड्डियाँ हैं; और मैं उसकी सेवा करता हूँ — ऐसा मानना वह तो महापाप है; क्योंकि शरीर जो जड़-अनात्मा है, वह कहीं आत्मा नहीं है। भाई! बात तो ऐसी है। कठोर लगे तो भी सत्य का स्वरूप तो ऐसा है। सारी दुनिया की मान्यता से उल्टा-अलग है; परन्तु सत्य तो ऐसा ही होगा न ?

अहा! निगोद में ज्ञान अत्यन्त अल्प-अक्षर के अनन्तवें भाग हो गया था; जबकि सिद्धदशा में ज्ञान सम्पूर्ण विकसित हो गया है। अहा! ऐसी मोक्षदशा आत्मा की एकसमय की दशा है। अहा! ऐसी अनन्त अवस्थायें, जिसमें से निकलती हैं — ऐसा ज्ञान तेरा साम्राज्य है। अहाहा...! अनन्त-अनन्तज्ञान-आनन्दादि गुणों से शोभायमान

ज्ञानघन पिण्ड तू ऐसा राजा है और ज्ञान तेरा साम्राज्य है; परन्तु कोई यह माने कि यह लोग मेरी प्रजा है और मैं इनका राजा-नृपति हूँ तो ऐसा धूल भी नहीं है। तू जड़ का और पर का पति कैसे हुआ ? अहा! यह पृथ्वीपति या लक्ष्मीपति या उद्योगपति या स्त्री का पति मैं हूँ — ऐसा यदि तू मानता होवे, तब तो तू मूढ़-पागल है।

अहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु ज्ञान की मूर्ति है। जैसे शक्कर मिठास के स्वभावरूप है; इसीतरह आत्मा ज्ञानस्वभावरूप है और वह उसका साम्राज्य है। भाई! यह बाग-बँगला और बगीचा तेरा साम्राज्य नहीं है; परन्तु जिसमें सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञात हो — ऐसा अपना ज्ञानस्वरूप है। अहाहा..! वह ज्ञान ही अपना साम्राज्य है।

एकबार जामनगर के दरबार को कहा था कि देखो, यह सब धूल का साम्राज्य है, वह कोई आत्मा का (अपना) साम्राज्य नहीं है। प्रभु! ये सब तो बाहर की नाशवान वस्तुएँ हैं। यह तुम्हारी कैसे हो गई ? तुम्हारा साम्राज्य तो अनन्तगुण से भरा ज्ञानस्वभावी प्रभु आत्मा है। यह धूल का (जड़ का) साम्राज्य तुम्हारा नहीं है। अहाहा..! 'राजते-शोभते इति राजा' अहा! जो ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से शोभे, वह आत्मा राजा है और ज्ञान उसका साम्राज्य है। अहाहा...! आत्मा के भीतर जो यह सब जानने का स्वभाव है — ऐसा अपरिमित ज्ञान ही उसका साम्राज्य है। अहाहा...! 'जीवराज' — ऐसा समयसार में (१७-१८ गाथा में) आता है न ? जीव राजा है, ज्ञान उसका राज्य-साम्राज्य है और वह उसका सर्वस्व है।

अहाहा...! देखो, अन्दर (कलश में) 'सर्वस्व' शब्द है। अतः भगवान आत्मा का जो सहजज्ञानस्वरूप है, जो उसका स्वभाव है, वह उसका सर्वस्व है अर्थात् स्वयं ही अपने ज्ञानस्वभाव का स्वामी ऐसा चक्रवर्ती है। अहा! आत्मा ऐसा राजा-चक्रवर्ती है।

अब कहते हैं —

'ऐसा शुद्धचैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर, मैं यह निर्विकल्प होऊँ।'

अब मुनिराज अपनी बात करते हैं कि अहो! यह आत्मा एक ज्ञानस्वभावमय है अर्थात् मैं अन्दर ऐसा हूँ। अहा! एक ज्ञान मेरा राज्य है, मेरी शोभा-सुन्दरता है; मेरा सर्वस्व है — इसप्रकार अन्तर में शुद्धचैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर, मैं यह निर्विकल्प होता हूँ अर्थात् विकल्परहित वीतरागीशान्ति की दशा को मैं प्राप्त करता हूँ।



अहाहा...! मुनिराज कहते हैं, मैं अन्दर अकेला ज्ञान का पुंज हूँ, पूर्णस्वभाव का रसकंद हूँ। अहा! ऐसे अभेद एक ज्ञानमय....ज्ञानवाला — ऐसा नहीं; परन्तु अभेद एक ज्ञानमय निज आत्मा को जानकर मैं निर्विकल्प होता हूँ अर्थात् अन्तर एकाग्रता करके स्थिरता पाता हूँ। इसका नाम धर्म है। भाई! यह तो आनन्द के भोजन के प्रीतिभोज की बात है। यही सुख का पंथ और मुक्ति का उपाय है। इसके अलावा सारी दुनिया दुःख के पंथ में दौड़ रही है।

अहाहा...! मुनिराज कहते हैं — यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ आदि तो पर और जड़ हैं और मैं तो शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ, ज्ञानस्वभाव ही मेरा सर्वस्व है — ऐसा जानकर मैं इस निजस्वरूप में स्थिर होता हूँ, निजानन्दरस में लीन होता हूँ — ऐसा मार्ग है। ●

उसकी भी मुझे कोई विशेषता नहीं है

मैंने अपने परमभाव को ग्रहण किया है। उस परमभाव के सामने इन्द्र और चक्रवर्ती के वैभव की तो क्या बात, किन्तु तीनलोक का वैभव भी तुच्छ लगता है। और तो क्या, किन्तु अपनी स्वाभाविक निर्मलपर्याय भी, मैं द्रव्यदृष्टि के बल से कहता हूँ कि मेरी नहीं है। परद्रव्य तो मेरे हैं ही नहीं, अंतर में रागादिभाव होते हैं, वे भी मेरे नहीं हैं; किन्तु द्रव्यदृष्टि के बल से मुझे जो निर्मलपर्याय प्रकट हुई है, उसकी भी मुझे कोई विशेषता नहीं है। मेरा द्रव्यस्वभाव तो अगाध.....अगाध है, उसके समक्ष निर्मलपर्याय की क्या विशेषता! दया-दान-भक्ति आदि के शुभ राग की तो क्या बात, किन्तु अनन्त शक्तिमय अगाध चैतन्यस्वभाव के निकट प्रकट हुई निर्मलपर्याय की भी विशेषता नहीं है। ऐसी द्रव्यदृष्टि कब प्रकट होती है ? कि चैतन्य की अपार-अपार महिमा लाकर, निमित्त से, राग से, पर्याय से - सबसे विमुख होकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब प्रकट होती है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२५

नियमसार गाथा-१३

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणितं ॥१३॥

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः ।
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः ॥१३॥

(हरिगीत)

दर्शनोपयोग स्वभाव और विभाव दो विधि जानिये ।
इन्द्रिय-रहित, असहाय, केवल, दृग्वस्वभाविक मानिये ॥१३॥

गाथार्थ :— उसीप्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है । जो केवल, इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभावदर्शनोपयोग कहा है ।

टीका :— यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है ।

जिसप्रकार ज्ञानोपयोग बहुविध भेदोंवाला है, उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी वैसा है; (वहाँ प्रथम, उसके दो भेद हैं) स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग । स्वभाव-दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है — कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग ।

वहाँ कारणदृष्टि^१ तो सदा पावनरूप और औदयिकादि चार विभावस्वभाव^२ परभावों को अगोचर — ऐसा सहज-परमपारिणामिकभावरूप जिसका स्वभाव है, जो कारणसमयसार स्वरूप है, निरावरण जिसका स्वभाव है, जो निज स्वभावसत्तामात्र है, जो परमचैतन्य सामान्यस्वरूप है, जो अकृत्रिम परम स्व-स्वरूप में अविचलस्थितिमय शुद्धचारित्रस्वरूप है, जो नित्य-शुद्ध-निरंजनज्ञानस्वरूप है और जो समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रु सेना की ध्वजा के नाश का कारण है — ऐसे आत्मा के यथार्थ स्वरूपश्रद्धानमात्र^३ ही है (अर्थात् कारणदृष्टि तो वास्तव में शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धानमात्र ही है) ।

१. दृष्टि=दर्शन (दर्शन अथवा दृष्टि के दो अर्थ हैं : १. सामान्य प्रतिभास और २. श्रद्धा। जहाँ जो अर्थ घटित होता हो, वहाँ वह अर्थ समझना। दोनों अर्थ गर्भित हों, वहाँ दोनों समझना।)
२. विभाव=विशेष भाव, अपेक्षित भाव। (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक यह चार भाव अपेक्षित भाव होने से उन्हें विभावस्वभाव परभाव कहा है। एक सहज परमपारिणामिकभाव को ही सदा-पावनरूप निजस्वभाव कहा है। चार विभावभावों का आश्रय करने से परमपारिणामिकभाव का आश्रय नहीं होता। परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही सम्यक्त्व से लेकर मोक्षदशा तक की दशाएँ प्राप्त होती हैं।)
३. स्वरूपश्रद्धान=स्वरूप-अपेक्षा से श्रद्धान। (जिसप्रकार कारणस्वभावज्ञान अर्थात् सहजज्ञान स्वरूपप्रत्यक्ष है, उसीप्रकार कारणस्वभावदृष्टि अर्थात् सहजदर्शन स्वरूपश्रद्धानमात्र ही है।)

दूसरी कार्यदृष्टि दर्शनावरणीय-ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। इस क्षायिक जीव को, जिसने सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान द्वारा तीनभुवन को जाना है; निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत का जो समुद्र है, जो यथाख्यात नामक कार्यशुद्धचारित्रस्वरूप है; जो सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक^१ है और जो त्रिलोक के भव्यजनों को प्रत्यक्ष वन्दनायोग्य है — ऐसे तीर्थकरपरमदेव को केवलज्ञान की भाँति यह (कार्यदृष्टि) भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है।

इसप्रकार कार्यरूप और कारणरूप से स्वभावदर्शनोपयोग कहा। विभावदर्शनोपयोग अगले सूत्र में (१४वीं गाथा में) होने से वहीं दर्शाया जायेगा।

[अब, १३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं —]

(इन्द्रध्वजा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव
चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम्।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चै-
रेतेन मार्गेण विना न मोक्ष ॥२३॥

(वीरछन्द)

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो एक निजातम चित् सामान्य।

वह प्रसिद्ध शिवपथ मुमुक्षु को इसके बिना न मोक्ष सुजान ॥२३॥

श्लोकार्थः — दृशि-ज्ञप्ति-वृत्तिस्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यरूप निज आत्मतत्त्व, वह मोक्षेच्छुओं को (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है, इस मार्ग बिना मोक्ष नहीं है ॥२३॥

गाथा १३ टीका पर प्रवचन

अन्दर पाठ में (गाथा में) 'तह' शब्द है, तो- 'तह' माने क्या? कि पहले (गाथा ११-१२ में) ज्ञान का स्वरूप कहा था; वहाँ ज्ञानोपयोग के भेद करके ज्ञान को समझाया था। तो अब 'तह' अर्थात् उसीप्रकार कहकर यहाँ संधि की है।

१. तीर्थकरपरमदेव शुद्धसद्भूतव्यवहारनयस्वरूप हैं, कि जो शुद्धसद्भूतव्यवहारनय सादि-अनन्त, अमूर्तिक और अतीन्द्रियस्वभाववाला है।

अहा! त्रिकाल ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा कारणस्वभावज्ञान है और उसकी वर्तमान केवलज्ञानमय पर्याय प्रगट होती है, वह कार्यस्वभावज्ञान है अर्थात् त्रिकालीज्ञान कारणस्वभाव ज्ञान है और उसमें लीन होकर, उसका ध्यान करने से कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होता है। अतः इसीप्रकार अर्थात् जैसे ज्ञान ऐसा है, इसीप्रकार दर्शन भी... यह कहकर संधि की है। और 'भण्डं' शब्द है न ? अर्थात् यह त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव ने कहा है। तो कहते हैं कि —

‘यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है।’

क्या कहते हैं कि पहले ज्ञान का जानना....जानना....जानना — ऐसा जो भाव है, उसका कारण और कार्य आदि भेदों से वर्णन किया। अब उसके साथ रहा हुआ दर्शन-देखने का भाव कैसा है ? इसका वर्णन करते हैं। वहाँ ज्ञान का स्वभाव तो प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न करके जानने का है। जबकि दर्शन का स्वभाव ऐसा है कि वह किसी भी वस्तु को भिन्न-भिन्न करके नहीं देखता; परन्तु सामान्यरूप ही देखने का कार्य करता है — इसप्रकार यहाँ ज्ञान के साथ रहे हुए दर्शनोपयोग के-देखने के व्यापार के स्वरूप का कथन है। (उपयोग=व्यापार)। अहा....! ऐसी बात है।

‘जिसप्रकार ज्ञानोपयोग बहुविध भेदोंवाला है, उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी वैसा है। (वहाँ प्रथम उसके दो भेद हैं) स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग।’

दर्शन-देखना — ऐसा जो अन्तर में उपयोग है, उसके दो प्रकार हैं — एक सहज-स्वभावदर्शनोपयोग-स्वभाविक देखने का व्यापार-सहज देखने का व्यापार (अभी इसके भी दो भेद करेंगे और दूसरा विभावदर्शनोपयोग। (इसका स्पष्टीकरण भी आगे आयेगा।) अहा! यह तो मोक्षमार्ग की बातें हैं। अहा! जो संसार से हटकर अन्दर में आया-पहुँचा और उसने उसका जो फल अनुभव किया — यह उसकी बात है। तो कहते हैं —

“स्वभावदर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है - कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग।”

अहा! अन्तर में भगवान आत्मा का जो दर्शनोपयोग है, उसका जो देखने का त्रिकाली स्वभावभाव है, उसको यहाँ कारणस्वभावदर्शनोपयोग कहा है। अहा! भगवान आत्मा का जो सहज त्रिकाली देखने के भाववाला उपयोग है, उसको कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग कहते हैं।

प्रश्न : — तो क्या धर्म की ऐसी बातें हैं ?

उत्तर : — हाँ भाई, वीतराग का धर्म जगत से अत्यन्त अलग जाति का है। अरे! वीतराग परमेश्वर क्या कहते हैं — यह बात ही जगत ने नहीं सुनी है। अहा! त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव की ओमध्वनि में-आगम में ऐसा आया है कि भगवान! तू आत्मा है न! तो तेरा एक सहजज्ञानभाव है। उसके दो भेद हैं — (१) कारणस्वभावज्ञान, जो त्रिकाली है और (२) कार्यस्वभावज्ञान, जो वर्तमान पर्यायरूप है। ज्ञान के दूसरे भी मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान — ऐसे भेद कहे हैं — इसप्रकार यह भेदों का कथन है।

अहा! जैसे ज्ञान के-जानने के भाव के दो भेद कहे — (१) त्रिकाली जानने का उपयोग और (२) वर्तमान कार्यरूप जानने का उपयोग; इसीप्रकार दर्शनोपयोग में भी कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग — ये दो भेद हैं। उसमें देखने के त्रिकाली कारणस्वभाव को कारणस्वभावदर्शनोपयोग कहते हैं और वर्तमानपर्याय में केवलदर्शन हो, उसको कार्यस्वभावदर्शनोपयोग कहते हैं। अहा! केवलज्ञान के साथ प्रगट हुए केवलदर्शनरूप कार्य को कार्यस्वभावदर्शनोपयोग कहते हैं।

‘वहाँ कारणदृष्टि तो.....’

अब श्रद्धा और दर्शन दोनों को शामिल-साथ कहना है न! दर्शन के साथ श्रद्धा भी कहनी है; इसलिए कहते हैं ‘कारणदृष्टि तो.....इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार किया है —

‘दृष्टि=दर्शन (दर्शन अथवा दृष्टि के दो अर्थ हैं — (१) सामान्य प्रतिभास और (२) श्रद्धा। जहाँ जो अर्थ घटित होता हो, वहाँ वह अर्थ समझना। दोनों अर्थ गर्भित हों, वहाँ दोनों समझना।)’

इस गाथा में दर्शन का अथवा दृष्टि का सामान्य देखना और श्रद्धा — ऐसे दोनों अर्थ गर्भित हैं। भाई! यह तो धीरज और शान्ति से समझने की चीज है; क्योंकि बापू! यह तो अन्तर की बात है।

कहते हैं कि आत्मा में जैसे त्रिकाल सहजज्ञानोपयोग है, वैसे ही उसके साथ त्रिकाली सहजदर्शनोपयोग भी है। (दर्शन=देखना।) अब उसको दृष्टि/श्रद्धा के अर्थ में लें तो आत्मा में त्रिकाली सहजश्रद्धा का भाव भी है अर्थात् कारणदृष्टि को त्रिकाली दर्शनोपयोग भी कहते हैं और त्रिकाली ध्रुवश्रद्धा भी कहते हैं। भाई! बात सूक्ष्म है।

अहा! यह कभी धर्म की सीढ़ी चढ़ा ही नहीं; इसलिए इसको यह लगता है कि क्या धर्म ऐसा होता होगा ? बस, जानना...जानना क्या यही धर्म है ?

हाँ भाई! (धर्म) अन्य क्या होगा ? भगवान! तू जाननेवाला ज्ञानस्वरूप ही है। तो जानने के अलावा अन्य क्या करे ? क्या अन्य किसी की दया पाले ? यदि तू अपनी दया पाले तो उसका नाम ज्ञान है, नहीं तो पर की दया तो कौन पाले ? बापू! अन्य पदार्थ तो स्वतन्त्र हैं। उसकी अवस्था का होना तो उसके स्वयं के कारण से है। क्या उसकी अवस्था दूसरा कर देगा ? भाई! आत्मा से भिन्न जो यह परपदार्थ — शरीर, मन, वाणी, स्त्री, परिवार आदि हैं, वे सब जगत के स्वयंसिद्ध तत्त्व हैं और वे तत्त्व अपनी वर्तमान दशा के कार्य से रहित खाली नहीं हैं। अहा! उन प्रत्येक का वर्तमान कार्य उनसे हो ही रहा है, वहाँ तू उसमें क्या करेगा ? अहा! यह शरीर चलता है, वह जड़ की अवस्था है और उसको जड़ करता है, आत्मा नहीं। जड़ की और पर की क्रिया में आत्मा का अधिकार नहीं है। परन्तु अरे! इसको कहाँ भान है कि मैं (स्वयं) कौन हूँ ? और यह सब क्या है ? भाई! यह जो वाणी निकलती है, वह भी जड़ की अवस्था है; और वह जड़ से होती है, आत्मा से नहीं।

अहा! अन्दर वस्तु भगवान आत्मा में कारणदृष्टि नामक एक त्रिकालीस्वभावरूप कारणस्वभावदर्शनोपयोग है और दूसरा त्रिकाली स्वरूप की प्रतीति-श्रद्धारूप कारणस्वभाव श्रद्धा है। अहा! ऐसी श्रद्धा भी आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है। जैसे देखनेरूप कारणस्वभाव त्रिकाल है, वैसे ही श्रद्धारूप कारणस्वभाव भी त्रिकाल विद्यमान है।

प्रश्न :— सब आत्मा में ही पड़ा है ?

उत्तर :— हाँ भाई! नहीं तो अन्य कहाँ होगा ? आत्मा वस्तु है या नहीं ? है न! तो वह तो अनन्तस्वभाव का अक्षयभण्डार है। अहाहा...! भगवान आत्मा अनन्तानन्त गुणों का अपरिमित भण्डार है। भाई! अनन्तलक्ष्मी तो लोक में किसी के नहीं होती; हाँ, अनन्त लोभ होता है; परन्तु अनन्तधन किसके पास होता है ? किसी के पास नहीं होता। (क्योंकि लोक में ऐसा कोई पुण्य ही नहीं होता।) और वह तो जड़ है, वह तेरा कैसे होगा ? तो भी, अरे! इसको अनन्तलोभ है। अहा! स्वयं अनन्तगुणमय होने पर भी स्वयं ही पर की तृष्णा ही तृष्णा में गुलांट खाता है, तो इसको अनन्ततृष्णा हो जाती है।

भाई! यह देह तो पर है; और मन, वाणी, इन्द्रियाँ भी पर हैं। जबकि भगवान आत्मा का अस्तित्व-सत्ता तो ज्ञान-दर्शनमय है। वही आगे कहा है कि 'आत्मा निजस्वभाव सत्तामात्र है।' वस्तु-भगवान आत्मा स्वभाववान है; तो उसका स्वभाव क्या है ? कि दर्शन और ज्ञान का उपयोग आत्मा का स्वभाव है। यहाँ यह दर्शनोपयोगरूप जो त्रिकाली स्वभाव है, उसको कारणस्वभावदर्शनोपयोग कहा है; अथवा (दर्शन=श्रद्धा — ऐसा लें तो) वह त्रिकालीभाव है, उसको कारणदृष्टि, कारणस्वभावश्रद्धा या कारणमान्यता कहते हैं।

देखो, पर्याय में सम्यग्दर्शन हुआ-श्रद्धा हुई, कि 'यह आत्मा है' तो वह श्रद्धा की पर्याय किसी गुण में से आई है या कहीं अधर से आई है ? वह श्रद्धा की पर्याय अन्दर जो त्रिकाली कारणस्वभावश्रद्धा है, उसमें से आई है — ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा का जो दर्शनोपयोग-देखने का, जो त्रिकालीभाव है; उसको कारणस्वभावदर्शनोपयोग कहते हैं और अन्दर जो स्व-स्वरूप की त्रिकाली श्रद्धा है, उसको कारणदृष्टि, कारणदर्शन अथवा कारणश्रद्धा कहते हैं।

परन्तु अरे! इसमें जो है, उसकी बात कहने पर भी इसको जँचती नहीं है और जो इसमें नहीं हैं, उन्हें निज मानकर अज्ञानी हो रहा है। अपना कुछ पता नहीं है और मानता है कि मैं चतुर हूँ। अहा! कोई वास्तव में ही सो रहा हो तो उसको जगाने में कुछ कठिनाई-मुश्किल नहीं होती; परन्तु जो जाग रहा होने पर भी (सोने का नाटक करता हो और जगता न हो) उसे किसतरह जगाया जा सकता है ? इसीतरह अज्ञानी मूढ़ होकर पड़ा हो, उसे तो जगाया जा सकता है; परन्तु यह तो मूढ़ होने पर भी अपने को चतुर-होशियार मानता है, अब इसको किसप्रकार समझाया जा सकता है ? (परन्तु भाई!) यह तेरे जगने का अवसर है। यहाँ कहते हैं —

“वहाँ कारणदृष्टि तो सदा पावनरूप और औदयिकादि चार विभावस्वभाव परभावों को अगोचर.....”

अहाहा....! आत्मा का जो त्रिकालीदर्शनोपयोग है और जो स्वरूपस्थित त्रिकाली श्रद्धा है, वह औदयिकादि....., औदयिक माने ? पुण्य-पाप के विकल्प; और इन विकल्पों से त्रिकाली दर्शनोपयोग और त्रिकालीश्रद्धा ज्ञात होनेयोग्य नहीं है। अहा! यह अन्तर की चीज पुण्य-पाप के विकल्प से अगम्य है। अन्दर टीका में औदयिकादि चार भाव कहे हैं न! तो एक औदयिकभाव, दूसरा औपशमिकभाव, तीसरा क्षायोपशमिकभाव

और चौथा क्षायिकभाव — इसप्रकार ये चार भाव हैं और पाँचवाँ पारिणामिकभाव है। इसप्रकार कुल पाँच भाव हैं। तो यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप जो दर्शनोपयोग और त्रिकालीश्रद्धा का भाव है, वह औदयिकादि वर्तमानपर्याय के आश्रय से ज्ञात नहीं होता। इसी का स्पष्टीकरण फुटनोट में किया है —

“विभाव=विशेषभाव; अपेक्षित भाव। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — यह चार भाव अपेक्षित भाव होने से, उनको विभावस्वभाव-परभाव कहा है।”

अहा! औदयिक अर्थात् पुण्य-पाप का परिणाम। दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि और हिंसादि के विकल्पों को औदयिकभाव कहते हैं और उसको यह त्रिकालीभाव गम्य नहीं है तथा उसके आश्रय से भी यह त्रिकालीवस्तु गम्य नहीं है। अब, औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन की पर्याय। उस औपशमिकभाव के आश्रय से भी आत्मा गम्य नहीं है। क्षायोपशमिकभाव अर्थात् जो यह वर्तमान में ज्ञान का अंश उघाड़-विकासरूप है वह। यह वकालत, डॉक्टर और जज के ज्ञान का जो वर्तमान में उघाड़ है, वह अज्ञान का क्षायोपशमिकज्ञान है और उससे आत्मा गम्य नहीं है। अरे! कदाचित् सच्चेज्ञान का क्षायोपशमिक भाव होवे तो भी उसके आश्रय से आत्मा गम्य नहीं है — ऐसा कहते हैं। क्षायिकभाव अर्थात् क्षायिक समकित, ज्ञान, दर्शन आदि की पूर्ण अवस्था-पर्याय। ऐसी जो क्षायिकदशा होती है, उसके आश्रय से भी आत्मा गम्य नहीं है। अहा! यह परमस्वभावमय आत्मा तो उसके अपने आश्रय से ही ज्ञात होनेयोग्य है।

तब कोई कहता है कि क्या ऐसा मार्ग ? ऐसा धर्म ? इसमें छहकाय की दया पालना, व्रत पालना, ब्रह्मचर्य पालना, सामायिक करना, प्रौषध करना इत्यादि जिसको धर्म कहते हैं; उसकी बात तो आई ही नहीं ?

भाई! यह सब तो विकल्प की बातें हैं प्रभु! यह सब मन्दराग की क्रियाओं की बातें हैं। यह तो औदयिकभावरूप है, इनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता; इसलिए यह कोई धर्म की क्रिया नहीं है। अहा! औदयिकादि चार भाव विभावस्वभाव परभाव है, उनके आश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता। देखो, फुटनोट में क्या बात है ? कि ‘एक सहजपरमपारिणामिकभाव को ही सदा-पावनरूप निजस्वभाव कहा है। चार विभावभावों का आश्रय करने से परमपारिणामिकभाव का आश्रय नहीं होता।

परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष की दशाएँ प्राप्त होती हैं।'

अहाहा...! त्रिकालीध्रुव सहज एक परमपारिणामिक भाव ही सदा पवित्र निज-परमस्वभाव है और शेष औदयिकादि चार भाव तो अपेक्षित भाव हैं और इसलिए विभावस्वभाव-परभाव हैं तथा वे पर्यायभाव हैं और इसीलिए उन पर्यायभावों का आश्रय करने से ध्रुवद्रव्य का आश्रय नहीं होता अर्थात् ध्रुवद्रव्यस्वभाव पर्याय के आश्रय से ज्ञात होनेयोग्य नहीं है, अगम्य है। अहाहा...! त्रिकालीध्रुव आनन्दकंदरूप एक परमस्वभावरूप आत्मा है, उसका एक का ही आश्रय करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, केवलज्ञान और मोक्ष इत्यादि मोक्ष तक की निर्मल अवस्थाएँ होती हैं; परन्तु औदयिकादि वर्तमान वर्तती पर्याय के आश्रय से कोई निर्मलपर्याय नहीं होती। अहा! यह सूक्ष्म बात है, बहुत सूक्ष्म!

अहा! 'औदयिकादि चार विभावस्वभाव परभावों को अगोचर.....' अर्थात् क्या ? कि विकार की औदयिक की, औपशमिक की, क्षायोपशमिक की और क्षायिक की जो चार पर्यायें हैं, उन पर्यायों के आश्रय से त्रिकाली का-ध्रुवद्रव्य का दर्शन नहीं होता; परन्तु इसका त्रिकालीध्रुव दर्शनमय जो स्वभाव है, उसके आश्रय से इसका भान होता है; इसलिए त्रिकाली द्रव्यभाव औदयिकादि चार विभावस्वभावों को अगोचर है — ऐसा कहा है।

अहा! नियमसार सिद्धान्तशास्त्र है। नियमसार का अर्थ है मोक्ष का मार्ग। जीव दुःख के मार्ग में तो अनादिकाल से ही है। अतः दुःख का नाश करके आत्मा की शान्ति और सुख का मार्ग कैसे प्राप्त हो, उसकी यहाँ बात है। अरे! इसने अनन्तकाल से चौरासी के अवतारों में अनन्तदुःख सहन किया है। यह अनन्तबार मनुष्य हुआ है और नरक में भी अनन्तबार गया है। देव भी अनन्तबार हुआ है और तिर्यच भी अनन्तबार हुआ है। आत्मा अनादि का है न! इसलिए इसने मनुष्यपने में अनन्तभव किये हैं। वहाँ अनन्तकाल व्यतीत किया, उसकी अपेक्षा असंख्यगुना अनन्तकाल नरक में व्यतीत किया। अहा! नीचे नरकगति है, वहाँ इसका वास अनन्तकाल का है और देव में भी उसकी अपेक्षा असंख्यगुना अनन्तकाल इसने व्यतीत किया है। पशुयोनि का तो पूछना ही क्या! इसका अनन्त-अनन्तकाल पशुयोनि (तिर्यच) में व्यतीत हुआ है। अहा! उसके दुःख को कौन कहे ? निजज्ञानानन्दस्वभाव के भान बिना यह पुण्य-पाप के भाव कर-

करके अनन्तदुःख के समुद्र में डूब रहा है। अतः यहाँ इसको सुख का मार्ग कैसे प्राप्त हो — यह बताते हैं।

अहा! यह पर का तो कुछ कर ही नहीं सकता; क्योंकि परपदार्थ भी स्वतः स्वतन्त्र सत् है। उसमें-स्वतन्त्र सत् में दूसरे का कुछ अधिकार ही नहीं है।

जो यह शरीर की, मन-वाणी-इन्द्रियों की, देश की, परिवार की और बाहर में खाने-कमाने की सभी क्रियायें होती हैं, उनको आत्मा नहीं कर सकता; परन्तु मैं ऐसा करता हूँ और वैसा करता हूँ — ऐसे पाप के भाव यह करता है। अहा! जीव अज्ञानवश अपनी मर्यादा में मिथ्याभ्रान्ति और पुण्य-पाप का भाव करता है; परन्तु अपनी सत्ता की मर्यादा से बाहर परवस्तु का कुछ भी नहीं कर सकता। अहा! जीव, पैसा-धूल कमा सकता है अथवा उनको रख सकता है, उन्हें खर्च कर सकता है इत्यादि कार्य तीनकाल-तीनलोक में भी नहीं कर सकता; परन्तु इस बात का पता इसको नहीं है। इसकारण भ्रान्तिवश मूढ़ होकर पुण्य-पाप उत्पन्न करके अनन्तकाल से दुःखसागर में डूब गया है।

प्रश्न :— परन्तु ये सब पैसेवाले तो सुखी हैं ? लोग तो इनको सुखी कहते हैं न।

उत्तर :— पैसेवाले धूल भी सुखी नहीं हैं और ये सब (पैसेवाले को सुखी कहनेवाले) तो पागल हैं। भाई! तू पैसावाला....पैसावाला करता है; परन्तु वह पैसावाला नहीं है, ममतावाला है; क्योंकि पैसा कहाँ उसके पास आता है ? उसके पास तो पैसा मेरा है — ऐसी ममता का भाव आता है और वह दुःख का भाव है तथा उसका फल भविष्य में भी दुःख है अर्थात् वह दुःख प्राप्त करेगा।

भाई! जहाँ से सुख का प्रवाह आता है, वह त्रिकालीद्रव्य स्वयं है। उसको भूलकर अनादिकाल से 'मैं परपदार्थ को रख सकता हूँ और उसकी व्यवस्था कर सकता हूँ' — ऐसा यह मानता है; परन्तु यह सब मात्र मूढ़ता है-पागलपन है, मिथ्यात्व का महापाप है; क्योंकि पैसा कहाँ इसका है ? वह कहाँ इसमें आया है ? वह तो जड़ में है और जड़ होकर जड़ में रहा है। इसीप्रकार शरीर भी अजीव-जड़ होकर रहा है। क्या यह शरीर आत्मा का होकर रहा है ? क्या यह आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में है ? नहीं; इसीतरह स्त्री, परिवार, देश इत्यादि समस्त परवस्तुएँ पर की सत्ता में विद्यमान हैं; तथापि यह सब मेरी सत्ता में मेरी संभाल से रहती हैं — ऐसा मानना, यह इसकी मूढ़ता है।

अहा! इसको इस मूढ़ता के भाव में नरक-निगोद के अनन्तभव हुए हैं। अरे! स्वयं कौन है और अपने में क्या-क्या भरा है — इसका भी इसे पता नहीं है! पता न होने से ही बिचारा भिखारी होकर अनन्तकाल से राग-द्वेष की कल्पनाओं द्वारा दुःखी हो रहा है। भाई! ये सब परवस्तुएँ तो जगत की वस्तुएँ हैं, ये कोई स्वयं दुःखरूप नहीं हैं, तथा वस्तु आत्मा है, उसमें भी दुःख नहीं है; अपितु (स्वयं तूने) खड़ी की हुई संकल्प-विकल्प की जाल महादुःखरूप है और संसारी जीव उसी के द्वारा दुःख के सागर में डूबे हुए हैं। अरे! यह बेभान होकर संसार में रुलता है। अपने स्वरूप के भान बिना यह चतुर्गति में परिभ्रमण करता है। अहा! भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव तीर्थकर परमात्मा ने एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को देखा है। उनकी वाणी में संसारदशा का ऐसा वर्णन आया है; और यहाँ उनकी वाणी में मोक्षमार्ग का-सुख के पंथ का वर्णन कैसा आया — यह कहते हैं।

इसको सुख कैसे हो — यह बात चलती है। अधिकार (प्रकरण) थोड़ा सूक्ष्म है; इसलिए धीमे-धीमे कहते हैं। अतः जरा धीरज और शान्ति से समझना, यह सब इसने कभी अन्तर में सुना ही नहीं है; इसलिए इसमें नयापन लगेगा। परन्तु भाई! निहाल होने का मार्ग तो यह है, बाहर में नहीं। बाहर में तो धमाधम-दुःखी होने के संकल्प और विकल्प हैं। अब कहते हैं 'कारणदृष्टि तो....'

प्रश्न : — भगवान जाने कारणदृष्टि किसको कहना ?

उत्तर : — भाई! भगवान तो जानते ही हैं; परन्तु यह तो यहाँ तुझे समझाते हैं। भगवान! तू आत्मा है और तेरे स्वरूप में एक कारणदर्शनोपयोग है; और एक कारण श्रद्धा है अर्थात् तुझमें कारणदर्शनरूप और कारणश्रद्धारूप शक्ति त्रिकाल विद्यमान है।

प्रश्न : — वह किसका कारण है ?

उत्तर : — अहा! वह वर्तमान सुख के कार्य का कारण है। अहा! ऐसे तेरे कार्य के कारणरूप त्रिकालीश्रद्धा और दर्शन तुझमें निहित-नित्यस्थित रहे हुए हैं और यहाँ कहते हैं कि वह सदा पावनरूप है, नित्य पवित्र है। भगवान आत्मा में आनन्द का-सुख का कारण — ऐसा दर्शनोपयोग और ऐसी कारणदृष्टि-श्रद्धा त्रिकालस्थित है और वह सदा पवित्र है। अब अनजान लोगों को तो यह सब अटपटा लगता है कि यह क्या होगा! कौन जाने क्या ऐसा आत्मा होगा ?

अरे भाई! तू कौन और कैसा है, इसका तुझे पता नहीं है। निजतत्त्व क्या है और निजतत्त्व के स्वभाव की स्थिति क्या है, इसके परिज्ञान बिना तू जहाँ तू नहीं है, वहाँ अपना अस्तित्व मानता है और जहाँ तू है वहाँ अपनी अस्ति नहीं मानता। अहा! यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, स्त्री-परिवार और धन-सम्पत्ति इत्यादि में भगवान! तू नहीं है और ये चीजें तुझमें नहीं हैं तथा पुण्य-पाप के विकल्प में-दया, दान, हिंसा, विषय-वासना और मौजमस्ती के भाव होते हैं, उनमें तू नहीं है और तुझमें वे भाव नहीं हैं। अहाहा! भगवान! यह मुद्दे की बात है। भाई! यहाँ तो आत्मा को भगवानरूप ही बुलाते हैं; क्योंकि उसके स्वरूप में भग=माने ज्ञानानन्दस्वभाव की और दर्शन-ज्ञानस्वभाव की अनन्तलक्ष्मी विद्यमान है। अहा! लक्ष्मी अर्थात् यह धूल-पैसा नहीं। यह धूल-पैसा तो जड़ है, मिट्टी है और यह जहर का-दुःख का निमित्त है। जबकि यह निजस्वरूप में स्थित ज्ञान, दर्शन और श्रद्धा की लक्ष्मी तो तेरे सुखरूप कार्य के कारणरूप नित्यस्थित है। अहा! उसका आश्रय लेते ही वर्तमान सुख का कार्य प्रगट होता है।

अहा! ऐसा महाकठिन लगता है, अतः कुछ पालन करने को या दान देने को कहो, जिससे धर्म हो — ऐसा अज्ञानी कहता है। परन्तु भाई! इसमें किंचित् भी धर्म नहीं होता है; क्योंकि यह पैसा दो, पाँच करोड़ रुपये कहाँ तेरे हैं ? वह तो जड़ के हैं। अहा! यह जड़ मेरा है — ऐसा तेरी मान्यता ही मिथ्याभ्रम और अज्ञान है तथा मैं पैसे को दान में देता हूँ; इसप्रकार तू उसका स्वामी होता है — यह भी महामिथ्यात्व-चौरासी के अवतार का मूल है। अरे भगवान! तू क्या करता है ? यह पर का कार्य होता है, उसको मैं करता हूँ — यह तेरा अभिमान वह क्या है-कैसा मिथ्याभाव है, इसका तुझे पता नहीं है।

सुन, बापू! सुन। यहाँ कहते हैं — अन्दर भगवान आत्मा है, वह अस्ति-सत्ता है न! त्रिकाल अस्तिस्वरूप पदार्थ है न! तो उस अस्तिस्वरूप पदार्थ में क्या है ? कि सहज दर्शन-देखना है, सहजज्ञान-जानना है, सहजश्रद्धा-त्रिकाली स्वरूपस्थित श्रद्धा है। अहाहा..! ऐसा दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग और श्रद्धा तुझमें त्रिकाल कारणरूप विद्यमान है और तेरे कार्यरूप सुख का कारण है। भाई! बहुत कठिन कार्य है। अब कभी यह सुना ही नहीं हो; इसलिए बिचारा सुख के लिए बाहर में झपट्टे मारता है और अकेले पाप के काम किया करता है, वहाँ अब सुनने की फुरसत भी कैसे मिले ?

भगवान! तेरे आत्मा में, तेरे स्वरूप में, तेरे भाव में, तेरी शक्ति में अन्दर एक ज्ञान-

उपयोग, एक दर्शन-उपयोग और एक स्वरूपश्रद्धा कारणरूप-शक्तिरूप त्रिकाल विद्यमान है। अहा! यह अमृत है भाई! इसके अलावा बाहर में बहुत दान और तप किया हो तो भी उसमें रंचमात्र धर्म नहीं है।

अहा! यह शरीर तो जड़ रजकण, मिट्टी-धूल, अजीव है, वह कोई आत्मा नहीं है और न आत्मा के कारण रहा है। आत्मा अरूपी और यह जड़ रूपी-दोनों का कोई मेल ही नहीं है। तो आत्मा का होकर तीनों काल क्या रहा है ? तो कहते हैं — भगवान! तू वस्तु आत्मा सत्तारूप है, तेरी सत्ता में-अस्तित्व में, तेरे होनेपने में नित्य ज्ञान-उपयोग, नित्य दर्शन-उपयोग और नित्य श्रद्धा-कारणदृष्टि त्रिकाल रहे हुए हैं और वह तेरा अक्षय निधान-पूँजी-लक्ष्मी है। अहा! ऐसा सूक्ष्म आया है! परन्तु भाई! जो अन्दर होगा, वही तो आयेगा न!

भाई! यह पैसा और स्त्री आदि मेरे हैं — इसप्रकार बाहर में मुट्टी भरता है; परन्तु वे तो धुएँ की मुट्टी है प्रभु! इसमें तेरे हाथ कुछ नहीं आयेगा। अहा! जो चीज पर है, जो चीज तुझमें नहीं है और जो चीज तेरी होकर नहीं रही है; तो भी वह चीज मेरी है — ऐसा तू मानता है, यह तेरी अत्यन्त मूढ़ता है, पाखण्ड है, अनन्तसंसार में परिभ्रमण का बीज है। भाई! यह त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव ने कहा है और तू न्याय से समझना चाहे तो समझ में आ सकता है।

अहा! यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, कर्म, स्त्री-परिवार आदि वस्तुएँ तो पर में रहीं, यह कहीं तेरी होकर तुझमें आई नहीं हैं; तो भी तू उनको अपनी मानता है, यह महाविपरीतता है, चोरी है, मिथ्यात्व और मूढ़ता है। अहा! यह परवस्तु तो तुझमें नहीं है; परन्तु यह जो पुण्य-पाप की वृत्ति के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह भी वास्तव में तेरी चीज नहीं है। बापू! वह तो आस्रवतत्त्व है। तुझको दुःखदायक है और वह अज्ञानवश नये खड़े हुए हैं। वह तेरी वस्तु में-त्रिकाली आत्मवस्तु में कहाँ है ? अहा! उसकी त्रिकाली आत्मवस्तु में, जो वर्तमानदशा है वह भी नहीं है। क्या कहा यह ?

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यवस्तु त्रिकाल अनादि-अनन्त सत्तास्वरूप है। वह अनादि है; है, है और है। क्या वह नयी होती है ? क्या कोई नयी वस्तु उत्पन्न होती है ? और जो चीज है, क्या उसका नाश होता है ? नहीं; तो जो चीज-आत्मा है, वह त्रिकाल है। अहा! उस त्रिकाली अनादि-अनन्त वस्तु में परवस्तु और क्षणिक पुण्य-पाप का होनापना

(अस्तित्व) तो दूर रहो, उसका वर्तमान जानने का जो क्षयोपशम है, जो ज्ञान की वर्तमान दशा-प्रगट अंश है, वह भी त्रिकाली आत्मवस्तु में नहीं है। भाई! इस तेरे त्रिकालीस्वरूप में तेरी पर्याय भी नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अहा! गजब बात की है। देखो! पाठ में (टीका में) ऐसा भाव है या नहीं ? अहाहा! अब जगत को यह कठिन लगता है; परन्तु क्या हो सकता है ? भाई! यही वस्तुस्थिति है।

प्रश्न :— तो क्या यह समझना पड़ेगा ?

उत्तर :— हाँ, यह समझना पड़ेगा; क्योंकि इसे समझे बिना यह (आत्मा) सुखी नहीं होगा और दुःखी होकर चौरासी के अवतार में कहीं भटक मरेगा। अहा! जैसे हवा के तीव्र प्रवाह में तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा — यह निश्चित नहीं है; इसीप्रकार यह समझे बिना यह जीव चौरासी के अवतार में कहीं भटक मरेगा, यह निश्चित नहीं है। अहा! स्वयं आत्मा क्या वस्तु है उसका भान किये बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना इसने सब पर की सजावट की है (पर को अपना माना है)। परन्तु आँख बंद होने पर यह चौरासी के अवतार में-चारगति में कहीं भटक मरेगा। बापू! वहाँ 'यहाँ आओ' ऐसा कहनेवाला भी कोई सगा नहीं मिलेगा।

अहा! भगवान! तू अनादि से भटक कर परिभ्रमण कर मरा है; इसलिए (परिभ्रमण के अभाव के लिए) इस कारणदृष्टि की बात को अत्यन्त शान्ति से समझना चाहिए बापू! इसके बिना ये सब करोड़पति और अरबपति हैं, वे भी बिचारे दुःखी हैं। संसार में तो सब दुःख के मार्ग में ही पड़े हुए हैं।

प्रश्न :— दुनिया तो उनको सुखी कहती है ?

उत्तर :— मूर्ख-पागल हो, वह कुछ भी कहता है। बाहर में तो सर्वत्र होली-दुःख ही है। सुख और आनन्द तो एक आत्मा में ही है; परन्तु उसका पता इसको नहीं है और जहाँ आनन्द नहीं है, वहाँ आनन्द मानता है। इसकी मूर्खता का कोई पार है ?

अहा! कहते हैं — आत्मा में एक दर्शनोपयोग-देखने के व्यापाररूप शक्ति त्रिकाल है और एक सम्यग्दर्शन होने के कारणरूप स्वरूप श्रद्धा त्रिकाल विद्यमान है और वह सदा पावनरूप अर्थात् पवित्र है तथा वह औदयिकादि चार विभावस्वभाव परभावों को अगोचर है। यह सूक्ष्म आया।

क्या कहते हैं ? कि अन्तरस्वरूप में दर्शनोपयोग और स्वरूपश्रद्धा का जो त्रिकाली स्वभाव है, वह अपनी नित्यवस्तु है और वह राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप के भाव से गम्य नहीं है अर्थात् वह इनसे प्राप्त नहीं होती। अहा! यहाँ औदयिकादि चार विभावस्वभाव लिये हैं न ? उसमें पहले औदयिकभाव लिया है। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति और काम-क्रोधादिरूप जो पुण्य-पाप के भाव हैं, उन सबको औदयिकभाव कहते हैं; कारण कि वे त्रिकाली में (आत्मस्वरूप में) नहीं हैं और नये विकारीभावरूप से उत्पन्न होते हैं; इसलिए उनको औदयिकभाव कहते हैं। अहा! इस औदयिकभाव को कारणदृष्टि गम्य नहीं है। कारण-उपयोग और कारणदृष्टि — ऐसा जो आत्मा का स्वभाव है, वह शुभाशुभराग से गम्य नहीं है।

कितने ही कहते हैं कि शुभराग से-प्रशस्तराग से धर्म होता है। जबकि यहाँ कहते हैं कि जो अन्दर कारणदृष्टिमय स्वभाव है, वह प्रशस्तराग से ज्ञात हो — ऐसा नहीं है। भाई! सुख का मार्ग तो अन्तर में है और वह कहीं शुभ अथवा अशुभराग से प्राप्त हो — ऐसा नहीं है।

अब, एक धर्मरूप औपशमिकभाव होता है। उस औपशमिकभाव के आश्रय से भी अन्तरस्वभाव की यह वस्तु गम्य नहीं है अर्थात् जो एकसमय की निर्मलधर्म की दशा है, उस धर्मदशा के आश्रय से भी कारणदृष्टिमय स्वभाव गम्य नहीं है।

अहा! इसमें यह आया है; क्योंकि जो होगा, वही तो आयेगा न! कुँए में पानी हो तो ही बाल्टी में आयेगा न ? इसीतरह अन्दर माल हो, वही बाहर आयेगा न ? तुझे जँचे, न जँचे; मार्ग तो यह है भगवान!

अरे भगवान! तुझे तेरी करुणा नहीं है ? तूने अनन्तकाल से आत्मा को मार दिया है। यह पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं और पुण्यभाव भला है; और यह सब मेरा है — ऐसा मानकर तूने अपने आत्मा का इन्कार करके उसका हनन कर दिया है। अहा! यह तो तूने अपनी महाहिंसा की है।

कब ?

अभी ही...तो कब यानी क्या यह कोई दूसरे समय की बात है ?

प्रश्न : — इसने एक बार या अधिक बार हिंसा की है ?

उत्तर :— अनन्तबार की है और अभी भी करता है। हिंसा चालू ही है। पैसा मेरा है और शरीर मेरा है — जबतक ऐसा मानता है, तबतक यह मूढ़ आत्मा की हिंसा करनेवाला महाहिंसक ही है।

प्रश्न :— परन्तु इन बाग-बँगला में तो इसको स्वर्गतुल्य सुख है ?

उत्तर :— धूल सुख है? नरक का (नरकतुल्य) दुःख है सुन! धर्मी साधारण झोंपड़ी में रहता होवे तो अज्ञानी ऐसा मानता है कि वह दुःखी है और हम बाग-बँगला में सुखी हैं। परन्तु भाई! तू दुःख के सागर में डूबा हुआ है। अहा! झोपड़पट्टी में रहता हो और रोटी-आजीविका अत्यंत कठिनता से मिलती हो तो भी जिसको ऐसी अन्तर्दृष्टि है कि मैं आनन्द का धाम हूँ, तो वह वहाँ भी सुखी है। जिसकी दृष्टि निजसुखधाम में है, वह सुखी है और जिसकी दृष्टि बाहर में है; वह करोड़ों के बँगले में भी दुःखी है। बंगला तो जड़ का है। उसमें सुख कहाँ से आया ? अहा! अज्ञानी महल में रहने पर भी दुःखी है और ज्ञानी नरक के संयोग में होने पर भी सुखी है।

अहा! नीचे सात नरक हैं। उन प्रत्येक में यह जीव अनन्तबार जाकर आया है और अभी भी जबतक मिथ्यात्वभाव है, वहाँ तक इसमें नरक के अनन्तभव धारण करने की ताकत है। कोई सातवें नरक का नारकी समकित्ता भी होता है और वह नरक के संयोग में भी सुखी है। यों तो वहाँ भारी पीड़ा है। यह सब है। यह कोई यों ही मान लेने की बात नहीं है। अहा! भगवान केवली ने जो कहा है, वह सब युक्ति से, तर्क से, लॉजिक से सिद्ध हो सकता है। उस सातवें नरक के नारकी को खाने के लिए दाना भी नहीं है, पीने के लिए पानी भी नहीं है और भूख-प्यास अपरिमिति-अनन्त है तथा वहाँ रहने के लिए घर और पहिनने-ओढ़ने के लिए वस्त्र नहीं है, शरीर में रोग हैं। अहा! पीड़ा का कोई पार नहीं — ऐसी नरक की भूमि है तो भी वहाँ किसी जीव ने अन्तर में 'मैं आनन्दस्वरूपी चिन्मूर्ति भगवान हूँ' — ऐसी अन्तर्दृष्टि करके यदि मिथ्यात्व का अभाव किया है तो ऐसा सातवें नरक का समकित्ता नारकी भी सुखी है।

भाई! यह सुख-दुःख की व्याख्या तो जगत से एकदम अलग प्रकार की है। अहा! ज्ञानी समकित्ता जहाँ हो, वहाँ सुखी है और अज्ञानी-मूढ़ जहाँ हो, वहाँ दुःखी ही है। सातवें नरक का सम्यग्दृष्टि नारकी सुखी है, जबकि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती; जिसके ९६ हजार रानियाँ और ९६ करोड़ सेना थी, वह भी दुःखी था। अहा! ऐसा सम्राट और हीरे के

पलंग पर सोनेवाला भी मरकर सातवें नरक की पीड़ा में गया। गजब बात है भाई! तुझे तेरी ऊँचाई और सबलाई का भी पता नहीं है।

अहा! इस ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु सात सौ वर्ष की थी। उन सात सौ वर्षों में जितने श्वास हुए, उन एक-एक श्वास के माने हुए सुख के फल में-माना हुआ सुख..., बाकी सुख था कहाँ ? धूल भी सुख नहीं था। अहा! ऐसे माने हुए सुख के फल में अभी ११, ५६, ९२५ पल्योपम का सातवें नरक का दुःख भोग रहा है। एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। गजब बात है! अरे! ऐसा होने पर भी तू धन में, बंगले में और स्त्री के भोग में स्वर्ग का सुख मानता है। मूढ़ है न! भगवान! तुझे पता नहीं है! अरे! तू कहाँ है और कहाँ जा रहा है, इसका तुझे पता नहीं है। अरे! इसने सिर ऊँचा करके कभी देखा नहीं है।

प्रश्न :- परन्तु अभी तो दुःख नहीं लगता ?

उत्तर :- हाँ, नहीं लगता, क्योंकि इसको अज्ञानपना है अर्थात् बेभानपने में (अज्ञानपने में) कुछ पता नहीं है। वह तो चूड़ा के हलवाई का दृष्टान्त दिया था न! चूड़ा में एक हलवाई तेल से भरे बर्तन में कुछ तल रहा था। वहाँ उसका धुँआ लगने से छप्पर में से कोई सर्प निकला और नीचे बर्तन में गिर गया। वह आधा बर्तन में और आधा बाहर था। जैसे ही उसे बर्तन से बाहर निकाला गया, उसे भान नहीं रहा और चूल्हे में चला गया और उसकी राख हो गई — इसीप्रकार अज्ञानी दुःख में तो है ही; परन्तु भानरहित होने से पुनः-पुनः दुःख के चूल्हे में जाता है। निजस्वरूप की खबर बिना सब दुःख ही दुःख है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा औदयिकभाव के गम्य नहीं है तथा औपशमिकभाव के आश्रय से भी वह गम्य नहीं है अर्थात् धर्म की पर्याय का आश्रय किए जाने पर भी त्रिकालीवस्तु गम्य नहीं होती। आत्मा चार भावों को अगोचर है — ऐसा कहा है न ? तो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — ऐसे चार भाव हैं। उनमें एक औदयिकभाव विकारीपर्याय है और अन्य तीन भाव निर्विकारी पर्याय हैं। अहा! कहते हैं — उनका आश्रय करने पर स्वभावस्थित यह कारणश्रद्धा और कारण-उपयोग दृष्टि में नहीं आता; उसकी सत्ता का स्वीकार नहीं हो सकता।

अब इस आत्मा की निधि क्या है ? सो कहते हैं —

‘कारणदृष्टि तो सदा पावनरूप और औदयिकादि चार विभावस्वभाव-परभावों को अगोचर — ऐसा सहज परम-पारिणामिकभावरूप जिसका स्वभाव है...।’

अहा! भगवान! अन्दर जो निष्क्रियकारण दर्शन और सहजकारण श्रद्धा का त्रिकालीभाव है, वह सहज परमपारिणामिकभावरूप स्वभाव है; जिसको वर्तमान पर्याय की अपेक्षा नहीं है। अहा! जो वर्तमान अवस्था है, उससे वह परमभाव निरपेक्ष है।

प्रश्न :— इसमें क्या समझना ?

उत्तर :— भाई! तू त्रिकाल है या नहीं ? या नया हुआ है ? त्रिकाली है न प्रभु! तो जो तेरा स्वभाव है अर्थात् अन्तर में आत्मा का जो त्रिकाली दर्शनोपयोग, त्रिकाली ज्ञानोपयोग और त्रिकाली श्रद्धामात्र स्वरूप है, वह परमस्वभावपने रहा है और वह पर्याय में नहीं आता (पर्यायरूप नहीं होता) — ऐसा है यह कहते हैं। भाई! स्वरूप ऐसा सूक्ष्म है। अहा! अभी जिसको निजस्वभाव की-निजनिधि की खबर भी नहीं है, वह कब अन्दर का व्यापार करेगा और कब सुख के पंथ में जायेगा।

तथा कहते हैं —

‘जो कारणसमयसार स्वरूप है...’

अहा! ये तो सारे शब्द ही अनजाने और अटपटे लगते हैं; क्योंकि यह कभी आत्मा के पगथिये आया ही नहीं है। अहाहा...! भगवान आत्मा का जो त्रिकाल शक्तिरूप श्रद्धा, ज्ञान और दर्शन का स्वभाव है, वह कारणसमयसारस्वरूप है अर्थात् पूर्णशान्ति, पूर्णज्ञान और पूर्णसुख का कारणरूप भगवान आत्मा का यह त्रिकालीभाव है; इसलिए सुख अपेक्षित हो तो वहाँ एकाग्र होने पर प्राप्त होता है, बाकी बाहर कहीं सुख का कारण नहीं है; बाह्यवस्तु में से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अन्दर में जो श्रद्धा-ज्ञान-दर्शन-आनन्द का कारणसमयसारस्वरूप निजस्वभाव है, उसके आश्रय के अलावा भगवान ने अन्य कोई सुख का मार्ग नहीं देखा है और न कहा ही है। अब कहते हैं —

‘निरावरण जिसका स्वभाव है, जो निजस्वभाव सत्तामात्र है।’

अहाहा...! इसमें तो सारी भाषा ही नयी है! कहते हैं — अन्दर भगवान आत्मा में

जो ज्ञान और कारणदृष्टि — ऐसा जो दर्शन और श्रद्धा का त्रिकालीस्वभाव है, वह आवरण रहित निरावरण है। अहा...! आवरण तो पर्याय में होता है; परन्तु पर्याय निरपेक्ष त्रिकाली स्वभाव को आवरण क्या ? त्रिकालीस्वभाव को आवरण नहीं होता।

तथा जानना-देखना और श्रद्धान - ऐसा जो स्वरूपस्थित त्रिकाली निजस्वभाव है, उसके सत्तामात्र होनेपनेमात्र निजवस्तु है। इस कारणदृष्टि के अर्थात् दर्शन और श्रद्धानरूप त्रिकालीभाव के होनेमात्रपने (अस्तपने) वस्तु है। भारी बात है भाई! अब जिसको अभी पाप से निवृत्ति न हो और पुण्य का भी ठिकाना न हो, उससे वस्तुतत्त्व की ऐसी सूक्ष्म बात करना ? परन्तु बापू! यह समझे बिना तेरा (भव का) अन्त नहीं आयेगा। इसके समझे बिना तू मर जाए (कितने ही क्रियाकाण्ड करके) तो भी तू दुःखी होकर चौरासी में परिभ्रमण कर मरेगा। भाई! तूने दया, दान, व्रतादि तो अनन्तबार किये हैं; परन्तु यह कोई धर्म नहीं है और राग की मंदता करके ज्ञान के क्षयोपशम की दशा भी तुझको अनन्तबार प्रगट हुई है; परन्तु उसमें क्या है ? वह कहीं आत्मा का तत्त्व (स्वरूप) नहीं है। प्रभु! माल तो सब अन्दर भरा है। अहा...! अन्दर सहज-आनन्द, सहजदर्शन, सहजश्रद्धा और सहजज्ञान के स्वभाव का भरपूर अनन्त खजाना भरा है; परन्तु इसको कैसे बैठे ?

अहा...! बैठे या न बैठे, अन्दर वस्तु है, वह निजस्वभावसत्तामात्र है अर्थात् अन्दर दर्शन, आनन्द और श्रद्धा — ऐसा जो त्रिकालीस्वभाव है, उस स्वभाव के होनेपनेमात्र वह वस्तु है। भाई! सूक्ष्म तो बहुत है; परन्तु यह वस्तुस्वरूप समझना तो पड़ेगा न!

‘जो परम-चैतन्यसामान्यरूप है...’

आत्मा में सामान्य...सामान्य...सामान्य — ऐसा सदा एकरूप जो दर्शन-ज्ञान का उपयोग और श्रद्धा का भाव है, वह परमचैतन्य का सामान्यस्वरूप है। आशय यह है कि विशेष अवस्था उसका स्वरूप नहीं है। अहा! सदा एक सदृश रहे — ऐसा उसका त्रिकाल चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य सामान्यस्वरूप है। भाई! गजब बात है; परन्तु इसको इस बात का कुछ अभ्यास नहीं है और क्रिया का गहरा अभ्यास है। परन्तु बापू! यह समझे बिना आँख बन्द हो जायेगी तो तू कहीं चौरासी के अवतार में चला जायेगा और वहाँ कोई धणी-धोरी (हाल-चाल पूछनेवाला) भी नहीं होगा; इसलिए कहते हैं — प्रभु! तू चैतन्यसामान्यस्वरूप त्रिकाल है तो उसकी शरण में जा! उसका आश्रय कर! उसमें

एकाग्र हो! बस, यह एक ही सुख का उपाय है, अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है और अन्यत्र कहीं सुख मिलनेवाला भी नहीं है।

कहते हैं — तू ही अपना धणी-धोरी (स्वामी) और तेरा निजघर अन्दर में है न प्रभु! अहाहा...! अन्दर में एकसमय की पर्याय से पार सामान्य...सामान्य — ऐसा तू परम चैतन्यस्वरूप विराजमान है न प्रभु! अहा...! ऐसा निजघर है, वहाँ अन्दर में जा! इससे तू परमसुखी होगा। अहो! ऐसी अलौकिक बात है।

‘जो अकृत्रिम परम स्व-स्वरूप में अविचल स्थितिमय शुद्ध-चारित्रस्वरूप है।’

देखो, चारित्र भी साथ में रखा है। अहाहा...! कैसी है अन्दर की वस्तु ? कि अकृत्रिम अर्थात् जिसमें नया कुछ करना नहीं है — ऐसा निजचैतन्यस्वरूप में अविचल-स्थितिमय शुद्ध-चारित्रस्वरूप है। अहा! यह वर्तमान चारित्रपर्याय की बात नहीं है; क्योंकि वह तो नई होती है। यह तो निजस्वरूप में सदा स्थित परमशुद्ध चारित्रस्वभाव की बात है। अहा! यह वर्तमान में जो शुद्धचारित्र की वीतरागीदशा प्रगट होती है, उसका मूलकारण स्व-स्वरूप स्थित जो अविचल स्वभाव है, उसकी बात है।

अहा! जो बाहर की क्रिया है, वह चारित्र नहीं है और पुण्य-पाप का भाव भी चारित्र की विपरीतदशा का भाव होने से चारित्र नहीं है; परन्तु जो परमवीतरागीदशा प्रगट होती है, वह चारित्र है और उस शुद्धचारित्र की पर्याय का मूलकारण, त्रिकाल में जो शुद्ध अविचलस्थितिरूप चारित्र का स्वभाव है, वह है। तात्पर्य यह है कि इस परमशुद्ध चारित्रस्वभाव के अवलम्बन से चारित्र-वीतरागीदशा प्रगट होती है। त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव सर्वज्ञपरमात्मा के ज्ञान में यह आया है और परमात्मा इन्द्रों व गणधरों की उपस्थिति में ऐसा वर्णन करते हैं। अहो! अर्धलोक के स्वामी देव भी उनकी वाणी सुनने जाते हैं और ‘हम भी उनके साथ धर्मसभा में सुनने जाते थे।’

अहा! पहले दर्शन, ज्ञान, उपयोग और स्वरूपस्थित श्रद्धाभाव की बात की और अब भगवान आत्मा में अकृत्रिम परमस्वरूप स्थित अविचल शुद्धचारित्र का भाव भरा पड़ा है — यह कहते हैं। अहाहा...! भगवान तू त्रिकालशुद्ध परमवीतरागस्वभावी आत्मा-परमात्मा है। वर्तमान में प्रगट होनेवाला वीतरागभाव तो पर्याय की बात है। यहाँ तो अन्दर त्रिकाल वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है, उसकी बात है। अहाहा...! भगवान

आत्मा सदा जिनबिम्बस्वरूप-वीतरागस्वरूप ही है; परन्तु मैं ऐसा महान हूँ — यह बात इसको कैसे बैठे ? छोटी-छोटी बातों में आकर्षित हो जाता है, एक बीड़ी-सिगरेट में प्रसन्न हो जाता है — ऐसा जिसका अपलक्षण है, उसको यह बात गले कैसे उतरेगी ? परन्तु बापू! यह बात समझे बिना तेरे भव का किनारा नहीं आयेगा; इसलिए यहाँ तो सादी भाषा में यह बात कही जाती है। भले ही तत्त्व सूक्ष्म है, गहरा है; परन्तु यहाँ सादी भाषा में कहा जाता है; तो भी हमें समझ में नहीं आता — यह बात रहने दे प्रभु!

अरे भगवान! जिसप्रकार तुझमें शक्तिरूप त्रिकाली ज्ञान-उपयोग और त्रिकाली सहज श्रद्धाभाव है, उसीप्रकार उसके साथ ही निजस्वरूपस्थित परम-शुद्धचारित्र का स्वभाव भी रहा हुआ है। अहाहा...! निजकारणसमयसारस्वरूप में परमशुद्ध वीतरागस्वभाव त्रिकाल रहा हुआ है।

अहो! दिगम्बर संतों की कथन की शैली क्या (अद्भुत) है! अजब-गजब बात की है!! दिगम्बर मुनियों ने तो मानो केवली का पेट खोल दिया है!

कहते हैं — भगवान! तू ऐसा परम-वीतरागस्वभावी ही है। अहा! तू ऐसा महाप्रभु है! 'मैं हीन हूँ' — यह बात रहने दे प्रभु! अपने को हीन मानकर तूने अपनी महानता को मार दिया है।

अहा! यह कारण-दर्शन की व्याख्या चल रही है; तो उसमें दर्शन के साथ शामिल ज्ञान भी डालते हैं। तो कहते हैं —

'जो नित्य-शुद्ध-निरंजनज्ञानस्वरूप है...'

अहा! यह कारणदृष्टि-त्रिकाली दर्शनोपयोग और स्वरूपश्रद्धा, जिसका स्वरूप है; वह वस्तु कैसी है ? नित्य-शुद्ध-निरंजन ज्ञानस्वरूप है। अहाहा...! अंजनरहित त्रिकाल निरावरण ज्ञानस्वरूप स्वभाव उसमें रहा हुआ है। अहा! अन्तर में ऐसी निजसत्ता का स्वीकार करनेवाला सुख के पंथ में गतिमान होता है और तब उसके दुःख के पंथ का अभाव हो जाता है।

'और जो समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रुसेना की ध्वजा के नाश का कारण है....'

जब राजा युद्ध करने जाते हैं, तब उनकी ध्वजा ऊपर होती है। कोई उस ध्वजा को नीचे गिरा दे-नष्ट कर दे तो वह राजा पराजित हुआ कहलाता है। तो यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रुओं की ध्वजा का नाश करनेवाला है। अहा! जीव के मिथ्यात्वादि महापापरूप शत्रु अनादि से ही हैं। उन्होंने वीरतापूर्वक जीव पर विजय प्राप्त कर रखी है। अहा! ऐसे दुष्ट पापोंरूप शत्रुओं की सेना की ध्वजा के नाश का कारण यह भगवान आत्मा है अर्थात् यदि उस भगवान आत्मा का, कि जिसका अन्दर दर्शन-उपयोग, ज्ञान-उपयोग, श्रद्धा और स्वरूपस्थित सुख-चारित्र स्वभाव है। उसका आश्रय करे तो उसके मिथ्यात्वादि महापापों का नाश हो जाता है।

यह राग मेरा है, यह पुण्य भला है और शरीर मेरा है — इत्यादि मान्यतारूप मिथ्यात्व इसका अनादिकालीन दुष्ट पापरूप दुश्मन है और उसकी सेना पुण्य-पाप के भाव हैं। यहाँ कहते हैं कि समस्त पापोंरूप वीरशत्रुओं की सेना की ध्वजा के नाश करने के कारणरूप भगवान आत्मा अन्दर है। अहा! ऐसे निजस्वरूप की प्रतीति और एकाग्रता करनेवाला उस समस्त पाप की सेना का नाश कर देता है।

‘...ऐसे आत्मा के यथार्थ स्वरूपश्रद्धानमात्र ही है (अर्थात् कारणदृष्टि तो वास्तव में शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धा मात्र ही है)।

अहा...! ‘कारणदृष्टि तो.....’ — ऐसा कहा था न ? तो अन्दर त्रिकालीस्वरूप में उसकी जो त्रिकालीदृष्टि है, वह त्रिकाली शक्तिस्वरूप श्रद्धानमात्र ही है। अहाहा...! वास्तव में स्वरूपश्रद्धानमात्र ही अन्तःस्थित कारणदृष्टि है। यह कारण-दर्शन की व्याख्या हुई। अहा! जिसमें से परमार्थसुख और शान्ति का कारण आता है, वह कारण अन्दर ऐसा है — यह स्पष्ट किया।

अहाहा....! प्रभु आत्मा नित्य, ध्रुव, शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। त्रिकाली दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग — यह उसका सहज त्रिकाली अकृत्रिमस्वभाव है तथा उसमें एक कारणदृष्टि अर्थात् त्रिकाल शक्तिरूप एक श्रद्धा का स्वभाव है। अहा...! ऐसा भगवान आत्मा कारणसमयसार अर्थात् कारणपरमात्मा है।

भाई! यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ इत्यादि तो पर हैं; भगवान आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं और दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि का शुभभाव भी विकार है, आत्मा का

स्वभावभाव नहीं है; इसलिए वह भी पर है। इसीतरह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना के भाव इत्यादि भी पापभाव होने से अनात्मभाव है, आत्मा का स्वभाव नहीं; इसलिए वे भी पर हैं और जो आत्मा की एकसमय की वर्तमान प्रगटदशा है, वह भी पूरा आत्मा नहीं है ?

प्रश्न :— यह फिर क्या ? आत्मा भी पूरा और अधूरा ?

उत्तर :— हाँ, यह जो जानने-देखने की एकसमय की अवस्था है, वह कहीं पूरा आत्मा नहीं है; क्योंकि वह तो एकसमय की वर्तमानदशामात्र है और भगवान आत्मा तो अखण्ड एकरूप त्रिकाल है। अहा...! दया, दान आदि के विकल्प तो विकार होने से आत्मा का स्वरूप नहीं है और इससे वे आत्मा के कल्याण का कारण भी नहीं है; परन्तु यहाँ तो एकसमय की जो वर्तमानदशा है, वह दशा भी सम्पूर्ण वस्तु नहीं है — ऐसा कहते हैं। अहा! पूरी वस्तु तो अन्दर त्रिकालवस्तु है, जो सहज दर्शनोपयोग, सहज ज्ञानोपयोग, सहजश्रद्धा, परमशुद्धचारित्र और सुखामृत अर्थात् परम आनन्दामृत — ऐसे स्वभावभावरूप त्रिकाल एकरूप है। अहा! यह पूर्ण अखण्ड एकरूप वस्तु जो आत्मा है, उसका आश्रय करने पर धर्म प्रकट होता है। बापू! बात ऐसी सूक्ष्म है; परन्तु इसको जानना तो पड़ेगा ही।

अहा....! अन्दर में कैसे-कैसे निधान भरे हुए हैं, यह इसको जानना चाहिए। अहाहा..! अनन्त आनन्द, अनन्त वीतरागता, अनन्त ज्ञानोपयोग, अनन्त दर्शनोपयोग और त्रिकालीश्रद्धा। अहा..! ऐसे-ऐसे स्वभावों से भरपूर भरा इसका सामान्य एकरूप चैतन्यस्वभाव है।

प्रश्न :— सामान्य माने क्या ? एकरूप माने क्या ? यह सब तो कठिन लगता है ?

उत्तर :— अरे भाई! तूने अनन्तकाल में अन्दर निजवस्तु क्या है — यह जानने की दरकार ही नहीं की है और इसीलिए वह कठिन हो गई है। प्रभु! तू अनन्तकाल से पुण्य-पाप के चक्र में रुका रहा है। अहा...! परन्तु ये पुण्य-पाप के भाव तो विकारी हैं, दुःखदायक हैं, ये कहीं धर्म नहीं हैं तथा एकसमय की जानने-देखने की दशा, बस यही मैं हूँ, इतना मात्र ही मैं हूँ — ऐसा मानकर तू अटक गया है; परन्तु यह भी विपरीत-भाव है; (क्योंकि एकसमय की पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता)। वस्तुतः धर्म

की प्रथम सीढ़ीरूप सम्यग्दर्शन किसमें से होता है, किसके आश्रय से होता है — तूने यह जानने का प्रयत्न अनन्तकाल में भी नहीं किया है। अहा! यों तो तू अनन्तबार हजारों रानियों का त्याग करके नग्न मुनि-साधु हुआ है, यह कोई नया नहीं है; परन्तु अन्दर में निज त्रिकालीवस्तु क्या है, उसका लक्ष्य किये बिना मात्र व्रतादि के विकल्प से मुझे लाभ (धर्म) होगा — ऐसी जो तेरी मान्यता थी, वह मिथ्या थी; तेरी दृष्टि मिथ्या थी।

प्रश्न :— तो क्या प्रथम मान्यता सुधारना चाहिए ?

उत्तर :— हाँ, क्योंकि मान्यता सम्यक् हुए बिना, श्रद्धा सच्ची किए बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता। बापू! यह तो ओमध्वनि (दिव्यध्वनि) में आई हुई बात है, कठोर तो है; परन्तु सत्य यही है। अहा... ! इसने अनन्तकाल में जो अनन्त-आनन्द, अनन्त-शान्ति, अनन्त-ज्ञान-दर्शन और अनन्तश्रद्धा के स्वभाव से भरपूर भरी हुई अपनी वस्तु है — ऐसी सामान्य एकरूप चैतन्यवस्तु है, उस पर नजर नहीं की है। अरे! इसने उसे समझने की दरकार ही नहीं की है और यों ही सम्प्रदाय की बुद्धि से, व्रतादि के विकल्पों में धर्म मानकर अटक गया है। सम्प्रदाय में तो यही बात बहुलता से चलती है कि व्रतादि पालन करो तो धर्म हो जायेगा; परन्तु इससे क्या ? ऐसा तो इसने अनन्तबार किया है; परन्तु उससे कुछ भी कल्याण नहीं हुआ।

प्रश्न :— हमने तो जैसा उपदेश मिला वैसा किया ?

उत्तर :— परन्तु जिसप्रकार ऐसा (खोटा) उपदेश मिला था, उसीप्रकार तू भगवान के समवसरण में भी अनन्तबार गया था या नहीं ? तो वहाँ तो सच्चा उपदेश मिला था न? तब फिर जैसा केवली परमात्मा ने कहा था, वैसा क्यों नहीं किया ? अहा! तू अनन्तबार त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव के समवसरण में गया है। देखो, वर्तमान में श्री सीमन्धर परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं और वहाँ भी तू अनन्तबार जन्मा है और अनन्तबार समवसरण में भी गया है; परन्तु तूने 'आत्मा क्या वस्तु है' — इस बात का स्पर्श भी अन्दर में नहीं होने दिया है।

अरे भाई! यह सब क्रियाकाण्ड-व्रत पालना, उपवास करना, पूजा करनी और यात्रा करनी इत्यादि सब तो वृत्तियों की-विकल्पों की वासना है, पुण्यभाव है और उनसे बंधन होता है, यह कहीं बंधरहित होने का उपाय नहीं है। जिसप्रकार पाप का भाव लोहे

की बेड़ी है, उसीप्रकार पुण्य का भाव सोने की बेड़ी है, है तो दोनों बेड़ी-बंधन। इसप्रकार वीतरागपरमेश्वर तीर्थकरदेव की वाणी में आया है। अहा! सर्वज्ञ-वीतराग तीर्थकरदेव को इच्छा के बिना ही ओमध्वनि होती है और उसमें यह बात आई है

अहा! प्रभु! तू कौन है ? परमात्मा कहते हैं — भगवान! तू अपरिमित-अनन्त चैतन्य...चैतन्य — ऐसा चैतन्यसामान्य जिसका स्वरूप है — ऐसा आत्मतत्त्व है। अहा! जो अन्दर में धर्म के कार्य का कारण है — ऐसा तू भगवान चैतन्यसामान्यस्वरूप आत्मा है। अहा! धर्म का कार्य होना सो विशेष है और उस विशेष का कारण अन्दर त्रिकाल विद्यमान है, वह चैतन्यसामान्यस्वरूप है। अरे! किन्तु इसने अपने कार्य के कारणस्वरूप को कभी दृष्टि में लिया ही नहीं है। भगवान! चारगति के भव कर-करके तेरे सृजन निकल गई है और तब भी तुझे अभी भी अन्दर जाने की नहीं सूझती है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तेरे सुख के कार्य का कारण; केवलज्ञान के कार्य का कारण अन्दर त्रिकालध्रुव चैतन्यसामान्यस्वरूप विद्यमान है, अतः उसका आश्रय कर! भाई! चारगति के दुःख से परिमुक्त होना हो तो यह उपाय है।

अहा! यह शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति इत्यादि सब परवस्तु है; इसलिए न तो उनमें आत्मा है और न वे आत्मा का कार्य हैं। इसीतरह पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी आत्मा का धर्मरूप कार्य नहीं है; अपितु वह तो बंधन का कार्य है तथा एकसमय की जो प्रगटदशा है, वह भी कहीं आत्मा का पूर्णस्वरूप नहीं है; इसलिए वह भी आश्रययोग्य नहीं है अर्थात् उसके आश्रय से भी धर्मरूप कार्य प्रगट नहीं होता; इसीलिए यहाँ कहते हैं कि जहाँ अन्दर त्रिकाली स्वरूपश्रद्धा का स्वभाव भरा है — ऐसे अखण्ड एकरूप चैतन्यसामान्य का आश्रय करना चाहिए; क्योंकि उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन, जोकि धर्म की पहली सीढ़ी है वह, जिसमें अन्दर स्वरूपश्रद्धा का स्वभाव भरा है, उस भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है।

प्रश्न : — 'स्वरूपश्रद्धा' इस शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर : — अन्तरंग में जो त्रिकाली पूर्ण ज्ञानानन्दघनस्वरूप भगवान आत्मा है, उसमें एक त्रिकाली श्रद्धास्वभाव भरा पड़ा है और वह स्वरूपश्रद्धा है। अहा! उसका प्रगट

कार्य आता है, वह सम्यग्दर्शन है — ऐसी बात है। अहा! अनन्त-आनन्द, अनन्तज्ञान, अनन्तशान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, परमेश्वरता इत्यादिरूप जो भगवान् आत्मा का नित्य ध्रुव स्वभाव है, उस नित्यस्वभाव में एक त्रिकालीश्रद्धा का भाव पड़ा है और वह स्वरूपश्रद्धा है। भाई! यह बात तो लॉजिक से है; परन्तु इस बात को पकड़ना-समझना तो इसे है न!

अहा! भगवान्! तूने बाहर में रखड़ने के कारण अपने घर की बात सुनी नहीं है। परघर की बात सुनकर तू परघर में-व्यभिचार में रुका हुआ है।

प्रश्न : — तो क्या अनादि से ऐसा ही है ?

उत्तर : — हाँ, अनादि से ही ऐसा है। निगोद से लेकर सभी अज्ञानी संसारियों ने ऐसा ही किया है। अहा! यह शकरकंद में भी अनन्तबार जन्मा-मरा है; परन्तु भूल गया है। जहाँ मनुष्य हुआ, शरीर कुछ ठीक मिला, धन मिला, पुत्र-परिवार ठीक मिला; वहाँ यह सब (दुःख की दशाएँ) भूल गया है; परन्तु वापस जैसे मकड़ी स्वयं के ही जाल में फँसकर मर जाती है; इसीप्रकार अज्ञानी जीव भी इनमें (शरीर, पैसा इत्यादि की ममता में) फँसकर मर जाता है।

देखो, मनुष्य के दो पैर होते हैं; फिर स्त्री से विवाह होने पर चार पैर होते हैं और इससे वह ढोर (पशु) होता है, पशु के चार पैर होते हैं न ? फिर उसके पुत्र होने पर छह पैर होते हैं और तब वह भँवरा होता है; क्योंकि भँवरा के छह पैर होते हैं। फिर यह भँवरा की तरह 'सभी पर-पदार्थ मेरे हैं' — ऐसे गुणगुनाया करता है। फिर पुत्र का विवाह करता है, तब आठ पैर होते हैं। मकड़ी के आठ पैर होते हैं न ? तो, यह करूँ-वह करूँ — इसप्रकार ममता की लार निकालकर उसमें ही फँसता है और वहीं मर जाता है; परन्तु अरे! स्वयं अन्दर भगवान्स्वरूप है, उसकी दरकार नहीं करता। अहा! बाहर में पुण्य-पाप की पींजण में पिंजकर उसमें ही फँस गया है। अनन्तबार साधु होकर भी वहाँ ही (पुण्य में ही) फँस गया है। भाई! यह जो बाहर के नामधारी साधु कहलाते हैं, वह साधु नहीं है। वे बिचारे तो पुण्य में फँस गये हैं। अरे! साधु तो क्या समकित का भी उनको पता नहीं है। बहुत फेर है बापा!

देखो, राजा श्रेणिक संसार में थे, उनके रानियाँ और विशाल राज्य था; तो भी उन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त किया। अहा! समकित अर्थात् क्या ? कि अन्दर भगवान् आत्मा ध्रुव

त्रिकालीश्रद्धा से भरा चैतन्यसामान्यस्वरूप है, उसमें एकाग्र होकर उसका अनुभव करने पर अन्दर में उसकी निर्विकल्प प्रतीति होती है — वह समकित अर्थात् सम्यग्दर्शन है और वह धर्म की प्रथम सीढ़ी है। भले ही राजा श्रेणिक को चारित्र नहीं था, मुनि के योग्य स्वरूपरमणता नहीं थी; तो भी आंशिक स्वरूपरमणता (स्वरूपाचरणचरित्र) थी। अहा! धर्म की ऐसी पहली सीढ़ी तो उनको थी। अहा! मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ और परवस्तुएँ तथा पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह मैं नहीं हूँ — इसप्रकार उनको अन्दर में भिन्नता का विवेक हो गया था, इसका नाम सम्यग्दृष्टि है।

अहा...! राजा श्रेणिक ऐसे सम्यग्दृष्टि थे; परन्तु पूर्व में साधु की-सच्चे भावलिङ्गी संत की अशातना की, इसलिए उनको नरकगति की आयु बँध गई थी और इसकारण वे नरक में गये हैं। वे अभी चौरासी हजार वर्ष की स्थिति से पहले नरक में हैं और वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में पहले तीर्थकर होनेवाले हैं। अहा...! यह सम्यग्दर्शन का बल है, प्रभाव है। पूर्व में राजा श्रेणिक बौद्ध धर्मी थे, वे जैनधर्म को नहीं मानते थे; परन्तु उनकी रानी चेलना समकित थी। रानी चेलना जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धानी समकित थी। स्त्री की देह होने पर भी 'परवस्तु मैं नहीं हूँ, मैं पर की क्रिया करनेवाला नहीं हूँ तथा रागादिभाव, मैं नहीं हूँ; मैं तो एक ज्ञानघन आत्मा हूँ' — रानी को अन्दर में ऐसा भान था, विवेक था और वे राजा को भी सम्यक्त्व प्राप्त कराने में उद्यमशील थीं।

एकबार जैन मुनिवर-नग्न संत जंगल में ध्यानस्थ थे, तब राजा श्रेणिक ने उनके गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया, इसकारण उनके शरीर पर लाखों-करोड़ों चींटियाँ चढ़ गईं। अहा! ऐसा घोर उपसर्ग किया। घर आकर राजा ने रानी चेलना से कहा — अरे रानी! आज मैं तुम्हारे मुनि के शरीर पर सर्प डाल आया हूँ, परन्तु वह सर्प तो उन्होंने कभी का दूर कर दिया होगा। चेलना कहती है — स्वामिन्! हमारे संत-मुनिवर उपसर्ग के काल में ध्यानस्थ रहते हैं; परन्तु वे सर्प को दूर नहीं करते। अहा! वे तो अन्तर में आनन्द के ध्यान में लवलीन होंगे। तब राजा कहता है — ऐसा नहीं होता, ऐसे भी कोई साधु होते होंगे ? चलो, हम वहाँ चलकर अपनी नजर से देख आवें। दोनों मुनिराज के समीप गये। देखते हैं कि मुनिराज अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में लवलीन! अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत के सागर में झूल रहे थे। चेलना बोली — स्वामीनाथ! मुनिराज स्वयं

कभी उपसर्ग को दूर नहीं करते। राजा श्रेणिक यह परिदृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गये। दोनों ने उपसर्ग दूर किया और मुनिराज को वंदन किया। तत्पश्चात् मुनिराज ने धर्मोपदेश किया और वहीं राजा श्रेणिक ने सम्यग्दर्शन-आत्मानुभव प्राप्त किया। अहा! मैं तो भगवान आत्मा, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द का स्वामी! इस राज्य और राग का स्वामी मैं नहीं हूँ। अहा! उनको अन्दर में ऐसा विवेक जागृत हो गया; फिर तो उन्होंने भगवान महावीरस्वामी के समवसरण में तीर्थकर नामकर्म बांधा और वे यहाँ आगामी चौबीसी में पहले तीर्थकर होंगे।

अहा! उन राजा श्रेणिक ने मुनिराज पर उपसर्ग किया, इससे उनको सातवें नरक की ३३ सागर की आयु का बंध हो गया था; परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर एकदम वह आयुस्थिति कम हो गई और पहले नरक की ८४ हजार वर्ष की आयु रह गई। जैसे एकबार लड्डू बांधने के पश्चात्, उसमें से घी निकालकर पुरी नहीं तली जा सकती अथवा आटा निकालकर रोटी नहीं बनाई जा सकती, उन लड्डुओं को खाने पर ही छुटकारा है। वे छोटे-बड़े हों, परन्तु लड्डू खाने पर ही छुटकारा है। इसीप्रकार एकबार जिस गति की आयु बँध जाती है, उसका अभाव नहीं होता। हाँ, स्थिति कम-अधिक हो सकती है; परन्तु उस गति की आयु का अभाव नहीं हो सकता। जैसे लड्डू छोटे-बड़े हों; परन्तु उनमें से पुरी हो — ऐसा नहीं होता। इसीप्रकार राजा श्रेणिक को जो नरकायु के लड्डू बँधे, वह समकित प्राप्त होने पर भी नहीं छूटे। यों के यों रहे; परन्तु उसकी स्थिति घट गई और चौरासी हजार वर्ष की स्थिति रह गई। यद्यपि वे पहले नरक में गये हैं; परन्तु अभी वहाँ भी वे आनन्द में ही हैं।

प्रश्न :— बिना पैसे ही आनन्द में हैं... ?

उत्तर :— अरे! पैसे में कहाँ धूल सुख है! उसमें सुख माननेवाला तो पागल है।

प्रश्न :— लोग तो उसे सुखी कहते हैं ?

उत्तर :— वे तो पागल लोग उसको सुखी कहते हैं। लोग तो सब मूर्ख-पागल ही हैं। भाई! यहाँ हमारे पास तो यह बात है। अहा! वीतरागपरमेश्वर तीनलोक के नाथ तीर्थकरदेव ऐसा कहते हैं कि जो कोई परवस्तु का अभिलाषी है, वह बड़ा भिखारी है। हमने एकबार भावनगर के दरबार से कहा था — दरबार! मजदूर दस-पन्द्रह हजार

माँगे वह छोटा भिखारी है और पच्चीस-पचास लाख माँगनेवाला बड़ा भिखारी है। थोड़ा माँगे वह छोटा भिखारी और अधिक माँगे वह बड़ा भिखारी; परन्तु जो कुछ नहीं माँगता, वह बादशाह है। अहा! हम तो अन्दर आनन्दस्वरूप आत्मा बादशाह हैं, क्योंकि हमको कुछ नहीं चाहिए, राग भी नहीं चाहिए और पुण्य भी नहीं चाहिए। हाँ, ये पुण्य के भाव होते अवश्य हैं; परन्तु हमें ये नहीं चाहिए; क्योंकि हम तो नित्यानन्दस्वरूप आनन्द का धाम आत्मा हैं। अहा! जिसको अन्तर में ऐसी दृष्टि खिली है, वह महा बादशाह है। इसके सिवा सब लोग भिखारी ही हैं।

प्रश्न :— महल में रहनेवाला बादशाह और झोंपड़ी में रहनेवाला गरीब क्या ऐसा नहीं है ?

उत्तर :— बिलकुल ऐसा नहीं है। यह तो कहा था न कि कदाचित् कोई झोंपड़ी में रहता हो, रोटियाँ भी कठिनता से प्राप्त होती हों; परन्तु अन्दर में ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ — ऐसे भानसहित सम्यग्दर्शन हुआ हो तो वह बादशाह है। बाह्यसंयोग में न्यूनता तो कमजोर पुण्य के कारण है; परन्तु इससे क्या ? जिसको अन्दर में स्व-पर का विवेक वर्तता है, वह आनन्द में है और वह बादशाह है, सुखी है। जबकि कोई अज्ञानी महल में पड़ा हो तो भी आत्मा के भान बिना वह बड़ा भिखारी है, दुःखी है। अहा! वे सब 'वराकाः' हैं। शास्त्र में (समयसार कलश २०२ में) उनको 'वराकाः' कहा है। वराकाः अर्थात् वे रंक-बिचारे हैं; क्योंकि उनको अन्दर की रिद्धि की-चैतन्यसम्पदा की खबर नहीं है और वे बाहर की लक्ष्मी में मोहित-मूर्छित होकर पड़े हुए हैं। वे वर्तमान में तो मोहवश दुःखी हैं ही, भविष्य में भी वे दुःख में ही जायेंगे।

तो...राजा श्रेणिक अभी ८४ हजार वर्ष की स्थिति में नरक में हैं और वहाँ से निकलकर भरतक्षेत्र की आगामी चौबीसी में महापद्मनाथ नामक प्रथम तीर्थकर...अहाहा.... ! तीनलोक के नाथ होनेवाले हैं। भाई! यह सब सम्यग्दर्शन का प्रताप और महिमा है। अहा! अभी उनको व्रत अथवा चारित्र नहीं था; परन्तु अन्दर वस्तु का-निज ज्ञानानन्दस्वरूप का भान किया था, अनुभव किया था; इसकारण उसके प्रताप से उनका तीनलोक का नाथ तीर्थकर रूप से अवतार होगा। जबकि अज्ञानी ने आत्मभान के बिना अनन्तबार व्रत और तप किये हैं; तथापि उनसे एक भी भव कम नहीं हुआ; अपितु भव की वृद्धि हुई है।

यहाँ कहते हैं — ‘कारणदृष्टि तो वास्तव में शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धा मात्र ही है।’ अब इसमें अपने-आप (गुरुगम बिना) पढ़ जाए तो कुछ नहीं सूझता।

अहाहा...! कारणदृष्टि तो...अर्थात् ? कि अन्दर जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप, त्रिकाल दर्शनस्वरूप और त्रिकाल श्रद्धास्वरूप स्वभाव है उसको कारणदृष्टि कहते हैं और वह कारणदृष्टि तो वास्तव में शुद्धात्मा की, अहाहा..! जो त्रिकाल शुद्धचैतन्य सामान्यस्वरूप है उसकी अर्थात् एकसमय की पर्याय विशेष के अलावा, जो आनन्द का कंद ध्रुवधाम प्रभु आत्मा है; उसको स्वरूपश्रद्धामात्र है। अहाहा...! पर्याय है, वह विशेष है; तो उस विशेष के अलावा त्रिकालसामान्य भगवान आत्मा है, उस शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धामात्र कारणदृष्टि है। अहाहा...! त्रिकालीशुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप में जो शक्तिरूप श्रद्धा पड़ी है, उसको कारणदृष्टि कहते हैं। उसका आश्रय लेने पर सम्यग्दर्शनरूपी कार्य नया प्रकट होता है। अहाहा...! ऐसी बात है।

अहा...! अज्ञानियों ने तो सब गंदगी का ही उलट-पलट किया है। जैसे बड़े सींगों और बलवान बैल गंदगी में सिर मारकर गंदगी को ही ऊपर-नीचे किया करता है और मानता है कि मैंने बहुत बल किया है-बहुत काम किया है इसीप्रकार.....परन्तु ऐसा दृष्टान्त ?

हाँ, ऐसा दृष्टान्त लागू पड़ता है। इसीप्रकार बैल जैसे यह अज्ञानी पुण्य-पाप का भाव करके मानते हैं कि मानों मैं जगत का बड़ा काम करता हूँ। जगत में बहुत-कुछ उलटा-सीधा कर देता हूँ। यह सब बैल जैसे हैं। भाई! यह तो समयसार की चौथी गाथा में आ गया है कि अनादि से मोहवश तृष्णा से घिरे हुए अज्ञानी जीव बैल की तरह सिर पर बड़ा बोझ उठाते हैं। अहा! अज्ञानी पर का कुछ कर दे — ऐसा नहीं है; परन्तु मैं पर का कार्य करता हूँ — ऐसा मानकर राग-द्वेष, पुण्य-पाप और संकल्प-विकल्प में लगता है। इसप्रकार अज्ञानी बैल की भाँति महाभार वहन करता है — ऐसा यहाँ कहना है।

अहा! बैल की ऐसी आदत होती है कि जहाँ गाड़ीचालक गाड़ी का जुड़ा ऊँचा करता है कि तुरन्त ही वह स्वयं ही उसमें अपना सिर दे देता है। यद्यपि शुरू-शुरू में सिर देने में देर लगाता है, अतः गाड़ी चालक दण्ड का प्रयोग भी करता है; परन्तु फिर तो जहाँ ऊँचा किया नहीं कि तुरन्त ही स्वयमेव ही सिर डाल देता है।

इसीप्रकार अज्ञानी को प्रारम्भ में छोटा बालक हो, तब व्यापारादि में खींचना पड़ता है; परन्तु बड़ा होने पर तो अपने आप ही व्यापारादि में जुत (लग) जाता है और मानने लगता है कि अब मेरे बिना यह सब व्यापार का काम चलनेवाला नहीं है।

प्रश्न : — यह बात तो पैसेवालों की है न ?

उत्तर : — अरे भाई! गरीब के लिए भी यही बात है। यह तो सभी अज्ञानियों की दशा की बात है। मोहवश गरीब भी तृष्णा द्वारा पीड़ित है और वस्तुतः तो सभी गरीब-भिखारी ही हैं न! सभी तृष्णा से पीड़ित 'वराकाः' रंक और भिखारी हैं, धनवान कौन है ?

यहाँ कहते हैं — भगवान! तेरे वर्तमान सम्यग्दर्शनरूप कार्य का कारण अन्दर तेरी वस्तु में ही त्रिकाल पड़ा है। अहा! जहाँ वस्तुस्थित स्वरूपश्रद्धा की अन्तर्दृष्टि करे कि तुरन्त ही वर्तमान सम्यग्दर्शनरूपी कार्य प्रगट होता है। अहा! कारण में एकाग्र होते ही कार्य प्रकट होता है और इसीलिए उसको (त्रिकाल स्वरूपश्रद्धा को) कारणदृष्टि कहा जाता है। भाई! अन्दर कारण त्रिकाल है, उसमें से ही कार्य आता है; परन्तु कोई दया, दान, व्रतादि के विकल्पों में से सम्यग्दर्शनरूप धर्म करना चाहे तो यह तीनकाल-तीनलोक में भी संभव नहीं है। अज्ञानी वैसा मानते-मनाते हैं — यह बात अलग है; परन्तु यह वीतराग का मार्ग नहीं है। वीतराग का मार्ग तो निर्विकल्प है, वीतरागस्वरूप है। अहा! यह तो पर से भिन्न और राग से उत्साह भंग करके स्व में उत्साह करने का (पुरुषार्थ करने का) मार्ग है। ऐसी अलौकिक बात है।

अब दूसरी-कार्यदृष्टि की बात —

प्रश्न : — कार्यदृष्टि अर्थात् क्या ?

उत्तर : — अहा..! अन्दर जो त्रिकाली दर्शनोपयोग और त्रिकाली श्रद्धामय ध्रुव एक चैतन्यसामान्यस्वरूप है, उसका आश्रय करने पर वर्तमानदशा में क्षायिकश्रद्धा और केवलदर्शन प्रगट होता है और उस केवलदर्शन व क्षायिकश्रद्धा को ही यहाँ कार्यदृष्टि कहा गया है। अहा...! यह छोटी पीपल होती है न ? वह बाहर में रंग से काली और कद में छोटी होती है; तथापि वह शक्ति में तो चौंसठ पहरी चरपराहट रखकर पड़ी है। भाई! यह जो चौंसठ पहरी चरपराहट घोंटने से प्रगट होती है, वह कहाँ से आती है ?

क्या वह बाहर से आती है ? नहीं। अहा...! वह छोटी पीपल में ही-उतनी में ही पूर्ण-पूरी चौंसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग भरा है और इसीलिए, वह अन्दर में है तो उसमें से बाहर आती है। जैसे-जैसे घोंटे वैसे-वैसे एक-दो पहरी — इसप्रकार क्रमशः चरपराहट बाहर आती है और पूर्ण घोंटने पर पूर्ण चौंसठ पहरी चरपराहट बाहर आती है। इसीप्रकार भगवान आत्मा बाहर में पुण्य-पाप के भाव जैसा काला (कलुषित-मलिन) दिखता है और कद में शरीरप्रमाण छोटा दिखता है; परन्तु उसके अन्तर के स्वभाव में तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तश्रद्धा, अनन्तपवित्रता/स्वच्छता इत्यादि का सत्त्व पड़ा है अर्थात् उसके अन्तरतल में अनन्तस्वभावों की अक्षयलक्ष्मी पड़ी है। उसमें एकाग्र होने से...अहाहा...! जो वस्तु अन्दर में पूर्ण ध्रुवचिदानन्दमय है, उसमें दृष्टि लगाने से (क्षायिक) सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है और उसको कार्यदृष्टि कहते हैं तथा उसमें से जो पूर्ण दर्शन का उपयोग अर्थात् केवलदर्शन का उपयोग प्रगट होता है, उसको कार्यदर्शनोपयोग कहते हैं।

किसी को ऐसा लगता है कि यह कैसी बात है ? परन्तु भाई, मूल बात यह है कि जगत को कभी मूलतत्त्व की बात मिली ही नहीं है। जैन में (जैन सम्प्रदाय में) भी अभी तो मूल बात को एक ओर धरकर अन्य बातें ही चलती हैं और इसलिए मूल बात ही इसके लक्ष्य में नहीं आई है; परन्तु भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरपरमात्मा समवसरण में इन्द्रों के समक्ष यह बात कहते थे और महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर परमात्मा अभी भी यही बात कह रहे हैं।

“दूसरी कार्यदृष्टि दर्शनावरणी-ज्ञानावरणी आदि घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है।”

देखो, कार्यदृष्टि कहो, परम अवगाढ़ समकित कहो अथवा कार्यदर्शन उपयोग कहो, सब एक ही है और वह दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, मोहनीय और अन्तराय — इन घातिकर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होती है।

अहा...! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र — इसप्रकार कर्म आठ हैं। उनमें पहले चार घातिकर्म हैं और शेष चार अघातिकर्म हैं। यह सभी कर्म जड़ हैं, सूक्ष्म रजकण हैं। जिसप्रकार इस शरीर के रजकण स्थूल हैं; उसीप्रकार ज्ञानावरणीयादि कर्म सूक्ष्म रज हैं। यह आत्मा अपने अन्तरस्वभाव में

एकाग्र होकर अर्थात् निज ज्ञानानन्दस्वभावस्वरूप में अन्तरएकाग्र होकर जब केवलज्ञान, केवलदर्शनरूपी कार्य प्रगट करता है, तब ये ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि घातिकर्म स्वयं स्वतः ही क्षय होते हैं। अहा...! जैसे प्रकाश होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है, इसीप्रकार स्वभाव में एकाग्रता-लीनता द्वारा केवलज्ञानादि प्रगट होने पर समस्त घातिकर्म नष्ट हो जाते हैं।

अहा! भाई, इसका (आत्मा का) कार्य तो केवलदर्शन, केवलज्ञान क्षायिक समकित आदि है; परन्तु जड़ का कार्य करना और रागादि विभाव करना — यह कोई आत्मा का कार्य नहीं है।

प्रश्न : — तब यह कार्य किसका है ? क्या नौकर का कार्य है ?

उत्तर : — यह कोई नौकर का कार्य भी नहीं है। बापू! यह तो जड़ का कार्य है। यह तो जड़-परमाणुओं का कार्य है। देखो; यह हाथ है, सो जड़-परमाणुओं का पिण्ड है, तो यह हाथ हिलना किसका कार्य है ? यह जड़-परमाणुओं का कार्य है बापा! जड़ हिलता है; यह कोई आत्मा का कार्य नहीं है; क्योंकि आत्मा तो चेतन-अरूपी भिन्न वस्तु है। आत्मा तो हाथ को स्पर्श तक नहीं करता है।

प्रश्न : — परन्तु आत्मा हिलावे, तभी तो यह हिलता है न ?

उत्तर : — भाई! इसको कौन हिलावे ? क्या आत्मा हिलावे ? आत्मा तो इसको स्पर्श नहीं करता है, तब फिर हिलावे किसतरह ? भाई! बात बहुत भारी है। यह वाणी निकलती है, वह भी जड़ की अवस्था है, जड़ का कार्य है; आत्मा का नहीं; क्योंकि आत्मा में वाणी नहीं है, कि आत्मा वाणी को करे। अहा! जगत को बहुत कठिन लगे — ऐसी बात है; यह बात सत्य है-वस्तुस्थिति है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेकर, उसमें एकाग्र-लीन होता है; तब केवलदर्शन प्रगट होता है और उसको कार्यदर्शन कहते हैं और तब (तत्क्षण ही) दर्शनावरणीय का नाश होता है।

इसीप्रकार जब आत्मा त्रिकाली नित्य ज्ञानस्वभावी ध्रुवधाम का आश्रय लेकर केवलज्ञान प्रगट करता है, तब ज्ञानावरणीय का नाश होता है।

इसीप्रकार जब यह (आत्मा) अन्दर के त्रिकालीचारित्र-वीतरागस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर पर्याय में पूर्ण वीतरागता प्रगट करता है, तब मोहकर्म का क्षय होता है और अन्तर आत्मा में जो स्वभावरूप से अनन्तवीर्य-बल पड़ा है, उसका आश्रय लेकर जब वह कार्यरूप अनन्तवीर्य प्रगट करता है; तब अन्तरायकर्म का नाश हो जाता है।

अहा! यहाँ लिये गए यह चारों घातिकर्म हैं। अवशेष आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय — यह अघातिकर्म कहलाते हैं। यहाँ कहते हैं कि इन ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का क्षय होकर कार्यदर्शन प्रकट होता है। अब जब यह समझना भी कठिन पड़ता है तो कार्य प्रगट करना तो कहीं दूर ही रह गया। बापू! यह वीतराग का मार्ग अलग है प्रभु! अनन्तकाल में इसको प्रगट नहीं हुआ — ऐसा अपूर्व मार्ग तो अलग जाति का ही होगा न ?

“इस क्षायिकजीव को, जिसने सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान द्वारा तीनभुवन को जाना है....”

देखो, अब कहते हैं — ‘इस क्षायिकजीव को.....’ अहा! भगवान आत्मा अन्दर वस्तुस्वरूप से तो पूर्णज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, वीतरागता आदि स्वभावों से भरपूर भरा ही है। अब उसमें अन्तर्मुख-अन्तरएकाग्र होकर, जब जीव लवलीन होता है; तब उसको समकित प्रगट होता है, वीतरागता प्रगट होती है, केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होते हैं तथा साथ ही अनन्तवीर्य प्रगट होता है। यह सब क्षायिकभाव प्रगट होते हैं; क्योंकि यह क्षायिकपर्यायें हैं। अहाहा...! जिसने कारणस्वभाव का आश्रय लेकर क्षायिकभाव प्रगट किया है — ऐसे क्षायिकजीव को। अहा! सामने शास्त्र है न ? तो अन्दर शब्द हैं, उनका अर्थ होता है। (अर्थात् अर्थ को ध्यान देकर समझना चाहिए।)

प्रश्न : — “क्षायिकजीव को” माने क्या ?

उत्तर : — आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु त्रिकाल परम-पारिणामिकभावस्वरूप ही है और उसके आश्रय से जो यह केवलज्ञानादि नई पर्याय प्रगट हुई है, वह क्षायिकभावरूप है; क्योंकि यह कर्म का (द्रव्यकर्म का और भावकर्म का) अत्यन्त क्षय करके उत्पन्न हुई है न! इसकारण इसको क्षायिकभाव कहते हैं। अहा! जिसको यह केवलदर्शन-केवलज्ञानादि क्षायिकभाव की नई पर्यायें प्रगट हुई हैं, उसको यहाँ ‘क्षायिकजीव’ कहा है और उसकी यह बात चलती है।

अहाहा...! अन्दर शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा त्रिकाल ध्रुवस्वरूप से विराजमान है। उसको ध्येय बनाकर जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और उसको तत्क्षण ही सम्यग्ज्ञान होता है। तत्पश्चात् ध्यान की एकाग्रता की विशेषता (शुक्लध्यान) होकर उसको पूर्णचारित्र की तथा पूर्णज्ञान-दर्शन-वीर्य की दशा प्रगट होती है। अहा! वह जो केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि दशाएँ प्रगट हुई हैं, वह क्षायिकभाव है; क्योंकि वे दशाएँ द्रव्य-भाव घातिकर्मों का क्षय होकर प्रगट हुई हैं और जो वे प्रगट हुई हैं, अब उनका कभी अभाव नहीं होगा। अहा..! जिसको ऐसा क्षायिकभाव प्रगट हुआ है; वह 'क्षायिकजीव' है।

अहाहा...! छोटी पीपल में चौंसठ पहरी चरपराहट शक्तिरूप से थी तो उसको घोंटने पर उसमें से वह प्रगट हुई है; इसीप्रकार भगवान आत्मा की ज्ञानशक्ति में से-अन्दर ज्ञान का पूर्णस्वभाव है उसमें से-उसका आश्रय लेने पर वर्तमानदशा में कार्यज्ञान-केवलज्ञान प्रगट होता है। कैसा है वह केवलज्ञान ? सकलविमल अर्थात् सर्वथा निर्मल; और उसने तीनभुवन को जाना है।

देखो भाई! यह केवलज्ञान, उस व्यवहार से अर्थात् दया, दान, व्रतादि से प्रगट होता है — ऐसा नहीं है, यहाँ उससे इन्कार करते हैं। हाँ, बीच में (साधकदशा में) वह विकल्प आता है; परन्तु वह तो बंध का कारण है। अतः उसको उल्लंघन करके (दूर करके) यह कार्यज्ञान-केवलज्ञान प्रगट होता है और वह अन्तर में त्रिकालीकारण ज्ञानस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है, राग अथवा पर के आश्रय से नहीं होता — ऐसी बात है भाई!

“निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत का जो समुद्र है...”

अहा...! क्या कहा ? कि अन्दर के आश्रय से-कारणज्ञान में से जब केवलज्ञान प्रगट हुआ तब, उनको कारणरूप त्रिकाली आनन्दस्वभाव भी था और इसलिए भगवान को केवलज्ञान के साथ ही अनन्तसुख भी उत्पन्न हुआ है। अहा..! भगवान को अन्दर में से परमसुखामृत का समुद्र उल्लसित हुआ है, इसका नाम सुख है। ध्यान रहे — यह पर्याय की बात है। अहा...! अन्दर में तो आनन्दकंदप्रभु ध्रुवआत्मा है, वह अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव का सागर है। अतः उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में अनन्त-आनन्द पूर्ण प्रगट होता है।

प्रश्न :— वह आनन्द कैसा है ?

उत्तर :— अहा! वह परम-वीतरागसुखामृत का सागर है। भाई! भगवान अरहन्त की ऐसी परमानन्दमय कोई अलौकिक दशा है।

प्रश्न :— वे अरहन्त क्या करके हुए ?

उत्तर :— अपने पूर्ण वीतराग-विज्ञानस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुए हैं।

“जो यथाख्यात नामक कार्यशुद्ध चारित्रस्वरूप है....”

अहाहा....! अन्दर जो त्रिकाली शुद्धचारित्र है, उसका आश्रय लेने पर भगवान केवली को कार्यशुद्ध चारित्र प्रगट हुआ है — ऐसा कहते हैं। अहा..! आत्मा में पूर्ण रमणता प्रगटी है, उसको चारित्र कहते हैं। बाकी इस क्रियाकाण्ड को-शरीर की क्रिया और पंचमहाव्रत के विकल्प को चारित्र नहीं कहते। अहाहा...! अन्दर निजानन्दस्वरूप में रमणता करना, उसमें लीनता करना, उसमें चरना, उसमें स्थिर होना और उसका वेदन करना — इसका नाम भगवान ने चारित्र कहा है। उस चारित्र की पूर्णता, वह यथाख्यात कार्यशुद्ध चारित्र है।

“जो सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयात्मक है....”

यह जरा सूक्ष्म आया है। कहते हैं — भगवान को पर्याय में जो केवलज्ञानादि हुआ, वह सादि (नया) है; परन्तु अब वह अनन्त है अर्थात् अब उसका अन्त नहीं आयेगा; अपितु अनन्तकाल तक रहेगा। अहा! त्रिकालीद्रव्य-त्रिकालीवस्तु भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है; जबकि उसके आश्रय से जो केवलज्ञान की दशा नई प्रगट हुई है, वह सादि-अनन्त है। अहा! केवलज्ञान नया हुआ है; इसलिए वह सादि है और अब वह अनन्तकाल तक रहनेवाला है; इसलिए अनन्त है।

फिर कहते हैं — वह केवलज्ञान शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयस्वरूप है। अहा! क्षायिकज्ञान भी एकसमय की पर्याय है न? अतः वह व्यवहारनयस्वरूप है। त्रिकालीध्रुव आत्मवस्तु निश्चयनयस्वरूप है, जबकि यह केवलज्ञान की प्रगटदशा व्यवहारनयस्वरूप है तथा वह इसमें है; इसलिए सद्भूत है और वह (केवलज्ञान) पूर्ण शुद्ध है, इसलिए शुद्ध है। इसप्रकार वह शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयात्मक है तथा केवलज्ञान अमूर्त और अतीन्द्रिय है,

इसलिए केवलज्ञान अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयस्वरूप है — ऐसा सूक्ष्म समझना पड़ेगा।

“और जो त्रिलोक के भव्यजनों को प्रत्यक्ष वंदनायोग्य है.....”

अहाहा...! जिन्होंने अन्तर की समझ करके पूर्ण शुद्धदशा प्रगट की है, वे भगवान तीर्थकरदेव तीनलोक के भव्यजीवों को प्रत्यक्ष वंदनायोग्य हैं।

“ऐसे तीर्थकर परमदेव को-केवलज्ञान की भाँति यह (कार्यदृष्टि) भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है।”

अहा! जैसे केवलज्ञान लोकालोक में युगपत् व्याप्त है, उसीप्रकार केवलज्ञान के साथ केवलदर्शन भी लोकालोक में युगपत् व्याप्त है। अहा...! केवलदर्शन ऐसा है — यह कहते हैं।

“इसप्रकार कार्यरूप और कारणरूप से स्वभावदर्शनोपयोग कहा। विभाव-दर्शनोपयोग अगले सूत्र में (१४वीं गाथा में) होने से वहीं दर्शाया जायेगा।”

कलश-२३ पर प्रवचन

अहा! कलश बहुत ऊँचा (उत्कृष्ट) है!

“दृष्टि-ज्ञप्ति-वृत्तिस्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यस्वरूप निज आत्मतत्त्व.....”

कहते हैं — ‘दृष्टि...’ दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन माने क्या ? अहाहा..! भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु अन्दर त्रिकालध्रुव पूर्णानन्दस्वरूप है। उसकी अन्तर अनुभव में प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और वह धर्म का पहला अवयव है अर्थात् धर्म में सबसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। अहा..! अन्दर वस्तु स्वयं भगवानस्वरूप (ज्ञानानन्दमय) पूर्ण है, उसमें एकाग्र होने पर राग से निरपेक्ष-राग की अपेक्षा बिना ही निर्विकल्प सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसको यहाँ-वीतरागमार्ग में दृष्टि अर्थात् धर्म की पहली क्रिया कहा गया है।

अब ‘ज्ञप्ति.....’ ज्ञप्ति अर्थात् जानना-ज्ञान। अहाहा.....! अन्दर के निज त्रिकाली भगवानस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर जो आत्माश्रित स्व-संवेदनरूप सम्यग्ज्ञान प्रगट

होता है, उसको यहाँ ज्ञान कहा जाता है। भाई! अकेला शास्त्र का पढ़ना वह कहीं ज्ञान नहीं है और यह तुम्हारी वकालत की पढ़ाई अथवा व्यापारादि का, जो सब ज्ञान है वह भी ज्ञान नहीं है; अपितु वह तो अज्ञान है और बंध का कारण है। अहा...! भगवान् केवली के मार्ग में ज्ञान उसको कहते हैं कि जो स्वाश्रित हो और स्वरूपसन्मुख होने पर अन्दर में से प्रगट हुआ हो।

अहाहा..! अन्दर शुद्धचैतन्यमय ध्रुव आत्मस्वरूप में सहजज्ञान की ज्योति निरन्तर जगमगाती है। अतः उसमें एकाग्र होने पर अन्दर में से जागृत होनेवाले ज्ञान के कण को ज्ञान-सम्यग्ज्ञान कहते हैं और वह मोक्षमार्ग का एक अवयव है।

‘वृत्ति’ — वृत्ति अर्थात् परिणति-चारित्र। अन्दर चिदानन्दस्वरूप भगवान् आत्मा के अनुभव में, आनन्द के स्वादसहित स्वस्वरूप की प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है; उसका ज्ञान सो ज्ञान है और उसमें-निजानन्दस्वरूप में लीनता-रमणता होने को चारित्र कहते हैं। भाई! चारित्र की व्याख्या वजनदार है। अहा! लोग-अज्ञानी तो वस्त्र छोड़ना और नग्न दिग्म्बर होकर कुछ पंचमहाव्रत पालन करना — इसको चारित्र हुआ मानते हैं; परन्तु यह धूल भी चारित्र नहीं है। सुन! अन्तर-एकाग्रता और अन्तर-लीनता के बिना चारित्र कैसा ? मात्र शरीर और राग की क्रिया में चारित्र मानना तो मिथ्याभाव है।

अहाहा....! चिदानन्दघन प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है। उसका श्रद्धान-ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के बाद उस स्वरूप में ही चरना-रमना-ठहरना-जमना और वहीं लीन-स्थिर हो जाने को तीनलोक के नाथ केवलीपरमात्मा चारित्र कहते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ऐसा चारित्र ही मोक्ष का कारण है।

देखो, यहाँ भाषा ऐसी ली है कि ‘दृष्टि-ज्ञप्ति-वृत्तिस्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित)’ अर्थात् क्या ? कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निर्विकारी निर्दोषतारूप होता..., कौन होता-कौन परिणमता है ?

आत्मतत्त्व अर्थात् भगवान् आत्मा इसप्रकार परिणमता है। देखो, यही कहते हैं — ‘ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यरूप निज-आत्मतत्त्व.....’ अहाहा...! अन्दर जो एक चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य — ऐसा चैतन्यसामान्यस्वरूप, ज्ञानानन्दस्वरूप, भगवान् स्वरूप निज आत्मतत्त्व है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता है, होता है — ऐसा कहते हैं।

क्या कहा यह ? बापू! बही-खातों में हिसाब सूक्ष्मता से देखते हो तो अन्दर शास्त्र के शब्द तो देखो! अहा! इसको धूल का (रुपयों का) चक्रवर्ती ब्याज निकालने की फुरसत तो मिलती है; परन्तु इन शास्त्रों को देखने का-समझने का अवकाश नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा आनन्द का धाम प्रभु पूर्णशुद्ध है। उसका अंतरनिर्विकल्प अनुभव करना और उसकी श्रद्धा करना समकित है। उसका आनन्द का वेदनवाला सम्यग्ज्ञान, वह ज्ञान है और स्वरूप में उग्ररमणता-लीनता करने का नाम चारित्र है। अहाहा..! जिसमें प्रचुर आनन्द का स्व-संवेदन होता है, वह चारित्र है। ये दशाएँ विशेषरूप हैं अर्थात् पर्यायरूप हैं। तो इन विशेषरूप कौन होता है — यह यहाँ कहते हैं। कहते हैं कि ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यरूप निज-आत्मतत्त्व है, वह पर्यायरूप होता है। अहा! ये दशाएँ किसी निमित्त के कारण नहीं होतीं; अपितु चित्सामान्यरूप आत्मा स्वयं ही इन तीन दशारूप होता है — ऐसा कहते हैं। अहा! देखो तो सही! क्या शैली है ?

अहा..! यहाँ उपयोग का वर्णन है न ? और रत्नत्रय में दर्शन व ज्ञान पहले हैं; इसलिए कहते हैं — ज्ञान-दर्शन का उपयोग, जोकि त्रिकाल चित्सामान्यरूप है अर्थात् सामान्य चेतनतत्त्वस्थित ज्ञान-दर्शन का जो त्रिकाल ध्रुव उपयोग है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है अर्थात् परिणमता है। दूसरे प्रकार से कहें तो सामान्य, पर्याय में विशेषरूप होता है — ऐसी सूक्ष्म बात है।

प्रश्न : — क्या सामान्य विशेषरूप होता है ?

उत्तर : — हाँ, सामान्य विशेषरूप परिणमता है — ऐसा यहाँ कहते हैं; क्योंकि वह सामान्य पर्याय अपेक्षा से विशेषरूप परिणमता है। देखो न, यहाँ क्या कहा है कि 'दृष्टि-ज्ञप्ति-वृत्तिस्वरूप होता-परिणमता — ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यरूप निज-आत्मतत्त्व है वह.....' अहा...! सामान्य तो सामान्य ही है; परन्तु वह (पर्याय की अपेक्षा से) परिणमता है न? देखो, कलश में यही शब्द है। अहा! इसमें विशेषता यह है कि त्रिकाली सामान्यस्वभाव है, वह पर्यायरूप परिणमता है — ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह है कि वह (सामान्य) दर्शन-ज्ञान और आनन्दमय — ऐसे विशेषरूप हुआ है, कोई अन्य वस्तु नहीं — ऐसी सारी भाषा गंभीर रहस्यमय है।

अहा....! कहते हैं — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप — ऐसा जो मोक्षमार्ग का परिणाम है, पर्याय है; उस विशेषरूप से (पर्याय अपेक्षा से) स्वयं सामान्य परिणामता है अर्थात् जो त्रिकाली ज्ञान-दर्शन के स्वभाववाला, चित्सामान्यस्वरूप आत्मतत्त्व है, अहाहा...! जानने-देखने के ध्रुव स्वभाववाला जो आत्मतत्त्व है; वह स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के विशेषरूप परिणामता है; परन्तु राग की क्रिया से वह निर्मल रत्नत्रयरूप-मोक्षमार्गरूप परिणामता है — ऐसा नहीं है तथा शरीर के निमित्त से अथवा इन्द्रियों की सहायता से वह मोक्षमार्गरूप परिणामता है — ऐसा नहीं है। यह यहाँ बताना है।

प्रश्न : — परन्तु अब इसमें कितना समझना और कितना याद रखना ?

उत्तर : — अरे भाई! संसार में तो हजारों बातें समझकर याद रखता है। दुकान में कितनी बातों का ध्यान रखता है ? वहाँ तो सारी बातें दिमाग में छाई रहती हैं। नजर करे कि सब खबर पड़ जाती है; क्योंकि संसार की रुचि है न! पाप की वृत्ति है न!

यहाँ कहते हैं — भगवान आत्मा महा (अनन्त) गोदाम है। अहा...! अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-आनन्द और अनन्तशक्ति का महा गोदाम है। धर्मी ने उस गोदाम में से माल बाहर निकाला है। अहा! प्रभु! यह तो निहाल होने का मार्ग है, बाकी सब तो हैरान-परेशान होने के रास्ते हैं।

प्रश्न : — परन्तु यह कैसे से सुखी है न ?

उत्तर : — धूल सुखी नहीं है। सुन तो! इस धूल में (पैसे में) क्या है ? इसमें सुख कहाँ है ? अरे! बुद्धि के बारदान (बुद्धिहीन) होवे, वे भी दस-बीस लाख पैदा कर लेते हैं, जबकि बुद्धिशाली को महीने में हजार कमाने में पसीना आ जाता है। इसमें क्या है ? यह कहाँ तेरी चीज है ? पूर्व पुण्य का उदय होवे तो पैसा दिखता है-होता है; परन्तु इसको भान कहाँ है ? अहा! जो पूर्व के बाँधे हुए साता के रजकण पड़े हों, जब वे उदयागत होकर खिरते हैं, तब पैसा आदि चीजें दिखाई देती हैं। यह तो देखनेमात्र है बापा! इसमें तुझे क्या आया ? कुछ भी नहीं। यह तो अज्ञानी मिथ्या मानता है कि मैंने होशियारी से काम किया। महामूढ़ है न!

अहा...! यहाँ तो अन्दर की चैतन्यलक्ष्मी की बात है। अहा..! भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि भगवान! तेरे गोदाम में तो अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द

आदि अनन्तगुण लक्ष्मी भरी है। उसमें जितनी एकाग्रता-लीनता होती है, उतना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट होता है। अहा! अन्तर एकाग्रता ही उस माल को बाहर निकालने की विधि है और तुझे पता भी पड़ेगा कि मैंने इतना माल बाहर निकाला। लो, मोक्षपर्यंत का माल निकालने की यह रीति और मार्ग है — यही कहते हैं -

ऐसा (शुद्ध रत्नत्रयरूप से परिणमित) जो एक ही चैतन्यस्वरूप निज-आत्मतत्त्व है 'वह मोक्षेच्छुओं को (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है.....' धर्म के जिज्ञासुओं को यह अन्तर का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय — ऐसा मार्ग ही प्रसिद्ध मार्ग है। अहा...! त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से-उसकी अन्तरलीनता से प्रगट हुआ शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही वीतराग के शासन में प्रसिद्ध मार्ग है।

'इस मार्ग बिना मोक्ष नहीं है।'

अहा...! सर्वज्ञपरमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव के मार्ग में अन्तर द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप वीतरागीदशा और मोक्ष प्रगट होता है। मोक्ष के इच्छुकों को यह एक ही मार्ग प्रसिद्ध है, अन्य दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग भगवान के मार्ग-शासन में नहीं है — ऐसी यह स्पष्ट बात होने पर भी अज्ञानी अन्य किसी दूसरे मार्ग की कल्पना करे, तो वह उनके घर का है, उससे कहीं मोक्ष नहीं होता है।

अहा....! कलश बहुत अच्छा आया है। ●

— ऐसा कैसे कहा जाये ? —

अहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव मिला, जैनकुल में जन्म हुआ, वीतराग की वाणी सुनने को मिली। प्रभु! अब तो आत्महित के लिए कुछ करना पड़ेगा न ? ऐसे तो जन्म-मरण के चक्कर में अनन्तबार एक श्वास में अठारह भव किये। विचार कर तो खबर पड़ेगी। छहढाला में कहा है कि **एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मरयो भरयो दुःखभार।** प्रभु, वह सब तू भूल गया है। भूल गया, इसलिए नहीं है - ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अरे ! इस मनुष्यभव में आने पर प्रथम छह महीने तक तेरी माता ने तुझे दूध पिलाया, नहलाया - यह सब तुझे याद है ? याद नहीं है, इसलिए वह नहीं था - ऐसा कैसे कहेगा ? बचपन में तूने किस प्रकार खाया-पिया, कैसे रोया - यह सब याद है तुझे ? नहीं है, इसलिए वह नहीं था - ऐसा कौन कहेगा ? इसप्रकार पूर्वभव का स्मरण नहीं है, इसलिए पूर्व में जो दुःख सहे हैं, वे नहीं थे - ऐसा कैसे कहा जाये ? आता है कुछ समझ में ? यह सब लॉजिक-न्याय से समझना पड़ेगा भाई! - द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२५

नियमसार गाथा-१४

चक्षु अचक्षु ओही तिणिण वि भणिदं विहावदिट्टि त्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्त्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति ।
पर्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः ॥१४॥

(हरिगीत)

चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन ये विभाविक दर्श हैं ।
निरपेक्ष, स्वपरापेक्ष - ये पर्याय द्विविध विकल्प हैं ॥१४॥

गाथार्थः— चक्षु, अचक्षु और अवधि — यह तीनों विभावदर्शन कहे गये हैं । पर्याय द्विविध है — स्वपरापेक्ष (स्व और पर की अपेक्षा युक्त) और निरपेक्ष ।

टीका :— यह अशुद्धदर्शन की तथा शुद्ध और अशुद्धपर्याय की सूचना है ।

जिसप्रकार मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्त वस्तु को जानता है, उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्त वस्तु को देखता* है । जिसप्रकार श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत से कहे हुए मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुसमूह को परोक्षरीति से जानता है, उसीप्रकार अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र द्वारा उस-उसके योग्य विषयों को देखता है । जिसप्रकार अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) शुद्धपुद्गलपर्यन्त (परमाणु तक के) मूर्तद्रव्य को जानता है, उसीप्रकार अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) समस्त मूर्त पदार्थों को देखता है ।

(उपरोक्तानुसार) उपयोग का व्याख्यान करने के पश्चात् यहाँ पर्याय का स्वरूप कहा जाता है —

परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे सो पर्याय है ।

उसमें, स्वभावपर्याय छहद्रव्यों को साधारण है, अर्थपर्याय है, वाणी और मन को अगोचर है, अति सूक्ष्म है, आगमप्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य तथा छह हानि-वृद्धि के

* देखना=सामान्यरूप से अवलोकन करना, सामान्य प्रतिभास होना ।

भेदों सहित है अर्थात् अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि सहित होती है और इसीप्रकार (वृद्धि की भाँति) हानि भी लगाई जाती है।

अशुद्धपर्याय नर-नारकादि व्यंजनपर्याय है।

[अब, १४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम् ।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२४॥

(हरिगीतिका)

परभाव होते हुए भी जो सहज गुण-मणि खान है।
जो पूर्ण ज्ञान स्वरूप निज शुद्धात्म तत्त्व महान है॥
उस एक को जो तीक्ष्णबुद्धि शुद्धदृष्टि नर भजे।
परमश्रीमय कामिनी का वह पुरुष वल्लभ बने॥२४॥

श्लोकार्थः— परभाव होने पर भी, सहजगुणमणि की खानरूप तथा पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को एक को जो तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ बनता है ॥२४॥

(मालिनी)

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां
हृदयमरसिजाते राजते कारणात्मा ।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥२५॥

(हरिगीतिका)

पर-गुण तथा पर्याय है, पर जो पुरुष उत्तम अहा।
उनके हृदय पंकज विराजित एक कारण आत्मा॥
निज से हुआ उत्पन्न परम-ब्रह्म वह शुद्धात्मा।
तुम भज रहे, जल्दी भजो, हो वह तुम्हीं भव्यात्मा॥२५॥

श्लोकार्थ :— इसप्रकार पर गुणपर्यायें होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में कारण-आत्मा विराजमान है। अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मरूप समयसार को कि जिसे तू भज रहा है उसे, हे भव्यशार्दूल (भव्योक्तम), तू शीघ्र भज; तू वह है ॥२५ ॥

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्यायैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयैसदा ॥२६ ॥

(वीरछन्द)

कभी सद्गुणोंयुत विलसित है और कभी अशुद्ध गुणरूप ।
कभी सहज पर्याय सहित अरु कभी मलिन पर्याय स्वरूप ॥
जो इन सबसे सहित तथापि इन सबसे है रहित अहो ।
सकल अर्थ की सिद्धि हेतु उस जीवतत्त्व को भाऊँ नमो ॥२६ ॥

श्लोकार्थ :— जीवतत्त्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता* है, दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है। इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे रहित है — ऐसे इस जीवतत्त्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिए सदा नमता हूँ, भाता हूँ ॥२६ ॥

गाथा-१४ की टीका पर प्रवचन

‘यह अशुद्धदर्शन की तथा शुद्ध और अशुद्धपर्याय की सूचना है।’

अहाहा....! क्या कहते हैं ? कि आत्मा में जो चक्षु-अचक्षुदर्शन आदि की जो पर्याय होती है, वह अशुद्ध है। अहाहा...! भगवान आत्मा और उसकी दृष्टाशक्ति त्रिकाल पूर्ण शुद्ध है; जबकि उसमें चक्षुदर्शन आदि जो पर्याय होती है, वह अशुद्ध है और इतना ही (उस पर्याय जितना ही) आत्मा को मानना अज्ञान है अर्थात् ऐसी बुद्धि और मान्यता हेय है।

प्रश्न :— आत्मा को इतना ही मानना माने क्या ?

* विलसना=दिखाई देना, दिखना, झलकना, आविर्भूत होना, प्रगट होना।

उत्तर :— आत्मा को इतना ही मानना अर्थात् अंश जितना-एकसमय की पर्याय के अंश जितना ही मानना अज्ञान है।

अहाहा....! शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ इत्यादि परपदार्थ तो अपने नहीं हैं तथा जो राग-द्वेष और पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं, वह भी विकार होने से अपना स्वरूपभूत नहीं है तथा यह जो एकसमय का अशुद्ध उपयोग है, वह भी अपना त्रिकाली कायमी स्वरूप नहीं है। अभी अशुद्ध उपयोग की बात चलती है न ? (इसलिए उसकी बात की है)। वह भी एकसमय की दशा-अवस्था है और इसीलिए वह भी अपना त्रैकालिक स्वरूप नहीं है अर्थात् वह अपनी सम्पूर्ण वस्तु नहीं है। किसी को ऐसा लगे कि अपनी सम्पूर्ण वस्तु क्या है ? अहाहा..! अन्दर पूर्णज्ञान-ज्ञातृशक्ति, पूर्णदर्शन-दृष्टाशक्ति और पूर्ण आनन्द से भरपूर भरा हुआ त्रिकालीवस्तु भगवान आत्मा है, वह पूर्ण चीज है और वही अपनी निश्चय चीज है। अहा....! वह अपनी पूर्ण चिच्चमत्कार वस्तु है। बस, वह एक ही उपादेय है। जबकि एकसमय की पर्याय अंशमात्र होने से वस्तुतः अपना मूल-पूर्णस्वरूप नहीं है और इसीलिए वह उपादेय नहीं है, हेय है। अहा! बापू! बात ऐसी सूक्ष्म है।

अहा! इसको कहाँ तक पहुँचना है ? (अर्थात् कितने से भेदज्ञान करना है ?)

अरे भाई! अभी तो यह बाहर का शरीर, पैसा, बाग-बँगला, इज्जत-आबरू इत्यादि मेरे हैं — ऐसा मानता है; परन्तु बापू! ये मेरे हैं — ऐसा मानना तो महामिथ्यात्व का पाप है। और जो राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे मेरे हैं, मुझको भले हैं — ऐसा मानना भी घोर मिथ्यात्व का पाप है। यहाँ विशेष यह कहना है कि जो अशुद्ध दर्शनोपयोग की पर्याय होती है उतना ही मैं हूँ — ऐसा मानना भी महामिथ्यात्व का पाप है। भाई! वह तो व्यवहारनय का विषय है और ये सभी पर्यायें धर्मी को अन्दर नित्य ध्रुव चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय लेने पर हेय हो जाती हैं। अहो! ऐसी भेदज्ञान की बात है!

अहा...! बाद में (गाथा १५ में) शुद्धपर्याय के दो भेद कहेंगे। यहाँ तो शुद्धपर्याय में अगुरुलघुगुण की पर्याय ली है; जबकि अशुद्धपर्याय में नर-नारकादि की व्यंजनपर्याय ली है। अहा...! ये सभी पर्यायें हेय हैं अर्थात् ये मात्र जाननेयोग्य हैं; परन्तु आदरणीय

नहीं हैं। अहा! प्रभु! यदि तुझे निजहित करना होवे तो पूर्ण शुद्ध चित्सामान्य-स्वरूप कारणभगवान का, एक का ही आश्रय करना चाहिए। अहा! वह एक ही उपादेय है।

अहा....! पर्याय जाननेयोग्य है, इसलिए व्यवहारनय का विषय क्या है, वह यहाँ बताते हैं; परन्तु उसको बतलाकर-दर्शाकर यह भी बतलाते हैं कि वह हेय है। अहा! अन्य ज्ञेय तो परज्ञेय के रूप में हेय हैं और पुण्य-पाप के विकल्प भी हेय हैं; परन्तु यहाँ तो जो स्वयं की पर्याय है वह भी हेय है, दृष्टि में से छोड़ने योग्य है — ऐसा कहते हैं।

अब यहाँ व्याख्या तो अशुद्धदर्शन की करनी है; तथापि उसको (दर्शन को) ज्ञान के साथ शामिल करके बात करते हैं —

“जैसे मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्त वस्तु को जानता है.....” देखो, मतिज्ञानावरणीय एक कर्म है, जड़कर्म है और उसका क्षयोपशम होने पर जीव मूर्त वस्तु को जानता है।

प्रश्न : — तो कर्म का क्षयोपशम होता है, तब जीव मूर्त वस्तु को जानता है — ऐसा है न ?

उत्तर : — भाई! यह तो निमित्त की मुख्यता से कथन है। वस्तुतः उस जाति के ज्ञान के विकास की योग्यता से जब अपने में स्वतःज्ञान होता है, तब मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम वहाँ निमित्त होता है बस। अहा! जीव को-भगवान त्रिकाली को कहाँ कर्म का आवरण है ? पर्याय में हीनाधिक विकास होता है, उसमें कर्म निमित्तमात्र है। अहा! जब पर्याय स्वयं के कारण हीनाधिक विकासरूप होती है, तब कर्म का क्षयोपशम निमित्तरूप होता है; तब व्यवहार से यह कहा जाता है कि कर्म के क्षयोपशम के कारण जीव मूर्त वस्तु को जानता है। भाई! व्यवहारनय की कथन शैली ही यह है कि वह एक-दूसरे के कारण-कार्य को मिलाकर कथन करता है, एक के भाव को दूसरे का कहता है और ऐसी ही मान्यता करने से मिथ्यात्व होता है। भाई! यह बात समझकर शास्त्र पढ़े-स्वाध्याय करे, तभी सत्यार्थ समझ में आ सकता है; सत्यार्थ वस्तुस्थिति का पता लगता है।

अहा.....! 'मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से' — इस कथन को पढ़कर अज्ञानी कहता है कि जब जड़कर्म में क्षयोपशम होता है, तब जीव में मतिज्ञान का विकास होता है; परन्तु बापू! ऐसा नहीं है। इस कथन में तो निमित्त का ज्ञान कराया है, व्यवहार का ज्ञान कराया है। दूसरी बात यह है कि जब स्वयं की योग्यता से मतिज्ञान का क्षयोपशम होता है, तब वह मूर्त वस्तु को जानता है, तो वह मतिज्ञान की पर्याय भी व्यवहारनय का विषय है और इसलिए वह हेय है।

देखो, यहाँ कहा गया मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम मात्र बाह्यनिमित्तरूप है, इसलिए वह ज्ञेयरूप हेय है और यहाँ जीव में जो स्वयं क्षयोपशम की योग्यता हुई है, वह भी हेय है; क्योंकि वह एकसमय की दशा-पर्याय है। भाई! तुझे अपना हित करना हो-सुखी होना हो तो अन्दर में विद्यमान एक ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा ही उपादेय है। अहाहा...! ज्ञान-दर्शन के कारणउपयोग से भरा हुआ त्रिकाली भगवान एक ज्ञायकभाव अन्दर में है, वह एक ही आदरणीय और उपादेय है। भाई! कार्य बहुत कठिन है। (अर्थात् व्यवहार के पक्षवाले को बहुत कठिन लगता है।)

तो अब कहते हैं — “उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्त वस्तु को देखता है।”

देखो, यहाँ इसप्रकार ज्ञान के साथ मिलाया है। अहा! जब ज्ञान विशेषपने (भेद पाड़कर, भिन्न-भिन्न) जानता है, तब उसके पहले (तत्पूर्व) सामान्यपने (भेद पाड़े बिना) देखने की (दर्शन की) पर्याय भी होती है और उसमें चक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है। अहा! जैसे मतिज्ञान मूर्त वस्तु को जानता है, वैसे ही चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चक्षुदर्शन का उपयोग मूर्तिक पदार्थ को (तत्पूर्व) सामान्यपने देखता है। इन बाहर की आँखों से देखता है, वह चक्षुदर्शन — ऐसा नहीं है; परन्तु अन्दर दर्शनगुण की पर्याय स्वतः प्रगटती है, वह चक्षुदर्शन है।

अहा! 'चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से.....' — ऐसा जो यहाँ कहा है, वह भी निमित्त का-व्यवहार का कथन है और इसीलिए वह (कर्म) निमित्तरूप हेय है; और अन्दर पर्याय में होनेवाला उघाड़रूप चक्षुदर्शन का उपयोग, अपनी दशा होने पर भी एक समय की दशा होने से हेय है अर्थात् आदरणीय नहीं है।

भाई! (वीतराग का) मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अहा! इसने अनन्तकाल से कभी अपनी परमार्थवस्तु को नहीं जाना है, नहीं पकड़ा है, अनुभव नहीं किया है और उसके परिचय में भी नहीं आया है।

यहाँ कहते हैं कि चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव मूर्त वस्तु को देखता है। ऐसी जो चक्षुदर्शन के उपयोग की पर्याय है, अहा...! आत्मा की दशा में स्वतः सामान्य प्रतिभासरूप जो देखने का भाव है, वह भी हेय है अर्थात् वह जाननेयोग्य है, जाना हुआ प्रयोजनवान है; परन्तु आदरणीय नहीं है। भाई! गजब बात है।

“जैसे श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत से कहे हुए मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुसमूह को परोक्षरीति से जानता है...”

लो, फिर से ऐसी ही बात आई है। अहा...! श्रुतज्ञानावरणीय एक कर्म है और उसका क्षयोपशम होने पर जीव श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत से कहे हुए मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तु समूह को परोक्षरीति से जानता है। अहा...! ऐसा जो कहा है, वह भी निमित्तसापेक्ष कथन है; क्योंकि जब यहाँ (जीव में) अपने ज्ञान का विकास होता है, तब कर्म का क्षयोपशम वहाँ (निमित्तरूप) होता है। अतः श्रुतज्ञान का उघाड़ कर्म से होता है — यह कहना निमित्ता का-व्यवहार का कथन है और इसलिए वह (कर्म) हेय है तथा अपनी पर्याय में श्रुतज्ञान के उघाड़रूप-विकासरूप जो अवस्था होती है, वह भी हेय है अर्थात् आदरणीय नहीं है, आश्रययोग्य नहीं है; क्योंकि वह एक अंश है, व्यवहार-आत्मारूप अंश है। जबकि निश्चय-आत्मा का त्रिकालीध्रुव चैतन्यसामान्यस्वरूप है, वही एक आदरणीय और उपादेय है। अहा...! ऐसी बात है।

अरे! अभी तो (जीव) बाहर में (व्रतादि राग की और शरीर की क्रिया में) अटका हुआ है, तब अन्दर कैसे जाए ? इसलिए तो इसको यह सब अटक है, क्या ? कि व्यवहार करते-करते निश्चय होता है और कर्म के क्षयोपशम से आत्मा की ज्ञानदशा होती है; परन्तु यह बात रहने दे बापू! क्योंकि ये सब तो पराधीनता की बातें हैं। (पराधीनता की कल्पना ही तो संसार है।) अरे रे! चौरासी के अवतार में निमित्तबुद्धि, रागबुद्धि और अंशबुद्धि के कारण ही अटका हुआ है और इसलिए सिद्धसमान निज त्रिकालीध्रुव चैतन्यमहाप्रभु को-शुद्ध चिदानन्दघन आत्मप्रभु को इसने उपादेय नहीं किया

है। अहा! इसको पराश्रयबुद्धि की आड़ से अपना महाभगवान नहीं दिखता है। गजब हुआ है न!

प्रश्न : — आप मानते हो कि पर से लाभ नहीं होता; तो फिर इन मन्दिरों इत्यादि से क्या काम है ? (अर्थात् मन्दिर और जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा किसलिए की जाती है ?)

उत्तर : — भाई! ये मन्दिरादि तो स्वयं इनके कारण से होते हैं और धर्मात्मा को शुभराग के काल में उनके प्रति लक्ष्य जाता है — यह सब सहज होता है। अहा! धर्मात्मा को मन्दिरादि संबंधी शुभराग आता है; परन्तु वह उसे हेय जानता है और वह बाह्यवस्तु भी परज्ञेयरूप से हेय है तथा उससमय क्षयोपशमज्ञान की पर्याय जो यह जानती है कि मन्दिर में ये भगवान विराजमान हैं, वह स्थापना है; वह श्रुतज्ञान की पर्याय भी “है” — ऐसे जाननेयोग्य है; परन्तु आदरणीय नहीं है। भाई! बात बहुत कठिन है; परन्तु मार्ग तो ऐसा है।

अरे! पराश्रय से चौरासी के अवतार में भटकते प्राणी निराधार हैं, अशरण हैं। उसमें यदि उनको कोई शरण होवे तो वह यह एक अन्दर में त्रिकालीध्रुव चैतन्यमय भगवान द्रव्यस्वभाव है। इसके सिवा अन्य कोई शरण नहीं है। अरे! जहाँ अपनी एकसमय की अवस्था भी शरण नहीं हैं, वहाँ पुण्य-पाप के विकारीभाव और ये सब स्त्री-पुत्रादि परपदार्थ शरण कैसे हो सकते हैं और देव-गुरु-शास्त्र लो, तो वे भी शरण नहीं हैं।

अरे! देव-गुरु-शास्त्र तो हेय है, परन्तु उनके संबंध से होनेवाला प्रशस्तराग भी बंध का कारण होने से हेय है और अपने में होनेवाला उस संबंधी अपना-पर्याय का ज्ञान भी हेय है, क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तु नहीं है; क्षणिक अंश है। अहा...! भाई! ऐसी कठिन बात है। इसमें किसी की अपेक्षा लागू पड़े — ऐसा नहीं है अर्थात् किसी की सिफारिश लागू पड़े — ऐसी चीज यह नहीं है।

अहाहा....! कहते हैं — द्रव्यश्रुत से कहे हुए अर्थात् वीतराग सर्वज्ञपरमेश्वर देवाधिदेव तीर्थकरदेव द्वारा धर्मसभा में ओमध्वनि द्वारा कथित मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुसमूह को जीव श्रुतज्ञान द्वारा परोक्षरीति से जानता है। अहा! देखो, यह श्रुतज्ञान की सामर्थ्य! अहा...! प्रभु! तेरी प्रभुता और महत्ता का कोई पार नहीं है। भगवान! तू अनन्तप्रभुता का स्वामी है — ऐसा होने पर भी अज्ञानी कहता है कि हमको कुछ पता नहीं पड़ता;

जबकि यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव भगवान की जो द्वादशांगरूप वाणी निकली, उसमें कथित मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुसमूह को श्रुतज्ञान में परोक्षरीति से जानता है। इसमें स्व या पर सभी आ गये या नहीं ? अहा! ऐसी एकसमय की श्रुतज्ञान की दशा-शास्त्रज्ञान नहीं, अन्दर ज्ञान की प्रगट निर्मलदशा की बात है, वह हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं; क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तु नहीं है, अंशमात्र है। अहा...! ऐसी गंभीर बात है।

अब ज्ञान के साथ दर्शन को धरते हैं —

“उसीप्रकार अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र द्वारा उस-उसके योग्य विषयों को देखता है।”

अहा...! ‘अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव देखता है’ — यह कहकर तो निमित्त का ज्ञान कराया है; वरना जीव तो अचक्षुदर्शन का क्षयोपशम होने से देखता है। अहाहा..! आत्मा शुद्धचैतन्यवस्तु अन्दर त्रिकालदर्शन के सत्त्व से भरा हुआ त्रिकालीतत्त्व है। वस्तु का-स्पर्श, रस आदि का-ज्ञान होने के पूर्व उसका (दर्शनशक्ति का) जो वर्तमान देखने का क्षयोपशम अपने में है, उसके द्वारा वह देखता है। उसमें अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो निमित्तमात्र है। अहा! यहाँ (जीव में) चक्षु इन्द्रिय के अलावा चार इन्द्रियों से (इन्द्रियाँ तो बाह्यनिमित्तमात्र हैं) देखने की जो अचक्षुदर्शन की पर्याय हुई है, वह क्षयोपशमरूप-उघाड़रूप अवस्था भी जाननेयोग्य है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि वह वर्तमान अस्ति है न ? इसलिए जाननेयोग्य है; वरना आत्मा की शान्ति के लिए तो एक त्रिकालीशुद्ध द्रव्यस्वभाव ही शरणयोग्य उपादेय है।

अहा! सभी आत्माएँ द्रव्यरूप से तो समान हैं। आत्मा में कहाँ अन्तर है ? परन्तु इसने अन्तर (फेर) माना है। अहा! एक पर्याय जितना आत्मा को माना — यही महा अन्तर माना है और भाई! यहाँ तो मोक्ष का मार्ग बतलाना है न ? वह मोक्ष का मार्ग पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता — ऐसा यहाँ कहते हैं; तो भी पर्याय का ज्ञान अवश्य कराते हैं अर्थात् जितना व्यवहारनय का विषय है, उतना सब बताते हैं; जैसा है वैसा उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु उसका आश्रय छुड़ाते हैं। भाई! भगवान का मार्ग तो ऐसा है। यह कोई वाद-विवाद से पार पड़नेवाली चीज नहीं है। (इसमें तो समझ का काम है।) (अब अवधिज्ञान को साथ रखकर अवधिदर्शन की बात करते हैं।) तो कहते हैं—

“जिसप्रकार अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) शुद्ध पुद्गल पर्यंत (परमाणु तक के) मूर्त द्रव्य को जानता है.....”

प्रश्न :— देखो, कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होता है — ऐसा कहते हैं ?

उत्तर :— अरे भाई! यह कथन किस नय का है, इसका विचार तो कर! यदि नयविवक्षा को समझे बिना अर्थ करेगा तो सत्य अर्थ समझ में नहीं आयेगा। भाई! यहाँ तो व्यवहारनय का वचन है और व्यवहारनय का लक्षण ही यह है कि वह एक के कारण-कार्य को आरोप करके अन्य का कहता है, एक के भाव को आरोप करके अन्य का कहता है। अतः बापू! उसका परमार्थ जैसा है, वैसा समझना चाहिए।

अहा! भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभावी है। उसकी ज्ञानशक्ति का मर्यादित उघाड़ होने पर उस उघाड़दशा में अमुक हद (मर्यादा) तक के मूर्त द्रव्य इन्द्रियों के अवलम्बन बिना सीधे ही ज्ञात हों, वह अवधिज्ञान है। अहा! ऐसा प्रगट अवधिज्ञान, वह ज्ञान की अपनी दशा है और उसमें कर्म का क्षयोपशम तो निमित्तमात्र है। कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होना कहना तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है और इसलिए वह आश्रययोग्य नहीं है तथा क्षयोपशमरूप-उघाड़रूप प्रगट हुआ अवधिज्ञान भी पर्याय (अंश) होने से हेय है। अब ऐसी नई बात एकदम नये मनुष्य को तो गले उतरना भी कठिन है; परन्तु भाई! इसको समझने में ही तेरा हित है।

“उसीप्रकार अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से (जीव) समस्त मूर्त पदार्थों को देखता है।”

उपर्युक्त सभी बोलों में इसीप्रकार लिया है। भाई! यह अवधिदर्शनावरणीय कर्म निमित्तमात्र है। अहा! जब अपनी पर्याय इस जाति के (अवधिदर्शन के) क्षयोपशमरूप होती है, तब वहाँ ऐसा कर्म का क्षयोपशम होता है, बस इतना ही (इस कथन का आशय है) और जीव उस अपनी क्षयोपशमरूप-उघाड़रूप अवधिदर्शन की दशा से समस्त मूर्त वस्तुओं को देखता है। तथापि वह अवधिज्ञान और अवधिदर्शन, जोकि एकसमय की पर्याय है, वह हेय है; आश्रययोग्य नहीं है; क्योंकि उस पर्याय की शरण से-आश्रय से नई धर्म पर्याय प्रगट नहीं होती। अहा! त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही धर्म पर्याय प्रगट होती है। देखो, यह ऐसी एकदम स्पष्ट बात है।

“(उपर्युक्तानुसार) उपयोग का व्याख्यान करने के पश्चात् यहाँ पर्याय का स्वरूप कहा जाता है।”

अहा! यद्यपि यह उपयोग भी है तो पर्याय; परन्तु उसको मुख्यरूप से गुण गिनकर, उसके ज्ञान-दर्शनरूप भेद करके समझाया है। अब, पर्याय अर्थात् अवस्था का स्वरूप कहते हैं —

‘परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः — अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे सो पर्याय है।’

अहा! आत्मा में और जड़ में (जीवादि छहों द्रव्यों में) पर्याय होती है; परन्तु यहाँ तो आत्मा की व्याख्या है न! इसलिए कहते हैं कि आत्मा के अन्दर में पर्याय अर्थात् उसका वर्तमान अंश अर्थात् जो भेदरूप होता है, त्रिकाल में से जो भेद पड़ता है सो पर्याय है। त्रिकाल अभेद, वह एकरूप वस्तु है और एकसमय का अंशभेद, वह पर्याय है। इस पर्याय के भेद में आगे (गाथा १५ में) कारणशुद्धपर्याय भी डालेंगे; परन्तु इस गाथा में कारणशुद्धपर्याय को एक भेदरूप न लेकर सामान्य बात की है।

अहा! जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे अर्थात् परिणमन करे, वह पर्याय है। वस्तु (द्रव्य-गुण) स्वयं अखण्ड एकरूप रहकर उसमें से प्रतिसमय अवस्था बहा करती है, वह पर्याय है। परिणमन वस्तु का स्वभाव है और इसीलिए वह प्रतिसमय परिणमा करती है। परिणमन से प्राप्त अवस्था वह पर्याय है और वह प्रतिसमय बदला करती है। अब कहते हैं —

“उनमें, स्वभावपर्याय छहद्रव्यों को साधारण है, अर्थपर्याय है.....”

देखो, छहों द्रव्यों में एक अगुरुलघुगुण की पर्याय होती है; इसलिए वह छहों द्रव्यों को साधारण है; तो भी वह पर्याय हेय है। अहा! यह अगुरुलघुगुण की पर्याय छहद्रव्यों में साधारण है और वह अर्थपर्याय है अर्थात् वह व्यंजनपर्याय-प्रदेश की अथवा आकृति की दशा नहीं है। यह अगुरुलघुगुण की वर्तमान वर्तती पर्याय अर्थपर्याय है।

‘वह, वाणी और मन को अगोचर है, अतिसूक्ष्म है.....’

वह जो अगुरुलघुगुण की स्वभावपर्याय वर्तमान प्रगट होती है, वह वाणी और मन से अगम्य है, वाणी से वर्णनरूप नहीं कही जा सकती तथा मन के भी अगोचर है; तथा अतिसूक्ष्म है, केवलज्ञानगम्य है।

“आगमप्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य है.....”

अहा! (मन और वाणी से) ख्याल में नहीं आ सकती होने से यह पर्याय अतिसूक्ष्म है; परन्तु भगवान केवलीपरमात्मा ने और सिद्धान्त ने (आगम ने) उसका प्रतिपादन किया है; इसलिए आगमप्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य है।

“तथा छह हानि-वृद्धि के भेदों सहित है अर्थात् अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि सहित होती है और इसीप्रकार (वृद्धि की भाँति) हानि भी लगाई जाती है।”

वृद्धि की तरह हानि भी छहप्रकार की है। अहा! यह पर्याय भी हेय है, आश्रययोग्य नहीं है; क्या कहा ? आत्मा में तथा अन्य सभी द्रव्यों में साधारण — ऐसी जो षट्गुण हानि-वृद्धिवाली शुद्ध अर्थपर्याय है, वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। अहा! अगुरुलघुगुण की पर्याय (उसका रूप) आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि समस्त गुणों में है। अहा! भगवान सर्वज्ञदेव ने ऐसा ही कोई भाव देखा है। तो भी वह पर्याय भी दृष्टि में आदरणीय और उपादेय नहीं है, मात्र जाननेयोग्य है।

“अशुद्धपर्याय नर-नारकादि व्यंजनपर्याय है।”

देखो, यहाँ शुद्ध व्यंजनपर्याय की बात नहीं ली है; परन्तु अशुद्ध व्यंजनपर्याय की बात कही है। यह मनुष्य की देह है और अन्दर इसके जैसा आत्मा का आकार रहा है। अहा! उसको (देहगत आत्मा के आकार को) अशुद्ध व्यंजनपर्याय कहते हैं। यह शरीर तो जड़ है, यह कहीं अशुद्ध व्यंजनपर्याय नहीं है; परन्तु अन्दर शरीर के आकार प्रमाण आत्मा विद्यमान है, उसको यहाँ अशुद्ध व्यंजनपर्याय कहते हैं। आशय यह है कि आकार की प्रगट अवस्था को व्यंजनपर्याय कहते हैं। अतः जो नर की, नारकी की, देव की और पशु की (आकार की) पर्याय होती है, वह सब अशुद्ध व्यंजनपर्याय है; और वह हेय है अर्थात् जाननेयोग्य है; परन्तु आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

कलश-२४ पर प्रवचन

अहा...! कलश में गाथा का मक्खन (सार) आया है, इसमें सार-निचोड़ है। यहाँ कहते हैं भाई! तेरी पर्याय में ‘परभाव होने पर भी.....’

परभाव माने क्या ? परभाव अर्थात् यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ नहीं; ये सब

तो परवस्तुएँ हैं बापू! और पररूप ही रही हैं; अतः उनकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि तेरी दशा में पुण्य-पाप के विकल्प और राग-द्वेषादि विभावभाव रहे होने पर भी....अर्थात् पर्याय में पुण्य-पापादि विभावभाव हैं; परन्तु वे (परभाव) अन्दर द्रव्य-वस्तुभाव में नहीं हैं। तब अन्दर क्या है ? तो कहते हैं —

“सहज गुणमणि की खानरूप तथा पूर्णज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को.....”

अहाहा....! अन्दर भगवान आत्मा तो स्वाभाविक गुणमणि की खान है। ये तुम्हारे बाहर में मणि-रत्न होते हैं वे नहीं, वे सब तो जड़-धूल हैं; उनका क्या काम है ? यह तो भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु अन्दर सहजगुणमणिरत्न की खान है — ऐसी बात है। अहाहा.....! अनन्त-अनन्त सहजगुण मणिरत्न की खान भगवान आत्मा है। अहा! बाहर में पर्याय में रागादिभाव हो; परन्तु वे अन्दर नहीं हैं। अन्दर तो सहजज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुणरूपी मणिरत्न की खान भगवान आत्मा है। अहा..! यह (आत्मा) कोई शब्दों से पार नहीं पाया जा सकता, अनुभव से ही पार पाया जा सकता है। यह तो (शब्द तो) इशारा है।

अहाहा...! यह भगवान आत्मा अन्दर में शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तुओं से अत्यन्त भिन्न है। आत्मा का उनके साथ कुछ संबंध नहीं है तथा अन्दर में जो जड़ कर्म है, आत्मा उससे भी भिन्न है तथा जो पुण्य-पाप के विकारीभाव होते हैं, वह विभावभाव, परभाव और दुःखरूप आस्रवतत्त्व होने से आत्मा उनसे भी भिन्न है; इसलिए कहते हैं कि यह सब भले हो; तथापि अन्दर में वस्तु-अन्तःतत्त्व तो सहजगुण मणिरत्न की खान है। इसप्रकार अस्तित्वने तो ये दोनों सिद्ध किये हैं अर्थात् ये दोनों (परभाव और स्वभाव) हैं।

अहा...! ये पुण्य-पाप के विकल्प-यह कमाने का भाव, भोग का भाव, क्रोध, मान, माया, लोभ का भाव और पैसे को संग्रह करने व खर्च करने का भाव तथा दया, दान आदि विकल्प इत्यादि सभी भाव भी वर्तमान अस्तिरूप हैं; परन्तु वे हैं आकुलता और दुःख के भाव तथा वे विभाव-परभाव हैं। तो कहते हैं कि वे पर्याय में भले ही हों; परन्तु अन्दर वस्तु-आत्मा तो सहजगुण मणिरत्न की खान है। लो, यह अपना त्रिकाली शुद्ध महा अस्तित्व है, जोकि उपादेय है।

तथा, वह अन्तःतत्त्व परमपवित्र पूर्णज्ञानस्वरूप है। अहा! जहाँ उसका स्वभाव ही

ज्ञान है वहाँ कहना क्या ? अहाहा... ! जिसका ज्ञानस्वभाव अनन्त-बेहद है — ऐसा भगवान आत्मा पूर्णज्ञानस्वरूप शुद्ध है। अहा! वस्तु में अपूर्णता कैसी और विपरीतता कैसी ? अतः कहते हैं — ‘पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को.....’ अहा! देखो, यहाँ वर्तमान पर्याय की जो अशुद्धदशा कही थी, उसको निकालकर (गौण करके) अन्दर अन्तःतत्त्व स्वरूप आत्मा पूर्णज्ञानमय शुद्ध है — ऐसी बात की है।

भाई! ये सब-तीन अशुद्धदर्शन की पर्यायों और अशुद्ध व्यंजनपर्याय — ये सब भाव हों; परन्तु वह व्यवहारनय का विषय होने से जाननेयोग्य है; परन्तु आदरणीय नहीं है। धर्मी को सुख के लिए आदरणीय तो एक पूर्ण ज्ञानमय शुद्ध आत्मा ही है। किसी को लगता है कि ऐसा आत्मा ? हाँ, भाई! आत्मा वस्तु है या नहीं ? है, तो उसका स्वभाव क्या है ? ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान-पूर्णज्ञान उसका स्वभाव है। अहा..! आत्मा वस्तु है, वह पूर्ण ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण शुद्ध अन्तःतत्त्व है। अहा..! पहले आत्मा को सहजगुणमणि की खान कहा और अब ज्ञान की प्रधानता से पूर्णज्ञानवाला (ज्ञानमय) है — ऐसा कहते हैं।

ऐसे — “सहजगुणमणि की खानरूप और पूर्णज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को एक को जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष भजता है.....”

अहाहा...! तीक्ष्णबुद्धिवाला अर्थात् जो उपयोग को तीक्ष्ण-सूक्ष्म करके आत्मा में लगाता है-एकाग्र करता है वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला है। इसके अतिरिक्त अन्य सब बुद्धि के बारदान (स्थूल बुद्धिवाले) हैं।

अहा! भगवान आत्मा नित्यानन्द सच्चिदानंदप्रभु अनन्त सहजगुणमणि की खान है। अतः उसमें खोदने पर (अन्दर गहरे उसके तल में पहुँचने पर) अर्थात् उसमें अन्तर एकाग्र होने पर पूर्ण आनन्द, शान्ति और केवलज्ञान प्रगट होता है। अहा! वह ऐसी अद्भुत अचिन्त्य खान है। अहा! ऐसे पूर्ण ज्ञानमय शुद्ध आत्मा को, वह भी एक को ही; तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है। उस एक को ही भजता है अर्थात् वह पर्याय को अथवा राग को कभी नहीं भजता। अरे! वह भगवान केवली को भी नहीं भजता। लो, यहाँ कहते हैं कि शुद्धदृष्टि पुरुष भगवान को नहीं भजता।

अहा! अन्दर शुद्ध पूर्णज्ञानमय आत्मा महा अस्ति-सत्तामयवस्तु है उसको, और उस एक को ही तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है। देखो, इसमें ज्ञान भी तीक्ष्ण लिया

है और दृष्टि भी शुद्ध ली है। आशय यह है कि वह ज्ञान का उपयोग सूक्ष्म और तीक्ष्ण है कि जो अन्दर आत्मा को पकड़ता है और जो दृष्टि आत्मा में स्थित है, जो दृष्टि आत्मा पर चिपटी है, उसको शुद्धदृष्टि कहते हैं। ऐसी तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि-सम्यग्दृष्टि पुरुष एक आत्मा को भजता है। अहा! तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष अपने उपयोग को बारीक और तीक्ष्ण सूक्ष्म करके निज शुद्ध आत्मा में एकाग्र होता है — यही भजना है और यही मोक्षमार्ग है। यह नियमसार है न! इसलिए यहाँ मोक्षमार्ग की व्याख्या करते हैं। भाई! मार्ग ऐसा है।

प्रश्न : — एक ओर तो आप निर्विकल्प वस्तु की बातें करते हैं और दूसरी ओर शास्त्र, मन्दिर आदि बनाते हो-कोई मेल नहीं खाता ?

उत्तर : — भाई! करें क्या ? यह तो होता है, सुन! अहा! उसके कारण और उसके काल में होनेयोग्य होता है और उसमें वहाँ व्यक्ति खड़ा हो, उसको शुभराग का विकल्प भी हो तथा उस विकल्प संबंधी ज्ञान भी हो; परन्तु वह निश्चय से आदरणीय नहीं है।

प्रश्न : — भजता है माने क्या ? क्या वह आत्मा...आत्मा — ऐसी माला फेरता होगा ?

उत्तर : — भाई! निजद्रव्य में एकाग्र होना ही उसको भजना है; बाकी सब तो विकल्प हैं, परभाव हैं और हेय हैं। बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म है; परन्तु मार्ग तो यही है। अहा! बाहर का हो....., यहाँ यही कहा है न कि 'परभाव होने पर भी....' अर्थात् बाहर का भले ही पड़ा हो-रागादि भी भले ही हों और गुण-पर्याय भी भले ही हों (गुण-पर्याय की बात आगामी कलश में लेंगे); परन्तु यदि तुझको सुखी होना हो और दुःख का अभाव करना हो तो...अहा! दुःख मिटाना क्या, वह तो टल जाता है। तो, यदि तुझको सुखी होना हो और सुख चाहिए हो तो एक ज्ञानमय शुद्ध आत्मा का भजन कर, उसमें अन्तर-एकाग्र हो जा; क्योंकि सुख का मार्ग-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्तर की एकाग्रता से ही प्रगट होता है।

यहाँ तो परमेश्वर दोनों बातें सिद्ध करते हैं। अहा! परवस्तु तो पररूप रही है। उसके साथ तुझे कोई काम-प्रयोजन नहीं है; परन्तु तुझमें होनेवाले पुण्य-पाप विभावभाव हैं, तो हो; परन्तु उनसे तुझको क्या है ? तू तो अन्दर त्रिकाल आनंदकंद अहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का रस ठसाठस भरपूर भरा है — ऐसा भगवान आत्मा है। अतः वहाँ

दृष्टि को जोड़ और उपयोग को वहाँ लगा, वहाँ ही एकाग्र-लीन हो। इसका नाम नियमसार अर्थात् मोक्ष का मार्ग है।

प्रश्न : — ऐसा सोनगढ़ का मोक्षमार्ग बहुत कठिन है। इसको दुर्लभ कर दिया है ?

उत्तर : — भाई! यह मोक्षमार्ग सोनगढ़ का है या भगवान का कहा हुआ है ? यह मार्ग तो अनन्त तीर्थकरों द्वारा कहा हुआ है और यही मार्ग है। तूने कभी नहीं सुना इससे क्या ? भाई! तूने परोपकार में और दया, दान में धर्म होगा — ऐसा सुना है और इसप्रकार अज्ञानियों ने सस्ते में धर्म बता दिया है; परन्तु इसमें धूल भी धर्म नहीं है। तू इसप्रकार सस्ते में धर्म करने जायेगा तो कहीं भवसागर में डूब जायेगा, मिट जायेगा; क्योंकि यह सब राग तो मोटा छिद्र-काणा-आस्रव है और उससे बंधन ही होता है। अहा! अनन्तकाल में सभी अज्ञानियों को ऐसा ही हुआ है। वे सस्ते (कल्पित सस्ते) मार्ग में चढ़ गये हैं; परन्तु बापू! इससे तो सारी जिन्दगी नष्ट हो जायेगी। अहा! आत्मा क्या चीज है और कैसे प्राप्त हो-उसकी प्राप्ति का मार्ग श्रद्धा-ज्ञान-रमणता क्या है-इसके निश्चय बिना धर्म तो होगा ही नहीं; परन्तु जिन्दगी नष्ट हो जायेगी।

प्रश्न : — जिनमन्दिर में दान देने से तो धर्म होता है न ?

उत्तर : — पैसा कहाँ तेरा है ? और कदाचित् उस काल में राग की मंदता होवे तो पुण्यबंध होता है; परन्तु धर्म नहीं होता। पुण्यभाव हो; परन्तु धर्म तो एक शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही होता है। अरे! तेरी ज्ञानपर्याय के क्षयोपशम की जो दशा तेरे कारण वर्तमान प्रगट है, उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता, तो फिर दान के विकल्प से धर्म कैसे होगा ? वह तो बंधभाव है, उससे बंधन होता है, धर्म नहीं होता। गजब बात है न! अरे! अज्ञानी अनादि से भ्रम ही भ्रम में नष्ट हो रहा है-मर रहा है।

यहाँ कहते हैं कि अन्दर अपनी वस्तु-चीज एक शुद्धचैतन्य का बिम्ब है; उस पर जिसने तीक्ष्णबुद्धि लगाई है और उसकी दृष्टि की है तथा जो उस एक को ही भजता है। 'वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का (मुक्तिसुन्दरी का) वल्लभ बनता है।'

अहा! कहते हैं कि ऐसा पुरुष मुक्ति की परिणतिरूपी स्त्री का वल्लभ होता है अर्थात् उसको जो मुक्ति की दशा प्रगट होती है, वह अब अनन्तकाल तक रहेगी, एकसमय के लिए भी उसका विरह नहीं होगा। अब जिसको मार्ग (मुक्ति का उपाय) सुनने की निवृत्ति और दरकार न हो उसको यह कठिन लगता है। क्या हो सकता है ?

अहा...! पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है; तो भी उसके (पर्याय के) आश्रय से धर्म नहीं होता। भाई! बहुत भारी काम है; परन्तु बापू! सम्पूर्ण संसार का पलटा करके इसको मुक्ति की दिशा में जाना है तो वह काम तो भारी ही होगा न ? इसमें तो अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। अहा...! सारा संसार जहरमय है, अकेले जहर से सुलग रहा है। संसार अर्थात् ? संसार पर्याय में है, वह कहीं बाहर में नहीं है। यह स्त्री-पुत्र-परिवार और घरबार कोई संसार नहीं है; परन्तु ये सब मेरे हैं और मैं इनका — ऐसी मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष से इसकी पर्याय में संसार सुलग रहा है। अब इस संसार से एकदम छूटकर मोक्ष के पंथ में जाना होवे तो वह मार्ग तो (जगत से) अलग ही होगा न! बापू! यह तो अनन्त पुरुषार्थ का मार्ग है।

अहा...! ऐसा जो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अन्तरस्वरूप है, उसको जो भजता है; उसमें एकाग्र-लीन होता है, उसमें सन्मुख होकर उपयोग को लगाता है और जो उसी में दृष्टि लगाता है; वह शुद्धदृष्टि पुरुष मुक्ति अर्थात् केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है अर्थात् केवलज्ञानलक्ष्मी उसका वरण करती है और फिर उसको एकसमय के लिए भी नहीं छोड़ती — ऐसा वल्लभ होता है।

अहा...! संसार में तो, या तो यह पहले मरता है अथवा स्त्री मरती है; तो भी (स्त्री को) अर्धांगिनी कहता है। लोक में स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं न! परन्तु धूल भी अर्धांगिनी नहीं है, सुन! तू मर जाता है तब क्या वह साथ आती है ? नहीं; और वह मर जाए तब क्या तू साथ जाता है ? नहीं; दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं बापू! तो फिर वह अर्धांगिनी कैसे हुई ? तेरा आधा-पतला अंग तो तेरी पर्याय है, जबकि महा अंग पूर्ण ध्रुवचैतन्य महाप्रभु आत्मा है। पर्याय है, वह (ऊपर का) पतला अंग है; धर्मी को उसका आश्रय नहीं होता; आश्रय तो ध्रुव एक चैतन्यमहाप्रभु द्रव्य का है और वह अन्दर महा अंग है। भगवान वीतराग का मार्ग ऐसा है। अहा...! ऐसा ही त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव की दिव्यध्वनि में-सर्वज्ञपरमेश्वर के प्रवचन में आया है और इसी बात को संत प्रकाशित कर रहे हैं। अहा..! कठिन पड़े कठोर लगे, महंगा लगे; तो भी मार्ग तो यही है। किसी को नहीं जँचे, कोई नहीं माने इससे कहीं मार्ग-वस्तु बदल जाए — ऐसा नहीं हो सकता।

कलश-२५ पर प्रवचन

‘इसप्रकार पर गुण-पर्यायें होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में कारण-आत्मा विराजमान है।’

अहा...! ये सब गुण (भेद) और सभी पर्यायें (भेद) तेरे द्रव्य की एकता से भिन्न है अर्थात् ये सभी भेद त्रिकाली अभेद एकरूप द्रव्य से भिन्न है। अहा! इसप्रकार गुण-पर्यायों के भेद, जोकि अभेद से भिन्न हैं वे, होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयसरोवर में कारण-आत्मा विराजमान है। अहा..! देखो न! कैसी बात की है! कि उत्तम पुरुषों के हृदयसरोवर में अर्थात् अन्तर के ज्ञान-सरोवर में कारण-आत्मा विराजमान है।

प्रश्न :— अब यह कारण-आत्मा क्या है ? क्या कोई भगवान ईश्वर है ?

उत्तर :— नहीं; कोई दूसरा भगवान-ईश्वर तो नहीं है; परन्तु तू स्वयं ही अन्दर कारण-आत्मा है। अहाहा...! त्रिकालीध्रुव शुद्धचैतन्यतत्त्व अन्दर नित्य विराजमान है— वह कारण-आत्मा है और वह तू स्वयं ही है। अहा...! जो मोक्ष की कार्यदशा, परम अतीन्द्रियसुख की कार्यदशा प्रगट होती है, उसके कारणरूप अन्दर नित्य विराजमान कारणतत्त्व-कारणपरमात्मा प्रभु तू स्वयं ही है।

प्रश्न :— तो क्या वह सबके हृदय में नहीं है ?

उत्तर :— नहीं; वह उत्तम पुरुषों के हृदय में ही विराजमान है। अहा..! जिसको उसका भान है, उसके हृदय में ही कारणपरमात्मा विराजमान है, बाकी अन्य को वह कहाँ है ? अहा! जिसको अन्तर का (अन्तःतत्त्व का) भान नहीं है, उसको भान बिना ‘यह कारणपरमात्मा है’ — ऐसा अन्दर से (स्वीकार) कहाँ आया है ? इसलिए उत्तम पुरुषों के ज्ञानसरोवर में वस्तु त्रिकाली कारणतत्त्व एक ज्ञायकभाव-ध्रुवभाव विराजमान है — ऐसा कहा है। उत्तम पुरुष अर्थात् जिनकी दृष्टि वहाँ ध्रुव में-कारणतत्त्व में पड़ी है और जिनकी दृष्टि में एक ध्रुव ज्ञायकभाव आया है — ऐसे ज्ञानी-धर्मी पुरुषों के हृदय में, ज्ञान में वह विराजमान है; परन्तु जिसको यह भान ही नहीं है कि मैं अन्दर ऐसा हूँ — उसके लिए क्या है ? (उसके लिए तो वह नहीं होने के समान ही है।) अहा! जिसकी नजर भगवान एक ज्ञायक पर लगी है अर्थात् जिसकी ज्ञानदशा में भगवान एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही तरवरता है, उसके लिए ‘वह है’ — ऐसा कहते हैं। बापू! यह तो भगवान होने की बात है, अकेला मक्खन है।

भाई! यह स्त्री-पुत्र-परिवार, पैसा और मान-प्रतिष्ठा — ये सब दृष्टि में से छोड़नेयोग्य हैं; क्योंकि ये सब परवस्तुएँ तेरी नहीं हैं, तुझमें नहीं हैं और तुझको हितरूप भी नहीं है; अपितु ये सब वस्तुएँ तेरे दुःख में निमित्त हैं। अहा! सुख के लिए तो अन्दर में एक त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा ही कारण है; इसीलिए कहते हैं कि उत्तम पुरुषों के अन्तर में एक कारण-आत्मा विराजमान है। भाई! यह समझनेयोग्य है।

प्रश्न : — कारण-आत्मा किसको कहना ?

उत्तर : — अन्दर में जो त्रिकालीध्रुव ज्ञानस्वरूप अविनाशीतत्त्व है, उसमें से मोक्षरूप कार्यदशा प्रगट होती है; इसलिए उसको अर्थात् आत्मा के निजस्वभाव को कारण-आत्मा कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के सुखरूपी कार्य के लिए कारण तो स्वयं ही है।

अहा..! गुण-पर्याय के भेद हों; परन्तु उत्तम पुरुषों की दृष्टि में वे कुछ नहीं है। उसके अन्तर में तो एक कारण-आत्मा भगवान ज्ञायक ही विराजमान है। लो, इसमें तो उत्तम पुरुष कैसे होते हैं — यह भी आ गया है और सुख का कारण क्या है — यह भी आ गया है। अब कहते हैं —

‘अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मस्वरूप समयसार को.....’

अपने से उत्पन्न अर्थात् वह ध्रुवतत्त्व स्वयं से ही है। अहाहा...! अन्दर ध्रुवतत्त्व एक ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा तो अनादि से है...है...है...और है ही; वह अपने से ही है। अहा! उसका कोई कर्ता है अथवा किसी ने उसे बनाया है अथवा किसी ने उसे उत्पन्न किया है — ऐसा नहीं है अर्थात् वह नहीं था और नया हुआ है — ऐसा नहीं है। अहाहा..! वह तो अनादि से ऐसा का ऐसा — चैतन्यघन, आनन्दकंद, नित्य जगमग-जगमग ज्योतिस्वरूप ध्रुव चैतन्यसूर्य-चैतन्यमहाप्रभु अपने से ही है।

देखो, आत्मा अर्थात् परमब्रह्मस्वरूप परमानन्दस्वरूप समयसार और वह स्वयं ही परमात्मा है — ऐसा कहते हैं। अहा..! आत्मा अपने से ही है और स्वयं ही परमब्रह्मस्वरूप समयसार है। अब स्वयं ऐसा होने पर भी, अज्ञानी मूढ़ एक सिगरेट की प्राप्ति में हर्षित हो जाता है और शोभा दिखाने के लिए उसे कैसे पीना इत्यादि कितने ही हाव-भाव करता है; परन्तु इसमें रंचमात्र भी शोभा नहीं है। अरे भगवान! तू विषय में कहाँ रच

गया है! अर्पित होनेयोग्य तो अन्दर तेरा नित्य परमब्रह्म स्वरूप है न! परन्तु अरे! इसको स्वरूप की खबर नहीं है।

कहते हैं — ‘अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मरूप समयसार को-कि जिसे तू भज रहा है उसे, हे भव्यशार्दूल! (भव्योत्तम), तू शीघ्र भज।’

देखो, ऊपर ‘उत्तमपुरुष’ कहा था न! इसलिए मुनिराज कहते हैं कि जिसको तू भज रहा है, अहाहा..! तू जिस पूर्णशुद्ध नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र-लीन होकर भज रहा है, उसको ही तू शीघ्र भज। अहाहा! धर्मीजीव अपने त्रिकालीध्रुव भगवान ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ही भजन करता है अर्थात् उसमें ही शीघ्र-शीघ्र एकाग्र-लीन होता है — ऐसा कहते हैं और तब अन्य (भेदविकल्प और व्रतादि) भले ही हों; तथापि वे उसको जाननेयोग्य है; किन्तु आदरणीय नहीं — ऐसा कहना है।

अहाहा..! कहते हैं — जिसको तू भज रहा है उसको, हे भव्यशार्दूल (भव्योत्तम)! तू शीघ्र भज...’। अहाहा....! सिंह समान शूरवीर हे भव्योत्तम! तू भगवान आत्मा को शीघ्र भज! (अर्थात् प्रमाद में मत रह।) अहाहा...! तू अन्तर में पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान है, उसमें शीघ्र एकाग्र-लीन हो और उसमें रमणता कर — यह आत्मा का भजन है। निजस्वरूप में रमणता ही भजना अर्थात् भजन है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही उसका (आत्मा का) भजन है।

अब कहते हैं — ‘तू वह है।’

अहाहा...! कहते हैं — भगवान! जिसको तू भजता है, जिसमें तू रमता है वह तू ही है। अब अन्यत्र तो ऐसी बात सुनने को मिलना भी कठिन है, मुश्किल है। अरे! मिलती ही कहाँ है, अन्य सब जगह तो कथा-वार्ता मिलती है; परन्तु भाई! उसमें मूलवस्तु का पता नहीं लगता। अरे! जब मूलवस्तु ही ख्याल में नहीं आवे तो वह अन्दर रमने का प्रयोग तो करेगा ही कैसे ?

अहाहा..! कहते हैं — हे भव्यशार्दूल! हे सिंह समान भव्य आत्मा! इतराते सिंह की तरह विक्रम पुरुषार्थ करता हुआ, तू जिस पूर्णानन्द-चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र होकर रमता है, वह तू ही है। अहाहा! जिसमें तू रमता है, वह कारणतत्त्व तू ही है; अन्य नहीं। भाई! ऐसी बात वीतराग के मार्ग के अलावा अन्य कहीं नहीं हो सकती।

अहाहा..! कहते हैं — भजन करने के लिए अन्दर नित्यानन्दस्वरूप पूर्ण ध्रुव भगवान तू स्वयं है; अतः उसी में एकाग्र होकर लीन हो जा और तू अभी तक जिसमें लीन होकर रमता है, वह तू ही है; अन्य कोई नहीं। गजब बात है प्रभु! अहा! अन्य कोई भगवान है और तू उसका भजन करता है — ऐसा नहीं; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तू स्वयं ही भगवान है। अहाहा! ऐसी गजब बात है। भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप-परमब्रह्मस्वरूप है। उसमें एकाग्र होना-लीन होना-रमना ही मोक्ष का मार्ग है और वही आत्मा का भजन है और वही संसार के अभाव का उपाय है।

कलश-२६ पर प्रवचन

देखो, यह जीव अधिकार है और उसमें जीवतत्त्व की व्याख्या है। अतः कहते हैं कि यह जीव है वह -

‘जीवतत्त्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता है-दिखाई देता है.....’

आशय यह है कि जीव किसी समय केवलज्ञानादि गुणों सहित ज्ञात होता है। यहाँ ‘सद्गुणों सहित’ — ऐसा कहा है न! तो यहाँ सद्गुण अर्थात् त्रिकाली गुणों की बात नहीं है; परन्तु जो क्वचित् अर्थात् किसी समय प्रगट होते हैं उनकी (केवलज्ञानादि पर्यायों की) बात है। तथा —

‘क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है’

जीव किसी समय मति-श्रुतज्ञानादि, जोकि अशुद्धगुण कहलाते हैं, उन सहित दिखता है।

‘क्वचित् सहजपर्यायों सहित विलसता है..’

देखो, यहाँ केवलज्ञानादि पर्यायों को पहले सद्गुणों में तो लिया है, तो भी फिर से सहज पर्यायों में उनको लेते हैं। इस कलश के बाद पन्द्रहवीं गाथा में केवलज्ञान को स्वभावपर्याय में लेते हैं न! इसलिए यहाँ सहजपर्यायें अर्थात् केवलज्ञानादि स्वभाव पर्यायें — यह अर्थ है। यद्यपि उसमें शुद्ध व्यंजनपर्याय भी ली जा सकती है; परन्तु उसको नहीं लिया है; क्योंकि ‘सहजपर्यायें’ — ऐसा बहुवचन है न! (जबकि शुद्ध व्यंजनपर्याय तो एक ही है।) इसलिए इसमें शुद्ध व्यंजनपर्याय की बात नहीं है। अतः जीव क्वचित् सहजपर्यायों अर्थात् केवलज्ञानादि पर्यायों सहित विलसता है-दिखता है।

‘और क्वचित् अशुद्धपर्यायों सहित विलसता है।’

यह व्यंजनपर्याय की बात है। अहा...! नारकी, देव, मनुष्य और तिर्यच के प्रदेशों के आकार को अशुद्धव्यंजनपर्याय कहते हैं। अतः वह क्वचित् अशुद्धव्यंजनपर्यायों सहित विलसता है—ज्ञात होता है।

इसप्रकार चार बोल हुए। यह तो अब फिर कहेंगे कि भगवान आत्मा-शुद्ध जीवतत्त्व, इन सब पर्यायों से रहित है। इसप्रकार यहाँ सार कहना है न! तो ये चार बोल हुए —

- क्वचित् अर्थात् किसी समय जीव केवलज्ञानादि शुद्धगुणों (शुद्धपर्यायों) सहित दिखता है।
- क्वचित् अर्थात् किसी समय जीव मति-श्रुतादि अशुद्धगुणों (अशुद्ध अपूर्ण पर्यायों) सहित दिखता है।
- किसी समय सहजपर्यायों अर्थात् केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायों सहित दिखता है—विलसता है और
- किसी समय अशुद्धपर्यायों (नर-नारकादि अशुद्ध व्यंजनपर्यायों) सहित दिखता है।

देखो, यहाँ इन चार बोलों में विकार की बात नहीं ली है; क्योंकि इन सभी गाथाओं में उपयोग की व्याख्या है न! अतः गाथाओं में उपयोग की व्याख्या होने से इसमें विकार की-पुण्य-पाप की बात नहीं की है; परन्तु इसमें उपयोग की ही बात की है। अब कहते हैं —

‘इन सबसे रहित होने पर भी.....’ देखो! अन्दर कलश में ‘सनाथमपि’ शब्द है। आशय यह है कि सनाथ होने पर भी.....ऐसी-ऐसी पर्यायों से सहित होने पर भी कैसा है ?

‘जो इन सबसे रहित है.....’ अहाहा....! पर्याय में ऐसे भेदों से सहित होने पर भी वस्तु जो अन्दर त्रिकाल एक ज्ञायकस्वरूप है, वह तो समस्त भेदों से रहित है — ऐसा कहते हैं। अहाहा! पर्याय में ये भेद होने पर भी अन्दर वस्तु तो इन सबसे रहित अभेद एकरूप है। वस्तु-भगवान ज्ञायक में ये भेद नहीं हैं।

अहा! यह उपयोग का अधिकार है और इसमें उपयोग की व्याख्या है। इसलिए कहते हैं कि आत्मा क्वचित् केवलज्ञानादि सहित ज्ञात होता है, क्वचित् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानरूप अशुद्धपर्यायों सहित ज्ञात होता है, क्वचित् केवलज्ञानादि सहजपर्यायों सहित ज्ञात होता है और क्वचित् अर्थात् संसार में नर-नारकादि अशुद्ध व्यंजनपर्याय सहित ज्ञात होता है, अब कहते हैं कि वे पर्यायों होने पर भी अन्दर वस्तु-भगवान् चैतन्यबिम्ब इन सबसे रहित है।

प्रश्न : — ऐसा किसको दिखता है ?

उत्तर : — अन्दर देखनेवाले को दिखता है। क्या ? कि पर्याय में ऐसे भंग-भेद हैं। अहा! पर्यायरूप से पर्याय में ऐसे अंश दिखते हैं; तथापि अर्थात् पर्याय में ऐसी स्थिति है तो भी, वस्तु अर्थात् त्रिकालीध्रुव भगवान् आत्मा तो इन भंगों से-पर्यायों से रहित है। अहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

यहाँ क्वचित्-क्वचित् — ऐसे शब्द हैं न! उसका आशय यह है कि जो कायम-त्रिकाल एकरूप वस्तु है तथा उसमें त्रिकाल अभेद-एकरूप जो गुण साथ ही है, यह उनकी बात नहीं है; परन्तु यह तो क्वचित् (जो कभी होती है) ऐसे पर्यायभेदों की बात है; इसलिए कहते हैं कि त्रिकालीध्रुव जीवतत्त्व इन समस्त भेदों से रहित है।

अहा! इस त्रिकालीद्रव्य में कोई परवस्तु तो है ही नहीं और पुण्य-पाप भी इसमें नहीं है; परन्तु उनकी बात यहाँ नहीं है; क्योंकि यहाँ उपयोग की बात है। उपयोग के साथ शामिल करके अशुद्ध व्यंजनपर्याय भी दर्शाई है। अशुद्ध व्यंजनपर्याय माने क्या ? भाई! अशुद्ध व्यंजनपर्याय अर्थात् इन नर-नारकादि शरीर की बात नहीं है; परन्तु अन्दर नर-नारकादि शरीर के आकाररूप जो आत्मा के प्रदेशों का आकार होता है, उसको अशुद्ध व्यंजनपर्याय कहते हैं। वह भी मैं नहीं हूँ (उसरूप मैं नहीं हूँ); क्योंकि वह क्वचित् (कभी-नई) होती है, त्रिकाल नहीं है तथा केवलज्ञानादि शुद्धगुण (पर्यायों) और मतिज्ञानादि अशुद्धगुण (पर्यायों) हैं, वे भी मेरा स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भी क्वचित्-क्वचित् (नये) होते हैं; त्रिकाल नहीं है। केवलज्ञानादि शुद्धपर्यायों और मतिज्ञानादि अशुद्ध पर्यायों सदा नहीं होतीं।

इसलिए कहते हैं कि इन सबसे (समस्त पर्यायों से) 'सनाथमपि' सहित होने पर भी 'जीवतत्त्वमनाथम्' जीवतत्त्व इन सबसे रहित है। अतः ऐसे पर्याय के भेदों से रहित

जीवतत्त्व को...अहाहा...! अन्दर भगवान आत्मा त्रिकाल नित्यानंदस्वरूप है, उसको 'मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिए मैं सदा नमता हूँ-भाता हूँ।' अहा...! सकल अर्थ की सिद्धि के लिए अर्थात् अपनी मुक्ति के लिए मैं त्रिकालीशुद्ध अन्तःतत्त्व में नमता हूँ-ढलता हूँ। यहाँ सकल अर्थ की सिद्धि — यह मोक्ष है और उसके लिए मैं नमता हूँ-भाता हूँ — यह मोक्षमार्ग है। यह नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग है न; अतः यहाँ मोक्षमार्ग और मोक्ष दोनों सिद्ध किये हैं।

अहा! जब-जिससमय मतिज्ञानादि हों, तब केवलज्ञान नहीं होता और जब केवलज्ञान पर्याय होती है, तब उसको अशुद्ध व्यंजनपर्याय होती अवश्य है; क्योंकि भगवान केवली के आकार में मनुष्यपना है; तथापि वह भी 'क्वचित्' है। अतः ये सब पर्यायों के भेद अवस्था में हैं; परन्तु अहाहा! वस्तु में-जिस पर दृष्टि करनी है, उस ध्रुव त्रिकालीवस्तु में ये भेद नहीं हैं; इसलिए मैं उस वस्तु को-त्रिकालीद्रव्य को नमता हूँ — ऐसा कहते हैं।

अहा! 'ऐसे इस जीवतत्त्व को....'

'इस' जीवतत्त्व को अर्थात् मेरा जीवतत्त्व मुझको प्रत्यक्ष (स्वानुभव प्रत्यक्ष) है और उसको मैं नमता हूँ। अहा! मेरा जीवतत्त्व, जो पर और पर्याय के भेदरहित अन्दर त्रिकाल, ध्रुव, एकरूप, शुद्ध चैतन्य-चिदानन्दमय है, उसको मैं नमता हूँ अर्थात् वही मुझे उपादेय है। लो, ऐसी बात है! भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म, अचिन्त्य है; तो इसका फल भी अचिन्त्य अलौकिक है न! देखो न! यहाँ भी यही कहते हैं कि 'सकल अर्थ की सिद्धि के लिए'-अपनी मुक्ति के लिए मैं उसको (त्रिकालीद्रव्य को) सदा नमता हूँ-भाता हूँ अर्थात् मेरा झुकाव द्रव्य में ही है।

अहा! आत्मवस्तु में दो प्रकार हैं — एक द्रव्य-त्रिकालीध्रुव और दूसरा-वर्तमान दशाएँ और यह उसका वर्णन है। यह जीवतत्त्व का अधिकार है न! इसलिए कहते हैं कि पर्याय में ऐसे भेदों से सहित होने पर भी, ध्रुव भगवान आत्मा इन सबसे रहित है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार से जीवतत्त्व भेदों सहित है; परन्तु निश्चय से वह भेदों से रहित है। अहा! ये केवलज्ञानादि पर्याय के समस्त भेद भले ही हों तो भी वह व्यवहारनय का विषय है; क्योंकि वह पर्याय है न! अतः कहते हैं कि ऐसे व्यवहारनय के विषय से सहित होने पर भी, त्रिकालीध्रुव निश्चयतत्त्व उनसे (भेदों से) रहित है अर्थात् जीव व्यवहार से भेदों सहित है; परन्तु निश्चय से भेदों से रहित है। अहा! यह

निश्चय-व्यवहार की शैली तो देखो तथा इसमें यह भी आ गया कि यह जीव जैसे निश्चय से भेदों से रहित है, वैसे व्यवहार से भी भेदों से रहित है — ऐसा नहीं है तथा जैसे व्यवहार से भेदों से सहित है; वैसे निश्चय से भी यह व्यवहार के भेदों से सहित है — ऐसा नहीं है-ऐसा होता ही नहीं है। यहाँ तो, द्रव्य व्यवहार से भेदों सहित होने पर भी, वह निश्चय से व्यवहार के भेदों से रहित है अर्थात् निश्चय से जीव अभेद एकरूप शुद्धचैतन्यतत्त्व है — ऐसा कहते हैं और यह यथार्थ-सत्य है।

अब ऐसी अटपटी-गंभीर बात है!

भाई! इसप्रकार जीव के दो भाग-अंश हैं — एक पर्याय और दूसरा द्रव्य ध्रुव-अंश।

अब कहते हैं — ऐसा होने पर भी यदि धर्मी जीव को शरण हो तो एक ध्रुवद्रव्य का ही है, पर्याय का नहीं। पर्याय हो; परन्तु वह जाननेयोग्य है। वह 'है' — इसप्रकार मात्र जाननेयोग्य है; शरण लेनेयोग्य तो एक त्रिकालीध्रुव द्रव्य ही है। अब ऐसी व्याख्या! लोगों को यह समझना कठिन लगता है; परन्तु! तेरी वस्तु क्या है और कैसे है — यह उसकी बात है। यह जीव अधिकार है न!

यहाँ कहते हैं — ऐसे इस जीवतत्त्व को अर्थात् अकेले शुद्धगुणों के अभेदपिण्ड पूर्णानन्द-चिदानन्दप्रभु आत्मा को.....आत्मा.....! जो अन्दर अकेले चैतन्यस्वभाव का सागर है — ऐसे मुझे मैं नमता हूँ अर्थात् उसमें मैं एकाग्र होता हूँ। (नमता हूँ अर्थात् ढलता हूँ, एकाग्र होता हूँ।) परन्तु मैं पर्याय को नहीं नमता अर्थात् पर्याय में एकाग्र नहीं होता।

इसप्रकार १४वीं गाथा का अन्तिम कलश पूर्ण हुआ। अब १५वीं गाथा में कारणशुद्धपर्याय की बात आयेगी। ●

जिसप्रकार सिद्धलोक में सिद्ध परमात्मा हैं, उसीप्रकार इस देह-देवालय में निज परमात्मा विराजता है और वही उपादेय है। पर का मैं करूँ - इस ओट में देह-देवालय में विराजमान परमात्मा स्वयं अपने को भासित नहीं होता-दिखता नहीं है। यथार्थ रीति से देखें तो अशुचिमय देह-देवालय में विराजमान देह से भिन्न महापवित्र प्रभु स्वयं है। देह तो वेदना की मूर्ति है, भगवान आत्मा देह की भाँति अशुचि नहीं है। देह तो हड्डी, मांस, रक्त, वीर्य की थैली है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१५८

नियमसार गाथा-१५

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायास्ते विभावा इति भणिताः ।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्यास्ते स्वभावा इति भणिताः ॥१५ ॥

(हरिगीत)

तिर्यञ्च, नारकि, देव, नर पर्याय हैं वैभाविकी ।
पर्याय कर्मोपाधि वर्जित हैं कही स्वाभाविकी ॥१५ ॥

गाथार्थ :— मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देवरूप पर्यायों वे विभावपर्यायों कही गई हैं; कर्मोपाधि रहित पर्यायों वे स्वभावपर्यायों कही गई हैं ।

टीका :— यह स्वभावपर्यायों तथा विभावपर्यायों का संक्षेप कथन है ।

वहाँ, स्वभावपर्यायों और विभावपर्यायों के बीच प्रथम स्वभावपर्याय दो प्रकार से कही जाती है, कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ।

यहाँ सहज शुद्ध निश्चय से, अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव-अनन्तचतुष्टय का स्वरूप उसके साथ की जो पूजित पंचमभावपरिणति (उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति) वही कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा अर्थ है ।

सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार से, केवलज्ञान-केवल-दर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्तचतुष्टय के साथ की (अनन्तचतुष्टय के साथ तन्मयरूप से रहनेवाली) जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति वही कार्यशुद्ध-पर्याय* है । अथवा, पूर्व सूत्र में कहे हुए सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से, छह द्रव्यों

* सहजज्ञानादि स्वभाव-अनन्तचतुष्टययुक्त कारणशुद्धपर्याय में से केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टययुक्त कार्यशुद्ध पर्याय प्रगट होती है । पूजनीय परमपारिणामिकभावपरिणति वह कारणशुद्धपर्याय है और शुद्ध क्षायिकभावपरिणति वह कार्यशुद्धपर्याय है ।

को साधारण और सूक्ष्म — ऐसी वे अर्थपर्यायें शुद्ध जानना (अर्थात् वे अर्थपर्यायें ही शुद्धपर्यायें हैं) ।

(इसप्रकार) शुद्धपर्याय के भेद संक्षेप में कहे ।

अब, व्यंजनपर्याय कही जाती है, जिससे व्यक्त हो-प्रगट हो वह व्यंजनपर्याय है । किसकारण ? पटादि की (वस्त्रादि की) भांति चक्षुगोचर होने से (प्रगट होती है) अथवा, सादि-सांत मूर्त विजातीय-विभावस्वभाववाली होने से, दिखकर नष्ट होनेवाले स्वरूपवाली होने से (प्रगट होती है) ।

पर्यायी आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा पर्यायस्वभावाला होता है; इसलिए शुभाशुभरूप मिश्र परिणाम से आत्मा व्यवहार से मनुष्य होता है, उसका मनुष्याकार वह मनुष्यपर्याय है; केवल अशुभ कर्म से व्यवहार से आत्मा नारक होता है, उसका नारक-आकार वह नारकपर्याय है; किंचित्शुभमिश्रित मायापरिणाम से आत्मा व्यवहार से तिर्यञ्चकाय में जन्मता है, उसका आकार वह तिर्यञ्चपर्याय है और केवल शुभ कर्म से व्यवहार से आत्मा देव होता है, उसका आकार वह देवपर्याय है । यह व्यंजनपर्याय है । इस पर्याय का विस्तार अन्य आगम में देख लेना चाहिए ।

[अब, १५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —]

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२७॥

(वीरछन्द)

बहु विभाव होने पर भी जो करते परम तत्त्व अभ्यास ।
अतः प्रवीण हुई है जिनकी बुद्धि शुद्धदृष्टि का वास ॥
“समयसार से अन्य कुछ नहीं” वे नर यह श्रद्धा करते ।
शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दर नारी के वल्लभ होते ॥२७॥

श्लोकार्थः—बहु विभाव होने पर भी, सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है - ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, “समयसार से अन्य कुछ नहीं है” ऐसा मानकर, शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है ॥२७॥

गाथा १५ की टीका पर प्रवचन

“यह स्वभाव पर्यायों तथा विभाव पर्यायों का संक्षेप कथन है।

वहाँ स्वभाव पर्यायों और विभाव पर्यायों के बीच प्रथम स्वभाव पर्याय दो प्रकार से कही जाती है। कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय।”

अहा। अगुरुलघुगुण की स्वभाव पर्याय पहले (१४वीं गाथा में) आ गई है; परन्तु वह क्वचित् नहीं, सदा है और इसलिए उसको क्वचित् वर्तती पर्यायों में (श्लोक २६ में) नहीं ली थी। जबकि यहाँ (१५वीं गाथा में) उसको शुद्ध अर्थपर्याय में लेंगे। स्वभावपर्याय बतलाने के पश्चात् उसको बतलायेंगे। पहले स्वभावपर्याय के दो भाग करके फिर उसको (अगुरुलघुगुण की पर्याय को) भी स्वभावपर्याय कहा जाता है — ऐसा कहेंगे।

देखो, इस कारणशुद्धपर्याय का अधिकार इस जगह ही विस्तार से है। अन्यत्र कहीं-अन्यमत में तो नहीं; किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में भी इस गाथा के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसा स्पष्टीकरण नहीं है।

अब पहले कारणशुद्धपर्याय की बात लेते हैं। बहुत शान्ति और धीरज से समझना भाई! क्योंकि यह बात अपूर्व-अलौकिक है। अहा! हिन्दुस्तान में पहले तो यह बात थी; परन्तु अभी-अभी यह नहीं चलती थी।

यहाँ सहज शुद्ध निश्चय से, अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे.....।

देखो, सहज शुद्ध निश्चय से अर्थात् स्वाभाविक शुद्ध निश्चय से (निश्चय से वास्तव में) आत्मा में अनादि-अनंत और रूप, रस, गंध इत्यादि रहित अमूर्त और अतीन्द्रिय स्वभाववाले ... अहाह...! अतीन्द्रिय जिसका स्वभाव है — ऐसे देखो, अतीन्द्रिय स्वभाववाले — ऐसा बहुवचन है, क्योंकि यह गुणों की व्याख्या है और ऐसे स्वभाववाले अनंतगुण हैं। अतः अनादि-अनंत अर्थात् त्रिकाली, अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे ...

ऐसे कौन हैं ? तो कहते हैं —

...ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्व स्वरूप, जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप ...।

अहाहा...! सहज अर्थात् स्वाभाविक त्रिकालीज्ञान, स्वाभाविक त्रिकाली दर्शन, स्वाभाविक त्रिकाली चारित्र अर्थात् वस्तु में रही हुई स्वाभाविक त्रिकाली वीतरागता और स्वाभाविक त्रिकाली परमवीतराग सुख — ये इसके (आत्मा के) गुण अर्थात् स्वभाव हैं। अहाहा...! जैसे वस्तु-आत्मा त्रिकाल अविनाशी सत् है, उसीप्रकार उसमें रहे हुए शुद्ध अन्तःतत्त्व स्थित — ऐसे ये गुण भी सहजरूप त्रिकाल ध्रुव अविनाशी हैं। अहा! ऐसे इन चार स्वरूप — सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहज परमवीतराग सुखात्मक — ऐसे स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्वरूप भगवान आत्मा है। अहा! स्वाभाविकज्ञान-स्वाभाविकदर्शन-स्वाभाविक चारित्र-स्वाभाविक परमवीतराग सुखस्वरूप शुद्ध अन्तःतत्त्व है अर्थात् ऐसा ध्रुवरूप से आत्मा का-जीव का शुद्ध अन्तःतत्त्व है और ऐसे स्वरूप त्रिकाली स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप है।

दूसरी तरह से कहें तो चतुष्टय में चार आये न ? सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, (वीतरागता) और सहज परमवीतराग सुखात्मक — ये चार आये और इन स्वरूप स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप है। यहाँ तक त्रिकाली द्रव्य-गुण कहे। अब कहते हैं — “ उसके साथ की जो पूजित पंचमभाव परिणति (उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली, जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति) वही कारण शुद्धपर्याय है — ऐसा अर्थ है।”

अहाहा ...। कहते हैं — उसके साथ की अर्थात् स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्वरूप के साथ रही हुई, जो पूजनेयोग्य, आदरनेयोग्य, महिमा करनेयोग्य — ऐसी पंचमभाव की परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है। अहा...! जैसे सहज अनन्तचतुष्टयस्वरूप शुद्ध आत्मवस्तु शाश्वत त्रिकाल है, उसीप्रकार उसके साथ वर्तमान में रही हुई शाश्वत त्रिकाल — ऐसी जो पूजनेयोग्य पंचमभाव की परिणति अर्थात् अवस्था है, वही कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा कहते हैं। यह पंचमभाव अर्थात् त्रिकाली सहज पारिणामिकभाव तथा जो ये सहजज्ञानादि कहे हैं, वे सब भी पारिणामिकभावरूप हैं। वे पारिणामिकभावरूप हैं अर्थात् सहजभावपने हैं-त्रिकालभाव हैं-ध्रुवभाव हैं अर्थात् वे पर्यायभाव नहीं, अपितु त्रिकाल ध्रुवभाव से हैं। यह तो शब्द हैं, इनका मर्म समझ में आवे, उतना समझना बापू! तो, त्रिकालीद्रव्य के साथ रही हुई पंचमभाव परिणति-पंचमभाव की वर्तमान अवस्था, वह कारणशुद्धपर्याय है। अहा...! यह कारणशुद्ध-पर्याय स्वभाव पर्याय होने पर भी उत्पाद-व्यय से रहित है अर्थात् इसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है।

देखो, कोष्ठक में अर्थ किया है कि उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली...त्रिकाल स्वाभाविक गुणों की अर्थात् स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्वरूप के साथ तन्मयरूप से अर्थात् एकरूप से रहनेवाली, जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है। अहा! वस्तु है, वह शाश्वत सत् है और जो शाश्वत सत् होता है, वह अनुत्पन्न और अविनाशी होता है। अतः ऐसी जो सत् वस्तु आत्मा है, उसके सत् गुण भी त्रिकाल हैं। अहा! सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजआनंद आदि ऐसे आत्मा के गुण हैं। अतः कहते हैं — उसके साथ रहनेवाली अर्थात् जो त्रिकाली पंचमभाव है, उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली, जो पंचमभाव की परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा अर्थ है।

देखो, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल — ये जो चार द्रव्य हैं, उनमें इनका त्रिकाली ध्रुव द्रव्यभाव और उनका उत्पाद-व्ययरूप भाव एक सरीखा है। अहा। उत्पाद-व्यय होना सो परिणति है और वह जो उत्पाद-व्ययरूप परिणति है, उसकी इन चारों द्रव्यों में एकरूप धारा है।

क्या कहा ? कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल — इन चार द्रव्यों की परिणति-पर्याय अनादि-अनंत उत्पाद-व्ययरूप एक सरीखी है, एकरूपधारापने है। अतः ऐसी उत्पाद-व्ययरहित, एक सरीखी, एक धारारूप, एक ध्रुवपर्याय आत्मा में है — ऐसा कहना है। अहा! धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव द्रव्यों में उत्पाद-व्यय की परिणति अनादि-अनंत एक सरीखी, एकरूपधारापने है; जबकि आत्मा में तो उत्पाद-व्ययरूप संसार पर्याय है, मोक्षमार्ग की पर्याय है और मोक्षपर्याय है। अतः यह सभी पर्यायें एकरूप-एकसरीखी नहीं रहीं। संसारपर्याय विकारी है, मोक्षमार्ग की पर्याय किंचित् विकारी और किंचित् अविकारी है और मोक्षपर्याय अत्यन्त अविकारी है — इसप्रकार जीव की पर्याय में भेद पड़ गये, परन्तु उसमें एक धारा नहीं रही, इसलिए जीव भी एक द्रव्य है तो उसमें भी त्रिकाल एकधारारूप परिणति होनी चाहिए। यों कि जीव के उत्पाद-व्यय तो ऐसे (भिन्न-भिन्न) प्रकार के हैं; अतः जैसी चार अजीव द्रव्यों में एकधारारूप पर्याय है, वैसी एक धारारूप पर्याय जीव के उत्पाद-व्यय में नहीं आई — इसकारण जीव की वैसी एकधारारूप परिणति होनी चाहिए — ऐसा कहते हैं। भाई (विषय) बहुत सूक्ष्म है।

अहा...! ये चार धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्य ध्रुवरूप अविनाशी त्रिकाल है और उनके उत्पाद-व्यय भी एक धारारूप त्रिकाल हैं। उसमें कम, अधिक अथवा विपरीतपना — ऐसा कुछ नहीं है, अपितु एक धारा है; परन्तु ऐसी एक धारारूप उत्पाद-व्ययवाली परिणति आत्मा में तो है नहीं, इसकी उत्पाद-व्यय परिणति में तो विषमता है; इसलिए इसकी (आत्मा की) त्रिकाल एकरूप एक परिणति होनी चाहिए और वह यह कारणशुद्ध-पर्याय है, जो उत्पाद-व्ययरहित ध्रुवधारारूप अनादि-अनंत एक कारणपर्याय है — ऐसा कहते हैं।

विषय ऐसा सूक्ष्म है। बापू! समझ में आवे उतना समझना; क्योंकि यह विषय अभी हिन्दुस्तान में नहीं है; दूसरों को पूछा था, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला; क्योंकि अभी बाहर में यह बात है ही नहीं न!

भाई! यह विषय एकदम नया और गंभीर है, कारण कि जिसको ध्रुव कहे और फिर पर्याय भी कहना; परन्तु उसका मूल अर्थ यह है कि इन धर्मादि चार द्रव्यों में द्रव्य ध्रुव त्रिकाली है और उत्पाद-व्यय की परिणति त्रिकाल एकधारारूप है, एकसरीखी है, और तब उस द्रव्य की पूर्णता कहलाती है। तो इसीप्रकार यहाँ (आत्मा में) भी जैसे द्रव्य-गुण त्रिकाली हैं, वैसे ही उसकी परिणति भी उत्पाद-व्ययरहित एकधारारूप त्रिकाल होना चाहिए; क्योंकि उत्पाद-व्यय में एकसरीखी धारा नहीं है, त्रिकाल एकरूपता नहीं है; इसलिए अन्दर एकसरीखी धारा होना चाहिए और वह यह कारणशुद्धपर्याय है।

प्रश्न — उत्पाद-व्यय पर तो इसकी अनादि से दृष्टि है ?

उत्तर — हाँ, परन्तु यह दूसरी बात है। उत्पाद-व्यय की दृष्टि छोड़ना और ध्रुव की एक की दृष्टि करना — यह बाद की बात है। यहाँ तो अभी यह कारणपर्याय कैसे सिद्ध हो, उसकी बात है। अहा! कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा गाथा में कहते हैं तो उसका हेतु (न्याय) क्या है — यह बात चलती है। अहा! आचार्यों और मुनियों ने कारणशुद्धपर्याय की सिद्धि कैसे की, उसकी यह बात है और फिर वे मुनि भी कैसे! अहा! जो (कलश ५ में) कहते हैं कि इस टीका के करनेवाले हम मंदबुद्धि तो कौन? अर्थात् यह टीका तो पूर्वाचार्यों और गणधरों से चली आ रही है।

तो कहते हैं कि जैसे धर्मादि चार द्रव्यों में उत्पाद-व्यय की परिणति-पर्याय त्रिकाल एकधारा-एकरूप है, इसीप्रकार आत्मा में भी ऐसी त्रिकाल एकधारा-एकरूप परिणति होनी चाहिए और तभी पारिणामिकभाव का सारा द्रव्य पूरा सिद्ध होता है; परन्तु यह उत्पाद-व्ययवाली पर्याय तो उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक — ऐसे चार भाववाली है, त्रिकाल एकरूप नहीं है; इसलिए उत्पाद-व्ययरहित त्रिकाल एकरूप-एकधारी पर्याय होनी चाहिए — ऐसा कहते हैं। भाई (यह विषय) ऐसा बहुत सूक्ष्म है; परन्तु थोड़ा-थोड़ा पकड़ में आवे, उतना पकड़ना। (अर्थात् समझ में नहीं आता — ऐसा मत मानना।)

अहा! धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव द्रव्यों में उत्पाद-व्यय की परिणति एकसरीखी पारिणामिकभावरूप है अर्थात् उनके द्रव्य, गुण और पर्याय — तीनों ही पारिणामिकभावरूप है; क्योंकि उनमें एक ही भाव है। इसीप्रकार आत्मा में भी द्रव्य-गुण और पर्याय एक सरीखे भावरूप, पारिणामिक भावरूप होना चाहिए न ? ऐसा कहते हैं। अहा! क्या सर्वज्ञ की वाणी और द्रव्य को सिद्ध करने की संतों की पद्धति! गजब की शैली है। भाई! यह बात दिगम्बर संतों के अलावा अन्य कहीं नहीं हो सकती। इसमें तो वस्तु की (आत्मा की) ऐसी सिद्धि (अस्तित्व) है — ऐसा साबित करते हैं।

अहा! जैसे उन चार द्रव्यों में उनकी पर्याय-अवस्था त्रिकाल एकरूप पारिणामिक-भावरूप है; उसीप्रकार आत्मा में प्रगट पर्याय त्रिकाल एकरूप पारिणामिकभावरूप नहीं है; क्योंकि उसमें या तो संसारपर्याय है या मोक्षपर्याय है या मोक्षमार्ग की पर्याय है और ये सभी पर्यायें तो (उदयादि) चार भावोंवाली है, इसलिए जैसे उन (धर्मादि) चार द्रव्यों में पर्याय एकरूप-पारिणामिकभावरूप है; उसीप्रकार आत्मा में भी त्रिकाल एकसरीखी पर्याय होनी चाहिए तथा यह (आत्मा) तो चैतन्य बादशाह है, इसलिए इसमें त्रिकाल एकसरीखी पर्याय होनी ही चाहिए।

अहा! ये चार द्रव्य हैं — इनका पता तो इस चैतन्य बादशाह को ही है न ? इन चार द्रव्यों को तो कुछ पता ही नहीं है। ये चारों द्रव्य हैं, इनके गुण हैं और उनकी पर्यायें एकसरीखी है — इस बात का पता उन चारों को नहीं है; परन्तु अपनी और पर की वस्तु ऐसी है — इस बात का पता चैतन्य बादशाह को है। सो इन चार द्रव्यों में भी जब ऐसी पर्याय की त्रिकाल एकधारा है तो अपने में-आत्मा में भी ऐसी एकधारा

होनी चाहिए और इसकारण जैसे द्रव्य त्रिकाल पारिणामिकभावरूप है, उसके गुण त्रिकाल पारिणामिकभावरूप हैं; उसीप्रकार उसमें एक कारणपर्याय भी त्रिकाल पारिणामिक-भावरूप से रही हुई है — ऐसा कहते हैं। एक बड़े विद्वान कहते थे कि यह अनादि-अनंत रहनेवाले गुण की बात है; परन्तु ऐसा नहीं है। भाई ! यह तो अनादि-अनंत एकरूप रहनेवाली कारणपर्याय की बात है।

अहा ! जैसे समुद्र पानी से परिपूर्ण भरा हो, वह उसका दल है और उसकी ऊपर की सपाटी एकसरीखी होती है और फिर उसके ऊपर-बाहर में ऐसी ऊँची-नीची तरंगे उठी होती है; इसीप्रकार आत्मा में द्रव्य और गुण जोकि ध्रुव हैं, वह उसका मूल-पूरा दल है और उसकी कारणपर्याय की सपाटी है, जोकि अन्दर में एकसरीखी ध्रुव सपाटी है; जबकि बाहर में या तो पुण्य-पाप का औदयिकभाव है या उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव है, सो ये तो सपाटी के ऊपर की लहरों के भेद हैं; जबकि सपाटी तो एकसरीखी त्रिकाल ध्रुव है, एकरूप है। अहा ! यह कारणपर्याय है। भाई ! यह कारण-पर्याय सम्पूर्ण चैतन्यरूपी समुद्र में त्रिकाल एकसरीखी एक सपाटीरूप ध्रुव है और इसके ऊपर बाहर में क्वचित् उठते, ये सब पुण्य-पापरूप उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभाव प्रगट पर्यायरूप तरंगें हैं। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बापू!

अहा ! यह जीव अधिकार है न ! इसलिए इसमें यह डाला है कि वस्तु स्वयं भगवान आत्मा और उसके गुण त्रिकाल एकरूप ध्रुव हैं और ऐसी ही उसकी त्रिकाल एकरूप ध्रुव सपाटी है, वह कारणपर्याय है। उसको, वह पर्याय है; इसलिए भले ही विशेष कहो, तथापि वह है तो सामान्य का ही ध्रुव एकरूप अंश अर्थात् त्रिकाल एकरूप पर्याय, जोकि अन्दर में सपाटीरूप भाग है, वह ध्रुव ... ध्रुव ध्रुव है और वह कारण -शुद्धपर्याय है। उसका अनुभव-भोग नहीं आता। यद्यपि अनुभव पर्याय का आता है, परन्तु इस कारणपर्याय का अनुभव नहीं आता; क्योंकि यह उत्पाद-व्ययरहित त्रिकाल ध्रुव एकरूप है। हाँ, इस कारणपर्याय और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य का आश्रय लेने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उसका अनुभव-भोगवट आता है। भाई। वेदन में प्रगट पर्याय आती है, परन्तु वेदन में यह द्रव्य-गुण अथवा कारणपर्याय नहीं आती; परन्तु यह ज्ञान में ज्ञात होते हैं बस। अहा ! बहुत सूक्ष्म बात है। यह बात अन्य बाहर में थी ही नहीं, यह तो स्वाध्याय में पढ़ने पर अन्दर से आई है।

अहाहा! भगवान! अन्दर द्रव्य जो वस्तु-आत्मा है, वह तेरी पूँजी है और उसके त्रिकाली ध्रुवरूप ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं अर्थात् जो त्रिकाली ध्रुवरूप स्वभावचतुष्टय है, वह भी अन्दर में तेरी पूँजी है तथा उसके सहित रहनेवाली जो उपजने-विनशने के परिणमन रहित एकरूप पर्याय की अनादि-अनंत ध्रुवधारा है, वह भी अन्दर में तेरी पूँजी है। अहा! वह (कारणपर्याय) वह की वह अनादि-अनंत ऐसी की ऐसी रहती है। अहा! ऐसी अद्भुत सूक्ष्म बात है प्रभु! यह कारणशुद्धपर्याय, पर्यायरूप है तो भी उसमें परिणमन नहीं है; परन्तु वह एकरूप है — ऐसा यहाँ कहना है और इसीलिए यह अत्यन्त गंभीर बात है।

इसप्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण और कारणपर्याय — ये मिलकर सम्पूर्ण वस्तु सिद्ध होती है। यदि कारणपर्याय को स्वीकार नहीं किया जावे तो वस्तु (द्रव्य) पूरी सिद्ध नहीं होती।

अहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो तत्त्व कहा है, वह अलौकिक है और उसको यहाँ सिद्ध किया है। सर्वज्ञदेव ने तो जैसा है, वैसा जाना और कहा है। अहा.....! इसलिए ऐसा तत्त्व सर्वज्ञ परमेश्वर के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। अहा! सर्वज्ञदेव द्वारा कथित ऐसा यह तत्त्व एक दिगम्बर सम्प्रदाय में ही है। भाई! यह कोई पक्ष की बात नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है — वस्तुस्थिति ही ऐसी है। किसी को इसमें पक्षपात लगता हो तो उसका क्या हो सकता है ? अहो! सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग— धर्म दिगम्बर संतों ने ज्यों का त्यों प्रवाहरूप से टिका रखा है, इसलिए ऐसा मार्ग अन्य कहीं नहीं है। भाई! बात ऐसी अलौकिक है। अहा! दिगम्बर मुनिवरों-संतों ने तो केवली का पेट खोलकर रहस्य बाहर निकाला है। वस्तु की स्थिति कैसी है, उसके द्रव्य-गुण और पर्याय कैसे हैं, उसके उत्पाद-व्यय कैसे हैं, उसके निश्चय-व्यवहार कैसे हैं और उसके व्यवहार में निमित्त का संबंध कैसा है ? अहा! इत्यादिक बातें इन केवली के आड़तियों (संतों) ने की हैं और अन्यत्र यह बात नहीं है; इसलिए भाई! यदि इस बात को अन्य के साथ मिलाने जायेगा तो मेल नहीं खायेगा, समन्वय नहीं होगा। अरे! लोग गहरा विचार नहीं करते, तत्त्व क्या है; उसकी खोज नहीं करते और ऊपर-ऊपर से मान लेते हैं कि यह जैनधर्म है; परन्तु इसतरह जैनधर्म हाथ नहीं आता है। जैनधर्म अर्थात् यह दिगम्बर जैनधर्म। दिगम्बर जैनधर्म अर्थात् सच्चा जैनधर्म। सच्चा जैनधर्म अर्थात् विश्वधर्म और विश्वधर्म अर्थात् आत्मा का धर्म।

अहाहा...! वस्तु भगवान आत्मा है, वह शाश्वत सत् है; शाश्वत् सत् है; इसलिए वह ध्रुव है और उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद आदि जो गुण हैं, वे भी ध्रुव हैं और उनको पारिणामिकभाव कहते हैं; क्योंकि ऐसा ही अपना स्वरूप सहजभावपने अस्ति है न! इसलिए उसको पारिणामिकभाव कहते हैं। तो उसीप्रकार उसकी यह कारणपर्याय भी पारिणामिकभावरूप है। देखो, अन्दर पाठ में यही कहा है न ! पंचमभाव परिणति वही कारणशुद्धपर्याय है। देखो, ऐसे स्पष्ट शब्द तो हैं। संस्कृत टीका में भी **सहाञ्चित पंचमभाव परिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः** — ऐसा पाठ है; इसलिए बापू! शान्ति और धीरज से समझना। इसीकारण तो धीमे-धीमे ले रहे हैं।

अहाहा...! जैसे यह वस्तु भगवान आत्मा त्रिकाली महासत् है, उसीतरह उसके गुण भी त्रिकाली महासत् हैं और उनके साथ रहनेवाली एकरूप पर्याय की सपाटी भी (त्रिकाल) सत् ... सत् ... सत् रूप है और उसको पर्याय कहते हैं; परन्तु उसमें पलटना नहीं है। वह अंश एकधारी त्रिकाल ऐसा का ऐसा रहता है। अहा! यह जरा गंभीर सूक्ष्म चीज है। इसको यहाँ कारणशुद्धपर्याय कहा है और उसकी ओर का मनन करने पर धर्म की दशा प्रगट होती है और वह मोक्ष का मार्ग है।

देखो, भाषा भी कैसी ली है कि 'पूजित पंचमभाव परिणति.....' अर्थात् कि वह परिणति पूजनेयोग्य है — ऐसा कहते हैं। अहा! त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ रही हुई वह पर्याय भी पूजनेयोग्य है, आदरनेयोग्य है, उपादेय-आश्रय करनेयोग्य है और उसमें नजर करके एकाग्र होनेयोग्य है। अहा! उसमें नजर करके एकाग्र होने का नाम ही मोक्ष का मार्ग है। अहा! जैसे सामान्य में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आते हैं — ऐसा कहते हैं; उसीप्रकार उसका जो यह वर्तमान-वर्तमान ऐसा त्रिकाली विशेष है (जो कारणशुद्धपर्याय है), उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आते हैं — यह कथन भी समुचित है।

अहा ! अन्दर भगवान आत्मा त्रिकाली वस्तु है और वस्तु है तो वह त्रिकाल सत् है और सत् हो वह क्या कोई उत्पन्न हुआ होता है ? नहीं; और अनुत्पन्न का क्या नाश होता है ? नहीं होता। जो उत्पन्न होता है, उसका तो नाश होता है; परन्तु जो अनुत्पन्न हो उसका नाश क्या होगा ? अतः वह तो अनादि से है... है और है। इसीप्रकार उसके गुण भी अनादि से हैं ... हैं... और हैं अर्थात् सत् हैं। इसीप्रकार उसमें तन्मय रहनेवाली यह कारणपर्याय भी त्रिकाल भावरूप सत् है अर्थात् है ... है... और है।

दूसरी तरह से विचार करें तो संसारपर्याय, मोक्षमार्गपर्याय और सिद्धपर्याय — यह सब व्यवहार (व्यवहारनय का विषय) है। जबकि द्रव्यस्थित एक ऐसी पर्याय है कि जो निश्चय में (निश्चयनय के विषय में) जाती है और वह यह कारणशुद्धपर्याय है। अहा। यह कारणपर्याय व्यवहार नहीं है, अपितु निश्चय है। जबकि यह सब संसार और सिद्ध ऐसे भेद व्यवहार में जाते हैं; क्योंकि ये प्रगट पर्याय के भेद हैं न! इसलिए व्यवहार है। सिद्धपद और केवलज्ञान की पर्याय — यह व्यवहारनय का-सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। किसको ? कि निचलीदशा में साधक को; क्योंकि जिनको केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगटा है, उनको नय नहीं है और अज्ञानी को भी नय नहीं है। अतः निचलीदशा में साधक को यह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

अब यहाँ यह कहना है कि जैसे द्रव्य-गुण निश्चय है; वैसे ही उनकी एकरूप धारापने त्रिकाल वर्तती पर्याय भी निश्चय है — इन तीनों को निश्चय कहा जाता है। कारणशुद्धपर्याय, पर्याय है; इसलिए व्यवहार है — ऐसा नहीं है (क्योंकि वह द्रव्य-गुण के साथ वैसी की वैसी रहती है।) अहा! वीतरागमार्ग की बात ऐसी है बापा! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने वीतरागभाव सहित ज्ञान में जो देखा है, वह आया है; इसलिए भाई! तत्त्व की ऐसी व्यवस्था वीतराग सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं हो सकती।

अहा! जीव में व्यवहार-निश्चय के भेद करने पर संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष — यह सब व्यवहार है तो फिर पर्याय का निश्चय होना चाहिए न ? अतः यह कारणशुद्धपर्याय पर्याय का निश्चय है। देखो, चार द्रव्यों को पर्याय त्रिकाल एकरूप है। भले ही उसको व्यवहार कहा जाता है; क्योंकि त्रिकालीध्रुव सो निश्चय और उत्पाद-व्यय सो व्यवहार है — ऐसा होने पर भी, वह व्यवहार चारों द्रव्यों में एकधारा है। (उसमें हीनाधिकता या विपरीतता नहीं है)। जबकि इस जीवद्रव्य का व्यवहार एकधारा नहीं है, विषम है; परन्तु निश्चय एकधारा है और उसमें एकरूप ऐसी यह कारणशुद्धपर्याय है। बापू! अब ऐसी बात अन्य (वेदान्तादि में) कहाँ है ?

अहा! ज्ञान की प्रगट पर्याय में एकरूपता, एकधारा नहीं है और जो एकधारापने एकरूप पर्याय है, वह अन्दर ध्रुव में है और ध्रुवरूप है; इसलिए ये तीनों द्रव्य, गुण और ध्रुवपर्याय निश्चय में जाते हैं। जबकि यह राग-द्वेषमय संसार, अन्दर से प्रगट

होनेवाला शुद्धतारूप सच्चामार्ग-मोक्षमार्ग और मोक्ष — यह व्यवहार है; क्योंकि यह प्रगट होता है, बाहर आता है, नया होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय के परिणाम अर्थात् आत्मा की निश्चय वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति की पर्याय, वह व्यवहार है; क्योंकि वह नई होती है और क्वचित् है, जबकि यह द्रव्य, गुण और कारणपर्याय न तो नई है और न क्वचित् है, इसलिए यह निश्चय है। अहा! पकड़ में (समझ में) आवे उतना पकड़ो, नहीं पकड़ में आवे तो दूसरा क्या हो सकता है ? क्योंकि बापू! यह वीतराग का तत्त्व तो बहुत गंभीर है।

अहा! भगवान् सर्वज्ञदेव ने जो कहा है और गणधरों ने जो गूँथा है, वही तत्त्व यहाँ संत कहते हैं।

कहते हैं — ‘जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप...’ यह तो यहाँ चार गुणों का मुख्यरूप से वजन दिया है, वरना उसके साथ तो अनंतगुण शामिल हैं, तो उसके साथ की जो पूजित पंचमभाव परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है। यह कारणपर्याय भी पूजित अर्थात् पूजनेयोग्य है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि इस कारणपर्याय का अवलम्बन लेने पर, इसमें ध्रुवद्रव्य का अवलम्बन भी साथ ही आ गया है, इसमें से पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य और आनंद की धारा बहती है — ऐसी बात है।

अब टीका फिर से लेते हैं। यह गंभीर, नया और सूक्ष्म विषय है न! इसलिए जरा फिर से लेते हैं —

यह स्वभावपर्यायों और विभावपर्यायों का संक्षेप कथन है।

इस गाथा में स्वभावपर्याय-स्वभाव अवस्था और विभावपर्याय-विभाव अवस्था का संक्षेप कथन है। देखो, यह संक्षेप में कथन है। इसका विस्तार तो जो विशेष ज्ञानी होते हैं, वे अन्दर से निकालते और जानते हैं। अब कहते हैं —

वहाँ स्वभावपर्यायों और विभावपर्यायों के बीच प्रथम स्वभावपर्याय दो प्रकार से कही जाती है। कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय।

‘वहाँ स्वभावपर्यायों...’ पाठ में ‘कर्मोपाधि विवर्जित्य पज्जाया’ है न ? अर्थात् कर्मोपाधि रहित पर्यायें हैं, वे स्वभावपर्यायें हैं और इसलिए उसमें यह भी आ गया कि कर्मोपाधि सहित हैं, वे विभावपर्यायें हैं।

भाई! यह एकदम नई बात है। अभी यह कारणशुद्धपर्याय की बात चलती ही नहीं। इस १५वीं गाथा में ही इसकी बात बहुत स्पष्ट आई है। अन्य शास्त्रों में भी इसकी बात होगी; परन्तु अपन निकाल नहीं सकते। यहाँ इस गाथा में इसकी स्पष्ट व्याख्या है। अब यहाँ पहले कारणशुद्धपर्याय की व्याख्या करते हैं —

‘यहाँ सहज शुद्धनिश्चय से, अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध — ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्व स्वरूप, जो स्वभाव अनंतचतुष्टय का स्वरूप ...।’

अहा! ‘सहज’ कहने से स्वाभाविक, ‘शुद्ध’ कहने से पवित्र, ‘निश्चय’ से कहने से (निश्चयनय से) और अनादि-अनंत कहने से अभी जो सहजज्ञानादि स्वचतुष्टय कहेंगे, वे आत्मा में अनादि-अनंत रहे हुए हैं — ऐसा कहते हैं। अर्थात् जैसे आत्मा (द्रव्य) अनादि-अनंत रहता है, उसीप्रकार ये सहज ज्ञानादिगुण भी अनादि-अनंत रहते हैं और इसीतरह इन गुणों के साथ तन्मयपने रहनेवाली कारणपर्याय भी अनादि-अनंत रहती है — यह यहाँ सिद्ध करना है।

क्या कहा ? कि जैसे वस्तु भगवान आत्मा आदि-अन्त रहित चीज है, उसीप्रकार उसमें रहनेवाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुखरूप गुण भी अनादि-अनंत हैं। यद्यपि यहाँ (कारणशुद्धपर्याय की व्याख्या में) तो मुख्यरूप से ज्ञानादिचतुष्टय (चार गुण) लिए हैं; परन्तु मुख्यपने ये चार गुण लिये हैं, इससे आत्मा में अन्य सब गुण नहीं हैं — ऐसा नहीं है। यहाँ तो (कारणशुद्धपर्याय की व्याख्या में तो) ये ज्ञानादि चतुष्टय (चार गुण) मुख्यरूप से लेकर फिर कार्यशुद्धपर्याय में (केवलज्ञान में) भी यह चतुष्टय परिणमा है — ऐसा कहना है, वरना कार्यशुद्धपर्याय में ये चार गुण ही परिणमे हैं और वहाँ अन्य गुण नहीं परिणमे हैं — ऐसा कुछ नहीं है। उसमें तो अनंतगुण परिणमे हैं तो भी कारणशुद्धपर्याय की व्याख्या में मुख्यरूप से ज्ञानादिचतुष्टय ही लिया है; इसलिए कार्यशुद्धपर्याय की व्याख्या में भी यह चतुष्टय ही लिया है अर्थात् मुख्यरूप से ज्ञानादि चतुष्टय की बात की है; परन्तु इससे कोई ऐसा माने कि यहाँ इन (ज्ञानादि) चार गुणों की ही बात है — इसकारण केवलज्ञान में इन चार गुणों का ही परिणमन है तो कार्यशुद्धपर्याय की व्याख्या में अन्तर पड़ जायेगा; क्योंकि कार्यशुद्धपर्याय में इन ज्ञानादि चार गुणों का ही परिणमन है — ऐसा नहीं है। केवलज्ञानरूपी कार्यशुद्धपर्याय में तो अनंत गुणों की पर्यायों का परिणमन एकसाथ ही है।

अब कहते हैं 'अमूर्त' अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आनन्द — यह चतुष्टय गुण मूर्त नहीं हैं, अमूर्त हैं और इसलिए इन गुणों के साथ तन्मयरूप से रहनेवाली कारणपर्याय भी अमूर्त है। ये गुण 'अतीन्द्रिय स्वभाववाले' हैं अर्थात् ये इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं; क्योंकि इन गुणों का अतीन्द्रिय स्वभाव है। जैसे भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय स्वभाव है, वैसे ही ये गुण भी अतीन्द्रिय स्वभाववाले हैं। अहा! यहाँ मूल तो मुख्यरूप से उपयोग की व्याख्या है; तथापि कारणशुद्धपर्याय की व्याख्या में यहाँ ज्ञानादि मुख्य गुण लिये हैं; अतः फिर इनके साथ अन्य समस्त गुण भी आ गये हैं — ऐसा समझना और इसलिए जैसे इन ज्ञानादि चार गुणों में कारणपर्याय कही है, वैसे ही अन्य सभी गुणों में भी कारणपर्याय ले लेना।

अहा! आत्मा, यह तो वस्तु हुई अर्थात् यह तो स्वभाववान हुआ तो इसका स्वभाव क्या है? कि त्रिकाली सहजज्ञान, त्रिकाली सहजदर्शन, त्रिकाली सहजचारित्र — यह त्रिकाली सहजचारित्र (वर्तमानपर्याय नहीं) अर्थात् यह त्रिकाली वीतरागभाव है और त्रिकाली सहज परमवीतराग सुख — यह आत्मा का स्वभाव है। अहाहा! त्रिकाली स्वाभाविक परमवीतरागसुख — यह आत्मा का स्वभाव है अर्थात् स्वाभाविक परमवीतरागी सुखस्वरूप भगवान आत्मा है; इसलिए मुख्यरूप से ये चार सहजगुण लिए हैं, हैं तो अनन्त...।

अहाहा...। आत्मा सहज परमवीतरागी सुखस्वरूप है। बापू! जगत में यह तुम्हारे विषयों का सुख तो कल्पना से माना हुआ सुख है, यह कोई सुख नहीं है; अपितु वास्तव में दुःख है। अतः कल्पना का जो रागवाला सुख है, उससे विरुद्ध बताने के लिए त्रिकाली आत्मा में रागरहित परमवीतरागीसुख भरा है अर्थात् आत्मा वीतरागी सुखस्वरूप है — ऐसा कहते हैं। अहा! शुद्ध अन्तःतत्त्व ऐसा आत्मा परमवीतरागी आनन्दामृत का सागर है — ऐसा कहते हैं। यहाँ शुद्ध अन्तःतत्त्व में यह चतुष्टय (सहजदर्शन-ज्ञान-चारित्र-सुख) है — ऐसा जो कहा है, वह मुख्यरूप से कहा है; वरना आत्मा का शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप तो अनन्तगुणों का पिण्ड है।

अहा...! यह विषय सूक्ष्म आया है। यह तो मुनिराज ने बहुत अपूर्व-अपूर्व विषय, जोकि पाठ में है, उसमें से निकाला है। पाठ में (गाथा में) जो होगा, वही तो निकालेंगे न? गाथा में होवे उसी की टीका होती है न?

कहते हैं — स्वभावपर्याय दो प्रकार की है — एक कारणस्वभावपर्याय और एक

कार्यस्वभावपर्याय। अब यह कारणस्वभावपर्याय माने क्या ? कि शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव अनंतचतुष्टय का स्वरूप, उसके साथ की जो पूजित पंचमभाव परिणति, वही कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा अर्थ है।

अहा! स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक सुख — ऐसा जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप है, उसके साथ रहनेवाली ... सहाजित — यह पाठ है न; अर्थात् उसके साथ रहनेवाली ... यानी कि यह कारणपर्याय अनादि-अनंत तीनोंकाल साथ ही है। ऐसा जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप है, उसके साथ सदा रहनेवाली ऐसी जो पूजित पंचमभाव की परिणति है, वह कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा कहते हैं। देखो, फिर मुनिराज को अन्दर में यह भाव आया है कि अहो! वह पूजित अर्थात् पूजनेयोग्य पर्याय है, आदरनेयोग्य पर्याय है; क्योंकि उस कारणपर्याय का मनन करने से और उसकी एकाग्रता से सम्यग्दर्शनादि पर्यायें प्रगट होती हैं।

यहाँ कहते हैं — भगवान! अपनी अलौकिक चैतन्यऋद्धि तो सुन! कि तेरे में (आत्मा में) मुख्य ऐसा सहज अनंतचतुष्टय है अर्थात् तेरे में सहज त्रिकाल वीतरागी अनंतज्ञान है, सहज त्रिकाल वीतरागी अनंतदर्शन है, सहज त्रिकाल वीतरागी अनंतचारित्र है, सहज त्रिकाल वीतरागी सुखस्वरूप अनंत-आनंद है। अहाहा...! तेरा स्वरूप ऐसा अचिन्त्य अद्भुत है कि जिसमें से वीतरागता का कार्य प्रगट होता है। अहा! ऐसे निज-स्वरूप के साथ रहनेवाली पूजित पंचमभाव परिणति... पंचमभाव माने क्या ? पंचमभाव अर्थात् त्रिकाली पारिणामिकभाव, आत्मा के स्वरूप की हयातीवाला (अस्तित्ववाला) त्रिकालीभाव। पंचास्तिकाय में भी ऐसी व्याख्या की है कि **द्रव्यात्मलाभ हेतुकः परिणामः** (गाथा ५६) अर्थात् द्रव्य के स्वरूप का लाभ, द्रव्य के स्वरूप की हयाती (अस्ति) वह पारिणामिक है। (लाभ-हयाती) अतः द्रव्यरूप भगवान आत्मा है, वह त्रिकाल अस्तित्ववाला तत्त्व है और उस भाव को (तत्त्व को) परम पारिणामिकभाव-पंचमभाव कहते हैं और उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली, जो पूजनीय-पूजनेयोग्य-आदरनेयोग्य — ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है। इसमें 'वही' शब्द पर जोर दिया है।

यह तो शब्दार्थ हुआ। अब इसको सिद्ध करते हैं अर्थात् कारणशुद्धपर्याय क्यों होना चाहिए — यह सिद्ध करते हैं —

परम-पारिणामिकभावरूप वस्तु जो आत्मा है, उसमें यह कारणपर्याय पारिणामिक भावपने होकर रही हो तो ही द्रव्य का निश्चयपना पूर्ण सिद्ध होता है। जैसे कि — धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल — इन चार द्रव्यों में उनके उत्पाद-व्यय की एकधारारूप अनादि-अनंत पर्याय है और ये दो (द्रव्य और पर्याय) होकर पूरा पारिणामिकभाव पूर्ण होता है। अब, जैसे इन चार द्रव्यों में पारिणामिकभाव की एक सरीखी धारावाही उत्पाद-व्यय की पर्याय है, वैसी उत्पाद-व्यय की एकसरीखी धारावाही पर्याय आत्मा में नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि संसारदशा में अनेक रूप विकार होते हैं और फिर मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होने पर किंचित् शुद्धता हुई है और किंचित् अशुद्धता रही है। वह मोक्षमार्ग की पर्याय भी नई प्रगट हुई है; इसलिए आदि है और उसका अन्त आ जायेगा; क्योंकि मोक्ष होने पर मोक्षमार्ग का अन्त आ जायेगा, इसलिए वह एकसरीखी नहीं रही। तथा मोक्ष की पर्याय प्रगट होने के बाद से सादि-अनंतकाल रहेगी। इसप्रकार आत्मा की पर्यायें अनादि-अनंतकाल एकधारारूप एकसरीखी नहीं रही। जबकि उन चार द्रव्यों में अनादि-अनंत एकसरीखी पर्याय है, इसलिए आत्मा में ऐसी एकसरीखी पर्याय होना चाहिए और तभी वस्तु की पूर्णता सिद्ध होती है। अब, उत्पाद-व्यय की पर्याय तो एकसरीखी नहीं है, इसलिए आत्मा में उत्पाद-व्ययरहित त्रिकाल एकसरीखी पर्याय होनी चाहिए; अतः वह एकसरीखी पर्याय सो ध्रुवपर्याय है, कारणपर्याय है, जोकि अनादि-अनंत है। उसको पर्याय कहने से भले ही उसका विशेषपना ख्याल में आता है; तथापि वह ध्रुव सामान्य के साथ का विशेष है अर्थात् वह विशेष... विशेष... विशेष — ऐसे करते-करते अनादि-अनंत एकरूप है।

एक बार कहा था कि यह कारणपर्याय पारिणामिकभाव का विशेष भाव है और त्रिकालीगुण है, वह त्रिकाली पारिणामिकभाव का सामान्यभाव है; क्योंकि यह कारणपर्याय ध्रुव का अंश है न; इसलिए ध्रुव का विशेष है। वह ध्रुव का भाव होने से विशेष है; परन्तु उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है।

अहा! जैसे समुद्र में तीन बोल कहे थे न!

१. समुद्र में पानी का जो पूरा दल है, वह दल द्रव्य के स्थान पर है।

२. पानी का जो शीतलता का स्वभाव है, वह इसके (द्रव्य के) गुण के स्थान पर है।

३. पानी की ऊपर की (तरंगरहित) एकरूप सपाटी वह इसकी कारणपर्याय के स्थान पर है और ये तीनों अभेद हैं। इसीप्रकार आत्मा में —

१. द्रव्य अर्थात् उसका त्रिकाली पूरा दल, वस्तु स्वयं।

२. उसके गुण अर्थात् मुख्यरूप से यहाँ स्वभावचतुष्टय कहे हैं, यों तो सब अनंतगुण समझना।

३. उसकी पर्याय अर्थात् उसके साथ की (उत्पाद-व्यय के अनेक रूप तरंगों से रहित) एकरूप सपाटी जैसी यह कारणशुद्धपर्याय, जोकि अनादि-अनंत है। अहा! ये तीनों अभेद हैं।

भाई! बात बहुत अद्भुत है। वीतरागीकथित तत्त्व अतिगहन-सूक्ष्म है।

अहा! ऐसी एकरूप जो कारणपर्याय है, वह सहज त्रिकालीगुण के साथ एकरूप है। यहाँ गुण में चतुष्टय की-चार की मुख्यता की है, वैसे वस्तु में कोई चार ही गुण है — ऐसा नहीं है। इन चार के साथ सब अनंत गुण तो साथ ही हैं। भाई! गुणों में मात्र चतुष्टय ही लेंगे तो कार्यपर्याय में बाधा आयेगी; क्योंकि इससे चार ही कार्यपर्यायें माननी पड़ेगीं, जबकि कार्यपर्यायें तो अनंत हैं; इसलिए यहाँ जो गुण में चतुष्टय लिया है, वह मुख्यता की अपेक्षा से जानना चाहिए और इसीप्रकार कार्यपर्याय में भी अकेले कार्यचतुष्टय केवलज्ञानादि चार ही कार्यपर्यायें ली हैं, वह बात भी चार की मुख्यता से ही समझना चाहिए। भाई! कार्यपर्यायें हैं तो अनन्त; परन्तु यहाँ मुख्यता से चार ही पर्यायें ली हैं — ऐसा यथार्थ समझना चाहिए।

अतः आत्मा में —

१. अनादि-अनंत वस्तु का ध्रुव दल वह द्रव्य है।

२. उसके अनादि-अनंत ध्रुव ऐसे सहजगुण हैं।

३. त्रिकाली सहजचतुष्टय के साथ तन्मय रहनेवाली कारणपर्याय भी है और इसीप्रकार अनंतगुणों के साथ तन्मय रहनेवाली कारणपर्याय भी है अर्थात् जैसे ज्ञान की कारणपर्याय है, दर्शन की कारणपर्याय है, चारित्र की कारणपर्याय है और आनंद की कारणपर्याय है; इसीप्रकार अनंतगुणों का कारणपर्यायरूप भाव अनादि-अनंत उनके साथ तन्मयरूप है। अहा! भाई! बहुत सूक्ष्म है।

अहा! अन्दर भगवान आत्मा है, उसका पूरा (पूर्ण) रूप ऐसा है। अहा! वह पूरा ऐसा है अर्थात् द्रव्य-गुण और कारणपर्याय — ऐसे तीनों मिलकर उसका एक निश्चय पूर्ण रूप सिद्ध होता है। जबकि संसार आदि उत्पाद-व्ययरूप पर्याय का जो भेद है, वह व्यवहार है। वह प्रगट पर्याय का भेद है न, इसलिए व्यवहार है।

अहा! वस्तु अर्थात् आत्मा के गुण त्रिकाल हैं, उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली वर्तमान... वर्तमान ऐसी जो एकरूप अनादि-अनंत ध्रुव पर्याय है, वह कारणपर्याय है। अहा! उस पर्याय का परिणमन नहीं होता, उसमें उत्पाद-व्यय भी नहीं होता और उसका वेदन भी नहीं आता। अहा! वह तो अन्दर उत्पाद-व्यय रहित ध्रुव ऐसी की ऐसी कायम रहती है। उसको यहाँ कारणशुद्धपर्याय कहा है और इसप्रकार पारिणामिकभाव का पूरा-पूर्णतत्त्व सिद्ध होता है।

संवत् २००२ के साल में (इस गाथा के प्रवचनों में) एक न्याय से कहा था कि वह (कारणपर्याय) ध्रुव का विशेष है; कारण कि त्रिकालीध्रुव सामान्य है तो यह कारणपर्याय ध्रुव त्रिकाली सामान्य का अंश है और ध्रुव का अंश है; इसलिए विशेष है; परन्तु इससे वहाँ विशेष का अर्थ उपजना अथवा बदलना नहीं है, अपितु वह विशेष भी ध्रुवरूप ही है और ये तीनों (द्रव्य, गुण और कारणपर्याय) होकर पूरा पारिणामिकभाव सिद्ध होता है तथा यह पारिणामिकभाव संसारादि तीनों बोलों में नहीं है; क्योंकि —

१. संसारभाव है, वह उदयभाव है और उसमें किंचित् क्षयोपशमभाव है तो भी एकरूप अनादि-अनंत नहीं है।

२. अब जब मोक्षमार्ग प्रगट होता है, तब वह आत्मा के स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। यह कारणपर्याय और साथ ही ध्रुव — इन दोनों के आश्रय से उसमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। वह पर्याय (मोक्षमार्ग) अनादि की नहीं, अपितु नई प्रगट होती है और उस प्रगट पर्याय के साथ किंचित् विभावभाव भी है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग नया प्रारम्भ होता है और वह असंख्य समय ही रहता है। यह संसार है, वह अनंत समय रहता है; परन्तु मोक्षमार्ग की दशा मोक्ष होने तक असंख्य समय ही रहती है। भले ही कोई जीव पन्द्रह भव करे तो भी

वह असंख्य समय ही है; क्योंकि अपनी चीज साधनी है, उसमें साधक को अनंतकाल नहीं चाहिए। अब, यह मोक्षमार्ग भी एकरूप अनादि-अनंत नहीं है।

३. असंख्य समय में ही मोक्षमार्ग पूर्ण होकर मोक्ष होता है। अब वह मोक्ष की दशा अनंतकाल रहती है; परन्तु वह सादि है अर्थात् मोक्षदशा सादि-अनन्त है, एकरूप अनादि-अनन्त नहीं — इसप्रकार ऐसे तीन भंग पड़ने से यह व्यवहार है; जबकि पारिणामिकभाव तो निश्चय है। आशय यह है कि प्रगट पर्याय में संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष — ऐसे तीन भंग-भेद पड़े, इसलिए वह व्यवहारनय का विषय हुआ; जबकि ये तीन (द्रव्य, गुण और कारणपर्याय) होकर पूरा पारिणामिकभाव निश्चयनय का विषय है और इन दोनों का (निश्चय-व्यवहार का) ज्ञान करना सो प्रमाणज्ञान है। प्रभु! वस्तु ऐसी सूक्ष्म है।

अहा! इस कारणपर्याय का जो भी भाव है, वह प्रत्येक गुण में है। वस्तु में जो अनंतगुण हैं, उन सबकी वर्तमान... वर्तमान — ऐसी त्रिकाल एकरूप कारणपर्याय है। वह उसका ध्रुव अंश है। इसप्रकार —

१. भगवान आत्मा द्रव्यरूप अनादि-अनंत ध्रुव है।

२. उसके अनंतगुण भी अनादि-अनंत ध्रुव है और

३. यह कारणपर्याय भी त्रिकाल एकरूप सदृश ऐसी अनादि-अनंत ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव है। इसप्रकार तीनों होकर, आत्मा का निश्चय पारिणामिकभाव पूरा होता है। अब यदि कारणपर्याय न हो तो (स्वीकार नहीं की जावे तो) आत्मा के पारिणामिकभाव की अवस्था की त्रिकालता सिद्ध नहीं होती और तब पारिणामिकभाव पूरा-पूर्ण सिद्ध नहीं होता। बापू! ऐसा सूक्ष्म मार्ग है।

प्रश्न :— तो क्या कारणपर्याय का वेदन नहीं होता ?

उत्तर :— नहीं, वेदन नहीं होता। वह ध्रुव-एकरूप है न! इसलिए उसका वेदन नहीं होता; परन्तु ध्रुव का आश्रय करने पर जो पर्याय प्रगट होती है, उसका वेदन होता है। वेदन-अनुभव तो उत्पाद-व्ययरूप का होता है न! ध्रुव का वेदन नहीं होता और यह कारणपर्याय तो उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव एकसदृश है, इसलिए उसका वेदन नहीं होता। अहा! वेदन तो प्रगट पर्याय का होता है और वह वेदन की पर्याय, कारणपर्याय और ध्रुव के आश्रय से प्रगट होती है। वेदन की पर्याय को ध्रुव का आश्रय होता है। ध्रुव (कारणपर्याय) तो त्रिकाल ऐसी की ऐसी रहती है; इसलिए उसका वेदन नहीं होता।

इसप्रकार यहाँ त्रिकाली गुण की कारणशुद्धपर्याय कही और उस कारणशुद्धपर्याय को विशेषरूप भी कहा।

अहो! ऐसा तत्त्व वीतरागमार्ग के सिवाय अन्य कहीं है ही नहीं और उसमें भी दिगम्बर संतों द्वारा कथित तत्त्व ही सच्चा तत्त्व है। ऐसा स्वरूप — ‘पूर्ण द्रव्य सो निश्चय और पर्याय सो व्यवहार’ — अब ऐसी बात अन्य कहीं है ही नहीं। अरे! लोग तो राग के व्यवहार से — दया पालना, व्रत पालना, भगवान की पूजा-भक्ति करना और यात्रा करना इत्यादि व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसा मानकर वहाँ अटक गये हैं; परन्तु इसमें धर्म है ही नहीं; क्योंकि ये सब तो विकल्प-राग के भेद हैं।

अहा! यहाँ तो कहते हैं कि सादि-अनंत रहनेवाला केवलज्ञान और सिद्ध की पर्याय भी व्यवहार है, और इसलिए वह आदरणीय नहीं है तो फिर इस राग का तो कहना ही क्या ? बापू! यह तो अत्यन्त हेय है।

अहो! मुनिराज ने गाथा में से अलौकिक तत्त्व निकाला है और फिर मुनिराज कैसे ? जो कहते हैं ‘गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित...’ (कलश ५) अर्थात् ग्रन्थ की टीका गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित है और इसके अर्थ श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये हैं। अहा। श्रुतधर अर्थात् जिनने भाव में श्रुत-शास्त्रों को धारण किया है — ऐसे महासंत, दिगम्बर महामुनिवर अर्थात् गणधरों की परम्परा में हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री पूज्यपादस्वामी इत्यादि महान संत और इनके पूर्व हुए मुनिराज भी महाश्रुतधर थे। सो ऐसे श्रुतधरों से इस टीका का अर्थ अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। श्लोक में ‘सुव्यक्तम्’ पद है न! यानी कि इन अर्थों का-परमागम के अर्थ समूह का कथन अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। जब ऐसा है वहाँ इस टीका के समूह का कथन करने में हम मंदबुद्धि तो कौन ? ओहो। कितनी निर्मानता। अहाहा...! कहते हैं — हम यह टीका करनेवाले कौन ? भाई! क्योंकि इसका (नियमसार का) अर्थ तो भगवान गणधरदेव और परम्परा के श्रुतधरों ने किया ही है। मैं तो मात्र इसमें निमित्त हूँ। इस कारणपर्याय का अर्थ मैं ही करता हूँ, मैंने ही किया है — ऐसा तो है नहीं; क्योंकि यह अर्थ तो गणधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये हुए चले आ रहे हैं। तुमको नया लगता है कि यह (कारणशुद्धपर्याय) मैंने ही निकाली है, तो कहा कि नहीं, भाई! इसका अर्थ तो गणधरों को परम्परा से इसीप्रकार

चला आ रहा है और इसीतरह श्रुतधरों ने इसके अर्थ का वर्णन किया है और वही यहाँ कहते हैं। अतः —

१. पहले सामान्य-विशेष की बात आई। (द्रव्य-गुण-सामान्य और कारणपर्याय वह उसका ध्रुव विशेष।)

२. फिर प्रत्येक गुण की कारणपर्याय आई। (जैसे सहजचतुष्टय में कारणपर्याय है; वैसे ही प्रत्येक गुण में भी कारणपर्याय है।)

३. फिर धर्मास्तिकायादि की अपेक्षा से परिणामिकभाव की पूर्णता की सिद्धि आई। (जैसे धर्मास्तिकायादि में उनके द्रव्य-गुण में एक भाव है, उसीप्रकार जीव में द्रव्य-गुण और उत्पाद-व्ययरहित कारणपर्याय एक धारारूप है और इससे पारिणामिकभाव की पूर्णता होती है।) और

४. अन्त में, संसारादि प्रगट पर्याय के भेद पड़े, वह व्यवहार है और पूर्ण-पूरा (द्रव्य-गुण और कारणपर्याय मिलकर) पारिणामिकभाव है, वह निश्चय है — यह बात आई है। तो इसमें व्यवहार है, वह जाननेयोग्य है बस, आदरनेयोग्य नहीं, जबकि आदरने योग्य तो यह द्रव्य-गुण और कारणपर्याय का ध्रुव अभेद एक पूर्ण पारिणामिकभाव स्वरूप तत्त्व है, वही है। भाई! तेरी दृष्टि वहीं लगानेयोग्य है।

अहा! इस गाथा के अलावा अन्यत्र कहीं ऐसा स्पष्ट अर्थ नहीं है। अरे ! दिग्म्बर शास्त्रों में भी अन्यत्र ऐसी स्पष्टता नहीं है — ऐसा अपूर्व स्पष्टीकरण यहाँ मुनिराज ने किया है और फिर भी उनकी निर्मानता कैसी है।

प्रश्न :— यह बात यहाँ क्यों आई ?

उत्तर :— क्योंकि यह नियमसार है सो मोक्षमार्ग-पर्याय का अधिकार है। अतः पर्याय का जो कोई वास्तविक स्वरूप है, वह यहाँ आना ही चाहिए। अहा! भगवान् आत्मा के जो यह त्रिकाली द्रव्य-गुण और ध्रुवपर्याय है, उसके आश्रय से जो दशा प्रगट होती है, जो मोक्षमार्ग प्रगट होता है — वह पर्याय है। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में पर्याय का वर्णन है। इसकारण इसमें यह कारणशुद्धपर्याय भी आई है अर्थात् मुनिराज ने कारणपर्याय की बात की है और स्वयं आचार्य (कुन्दकुन्दाचार्य) भी पाठ में (गाथा में) यही कहते हैं कि **कम्मोपाधि विवज्जिय पज्जाया** अर्थात् कर्मोपाधि रहित पर्यायें

(स्वभावपर्यायें) हैं तथा 'निरवेक्खा' निरपेक्ष — यह शब्द भी आया था न ? १४वीं गाथा में निरपेक्ष शब्द है, सो उस निरपेक्ष पर्याय को यहाँ कर्मोपाधिरहित पर्याय कही है और पज्जाया — ऐसा बहुवचन है। इसलिए कहते हैं कि स्वाभाविक पर्यायों के दो भेद हैं : एक कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय। अन्दर गाथा में ही इस कारण-पर्याय की बात है और उसमें से मुनिराज ने निकाली है।

अहो! यह तो अचिन्त्य-अद्भुत बात है।

अहा! ऐसा जैनदर्शन अलौकिक है और उसमें यह दिगम्बर दर्शन ही सच्चा जैनदर्शन है। इस बात में लोगों को पक्षपात जैसा लगता है; परन्तु भाई! ऐसी बात दिगम्बर संतो-केवली के आड़तिया मुनिराजों के अलावा अन्य कहीं है ही नहीं; परन्तु वे सच्चे भावलिंगी मुनिवर! मात्र नग्न होकर मुनि हो जाना ही सच्चा मुनिपना नहीं है।

अहो! भावलिंगी संतों ने पाताल तोड़कर वस्तु के तल की-अन्दर की अजब-गजब की बातें की हैं। भाई! तेरे अन्दर में ऐसा (पारिणामिक) भाव है, इसलिए वहाँ दृष्टि कर तो तुझको सम्यग्दर्शन होगा; कारण कि इन तीनों की (द्रव्य-गुण और कारणपर्याय की) यथार्थपने की हुई अन्तर प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् प्रशंसनीय दर्शन। अतः कहते हैं कि उसके लिए ऐसी जो यथार्थ वस्तु है, उसकी अंदर में एकाग्रता कर। ब्र. शीतलप्रसादजी ने भी कहा है — जो पंचम पारिणामिकभाव की परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है और कारणशुद्धपर्याय का मनन कार्यशुद्धपर्याय की उत्पत्ति का साधन है।

प्रश्न :— कारणपर्याय की बात इसी ग्रन्थ में आई, अन्य में नहीं — इसका क्या कारण है ?

उत्तर :— देखो! यह नियमसार ग्रन्थ पर्याय का ग्रन्थ है। नियमसार का अर्थ ही मोक्षमार्ग होता है, इसलिए इसमें पर्याय के वास्तविक स्वरूप की पूर्णता क्या है — यह बात आई है और अन्य में (विषय न होने से) यह बात नहीं आई है। गाथा में आचार्यदेव ने स्वयं कहा है न कि — **कम्मोपाधि विवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।** भगवान ने कर्मोपाधिरहित पर्यायों को स्वाभाविक पर्यायें कहा है। भाई! यह पर्याय भी भगवान ने कही है — ऐसा कहा है। गाथा में 'भणिदा' शब्द है, उसका आशय है कि

भगवान तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ने कर्म की उपाधिरहित ऐसी स्वभावपर्याय के दो प्रकार कहे हैं और वे यहाँ कहे गये हैं — ऐसा मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं।

भाई! यह बात सुनने को मिलना भी महाभाग्य है; क्योंकि ऐसी बात तो किसी समय ही आती है। अहा! जब गणधर और संत इसकी व्याख्या करते होंगे। तब कैसी अलौकिक बात कहते होंगे। अहो! यह अजब-गजब की बात है।

अहा! आत्मद्रव्य त्रिकालीध्रुव है और उसका ज्ञानगुण भी त्रिकालीध्रुव है तथा उस ज्ञानगुण की कारणपर्याय भी ध्रुव त्रिकाल है और उसके आश्रय से केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होती है।

जैसे आत्मद्रव्य त्रिकालीध्रुव है और उसका दर्शनगुण भी त्रिकालीध्रुव है। यहाँ दर्शन में श्रद्धा और दर्शन उपयोग दोनों लिये हैं। अहा! उस त्रिकाली श्रद्धाशक्ति और त्रिकाली दर्शन-उपयोग की कारणशुद्धपर्याय भी ध्रुव त्रिकाल है। अर्थात् दर्शनगुण की कारणपर्याय, वह त्रिकाल ध्रुव पर्याय है। अहा, त्रिकाली श्रद्धा का अंशरूप कारणपर्याय पारिणामिक भावरूप है और त्रिकाली दर्शन-उपयोग की पर्याय भी पारिणामिकभावरूप है; इसलिए उसमें एकाग्र-लीन होने से क्षायिक समकित की पर्याय और केवलदर्शन का उपयोग उत्पन्न होता है। अहा! वह पर के कारण से उत्पन्न होता है — ऐसा नहीं है।

प्रश्न :— क्षायिक समकित तो भगवान के समीप होता है न ? देखो, सर्वत्र निमित्त की प्रधानता (बोलबाला) है ?

उत्तर :— अरे भगवान! यह तू क्या कहता है ? इस कथन में तो वहाँ भगवान का समीपना बतलाया है। सुन! भगवान तो वहाँ निमित्तमात्र होते हैं — बस इतनी ही बात है। बाकी उस काल में उपशम समकित या क्षायिक समकित की पर्याय भी, अन्दर जो त्रिकाली श्रद्धागुण और उसकी जो कारणपर्याय है, उसके आश्रय से प्रगट होती है। अब जब अन्य गुण के आश्रय से भी समकित प्रगट नहीं होता, वहाँ निमित्त के पर के आश्रय से वह प्रगट हो — यह बात ही कहाँ रही ? ऐसा है ही नहीं। यह तो भेद से ऐसा कथन किया है, वरना वस्तु (द्रव्य-गुण और कारणपर्याय) तो अभेद है और समकित में अभेद की ही दृष्टि होती है। यहाँ तो यह कहना है कि आत्मा के अनंत गुणों में से एक श्रद्धागुण में से श्रद्धा की पर्याय का प्रवाह आता है; इसीप्रकार दर्शन

का उपयोग भी दर्शनगुण में से आता है, पर में से अथवा पर के कारण से आता है — ऐसा है ही नहीं। अहा! त्रिकाली कारण नित्य विद्यमान है, उसका मनन करने पर उसमें से यह श्रद्धा और दर्शन का कार्य आता है — ऐसा कहते हैं।

इसीतरह चारित्रगुण की जो पर्याय (कारणपर्याय) त्रिकाली है, अन्दर चारित्रगुण के साथ तन्मयरूप जो कारणपर्याय है, उसमें एकाग्र होने से उसमें से चारित्र की-वीतरागता की पर्याय बाहर आती है। (बाहर के व्यवहार में से-राग में से नहीं।)

इसीतरह भगवान आत्मा आनंदकंद प्रभु नित्यानंदस्वरूप है। आनंद उसका त्रिकाली गुण-स्वभाव है और उसकी कारणपर्याय भी त्रिकाल आनंदमय है; इसलिए उसका आश्रय करने से आनंद की पर्याय प्रगट होती है, बाहर आती है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा में वीर्यगुण त्रिकाल है और उसकी कारणपर्याय भी ध्रुव त्रिकाल है; इसलिए उसके आश्रय से वीर्य की बल की शक्ति (पर्याय) प्रगट होती है। कारण कि कोई गुण किसी गुण के आश्रय से नहीं होता — ऐसा भी है न, इसलिए गुण स्वतन्त्र है और उसकी पर्याय भी स्वतन्त्र है। इसलिए जिस गुण की जो पर्याय प्रगट होती है, वह उसके गुण के आश्रय से ही प्रगट होती है, अन्य गुण के आश्रय से नहीं अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य का (अभेद का) आश्रय लेने पर साथ ही गुण का आश्रय भी आ जाता है और इसप्रकार गुण की पर्याय बाहर आती है। गजब बात है भाई!

अहो! ऐसा जैनदर्शन अलौकिक है। यह दिगम्बर जैनदर्शन ही जैनदर्शन है और यही विश्वदर्शन है; क्योंकि यह वस्तुदर्शन है, परमार्थ धर्मदर्शन है। अहा! जिसको यह (जैनदर्शन) बैठे (जँचे), उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहे — ऐसी बात है बापू!

इसीतरह आत्मा में स्वच्छत्व नाम का गुण है और उस गुण के साथ अन्दर स्वच्छत्व की कारणपर्याय ध्रुव त्रिकाल रहती है। उसके आश्रय से स्वच्छत्व की पर्याय प्रगट होती है। लो, फिर सैंतालीस गुण याद आये।

इसीप्रकार अन्दर त्रिकाली प्रकाशगुण है। अहा! आत्मा स्वसंवेदन के द्वारा प्रत्यक्ष हो — ऐसा उसका प्रकाशगुण है और उस गुण के साथ वैसी उसकी त्रिकाली कारणपर्याय तन्मयरूप से रहती है। अतः उसके आश्रय से, उसमें एकाग्र होने पर आत्मा प्रत्यक्ष होता है। भाई! अन्दर कारण है, उसमें से कार्य आता है अर्थात् कारण के आश्रय से कार्य होता है, पर के आश्रय से नहीं।

इसीप्रकार आत्मा में प्रभुत्वशक्ति (गुण) है। आत्मा में परमेश्वर होने की शक्ति-गुण है और उसके साथ तन्मयरूप प्रभुत्व की त्रिकाली ध्रुव कारणपर्याय है। अहा! द्रव्य प्रभुत्व है, गुण प्रभुत्व है और उसकी कारणपर्याय भी प्रभुत्व है। अतः उसके आश्रय से प्रभुत्व की प्रगट पर्याय उत्पन्न होती है।

इसीप्रकार आत्मा में ईश्वरता का गुण है। अहा! स्वयं ही ईश्वर है। आत्मद्रव्य ईश्वर है, गुण ईश्वर है और उसमें तन्मय ध्रुव कारणपर्याय भी ईश्वर है। अहा! यह बात अलौकिक है। इसमें आचार्यदेव ने कितना कहा है। अहा! इसमें तो बहुत कहा है। चारों ओर से बात देखने पर ऐसा लगता है कि बहुत कहा प्रभु! बहुत कहा। जैसी वस्तु है, वैसी उसकी अमाप विशालता कर दी है। तो कहते हैं कि भाई! तेरी प्रभुता और परमेश्वरता अन्दर पड़ी है न! प्रभु! अहा! परमेश्वर को जो अनंतवीर्य प्रगट हुआ है, वह कहाँ से प्रगट हुआ है ? क्या बाहर में से प्रगट हुआ है ? नहीं; वह तो अन्दर वीर्य-बल नाम का त्रिकालीगुण है और उसके साथ तन्मय उसकी ध्रुव कारणपर्याय है, जिसके आश्रय से अनंतवीर्य-परमेश्वरता-ईश्वरता-प्रभुता प्रगट होती है तथा जैसे जीवत्व, चित्ति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्वशक्ति है, वैसे ही आत्मा में सर्वदर्शित्वशक्ति भी है और उसके विशेषरूप उसकी ध्रुव कारणपर्याय भी है। अतः उसके तल में जाते-उसमें अन्तर्लीन होने पर पर्यायरूप से सर्वदर्शिपना प्रगट होता है।

इसीप्रकार एक सर्वज्ञगुण है। अहा! आत्मा द्रव्य-वस्तु है, उसका एक सर्वज्ञगुण है और उसके साथ रहनेवाली सर्वज्ञगुण की कारणपर्याय है। अतः उसका आश्रय करने पर, उसका मनन करके, उसमें एकाग्र होने पर सर्वज्ञ की पर्याय प्रगट होती है। (मनन, एकाग्रता)

इसीप्रकार स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, असंकुचित विकासत्व और अकार्यकारणत्व — ये भी आत्मा के गुण हैं। क्या कहा ? जैसे द्रव्य अकार्यकारण है, वैसे उसका गुण अकार्यकारण है और उसकी कारण-ध्रुवपर्याय भी अकार्यकारण है; इसलिए अकार्यकारण की पर्याय उत्पन्न होने में अन्य कोई कारण नहीं है, वह कारणान्तर से नहीं होती; अपितु उसकी ध्रुवपर्याय के आश्रय से इस अकार्यकारण पर्याय का प्रगटपना होता है।

प्रश्न — कार्य तो निमित्त हो, तब होता है न ?

उत्तर :— नहीं, ऐसा नहीं है प्रभु; क्योंकि आत्मा में अकार्यकारण नाम का त्रिकाली गुण है। अहाहा.....! स्वभाववान द्रव्य का ऐसा ही अकार्यकारणरूप स्वभाव है और

ऐसा ही ध्रुव त्रिकाली पर्याय का भी स्वभाव है अर्थात् अकार्यकारणवत् ही कारणपर्याय है और इसकारण उसके आश्रय से, उसकी एकाग्रता से प्रगट पर्याय भी अन्य के कार्यरहित और अन्य के कारणरहित ऐसी प्रगट होती है।

अहा! यह गजब बात है! यह तो पुरुषार्थ जग जाए, वीर्य उछल जाए — ऐसी बात है।

इसीप्रकार अपनी एक परिणम्य-परिणामकत्व नामक शक्ति-गुण है और उसकी भी एक ध्रुव कारणपर्याय है। उसके आश्रय से, उसका कार्य आता है।

इसीप्रकार एक त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति-गुण है। अहा.....! पर का त्याग और पर का ग्रहण — ऐसा आत्मा में शून्यत्व है। अहा! ऐसा ही उसका स्वभाव अर्थात् त्रिकालीगुण है और उसकी त्यागोपादानशून्यत्व नाम की कारणपर्याय भी है। अहा! उसके आश्रय से 'जिसमें पर का ग्रहण-त्याग नहीं होता' — ऐसा कार्य प्रगट होता है। अहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। अब अज्ञानी तो, जहाँ बाहर में किंचित् पर का त्याग होवे, वहाँ मैं त्यागी हो गया — ऐसा मानता है; परन्तु भगवान! तेरा स्वरूप ऐसा नहीं है। बापू! यह तो तेरा भ्रम है; क्योंकि आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग हो ही नहीं सकता — ऐसा ही उसका स्वभाव है।

अहा! इसीप्रकार आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व की शक्ति भी है और साथ ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व की कारणपर्याय भी रही हुई है और उसमें से उत्पाद-व्ययरूपी कार्य प्रगट होता है। गजब बात है।

अहा! इसीप्रकार इसमें सभी शक्तियाँ आती हैं। अरे! षट्कारक की शक्तियाँ भी इसमें आती हैं। आत्मा में कर्ता नाम का गुण है और उसकी कर्ता नाम की ध्रुव कारण-पर्याय भी है; अतः उसके आश्रय से कर्तारूप कार्य प्रगट होता है। भाई! अद्भुत बात है। अभी कितने ही पण्डित विरोध करते हैं; परन्तु बापू! जरा मध्यस्थ होकर सुन तो पता चले कि यह सत्य है। भाई! यह तो तेरे हित की बात है। अतः तू इन्कार मत कर प्रभु! अहा। जहाँ वस्तु ही ऐसी है, जहाँ तेरे अस्तित्व में ही ऐसा है; वहाँ अब तू क्या करेगा ? (अर्थात् इसको माने बिना कोई उपाय नहीं है।)

इसीप्रकार आत्मा में करण नाम का गुण है और उसमें तन्मय रहनेवाली करणरूप

कारणपर्याय भी है; इसलिए उसके आश्रय के कारण-साधन प्रगट होता है। अहा! किसी निमित्त के आश्रय से अथवा व्यवहार के आश्रय से साधन प्रगट नहीं होता अर्थात् निमित्त है, राग है तो साधन प्रकट होता है — ऐसा है ही नहीं। अहो! यह अलौकिक बात है।

इसीप्रकार समस्त अनंतगुणों में समझना चाहिए। यह तो थोड़ा लिखा, बहुत करके जानना — ऐसी गहराई युक्त अजब-गजब की बात है। अहा! वीर्य उल्लसित हो जाए — ऐसी चीज है।

अब, समयसार में पर्यायार्थिकनय को गौण करके असत्यार्थ कहा है, इसकारण इस कारणपर्याय को भी गौण करके असत्यार्थ कहा है — ऐसा नहीं है। समयसार की ११वीं व १३वीं गाथा में आया है कि पर्याय है, तथापि वस्तु जो भूतार्थ-त्रिकाल है; उसकी मुख्यता करके, दृष्टि का विषय दृष्टि में-अनुभव में आवे इस हेतु से, उसकी जो व्यक्तपर्याय-उत्पाद-व्ययवालीदशा है, उसको गौण करके, वह नहीं है-असत्यार्थ है — ऐसा कहा गया है; परन्तु इसकारण से इस कारणशुद्धपर्याय को भी गौण करके असत्यार्थ कहने में आया है — ऐसा नहीं समझना। (अर्थात् कारणपर्याय पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है) — यह एक बात।

अब, दूसरी बात — इसमें ही, जीव अधिकार की अन्तिम १९वीं गाथा में आयेगा कि द्रव्यार्थिकनय से जीव पर्याय से रहित है, परन्तु वह पर्याय अर्थात् यह कारणशुद्धपर्याय नहीं। वहाँ टीकाकार ने भी स्पष्टीकरण किया है कि यहाँ जो पर्यायरहित द्रव्य कहा गया है, वह विभाव व्यंजनपर्याय रहित द्रव्य कहने में आया है (अर्थात् वहाँ पर्याय से आशय विभाव व्यंजनपर्याय है)।

अहा! द्रव्यस्वरूप त्रिकालध्रुव है, गुणस्वरूप त्रिकालध्रुव है और उसकी कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप भी त्रिकालध्रुव है और वह द्रव्यार्थिकनय के विषय में जाता है; अतः इस द्रव्यार्थिकनय के विषय को रखकर विभाव व्यंजनपर्याय रहित द्रव्य है — ऐसा १९वीं गाथा में कहा गया है। वरना वहाँ पाठ तो ऐसा है कि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य, पर्याय से रहित है। अहा! पाठ तो ऐसा है; परन्तु फिर उसका टीकाकार ने स्पष्टीकरण किया है कि पर्यायरहित द्रव्य कहा है; परन्तु वह पर्याय कौन-सी ? विभावव्यंजनपर्याय, क्योंकि वह पर्याय द्रव्यार्थिकनय के विषय में नहीं आती। अहो! दिगम्बर संतों ने तो

जैनदर्शन का वास्तविकरूप और स्वरूप बताया है — ऐसा स्वरूप अन्य कहीं नहीं है। लोग मध्यस्थता से नहीं देखकर पक्षपात से देखते हैं, इसलिए लगता है कि यह सब अन्यो के जैसा है; परन्तु भाई! वस्तुस्थिति क्या है, भगवान ने क्या कहा है और उनकी परम्परा के संत क्या कहते हैं — यह तो जानना चाहिए न!

इसप्रकार ये दो बातें स्पष्ट-विशेष स्पष्ट कीं।

यह कारणशुद्धपर्याय, जोकि त्रिकालीगुण का पारिणामिकभावरूप वर्तमान विशेष है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है; वह पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है। वह पर्याय होने पर भी, ध्रुव पर्याय है और पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है; अपितु द्रव्यार्थिकनय का विषय है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' में एक टुकड़ा (वाक्य) है कि 'परिणामी पदार्थ निरन्तर स्वाकार परिणामी हो तो भी अवस्थित परिणामीपना...' (हाथनौद) अहा! उनका क्षयोपशम तो बहुत गहरा था और पूर्व में भी संतों के संग में थे — ऐसा कहा जाता है न। इसलिए अन्दर कुछ वीतरागता की रीत (सत्य का प्रकार) रह गया। वरना, यह नियमसार तो उनको मिला ही नहीं था, तो भी अन्दर में से कुछ ऐसा तर्क उत्पन्न हुआ कि जो त्रिकाली पदार्थ है, उसकी पर्याय भी पदार्थ के स्वरूप-स्वाकारस्वरूप एकरूप होना चाहिए। अहा! भाषा थोड़ी है, परन्तु उसका भाव ऐसा है।

अहा! यह भगवान आत्मा ऐसा होने पर भी, उसकी पर्याय में अव्यवस्थित परिणामी-पना है अर्थात् उसकी पर्याय में यह उदयभाव राग-द्वेष है, उपशमभाव है, क्षयोपशमभाव और क्षायिकभाव है, एकरूपता नहीं है। जैसे समुद्र की सपाटी के ऊपर लहरें होती हैं, उसीप्रकार वस्तु अर्थात् आत्मा का, द्रव्य गुण और उसकी सपाटी अर्थात् कारणशुद्धपर्याय का-एकरूप दल है और उसके ऊपर लहरों के समान यह राग-द्वेष और उनके अभाव रूप की अनेक दशाएँ हैं अर्थात् उपशमदशा, उदयदशा, क्षयोपशमदशा और क्षायिकदशा है। इसप्रकार ये सब — चार उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय के भंग हैं और इसीलिए वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। भाई! चाहे क्षायिकभाव-केवलज्ञान हो तो भी वह पर्यायार्थिकनय का विषय है; जबकि यह कारणशुद्धपर्याय द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

अहा! जो नय कायमी-ध्रुव त्रिकाली वस्तु को लक्ष्य में लेता है, उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। द्रव्य+अर्थ+नय=द्रव्य जिसका प्रयोजन है, अहा! मूल वस्तु जिसका प्रयोजन है, उस नय को-वैसे ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं अर्थात् द्रव्य जिसका प्रयोजन है

— ऐसा नय-ज्ञान का अंश सो द्रव्यार्थिकनय है; इसलिए त्रिकाली द्रव्य-वस्तु, उसके गुण और यह कारणशुद्धपर्याय — ये तीनों ही द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अहा! थोड़ा सूक्ष्म आया है। थोड़ा ध्यान देकर समझना। क्या हो सकता है ? वस्तु ही सूक्ष्म है न! विषय सूक्ष्म है, इसलिए वह बराबर स्पष्ट होना चाहिए और वह सूक्ष्म आवे तभी स्पष्ट होगा न! अहा! यह विषय यहीं है, अन्यत्र कहीं नहीं है और कदाचित् कहीं गूढरूप से होगा तो अपने को वह स्पष्ट निकालना नहीं आता, परन्तु यहाँ तो एकदम खुल्ला है; इसलिए सूक्ष्म पड़े तो भी एकदम धीरे-धीरे निकालते हैं। (इसलिए सावधानी से सुनना चाहिए)।

अहा! त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में ऐसा आत्मद्रव्य भासित हुआ है और जब इसको भी अन्दर में ऐसा ही भासित हो, तब सम्यग्दर्शन होता है।

अहा! वस्तु द्रव्यरूप सामान्य है, उसके गुण सदृश सामान्य हैं और उसकी यह कारणशुद्धपर्याय भी सामान्य ही है। भले ही वह कारणशुद्धपर्याय द्रव्य की अपेक्षा से भेदरूप हो, तो भी वह ऊपर-ऊपर की पर्याय नहीं है, अपितु द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल अभेद ही है। इसलिए निमित्त की दृष्टि छोड़ करके, राग की-व्यवहार के विकल्प की दृष्टि छोड़ करके तथा एकसमय की प्रकट पर्याय की दृष्टि छोड़ करके इन तीनों पर (द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय पर) अभेद दृष्टि होना चाहिए; क्योंकि यही वस्तु का पूर्ण रूप है। इसके सिवाय उत्पाद-व्यय की पर्याय प्रमाण के विषय में जाती है।

देखो, समयसार की ४९वीं गाथा में इसको (ध्रुव को) अव्यक्त कहा है। अहा! यह समयसार की ४९वीं गाथा है न! उसमें ध्रुव को अव्यक्त कहा है और पर्याय को व्यक्त कहा है। सो वहाँ इस उत्पाद-व्यय की पर्याय को व्यक्त कहा है, जबकि उसके सिवाय इन तीनों को (द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय को) अव्यक्त कहा है। अहा! जैसे द्रव्य कायम सत् अविनाशी है, जैसे उसके गुण भी कायम सत् अविनाशी हैं, वैसे ही उसकी कारणशुद्धपर्याय भी कायम सत् अविनाशी है और ये तीनों मिलकर पूरा द्रव्य कहा जाता है; इसलिए इस द्रव्य की दृष्टि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। अब ऐसी बात वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहाँ है ?

अहा! पर्याय के दो प्रकार — १. प्रगटरूप दशा, २. अव्यक्तरूपदशा। अतः जो पर्याय अंश प्रगट है, उस अपेक्षा से वहाँ समयसार की ४९वीं गाथा में द्रव्य को अव्यक्त कहा

है। ऐसा होने पर भी उसकी स्वयं की अर्थात् वस्तु की अपेक्षा तो द्रव्य व्यक्त ही है, प्रगट-प्रसिद्ध ही है। अहा! प्रगट पर्याय की अपेक्षा से इन द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय को अव्यक्त कहा है, तो भी वस्तु की दृष्टि से, वस्तु को लक्ष्य में लेने पर तो वह (वस्तु-द्रव्य) प्रसिद्ध-व्यक्त ही है।

इसप्रकार चार बोल हुए —

१. एक तो यह कि पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। (समयसार गाथा-११), परन्तु इससे वहाँ कारणशुद्धपर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है — ऐसा नहीं है। वहाँ तो प्रगट पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है (कारणशुद्धपर्याय को नहीं)।

२. यह कारणशुद्धपर्याय द्रव्यार्थिकनय के विषय में जाती है; परन्तु पर्यायार्थिकनय के विषय में नहीं आती।

३. द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्य में पर्याय नहीं है — ऐसा जो आगे १९वीं गाथा में कहा है, वह इस कारणशुद्धपर्याय के लिए नहीं कहा है; अपितु वह तो विभावव्यंजन-पर्याय के संबंध में कहा है।

४. उत्पाद-व्यय की पर्याय, जोकि प्रगट है; जब उसको व्यक्त कहा है, तब इस द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय को अव्यक्त कहा है। अहा! जिसको कारणशुद्धपर्याय कहा गया है, उसको (वह पर्याय होने पर भी उसको) पर्याय की अपेक्षा से व्यक्त नहीं कहा जाता अर्थात् मोक्षमार्ग की अथवा केवलज्ञान की जो सब उत्पाद-व्ययवाली प्रगट पर्यायें हैं, उनकी अपेक्षा से कारणशुद्धपर्याय को व्यक्त नहीं कहा जाता, अपितु उसको अव्यक्त कहा जाता है। गजब बात है! लो! अभी यह नया आया, परन्तु यह तो जो हो, वही आता है न! अहा! कहा है न कि 'मारे उसकी तलवार' मात्र हाथ में पकड़ कर रखे, उसको वह कहाँ है ? इसीतरह जो अन्तर में वस्तुस्थिति को पकड़ता है (जानता है), उसको वह वस्तु है, अन्य को कहाँ है ? अहा! यह जैनदर्शन-विश्वदर्शन ऐसा है और तत्त्व सभी में एक जैसा है — ऐसा नहीं है। अहा! जैसे एक आत्मा का ऐसा स्वरूप है, उसीप्रकार विश्व की अनंत (समस्त) आत्माओं का स्वरूप ऐसा ही है।^१

१. कारणशुद्धपर्याय के संबंध में गुरुदेवश्री के अन्य प्रवचन परिशिष्ट में दिये गये हैं, जो संवत् २००० में हुए हैं और जयपुर से प्रकाशित हो चुके हैं। - सम्पादक)

अब कार्यपर्याय की बात करते हैं —

अहा! यह कार्यपर्याय कारणपर्याय में से आती है। इन भगवान अरहन्त परमात्मा को और सिद्ध को जो केवलज्ञान, अनंत आनन्द (आदि) प्रगट हुए हैं, वह कार्यपर्याय है और वह अन्दर गुण की कारणपर्याय में से प्रगटी है। कारण में एकाग्र होने पर कार्य प्रगट होता है। अहा! केवलज्ञान भी पर्याय है। देखो, यहाँ उस पर्याय को कार्यशुद्धपर्याय कहा है, क्योंकि प्रगट होनेवाली पर्याय ही होती है, गुण नहीं तथा वह कार्यरूप नई प्रगट हुई है न! इसलिए उसको कार्यशुद्धपर्याय कहते हैं। अरे! द्रव्य क्या.....गुण क्या.....कारणपर्याय क्या..... कार्यपर्याय क्या.... अब इसका कुछ पता ही नहीं हो तो कहाँ जाए...कहाँ एकाग्र होवे और कहाँ से पराङ्गमुख होवे ?

अहा! ये केवलज्ञानादि क्या हैं ? कि ये कार्यशुद्धपर्याय हैं। है न टीका में.....

‘सादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से.....’

अहा! ‘सादि-अनंत....’ देखो, जो कारणशुद्धपर्याय कही है, वह अनादि-अनंत है। अहा! द्रव्य, उसके गुण और उसकी कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनंत है। जबकि यह केवलदर्शन, केवलज्ञान और सिद्धपद — ये सब पर्यायें सादि हैं। ये सभी पर्यायें नई होती हैं न! इसलिए आदि सहित होने से सादि हैं। इसप्रकार ये केवलज्ञानादि पर्यायें अनादि की नहीं हैं। अहा! द्रव्य-गुण और कारणपर्याय अनादि-अनंत है तो उसके आश्रय से केवलज्ञानपर्याय की सादि-शुरुआत होती है; परन्तु अब वह अनन्त है अर्थात् अब उसका अन्त-नाश नहीं होगा, केवलज्ञान अनंतकाल तक यों का यों रहेगा। श्रीमद् ने ‘अपूर्व अवसर’ में कहा है न —

**‘सादि अनंत अनंत समाधिसुख में
अनंतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जब...
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ॥’**

अहाहा...! केवलज्ञान अनंत समाधि, शान्ति है और वह अनंतकाल तक रहेगा। आशय यह है कि यह केवलज्ञान सादि-अनंत है और अमूर्त-अरूपी है, स्पर्शादि रहित है। ‘अतीन्द्रिय स्वभाववाले...’ देखो, यह अतीन्द्रिय स्वभाववाले नय का विषय है। यहाँ नय के विषय को ही नय कहा है। पीछे देखो ‘शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से’ — ऐसा कहा

है। कारण कि केवलज्ञान की पर्याय शुद्ध है, वह अपना अंश है और वह भेद है; इसलिए उसको शुद्ध-सद्भूतव्यवहार कहा गया है।

- अहा! केवलज्ञान की दशा शुद्ध है, इसलिए 'शुद्ध',
- अपने में है, इसलिए 'सद्भूत' और
- अंश-भेद है, इसलिए 'व्यवहार' अर्थात् त्रिकाली में, यह केवलज्ञान का अंश भेदरूप व्यवहार है। इसकारण ऐसे शुद्ध-सद्भूतव्यवहार से यह कहा है।

'.....केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनंतचतुष्टय के साथ की (अनंतचतुष्टय के साथ तन्मयरूप से रहनेवाली) जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, वही कार्यशुद्धपर्याय है।'

अहाहा...! भगवान को केवलज्ञान, केवलदर्शन के साथ केवलसुख अर्थात् अनंतसुख-अनंत-आनन्द, अकेला आनन्द प्रगटा है और वह केवलशक्ति अर्थात् अकेला वीर्य, पूर्ण अनंतबल की दशा सहित फलरूप है। अहाहा...! अकेली पूर्ण ज्ञानपर्याय, अकेली पूर्ण दर्शनपर्याय, अकेली पूर्ण सुखपर्याय और अकेली पूर्ण वीर्यपर्याय — ऐसे फलरूप ये कार्यचतुष्टय भगवान को प्रगट हुए हैं। अहा! मोक्षमार्ग का ऐसा अन्तिम कार्य फलित हुआ है — ऐसा कहते हैं। जैसे आम्रफल पकता है न! उसीप्रकार मोक्षमार्ग के कारणदशा में यह पूर्ण कार्य फलित हुआ है। अहो! आत्मा की दशा में ऐसा कोई अपूर्व अचिन्त्य फल आया है — ऐसा कहते हैं। भाई! यह नई-अपूर्वदशा हुई है सो कार्यशुद्ध-पर्याय है; परन्तु यह गुण नहीं है।

अहा! देखो, पहले जो कारणशुद्धपर्याय कही, वह तो पारिणामिकभावरूप है, जबकि यह कार्यशुद्धपर्याय है, वह क्षायिकभावरूप है — इसप्रकार दोनों में अन्तर है। आत्मा (ध्रुवद्रव्य) पारिणामिकभावरूप है, उसके ज्ञान-दर्शनादि गुण भी पारिणामिकभावरूप हैं तथा कारणशुद्धपर्याय भी पारिणामिकभावरूप है। जबकि जो केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रगट हुआ, वह क्षायिकभावरूप है; क्योंकि वह दशा नई हुई है तथा वह परमोत्कृष्ट है। परमोत्कृष्ट=परम+उत्कृष्ट अर्थात् जिससे ऊँचा कोई नहीं, वैसी उत्कृष्ट में उत्कृष्ट यह दशा है।

अहाहा! कहते हैं — ‘परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, वही कार्यशुद्धपर्याय है।’ देखो, यहाँ इस कार्यशुद्धपर्याय को क्षायिकभाव कहा है और उसको ‘क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति’ भी कहते हैं। इसप्रकार यहाँ स्पष्ट शब्द है कि केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय पर्याय है, गुण नहीं। भाई! यह मोक्षमार्ग का अधिकार है न! क्योंकि नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग। सो मोक्षमार्ग में उसका जो फल आया, वह केवलज्ञानादि व्यक्त पर्याय है — ऐसा कहते हैं। अहाहा...! निज त्रिकाली स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और रमणता — ऐसा शुद्धरत्नत्रय प्रगट अवस्था अर्थात् पर्याय है, जिसको नियमसार अथवा मोक्ष का मार्ग कहते हैं और उसके फलरूप यह अनंतचतुष्टय फलित हुआ है, उसको यहाँ कार्य-शुद्धपर्याय कहते हैं; क्योंकि यह कार्य नया आया है न! तो जिसका आश्रय लिया, वह कारणशुद्धपर्याय है, जबकि यह (अनन्तचतुष्टय) कार्यशुद्धपर्याय है तथा कारणशुद्ध-पर्याय पारिणामिकभावरूप और यह कार्यशुद्धपर्याय क्षायिकभावरूप है।

देखो, फुटनोट में है कि —

“सहजज्ञानादि स्वभाव-अनंतचतुष्टययुक्त कारणशुद्धपर्याय में से केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टययुक्त कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होती है।”

ध्रुव में से-सामान्य में से केवलज्ञानादि कार्य का परिणमन आता है। वह परिणमता है — ऐसा बताना है न! इसलिए ऐसा कहा है। अतः कहते हैं कि अनंतचतुष्टययुक्त अर्थात् अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य सहित कार्यशुद्धपर्याय कारणशुद्धपर्याय में से प्रगट होती है। मोक्षमार्ग से कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होती है — ऐसा नहीं लिया है; परन्तु यह जो पंचमभाव परिणति ऐसी त्रिकालध्रुव कारणशुद्धपर्याय है। अहा! जो उसकी (ध्रुव की) एकरूप त्रिकाल सपाटी है, इसमें द्रव्य-गुण साथ आ गये हैं; उसमें से यह कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होती है — ऐसा कहते हैं।

अनंतचतुष्टययुक्त कार्यशुद्धपर्याय — ऐसा कहकर यहाँ इन चार की तो मुख्यरूप से बात की है, वरना वास्तव में तो तब अनंतगुणों की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं; क्योंकि आत्मा में सामान्यगुण भी अनंत हैं और विशेषगुण भी अनंत है। वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनंतगुण हैं, जोकि समस्त द्रव्यों में भी है और आत्मा में ऐसे अनंत सामान्यगुण हैं तथा ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि विशेषगुण, जोकि अन्य द्रव्यों में नहीं है — ऐसे विशेष गुण भी आत्मा में अनंत हैं।

अहा! यह आत्मा तो महासागर है। अरूपी होने पर भी भगवान आत्मा अनंत स्वभाव का महासागर है। अहा! इसको क्षेत्र की विशालता की कहाँ अपेक्षा है ? यह निगोद का जीव ही लो न ? एक अंगुल के असंख्यातवें भाग में-क्षेत्र में छोटा होने पर भी उसमें अनंतजीव है। सकरकंद, लहसुन, हरी दूब इत्यादि है न! वे अनंत काय हैं। अहा! इनके एक टुकड़े में असंख्य तो औदारिक शरीर हैं और क्षेत्र अत्यल्प होने पर भी उस एक-एक शरीर में अनंतजीव हैं। भाई! गजब चीज है और उस एक-एक जीव में अनंत-अनंत सामान्य और विशेषगुण हैं। अहा! इसमें क्षेत्र की महत्ता की बात नहीं है; परन्तु यह इसका (जीव का) सत्त्व, इसका स्वभाव, इसकी शक्ति, इसकी सामर्थ्य इतनी अमाप है — यह बात है। क्षेत्र तो अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है तो भी उसमें असंख्य औदारिक शरीर हैं और एक-एक शरीर में सिद्ध से भी अनंतगुने जीव हैं तथा उस प्रत्येक जीव में अनंत सामान्य और अनंत विशेषगुण होते हैं। अहो! इतनी महान चीज! तथा उन प्रत्येक अनंतगुणों की अनंत करणपर्यायें होती है। अस्ति....अस्ति...अस्ति — ऐसी अस्तित्व गुण की कारणपर्याय है। इसीप्रकार अनंतगुणों की अनंत कारणपर्यायें होती हैं। बापू! अब ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ?

सोगानी में (द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग-१, पत्रों में) एक बोल आता है कि 'निगोद में जो ऐसे जीव कहे हैं, वे सब अपने को प्रत्यक्ष होंगे, अभी अपन परोक्षरूप से मानते हैं' — ऐसा आता है। बहुत सरस लिखा है। (पत्र नं. ३६ 'केवलीगम्य यह निगोद की अनंतता साधक के अनुमानगम्य ज्ञान में प्रत्यक्षवत् होती है। निष्कंप गंभीर ध्रुवस्वभाव के आश्रय से सहज गहरे-गहरे उतरते-उतरते यह ज्ञान अपने सबको प्रत्यक्ष होओ — यही भावना है।)

ओहो! विश्वास का विषय कितना है और वह विश्वास भी कैसा है! अहा...! एक निगोद का आत्मा...अरे! जैसा सिद्ध का आत्मा है, परमार्थ से वैसा ही यह आत्मा है और ऐसा ही द्रव्य अपेक्षा से निगोद का आत्मा है।

आत्मसिद्धि में आता है न —

'सर्वजीव है सिद्धसम, जो समझे सो होय।' (गाथा-१३५)

और योगीन्दुदेवकृत योगसार में भी है कि —

'सर्वजीव हैं ज्ञानमय ऐसा जो समभाव.....प.' (दोहा-९९)

समभाव माने क्या ? वीतरागभावपने-समभावपने यह जानना कि ये अनंतजीव ज्ञानस्वभाववाले और अनंतगुण के स्वभाववाले हैं-समभाव हैं और तभी उसने अनंत जीवों का जाना कहा जाता है। लो, यह समभाव! भाई! दुनिया के साथ इसका मेल करने जायेगा तो मेल नहीं होगा।

यहाँ कहते हैं कि ऐसी कारणशुद्धपर्याय में से ऐसी अनंतचतुष्टयमय कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होती है। तथा -

‘पूजनीय परम-पारिणामिकभाव परिणति वह कारणशुद्धपर्याय है और शुद्ध क्षायिकभाव परिणति, वह कार्यशुद्धपर्याय है।’

देखो, हैं तो दोनों पर्याय; परन्तु कारणशुद्धपर्याय, त्रिकाल ध्रुवपर्याय है; जबकि यह कार्यशुद्धपर्याय वर्तमान प्रगट पर्याय है। अहा! वस्तु-आत्मा में अनंत-अनंत सामान्य और विशेष गुण हैं और उनकी अनंत एकरूप ध्रुव कारणपर्यायें हैं तथा उन गुणों की प्रगट पर्यायें भी हैं। प्रत्येक जीव को प्रगट पर्याय तो होती ही है न ? सर्वज्ञ को पूर्ण प्रगट पर्याय होती है, जबकि निगोद के जीव को भी ज्ञान, दर्शन और वीर्य क्षयोपशमभावरूप है या नहीं ? है। अतः निगोद के जीव को द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय पारिणामिकभावरूप है, जबकि यह प्रगट पर्याय (ज्ञान, दर्शन और वीर्य की पर्याय) क्षयोपशमभावरूप है और रागादि उदयभावरूप है — इसप्रकार उसको उदयभाव, क्षयोपशमभाव और पारिणामिकभाव — ये तीन भाव होते हैं। भगवान सिद्ध को क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव — ये दो ही भाव होते हैं। उनकी केवलज्ञानादि पर्याय क्षायिकभावरूप है और द्रव्य-गुण व कारणपर्याय पारिणामिकभावरूप है। जबकि भगवान केवली को उदयभाव, क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव — ये तीन भाव होते हैं। उनको अरहन्तदशा है न; इसलिए अभी योग का कंपन है, जोकि उदयभाव है और केवलज्ञानादि क्षायिकभावरूप है तथा द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय पारिणामिकभावरूप है। अहा! ऐसी बात है!

ओहो! यह कितना महान है! और इसकी मान्यता में कितनी महानता है; परन्तु अरे! अज्ञानी को उसकी कीमत नहीं है; व्रत पालो और दया पालो तो धर्म हो जायेगा — ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु बापू! सम्यग्दर्शन के बिना तेरे ये सब व्रत और तप बालव्रत और बालतप हैं। अहा! सम्प्रदाय में तो सम्यग्दर्शन की बात और गंध भी नहीं है। अपन जैन में जन्मे हैं और भगवान को मानते हैं; इसलिए सम्यग्दर्शन तो है ही और

इसलिए अब चारित्र माने हुए व्रत, तप पालन करो। लो, सम्प्रदाय में तो ऐसी बात चलती है। परन्तु बापू! क्या इससे तुझे सत्य मिलेगा ? बाहर के त्याग का और राग की मंदता को कोई शुभभाव हो तो भी क्या उसमें से तुझे सत्य की प्राप्ति होगी ? उसमें से तो चारगति ही मिलेगी। कदाचित् कोई शुभभाव हो तो स्वर्गगति मिलेगी; परन्तु उससे क्या ? वह भी कषाय की अग्नि है। जिसमें से शान्ति-वीतरागशान्ति न आवे, उससे क्या लाभ ? अरे भाई! कषाय की मंदता में शान्ति जैसी दिखती है; परन्तु वह कोई शान्ति नहीं है, वह भी कषायरूप अग्नि ही है।

अज्ञानी कहता है कि अपने को शुभभाव में इतनी (थोड़ी) शान्ति तो मिली ? अभी तो बस है; क्योंकि अभी वीतरागीशान्ति तो मुश्किल है।

उसको कहते हैं कि भाई! वीतरागीशान्ति ही शान्ति है। तीव्रकषाय में से शुभभावरूप मंदकषाय में आने से तुझे शान्ति जैसा लगता है; परन्तु वह शान्ति ही नहीं है। ऐसा तो अनंतकाल में अनंतबार हुआ है; परन्तु उससे क्या ? वह कोई उपाय नहीं है। अहा! अन्दर शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप भगवान् आत्मा है। उसके द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय का आश्रय करके, उसमें ही लीन होने पर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट होती है और वही सच्ची शान्ति है। उसकी पूर्णदशा होने पर पूर्ण वीतरागीशान्ति प्रगट होती है। बापू! मार्ग ऐसा है।

इसप्रकार यह कार्यशुद्धपर्याय की बात हुई।

प्रश्न : — केवलज्ञान तो गुण है न ?

उत्तर : — नहीं; वह पर्याय है। यहाँ स्पष्ट बात है कि केवलज्ञान (कार्यशुद्धपर्याय) क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति है। अब इसमें यह गुण है — ऐसा कहाँ आया ? भाई! गुण तो पारिणामिकभावरूप है, जबकि केवलज्ञान तो क्षायिकभावरूप है, इसलिए केवल-ज्ञानादि कार्यशुद्धपर्यायें हैं। देखो, 'क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति' — ऐसे स्पष्ट शब्द हैं।

प्रश्न : — तत्त्वार्थसूत्र में उसको गुण कहा है ?

उत्तर : — वह तो केवलज्ञान होने पर अवगुण का अभाव हुआ है — इस अपेक्षा से उसको गुण कहा है; यों तो अवगुण भी पर्याय है और केवलज्ञान भी पर्याय है। क्या हो ? बहुत जगह केवलज्ञान को गुण कहा है। यहाँ (९वीं गाथा में भी) आया था न

कि 'केवलज्ञानादि गुण और मतिज्ञानादि गुण...' तो वहाँ केवलज्ञानादि को स्वभावगुण कहा, मतिज्ञानादि को विभावगुण कहा और व्यंजनपर्याय को पर्याय कहा है, परन्तु अपेक्षा जाननी चाहिए न! तथा अब कहते हैं —

'अथवा पूर्वसूत्र में कहे हुए सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से, छहद्रव्यों को साधारण और सूक्ष्म — ऐसी वे अर्थपर्यायें शुद्ध जानना (अर्थात् वे अर्थपर्यायें ही शुद्धपर्यायें हैं।)'

पूर्व की १४वीं गाथा में भी आ गया है कि अनंतगुण हानि-वृद्धि आदिरूप, जो आगमगम्य अगुरुलघुगुण की पर्याय है; उसको शुद्धपर्याय कहना। तो यहाँ भी यही कहते हैं कि जैसे केवलज्ञानादि पर्याय को कार्यशुद्धपर्याय कहते हैं, वैसे ही अगुरुलघुगुण की पर्याय को भी कार्यशुद्धपर्याय कहना। अहा! 'छहद्रव्यों को साधारण....' अर्थात् यह अगुरुलघुगुण की पर्याय छहोंद्रव्यों को होती है। वह परमाणु को होती है, जीव को होती है, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालद्रव्य को भी होती है।

'(इसप्रकार) शुद्धपर्याय के भेद संक्षेप में कहे।'

इसप्रकार कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय की बात की। देखो, अन्दर पाठ ही है कि — 'उक्तः समासतः शुद्धपर्याय विकल्पः' भाई! कोई इस पर्याय को मात्र भेदरूप ही ले तो ऐसा नहीं है; क्योंकि यहाँ तो स्वभावपर्याय के भेद कहे हैं; परन्तु भेद के भेद कहे हैं — ऐसा नहीं है।

इसप्रकार स्वभावपर्याय के भेद — कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय और यह एक अगुरुलघुगुण की अर्थपर्याय, जोकि शुद्धपर्याय के भेद हैं; उनको संक्षेप में कहा। अब मूल पाठ की पहली पंक्ति में है, उसकी बात करते हैं। पाठ में है न कि — 'णरणारयतिरिय-सुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा' अतः नर-नारकादि पर्याय की बात करते हैं।

'अब व्यंजनपर्याय कही जाती है —'

दूसरी पंक्ति में माल था, इसलिए उसकी बात पहले की और अब पहली पंक्ति की विभाव व्यंजनपर्याय की बात करते हैं।

'जिससे व्यक्त हो-प्रगट हो, वह व्यंजनपर्याय है। किसकारण ? पटादि की (वस्त्रादि की) भाँति चक्षुगोचर होने से (प्रगट होती है);'

जैसे पूरा पट (वस्त्र) इसतरह बाहर दिखता है, वैसे ही आत्मा का शरीरप्रमाण जो आकार दिखता है, वह विभाव व्यंजनपर्याय है। अहा! यह शरीर तो भिन्न ही है; परन्तु बाहर में आत्मा का शरीर प्रमाण जो प्रगट आकार दिखता है, उसको व्यंजनपर्याय कहते हैं तथा यहाँ उसको (आकार को) चक्षुगोचर कहा है। अहा! आत्मा की इस विभाव व्यंजनपर्याय को चक्षुगोचर कहा है; क्योंकि ऐसे आकार दिखता है न! इसलिए उसको चक्षुगोचर कहा है। यद्यपि वह आकार तो अरूपी है; परन्तु उसका आकार ऐसा है — एकेन्द्रिय का ऐसा आकार है, दो इन्द्रिय का ऐसा आकार है। (अन्दर आत्मा के प्रदेशों का आकार) — ऐसा दिखता है न! इसकारण उसको चक्षुगोचर कहा गया है।

‘अथवा सादि-सांत मूर्त विजातीय विभाव स्वभाववाली होने से, दिखकर नष्ट होनेवाले स्वभाववाली होने से (प्रगट होती है)।’

यह शरीर के आकार की बात करते हैं। शरीर नया होता है और उसका अन्त आता है। इसकारण उसका आकार सादि-सान्त है तथा वह मूर्त है। आत्मा अरूपी है, जबकि यह शरीर मूर्त है तथा उसका विजातीय विभावस्वभाव है। अहा! आत्मा की चैतन्यजाति है, जबकि शरीर आत्मा से विजाति अर्थात् अन्यजाति (जड़जाति) है तथा वह विभाव है; क्योंकि यह शरीर कोई एक परमाणु नहीं है; अपितु वह तो अनंत रजकणों से रचित आकार है। इसप्रकार शरीर का आकार सादि-सांत है, मूर्त है, विजातीय अर्थात् जड़ है और विभावस्वभाव है तथा वह दिखकर नष्ट होने के स्वभाववाला है। यह शरीररूपी महल नया बनता है, दिखता है और देखते-देखते ही इसका नाश हो जाता है—राख हो जाता है। अहा! श्मशान में इसकी राख होगी और फिर उड़ जायेगी। भाई! यह शरीर तो जड़-मिट्टी का ढेर है बापू! यह कोई तेरी वस्तु नहीं है; यह कोई तुझमें हुई नहीं है, तेरे लिए हुई नहीं है। यह तो इसके लिए इसमें इसकी होकर रही है और स्वयं ही कालक्रम में नष्ट हो जायेगी।

“पर्यायी आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा पर्याय स्वभाववाला होता है।”

अहा! जब तीर्थंकर केवलज्ञानी परमात्मा के श्रीमुख से यह बात निकलती होगी और गणधर अगाध समुद्रवत् शास्त्रों की रचना करते होंगे (वह प्रसंग कैसा होगा!) उन अगाध समुद्ररूप शास्त्रों में गहन उतरने पर जो आत्मा हाथ लगता है, वह कैसा होगा! उसकी बात यहाँ पर कहते हैं।

अहाहा..! कहते हैं — पर्यायी ऐसा त्रिकाली द्रव्य सो आत्मा है, पर्याय वह आत्मा नहीं है। पर्यायी अर्थात् पर्याय का धारक त्रिकाली ध्रुव द्रव्य वह आत्मा है — ऐसे आत्मा के ज्ञान बिना...अहा! स्वयं कौन है, उसकी खबर बिना आत्मा पर्याय स्वभाववाला होता है अर्थात् निज त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के भान बिना, यह अज्ञानी अकेली पर्याय को ही आत्मा मानता है। अहा! वह ऐसा पर्यायमूढ़, पर्यायदृष्टि रहता है।

अहा! पद्मप्रभमलधारिदेव दिग्म्बर मुनि थे। उन्होंने इस टीका की रचना की है। यह टीका तो देखो! कैसी अलौकिक टीका की है! अमृत की धारा बरसी है! अरे! किन्तु परम सत्य ऐसे परमार्थ को नहीं देखे और जहाँ-तहाँ गोते खाता है! क्या हो सकता है ? यहाँ तो यह स्पष्टरूप से कहते हैं कि पर्यायी अर्थात् त्रिकाली ज्ञान-स्वभावी प्रभु आत्मा के भान बिना आत्मा पर्यायस्वभाववाला होता है अर्थात् वह एकसमय की अवस्था की दृष्टिवाला पर्यायमूढ़ होता है। बापू! यह तो अकेला अमृत है।

वह अनादि से ऐसी पर्यायदृष्टिवाला है। “इसलिए शुभाशुभ मिश्र परिणामों से आत्मा व्यवहार से मनुष्य होता है, उसका मनुष्याकार वह मनुष्यपर्याय है।”

अहाहा...! पर्यायदृष्टि जीव को शुभाशुभरूप मिश्रपरिणाम होने से वह मनुष्य होता है। अहा! अपने को वर्तमान प्रगट अवस्था जितना ही माननेवाला-अवस्था को ही माननेवाला-शुभाशुभ मिश्रपरिणाम से व्यवहार से मनुष्य होता है। अहा! स्वयं व्यक्त पर्याय से भिन्न अन्दर अव्यक्त नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप होने पर भी, निजस्वरूप से प्रकट ऐसे इस पर्यायी आत्मा का ज्ञान नहीं होने से वह मनुष्य होता है।

अहा! यहाँ ज्ञान की (आत्मज्ञान की) बात ली है, इसलिए कहते हैं कि निज निजानन्दस्वरूप आत्मा के ज्ञान बिना, एकांत पर्यायस्वभाववाला अर्थात् वर्तमान पर्याय के भाव को ही माननेवाला जीव शुभाशुभ परिणामरूप मिश्रभाव से व्यवहार से मनुष्य होता है। अहाहा! निश्चय से तो वह अन्दर जैसा है, वैसा ही नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप है; परन्तु पर्यायदृष्टि होने पर, वह ऐसे भाव से व्यवहार से मनुष्य होता है। जबकि द्रव्यदृष्टि पुरुष (आत्मा) मनुष्यादि होता ही नहीं। वह तो निर्मल-निर्मल पर्याय प्रगट करके सिद्ध हो जाता है।

अहा! यह व्यंजनपर्याय की बात करनी है न! इसलिए कहते हैं कि आत्मा व्यवहार

से मनुष्य होता है। उसका मनुष्याकार सो मनुष्यपर्याय है। मनुष्याकार अर्थात् अन्दर आत्मा का प्रकट आकार; यह शरीर का आकार नहीं, वह मनुष्यपर्याय है।

इसीप्रकार — “केवल अशुभकर्म से व्यवहार से आत्मा नारक होता है, उसका नारक आकार वह नारक पर्याय है।”

अहा! अशुभभाव से-तीव्रकषाय से, व्यवहार से आत्मा नारक होता है। अहा! निश्चय से नारक हो गया है — ऐसा नहीं है; क्योंकि वह (आत्मा) नरकगति से तन्मय नहीं है; वह तो स्वरूप से अन्दर निजानंद-ज्ञानानंदस्वरूप ही है। भले ही पर्याय में नरकगति हो तो भी उससे त्रिकाली ध्रुवद्रव्य तन्मय नहीं, भिन्न है और उसके भान बिना वह व्यवहार से नारक होता है और उसका नारक आकार सो नारक पर्याय है।

“किंचित् शुभमिश्रित माया परिणाम से आत्मा व्यवहार से तिर्यचकाय में जन्मता है, उसका आकार वह तिर्यच पर्याय है।”

लो, माया के परिणाम से पशु-एकेन्द्रियादि में जन्मता है और उसका आकार वह तिर्यच पर्याय है।

“और केवल शुभकर्म से व्यवहार से आत्मा देव होता है, उसका आकार वह देवपर्याय है — यह व्यंजनपर्याय है।”

अहा! आत्मा के बाह्य-प्रकट आकार की जो अवस्था है, द्रव्य की बाहर की जो आकृति है, वह व्यंजनपर्याय है।

‘इस पर्याय का विस्तार अन्य आगम से देख लेना चाहिए।’

अन्यत्र विस्तार से देख लेना चाहिए। अहा! यह व्यंजनपर्याय त्रिकाल द्रव्य-गुण में नहीं है — ऐसा यहाँ कहना है। अहा! यह शरीर तो इसमें (द्रव्य-गुण में) नहीं है; परन्तु ऐसी व्यंजनपर्याय भी त्रिकाली ध्रुव द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय में नहीं है और इसीलिए यहाँ इस व्यंजनपर्याय का वर्णन है। (इसलिए वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जानकर निजस्वरूप में विश्रांत होना-रहना योग्य है।)

कलश २७ पर प्रवचन

“बहु विभाव होने पर भी, सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है — ऐसा यह शुद्ध दृष्टिवाला पुरुष.....”

क्या कहते हैं ? पन्द्रहवीं गाथा चली है न! तो उसमें यह सब पर्यायों-स्वभावकारण-शुद्धपर्याय अर्थात् त्रिकाली ध्रुवकारणपर्याय, स्वभावकार्यशुद्धपर्याय अर्थात् सादि-अनंत ऐसी केवलज्ञानादि शुद्धपर्याय और विभावव्यंजनपर्याय — इसप्रकार सभी पर्यायों की बात आई है; इसलिए कहते हैं कि भले ही पर्याय में रागादि और विशेषभाव अनेकप्रकार के हों, तो भी पर्याय में पुण्य-पाप के भाव और गति आदि परिणाम हैं — इसप्रकार उनकी अस्ति तो सिद्ध की; परन्तु यह सब पर्याय में होने पर भी....

क्या कहना प्रभु ?

तो कहते हैं — हमारी अर्थात् धर्मी की दृष्टि और बुद्धि उसमें लगी हुई नहीं है।

लो, यह धर्म और धर्मी की रीत! अहाहा...! निज स्वाभाविक परमतत्त्व अर्थात् शुद्ध एक ज्ञायकतत्त्व — ऐसा जो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का नित्य ध्रुवस्वरूप है, उसमें-उसके अभ्यास में धर्मी का चित्त लगा हुआ है। अहाहा....! सहज अर्थात् अन-उत्पन्न और अविनाशी ऐसा जो आत्मा का नित्य मूल चिन्मात्र चिदानंदमय स्वरूप है, उसके अभ्यास में धर्मात्मा की बुद्धि प्रवीण-निष्णात है। देखो, यह अभ्यास! आत्मा का (उसकी एकाग्रता का) अभ्यास ही अभ्यास है, शेष यह लौकिक अभ्यास और व्यवहार का-राग का अभ्यास तो सब अनर्थकारी है और इसकारण निरर्थक है।

अहाहा...! मुनिराज कहते हैं, सहज परमतत्त्व अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व जिसका अन्तःतत्त्व है — ऐसे अंतरंग आत्मतत्त्व के अभ्यास में हमारी बुद्धि प्रवीण है। यह तो सार है सार! अकेला मक्खन है।

अहाहा...! कहते हैं — विभाव भले ही हो और गति आदि भी भले ही हो, हमारी अर्थात् धर्मी की बुद्धि तो निज चैतन्यस्वभाव कि जो प्रयोजनभूत निजतत्त्व है, उसके अभ्यास में प्रवीण हुई है। अहाहा...! पर्याय में रागादि और बाह्य में निमित्तादि हो; परन्तु वहाँ से हटकर, पूर्ण एक ज्ञायकस्वभावी निजपरमतत्त्व के अभ्यास में ही हमारी बुद्धि जाती है। देखो, ऐसी बुद्धि ही प्रवीणबुद्धि है। (राग और पर में लगी हुई बुद्धि तो जड़ है-मिथ्या है) भाई! अनेक शास्त्रों का ज्ञान हो या न हो, परन्तु जो प्रयोजनभूत करनेयोग्य है, जो चौरासी के जन्म-मरण का अन्त लानेवाली दृष्टि है, वह यह है कि 'बुद्धि को निज परमतत्त्व के अभ्यास में लगा देना' और यही सच्चा अभ्यास है।

अहा! 'बहु विभाव होने पर भी....' — यह कहकर व्यवहार सिद्ध किया है। आशय यह है कि पर्याय में अनेकप्रकार के रागादिभाव हैं और हैं तो भले हों, परन्तु उनमें हमारी बुद्धि नहीं है, हमको उनमें ममत्व नहीं है, उनके प्रति हमारा झुकाव नहीं है, परन्तु जो सहज परमतत्त्व है...।

देखो, सहज अर्थात् स्वाभाविक परमभावमय शुद्ध, परम पवित्र, ध्रुव, एक, चैतन्यभाव है। उसके अभ्यास में हमारी-ज्ञानी की बुद्धि प्रवीण होती है — ऐसा कहते हैं। देखो, कलश में भी 'अभ्यास' शब्द है। अन्दर है कि 'सहजपरमतत्त्वाभ्यास निष्णात बुद्धि' तो यह शुद्ध चिदानंदस्वरूप निज परमतत्त्व है, उसके अभ्यास में अर्थात् निज अन्तःतत्त्व में एकाग्र होने के अभ्यास में धर्मी की बुद्धि प्रवीण-निष्णात हुई है — ऐसा कहते हैं।

अहा! 'सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है — ऐसा यह शुद्ध दृष्टिवाला पुरुष.....।'

प्रश्न : — शुद्धदृष्टिवाला पुरुष अर्थात् ?

उत्तर : — अहा! अपना परम त्रिकाली एक चैतन्यतत्त्व परम शुद्ध है और उस शुद्ध की दृष्टि में तथा उस शुद्ध के अभ्यास में जो पुरुष प्रवीण है, उसको शुद्ध दृष्टिवंत पुरुष कहते हैं। भाई! मार्ग ऐसा है। अरे! पहले समझ में (ज्ञान में) तो ले कि अपनी चीज ऐसी है।

विभाव अर्थात् विकार, विशेषभाव। तो कहते हैं — रागादिभाव और एकसमय की पर्याय भी होने पर भी, मैं तो निजवस्तु, जोकि परम स्वाभाविक ध्रुव, शुद्ध, चिद्रूप स्वरूप है, उसमें एकाग्र होने के अभ्यास में प्रवीण बुद्धिवाला हूँ। देखो, शुद्धदृष्टिवंत पुरुष होता है और वह नियम से जन्म-मरण का अन्त करनेवाला है। अहाहा! जिसको अपने हित-अहित का विवेक वर्तता है और इसकारण जिसको अपने शुद्धस्वभाव की एकाग्रता की प्रवीणता हुई है, वह शुद्ध दृष्टिवंत पुरुष है और वह अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। किसप्रकार ? तो कहते हैं —

'समयसार से अन्य कुछ नहीं हैं — ऐसा मानकर, शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है।'

अहाहा! शुद्धदृष्टि पुरुष कहता है — मेरी चीज जोकि त्रिकाल ध्रुवस्वरूप कारणप्रभु समयसार है, इससे विशेष मुझे अन्य कुछ नहीं है। समय माने आत्मा और सार माने विकार और एक समय की पर्याय से रहित — ऐसा जो त्रिकाली भगवान समयसार है, उससे अन्य कुछ नहीं अर्थात् अन्य किसी वस्तु की कीमत नहीं है। 'अन्य कोई नहीं' का अर्थ यह है कि मेरी चीज में अन्य कोई चीज नहीं है तथा मुझे किसी बाह्यवस्तु की कीमत नहीं है।

अहा! अद्भुत मार्ग है भाई! अहा! यह तो अनंत तीर्थकरों और केवलियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग बाहर आया है।

अहाहा! भगवान तू अन्दर परिपूर्ण है न! परमेश्वरस्वरूप ही तू है। अहाहा..! अन्दर शुद्ध चिदानंदकंद ध्रुव परमेश्वरता का पिण्ड ऐसा समयसार है, वह तेरा परमतत्त्व है; अतः उस ओर के झुकाव द्वारा अंतर एकाग्रता में प्रवीण ऐसा शुद्ध दृष्टिवंत पुरुष उस एक को ही (समयसार को ही) अपनी वस्तु मानता है, परन्तु उसके अलावा अन्य किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता। अहा! अपना अस्तित्व ऐसा पूर्ण चिदानंदघन है कि उसमें विकार तो क्या, एकसमय की पर्याय का भी प्रवेश नहीं है — ऐसा वह मानता है; क्योंकि वह (पर्याय) विभावभाव है न! विभावभाव में तो विशेषभाव और विकारभाव सब आ गये।

अहा! यह तो पन्द्रहवीं गाथा का कलश है न! इसलिए कहते हैं कि सभी विशेष हों और विकार भी हों; परन्तु मेरी परम त्रिकाली चीज में वे कोई नहीं हैं। अहा! ऐसा ज्ञान और ऐसी दृष्टि जिसको हुई है — ऐसा पुरुष निज समयसार के अलावा जगत में अन्य कोई वस्तु नहीं है — ऐसा मानता है। यहाँ तो यह कहा है कि समयसार के अलावा अन्य कुछ नहीं है। अहा! निज पूर्णानंद स्वरूप परमात्मा (कारणपरमात्मा) के सिवाय अन्य कोई चीज हमारी अपेक्षा से नहीं है — ऐसा वह मानता है। अहाहा..! पर चीज क्या.. रागादि विकार क्या... अथवा एक समय की पर्याय क्या—हमारी ध्रुव नित्यानंद चीज की अपेक्षा से ये सभी वस्तुएँ कुछ नहीं हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं।

भाई! गजब का कलश है।

अहाहा...! पवित्रता का पिण्ड, ध्रुव चैतन्यमहाप्रभु ऐसा भगवान आत्मा समयसार

है, वही निज परमतत्त्व है; जबकि उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान, उसका अभ्यास वह पर्याय है। उस पर्याय का विषय पर्याय नहीं, अपितु पूर्ण अन्तःतत्त्व ऐसा यह परमतत्त्व है अर्थात् पर्याय का अभ्यास द्रव्य तरफ के झुकाव का है; पर्याय का अभ्यास पर्याय तरफ के झुकाव का नहीं — ऐसा कहते हैं। बापू! धर्म ऐसा बहुत सूक्ष्म है।

अहाहा..! समयसार से अन्य कोई नहीं है अर्थात् मेरा ही एक पूर्ण-परिपूर्ण शुद्ध अस्तित्व है — ऐसा जानकर, उसकी ही दृष्टि और उसका ही अंतर-अभ्यास करके, उसमें ही एकाग्र-लीन होकर रहना धर्म है। अहाहा...! शुद्धदृष्टिवंत पुरुष कहता है — मेरे पूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप की अपेक्षा से अन्य कोई चीज ही नहीं है न! अहा! पर्याय की अपेक्षा से पर्याय हो और राग की अपेक्षा से राग हो तथा पर की अपेक्षा से पर भी हो; परन्तु निज समयसार से अन्य कोई नहीं है। अहा! ऐसा निश्चय करनेवाला शुद्ध-दृष्टिवंत पुरुष अंतर-एकाग्रता के अभ्यास द्वारा शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है — ऐसी मान्यता और परमतत्त्व की एकाग्रता का अभ्यास सो मोक्षमार्ग है और उसका फल मोक्ष-मुक्ति है।

अहाहा..! भगवान आत्मा परमपवित्र पूर्ण चैतन्यमहाप्रभु है, इसमें अंदर कारणशुद्धपर्याय भी आ गई है। इसके अतिरिक्त-इस निज समयसार के अतिरिक्त — अन्य कोई चीज है ही नहीं — ऐसा धर्मी मानता है। 'समयसारात् न अन्यत् अस्ति इति मत्या' — ऐसा पाठ है न! और समयसार के सर्वविशुद्धअधिकार में भी (कलश २४४ में) आता है न कि समयसार से ऊँची कोई चीज नहीं है। तो कहते हैं कि होनेपने-अस्तिपने यदि कोई हो तो वह मेरा एक, पूर्ण, भगवान समयसार ही अस्ति है। अहा! शुद्धदृष्टि पुरुष ऐसा जानकर-मानकर अंतर्दृष्टि द्वारा अंतर-एकाग्र होकर शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है। अंतर-एकाग्र होना-वह पर्याय है और वह मोक्ष का मार्ग है और उसका फल मोक्ष है। यह नियमसार है न! इसलिए यहाँ मोक्षमार्ग और उसके फल का वर्णन किया है।

अहा! इस नियमसार में मार्ग एवं मार्गफल का वर्णन है न! तो कहते हैं कि त्रिकाली पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान करना, उसकी दृष्टि करना और उसमें लीनता करना ही मार्ग है। यह जैनधर्म का मोक्षमार्ग है और जो इस मोक्षमार्ग में स्थित है, वह शीघ्र-अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रश्न : — यहाँ 'शीघ्र' कहा है तो फिर क्रमबद्ध कहाँ गया ?

उत्तर :— भाई! उसको क्रमबद्ध में ही शीघ्र मोक्ष होता है। अहाहा..! अपनी समयसारमय वस्तु, जोकि पूर्णानंद-चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा है, उसमें जिसकी बुद्धि लगी है और उसमें जिसकी दृष्टि स्थित है, उसको अल्पकाल में ही पूर्ण शुद्धि प्रकट होने का काल है; क्योंकि मोक्षमार्ग की स्थिति ही असंख्य समय की है। मुक्ति का काल सादि-अनंत है; परन्तु मोक्षमार्ग की स्थिति असंख्य समय की है। इसकारण मोक्षमार्गी जीव शीघ्र अर्थात् अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त करता है। (इसमें क्रमबद्ध के नियम को कहीं बाधा नहीं आती। मोक्षमार्गी को शीघ्र मोक्ष होना क्रमबद्ध ही है।)

अहा! वीतरागी सर्वज्ञ परमेश्वर वस्तुस्वरूप के पूर्ण ज्ञाता हैं और यह उनके द्वारा कथित मार्ग है। आशय यह है कि यह मार्ग अन्तर्दृष्टि और अंतर-एकाग्रता का, स्वरूप में लीनता का है। भाई! व्यवहार के विकल्प से धर्म का-मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं होता; अपितु त्रिकाली ध्रुव भगवान समयसार के-शुद्ध आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान और उसमें लीनता-रमणता से मोक्ष प्राप्त होता है। हाँ, बीच में व्यवहार आता है; दया, दान, व्रत, पूजादि के विकल्प आते हैं; परन्तु वह कोई मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो निज परमात्मस्वरूप की अन्तर्दृष्टि और अंतरलीनता-अंतररमणता ही है। बस, धर्मात्मा को यही अल्पकाल में मुक्ति का कारण होता है तथा उस शुद्धदृष्टि पुरुष को क्रमबद्ध में मुक्ति के लिए अल्पकाल ही रहा है अर्थात् वह शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है।

अहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय है अर्थात् वह राग से, मन से और एक समय की पर्याय से भी पार है अर्थात् वह राग, मन और एकसमय की पर्याय के आश्रय से प्राप्त नहीं होता। अहा! ऐसी मान्यतावाले धर्मी को निज महासत्ता-पूर्ण अस्तिरूप चीज के अलावा अन्य कोई चीज है ही नहीं। अहाहा..! जिसे अन्दर चैतन्य का अक्षय-अमेय वैभव दिखा है, वह पुरुष, 'बस मैं ही एक हूँ, अन्य कोई है ही नहीं' — ऐसा मानता है। देखो, यह वैभव! यह लौकिक वैभव कोई चीज नहीं है, परम पवित्र पूर्ण प्रभु चैतन्यमय महाराजा के वैभव के समक्ष तो वह सब धूल की धूल है। उसमें क्या है ? उसमें तो हैरान होना है। यह व्यवहार व्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं वह भी अचेतन धूल है; क्योंकि उनमें ज्ञान का अंश नहीं है। वह राग का अंश है न! इसकारण वह अचेतन है-जड़ है। (आशय यह है कि 'अन्य कुछ चीज नहीं है' — ऐसा मानकर, मुक्ति को प्राप्त करता है।)

अहा! वीतराग का मार्ग ऐसा है बापा! और संतों ने उसको बहुत सरल कर दिया है।

अहाहा..! कहते हैं — ऐसा शुद्धदृष्टि पुरुष शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है। परमश्री=परम+श्री अर्थात् केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी और ऐसी जो सुन्दरी, वह परमश्रीरूपी सुन्दरी। तो सुन्दर ऐसे अनंतचतुष्टय उस रूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है अर्थात् उसको परमात्मदशा की प्राप्ति होती है। वल्लभ अर्थात् परमप्रिय। अहाहा..! वह मुक्ति सुन्दरी का ऐसा परमप्रिय वल्लभ होता है कि वह एकसमय भी इसको नहीं छोड़ती।

लोक में प्रिय में प्रिय स्त्री हो, उसे अर्धांगिनी कहते हैं; परन्तु यह तो कथनमात्र है। कारण कि वह तो आपुष्य पूर्ण होते ही छोड़कर चली जाती है। जबकि यह मुक्तिरूपी सुन्दरी तो एक क्षण भी इसका सहवास नहीं छोड़ेगी। अहाहा..! जिसने ध्रुव नित्यानंद निज परमात्मस्वरूप में रमणता की है, जो अन्तःतत्त्वस्वरूप भगवान ज्ञायक में रमणता करनेवाला है, उसको अल्पकाल में ही मुक्तिरूपी स्त्री प्राप्ति होती है अर्थात् वह मुक्ति सुन्दरी का वल्लभ होता है। कैसा ? कि वह मुक्ति उसको कभी एक क्षण भी नहीं छोड़ेगी - ऐसा वल्लभ होता है अर्थात् मुक्ति हुई सो हुई, अब वह कभी संसार में अवतार धारण नहीं करेगा। अहा! जिसको एकबार पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होती है, उसको फिर कभी अवतार नहीं होते। अहा! मोक्ष की दशा ऐसी परमसुख की प्राप्तिरूप अलौकिक होती है। लो, इतना सब एक कलश में आया! ●

प्रमाद में क्यों पड़ा है ?

नरक के दुःख ऐसे सुने जायें ऐसे नहीं हैं। पाँव में काँटा लगने जितना दुःख तुझसे सहन नहीं होता तो फिर जिसके गर्भ में अनन्त दुःख पड़े हैं, उस मिथ्यात्व को छोड़ने का प्रयत्न तू क्यों नहीं करता ? तू शरीर को स्पर्शता नहीं है, फिर भी तूने माना है कि शरीर मेरा है, यह तूने क्या किया ? क्या माना ? विपरीत मान्यता के स्थूल असंख्य प्रकार तथा सूक्ष्म अनंत प्रकार हैं। पर को मार सकता हूँ या जिला सकता हूँ, वह मिथ्यात्व का एक भाग है। अनंत परवस्तुओं को अपना माना। भाई, परन्तु अपने अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को तू स्पर्शता भी नहीं है। सत्य बोल सकता है - ऐसा माना, वह तो मिथ्यात्व का एक भाग है। मिथ्यात्व भाव को छोड़ने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ? प्रमाद में क्यों पड़ा है ?

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२७

नियमसार गाथा-१६-१७

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण ॥१६ ॥
चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेषु णादव्वं ॥१७ ॥

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥१६ ॥
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥१७ ॥

(हरिगीत)

हैं कर्म-भूमिज, भोग-भूमिज मनुज की दो जातियाँ ।
अरु सप्त पृथ्वीभेद से हैं सप्त नारक राशियाँ ॥१६ ॥
तिर्यञ्च चौदह भेदवाले, देव चार प्रकार के ।
इन सर्व का विस्तार है, ज्ञातव्य लोकविभाग से ॥१७ ॥

गाथार्थ :— मनुष्यों के दो भेद हैं, कर्मभूमि में जन्मे हुए और भोगभूमि में जन्मे हुए; पृथ्वी के भेद से नारक सातप्रकार के जानना; तिर्यञ्चों के चौदहभेद कहे हैं; देवसमूहों के चार भेद हैं। इनका विस्तार लोकविभाग में से जान लेना।

टीका :— यह, चारगति के स्वरूपनिरूपणरूप कथन है।

मनु* की सन्तान वह मनुष्य है वे दो प्रकार के हैं — कर्मभूमिज और भोगभूमिज। उनमें कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकार के हैं — आर्य और म्लेच्छ। पुण्यक्षेत्र में रहनेवाले वे आर्य हैं और पापक्षेत्र में रहनेवाले वे म्लेच्छ हैं। भोगभूमिज मनुष्य आर्य नाम को धारण करते हैं; जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम क्षेत्र में रहनेवाले हैं और एक पल्योपम, दो पल्योपम की आयुवाले हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा

* भोगभूमि के अन्त में और कर्मभूमि के आदि में होनेवाले कुलकर मनुष्यों को आजीविका के साधन सिखाकर लालित-पालित करते हैं, इसलिए वे मनुष्यों के पिता समान हैं। कुलकर को मनु कहा जाता है।

नाम की सात पृथ्वी के भेदों के कारण नारक जीव सातप्रकार के हैं। पहले नरक के नारकी एक सागरोपम की आयुवाले हैं, दूसरे नरक के नारकी तीन सागरोपम की आयुवाले हैं। तीसरे नरक के नारकी सात सागरोपम की आयुवाले हैं, चौथे नरक के नारकी दस सागरोपम, पाँचवें नरक के सत्रह सागरोपम, छठवें नरक के बाईस सागरोपम और सातवें नरक के नारकी तैंतीस सागरोपम की आयुवाले हैं।

अब विस्तार के भय के कारण संक्षेप से कहने में, तिर्यचों के चौदह भेद हैं - (१-२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (३-४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (११-१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (१३-१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।

देवों के चार निकाय (समूह) हैं - (१) भवनवासी, (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) कल्पवासी।

इन चार गति के जीवों के भेदों के भेद लोकविभाग नामक परमागम में देख लें। यहाँ (इस परमागम में) आत्मस्वरूप के निरूपण में अन्तराय का हेतु होगा इसलिए सूत्रकर्ता पूर्वाचार्यमहाराज ने (वे विशेष भेद) नहीं कहे हैं।

[अब, इन दो गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं-]

(मंदाक्रांता)

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्जोतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूयो भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः ॥२८॥

(वीरछन्द)

दैवयोग से हे प्रभु! यदि मैं पाऊँ स्वर्ग, नरक, नर-लोक।
विद्याधर, नागेन्द्र नगर हो या फिर होवे ज्योतिष-लोक ॥
जिनपति के भवनों में अथवा अन्य कोई भी हो स्थान।
किन्तु न हो कर्मोद्भव, होवे पुनः पुनः तव भक्ति महान ॥२८॥

श्लोकार्थः— (हे जिनेन्द्र!) दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ, इस मनुष्यलोक में होऊँ, विद्याधर के स्थान में होऊँ, ज्योतिष्क देवों के लोक में होऊँ, नागेन्द्र के नगर में होऊँ, नारकों के निवास में होऊँ, जिनपति के भवन में होऊँ या अन्य चाहे जिस स्थान पर होऊँ, (परन्तु) मुझे कर्म का उद्भव न हो, पुनः पुनः आपके पादपंकज की भक्ति हो ॥२८॥

(शार्दूलविक्रीडित)

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च-
त्वं क्लिश्नासि सुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं-
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥२९॥

(वीरछन्द)

विविध महावैभव नरेश के सुन-सुन कर अवलोकन कर।
हे जड़मति! क्यों व्यर्थ प्राप्त करता तू क्लेश महादुखकर।
वे मिलते हैं पुण्योदय से पुण्य मिले जिनपूजा से।
जिनचरणों की भक्ति तुम्हें यदि, बहुविधि भोग स्वयं होंगे ॥२९॥

श्लोकार्थः— नराधिपतियों के अनेकविध महा वैभवों को सुनकर तथा देखकर, हे जड़मति, तू यहाँ व्यर्थ ही क्लेश क्यों प्राप्त करता है! वे वैभव सचमुच पुण्य से प्राप्त होते हैं। वह (पुण्योपार्जन की) शक्ति जिननाथ के पादपद्मयुगल की पूजा में है; यदि तुझे उन जिनपादपद्मों की भक्ति हो, तो वे बहुविध भोग तुझे (अपने आप) होंगे ॥२९॥

गाथा १६-१७ की टीका पर प्रवचन

अब गाथाओं द्वारा क्या कहते हैं ? अहाहा...! अन्दर अपनी पूर्ण भावस्वरूप चीज त्रिकाल होने पर भी, उसको पर्याय में गति आदि है। यह मनुष्यगति, देवगति आदि पर्याय में चार गतियाँ हैं और उसके पर्यास-अपर्यास आदि भेद भी हैं। आगे कलश में मुनिराज कहते हैं कि ऐसी गति आदि हो अर्थात् मैं ऐसी गति आदि में कहीं भी होऊँ; तो भी हे प्रभु! मैं तो सदा आपके चरणकमल की भक्ति में तत्पर रहूँ — ऐसा मेरा भाव है। देखो, यह तो मुनिराज वीतरागी परमेश्वर की भक्ति के बहाने वीतरागता की भावना दृढ़ करते हैं। अंदर आत्मदृष्टि है न! अतः वीतरागता की भावना दृढ़ करते हैं (किसी गति की भावना नहीं)।

तो, भले ही वस्तु में न हो; परन्तु जहाँ तक संसार है, वहाँ तक इसकी पर्याय में ऐसी चार गतियाँ हैं — ऐसा भगवान ने वर्णन किया है। वह बात यहाँ की है। अतः कहते हैं कि —

‘यह चारगति के स्वरूपनिरूपणरूप कथन है।’

यहाँ चार गतियों से रहित मुक्ति पर्याय की प्राप्ति बतलाना है; परन्तु जहाँ तक ऐसी पर्याय की प्राप्ति नहीं है, वहाँ तक पर्याय में गति आदि है — ऐसा कहते हैं; परन्तु धर्मी जीव को वह गति आदि हेय है। धर्मी को गति की भावना नहीं है। यह मनुष्यगति है तो इसके कारण मोक्ष होगा — ऐसा धर्मी को नहीं है तथा देव गति होगी तो वहाँ से भगवान के पास जाकर समकित प्राप्त हो सकेगा — ऐसा भी नहीं है। अहा! पर्याय में देवगति आदि होती है; परन्तु धर्मी को तो गति मात्र हेय है। अरे! जहाँ भगवान की भक्ति का भाव भी हेय है, वहाँ गति की तो बात ही क्या करना ?

यहाँ पहले मनुष्य की बात करते हैं — ‘मनु की सन्तान वह मनुष्य है...’

अन्यमत में भी मनुस्मृति आता है न? मनु अर्थात् कुलकर और उसकी संतान को मनुष्य कहा जाता है। इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार किया है — ‘भोगभूमि के अन्त में और कर्मभूमि के आदि में होने वाले कुलकर मनुष्यों को आजीविका के साधन सिखला कर लालित-पालित करते हैं; इसलिए वे मनुष्यों के पिता समान हैं। कुलकर को मनु कहा जाता है।’ इसप्रकार मनुष्य मनु की संतान कहलाती है। नाभिराज कुलकर अर्थात् मनु थे। आजीविका का साधन बतलाकर मनुष्यों का लालन-पालन करने के कारण मनुष्य उनकी संतान कहलाते हैं। अब कहते हैं —

‘वे दो प्रकार के हैं — कर्मभूमिज और भोगभूमिज, उनमें कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकार के हैं — आर्य और म्लेच्छ। पुण्य क्षेत्र में रहने वाले वे आर्य हैं और पाप क्षेत्र में रहनेवाले वे म्लेच्छ हैं।’

अहाहा! पुण्यक्षेत्र में रहने वाले वे आर्य हैं; तथापि वह पुण्यक्षेत्र और आर्यपना हेय है — ऐसा यहाँ बताना है। यहाँ पुण्यक्षेत्र की महिमा नहीं बताना है; अपितु वह पुण्यक्षेत्र और आर्यपना हेय है — ऐसा बताने के लिए यहाँ यह बात की है। अद्भुत बात है भाई!

पापक्षेत्र में रहने वाले म्लेच्छ हैं। म्लेच्छ के पाँच खण्ड हैं न, वे सब पाप क्षेत्र हैं। (वे भी हेय हैं।)

‘भोगभूमिज मनुष्य आर्य नाम को धारण करते हैं; जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम क्षेत्र में रहने वाले हैं और एक पल्योपम, दो पल्योपम की आयु वाले हैं।’

देखो, भोगभूमि के मनुष्य यानी जुगलिया। वे आर्य हैं। जुगलिया के उत्तम, मध्यम औ जघन्य — ऐसे तीन प्रकार के क्षेत्र हैं। देवकुरु, उत्तरकुरु आदि जितने जुगलिया के क्षेत्र हैं वे सब आर्यक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र हैं। जघन्य में एक पल्योपम आयुष्य की स्थिति है, मध्यम में दो पल्योपम और उत्तम में तीन पल्योपम की स्थिति है। अहा! ऐसा बाहर में (पर्याय में) है; तथापि भगवान! तेरे स्वभाव में यह नहीं है। तथा ऐसा हो तो भी धर्मी को स्वभाव की दृष्टि में यह कुछ नहीं है — यहाँ यह बताना है। यह जीव अधिकार है न! तो जीव की पर्याय में ऐसा होता है (और वह हेय है) — ऐसा कहते हैं।

अब सात प्रकार के नरक कहते हैं —

‘रत्नाप्रभा’ — यह पहले नरक का नाम है। ‘शर्करा प्रभा’ — दूसरा नरक है, वहाँ शर्करा=पत्थर, कंकर है। ‘बालुकाप्रभा’ — तीसरा नरक है, वहाँ रेत है। ‘पंकप्रभा’ चौथा नरक है, वहाँ कादव (कीचड़) है। ‘धूमप्रभा’-पाँचवाँ नरक है, वहाँ धुआँ है। ‘तमःप्रभा’-छठवाँ नरक है, वहाँ अंधकार है। और ‘महातमप्रभा’ - सातवाँ नरक है, वहाँ महाअंधकार है। अहा! ऐसे ‘नामकी सात पृथ्वी के भेद के कारण नारक जीव सात प्रकार के हैं।’ लो, नारकी, सात प्रकार के हैं — यह कहकर नरकगति सिद्ध करते हैं। भाई! पर्याय में ऐसी वस्तुस्थिति है — यह सिद्ध करते हैं। (अहा! तीव्र पापी जीवों के ऐसे स्थान हैं।)

‘पहले नरक के नारकी एक सागरोपम की आयुवाले हैं।’

सागरोपम माने? अहा! एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम व्यतीत होते हैं, और एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। अहा! इसमें भी भगवान! तू अनंतबार गया है। इसमें नया क्या है? पहले नरक की उत्कृष्ट आयु स्थिति एक सागरोपम की है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। उसमें आत्मा

के अनुभव बिना अर्थात् स्वानुभव बिना सभी जीव अनंतबार गये हैं। अहा! यह सम्यग्दर्शन बिना मिथ्यात्व के वश तीव्र पाप करके अनंतबार वहा गया है। अहा! वहाँ से बाहर आकर यह सब भूल गया है और मैं महान सेठ, बहुत पैसे वाला इत्यादि मानने लगा है; परन्तु बापू! तेरी अवदशा का कोई पार नहीं है। (अब तो यह चेतने का अवसर है।)

इसप्रकार यह पहले नरक की आयु की बात की। अब कहते हैं —

‘दूसरी नरक के नारकी तीन सागरोपम की आयुवाले हैं। तीसरे नरक के नारकी सात सागरोपम की आयु वाले हैं। चौथे नरक के नारकी दस सागरोपम, पाँचवें नरक के नारकी सत्रह सागरोपम, छठवें नरक के नारकी बाईस सागरोपम और सातवें नरक के नारकी तैंतीस सागरोपम की आयु वाले हैं।’

पहले दृष्टान्त दिया था न कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने सात सौ वर्ष तक राज्य किया और फिर मरकर सातवें नरक में गया है। अभी वह सातवें नरक में तैंतीस सागरोपम की स्थिति में है। तो इन सात सौ वर्षों के जितने श्वास हुए, उसमें से एक श्वास के कल्पित सुख के फल में, उसको ग्याहर लाख, छप्पन हजार, नौ सौ पच्चीस पल्योपम काल का दुःख प्राप्त हुआ है। अहा! चक्रवर्ती के सुख की तो कल्पना थी; वह सुख था कहाँ ? क्योंकि यह मेरी रानी और यह मेरा राज्य — उसकी ऐसी भ्रमणा तो मात्र आकुलता थी, इसलिए उसे एक श्वास के फल में ११, ५६, ९२५ पल्योपम के सातवें नरक के अति घोर दुःख प्राप्त हुए हैं। वे दुःख कौन कहे ? जबकि यहाँ एक श्वास जितने काल के स्वानुभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, उसके फलरूप अनंतसुखमय सिद्धदशा अनंतकाल के लिए प्राप्त होती है।

अहा! अपने ध्रुव एक ज्ञायकभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग की पर्याय, वह असंख्य समय ही रहती है। मोक्षमार्ग दो चार भव रहो या पन्द्रह भव रहो; परन्तु वह असंख्य समय ही रहता है, अनंत समय नहीं रहता है। असंख्य समय के मोक्षमार्ग के फल में सादि-अनंत ऐसे केवलज्ञान, आनंद आदि अनंत चतुष्टय प्राप्त होते हैं और इसलिए एक-एक समय के मोक्षमार्ग के फल में अनंत-अनंत कोड़ाकौड़ी वर्ष का मोक्ष फल आया।

क्या कहा यह ? कि जब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को एक श्वास के (भोग के) फल में ११, ५६, ९२५ पल्योपम का दुःख मिला, तब मोक्षमार्गी जीव को मोक्षमार्ग के फल में अनंतानंत कोड़ाकोड़ी वर्ष का मोक्षसुख मिलता है; क्योंकि मोक्षमार्ग असंख्य समय ही रहता है (जबकि मोक्ष तो सादि-अनंतकाल रहता है।) अहा! मोक्षमार्ग कोई अनंतकाल तक नहीं रहता; क्योंकि अपना स्वरूप का साधन करने में, अहा! सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र की प्राप्ति होकर केवलज्ञान प्राप्त होने में असंख्य समय ही चाहिए है। भले ही बीच में सागरोपम आयुष्य के भव व्यतीत हों तो भी वह असंख्य समय ही है। अतः असंख्य समय के मोक्षमार्ग का जो मुक्ति-फल आया है, वह सादि-अनंतकाल का है; इसलिए एकसमय के मोक्षमार्ग के फल में अनंत-अनंत कोड़ाकोड़ी वर्ष का मोक्ष-आनंद का-सुख का फल है। अहा! ऐसी बात है!

अहा! अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित आत्मा; क्योंकि दूसरे अन्यवादी कहते हैं, वैसा आत्मा नहीं है; जो अपनी आत्मवस्तु को नहीं जानते, वे आत्मा को अनेक प्रकार से कहते हैं; तो वह नहीं; किन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकीनाथ परमात्मा ने जो आत्मा देखा और कहा है — उसकी बात है। तो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु असंख्यात प्रदेशी है। अहा! अनंतगुणों का धाम अर्थात् जिसमें अनंतगुणों की पवित्र प्रजा बसी है — ऐसा भगवान आत्मा है। अहा! अपने उस असंख्यात प्रदेश के देश में — यही अपना देश है, तो उसमें अनंत पवित्र गुण भरे हैं। अहा! जो ऐसे स्व-देश की सार-संभाल करके अंदर में जा बसता है, उसकी मुक्ति अल्पकाल में होगी और फिर सादि-अनंतकाल रहेगी। कितना अनंतकाल ? कि व्यतीत हुए अनंत भूतकाल से अनंतगुना अनंतकाल, उसको मोक्षसुख प्राप्त होगा। अहा! ऐसी बात है! समझ में आया ?

देखो, सात सौ वर्ष के भोग के फल में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को तैंतीस सागर का अति कठोर दुःख प्राप्त हुआ। जबकि यहाँ धर्मी पुरुष को असंख्य समय के मोक्षमार्ग के फल में अनंत-अनंत....इसतरह अनंत सागरोपम का मोक्षसुख प्राप्त होता है। अहाहा...! स्वरूप की दृष्टि-ज्ञान और रमणतारूप जो असंख्य समय का मोक्षमार्ग है, उसके एक-एकसमय के फल में अनंत-अनंत कोड़ाकोड़ी सागरोपम का मोक्षसुख है। तो फिर ऐसा काम (स्वानुभव) कौन नहीं करेगा ?

श्रीमद् ने भी १७वें वर्ष में कहा है न कि —

‘अनंत सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता।
अनंत दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता ॥’

अहा! यह जो सच्चा मुनिपना है वहाँ सुख है। मुनि को आनंद ही आनंद, प्रचुर आनंद होता है, नाम का कहने मात्र दुःख है, अर्थात् वस्तुतः दुःख नहीं है। भाई! सम्यग्दर्शन से ही सुख प्रारम्भ होता है, और इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव ही लोक में सुखी हैं। राग की अग्नि से सिकते हुए जगत में सम्यग्दृष्टि को ही सुख है, मुनिवरों को ही सुख है। परन्तु अरे! वहाँ इसको (मूढ़ जीव को) मित्रता नहीं है! वहाँ इसको रुचि नहीं है। अहा! बाहर में अनंत दुःख है, नाम सुख अर्थात् सुख नहीं है; परन्तु अरे रे! वहाँ (बाहर में, भोग में, विषय में) यह प्रेम करता है। भारी विचित्रता बापा! (इसीलिए श्रीमद् उसको करुणापूर्वक शिक्षा दी है कि —)

‘उघाड़ न्याय-नेत्र को, निहाल रे! निहाल तू।
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, ते प्रवृत्ति बाल तू॥’

श्रीमद् कहते हैं कि भाई! अब न्याय-नेत्र को खोलकर देख तो सही! तुलना तो कर! यहाँ भी यही बात आई न कि एक श्वांस के भोग के फल में भारी अनंतदुःख और एकसमय के मोक्षमार्ग के फल में अनंत मुक्ति का सुख है, इसलिए बापू! न्याय के नेत्र से तुलना तो कर! प्रभु! यह तू कहाँ खड़ा है ? देख तो सही! भगवान! राग से और पर से एकदम हट जा! विषय से अभी हट जा, निवृत्त हो जा और इस सम्पूर्ण प्रवृत्ति को जलाकर राख कर दे। रागादि की प्रवृत्ति को जलाकर भस्म कर दे। अहा! ऐसा न्याय का मार्ग!

इसप्रकार नरक की बात की।

‘अब विस्तार के भय के कारण संक्षेप में कहने में तिर्यचों के चौदह भेद हैं — (१-२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (३-४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (११-१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (१३-१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।’

यह जानने के लिए कहा है; क्योंकि अज्ञानवश जीव को ऐसी-ऐसी दशायें हुई हैं। यों सम्यग्दृष्टि तो तिर्यच में जाते ही नहीं। हाँ, मनुष्य और देव में जाते हैं; परन्तु तिर्यच में नहीं जाते। तो भी यहाँ (कलश में) कहेंगे कि 'मैं नरक में होऊँ....' तो भी ऐसा थोड़ा कहेंगे; परन्तु वहाँ तो गतिमात्र को गौण करना है न! अतः इसप्रकार बात की है।

देवों के चार निकाय (समूह) है — (१) भवनवासी, (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) कल्पवासी।

इन चारगति के जीवों के भेद 'लोक विभाग' नामक परमागम में देख लें। यहाँ (इस परमागम में) आत्मस्वरूप के निरूपण में अन्तराय का हेतु होगा इसलिए सूत्रकर्ता पूर्वाचार्य महाराज ने (वे विशेष भेद) नहीं कहे हैं।

कलश-२८ पर प्रवचन

अहा! आज से दो हजार वर्ष पूर्व संवत् ४९ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान सीमंधर स्वामी के पास गये थे। वहाँ आठ दिन रहे थे, और वहाँ से आकर इन शास्त्रों की रचना की है। मूल गाथायें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की हैं और उस पर टीका दिगम्बर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की है। वे आज से लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। इस कलश में टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि —

'(हे जिनेन्द्र!) दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ....'

अहाहा...! पुण्य अवशेष हो और मैं स्वर्ग में जाऊँ तो....; ये तो पंचमकाल के मुनि है न! इसलिए वे तो स्वर्ग में ही गये हैं; क्योंकि यहाँ से अभी मुक्ति नहीं होती, इसलिए कहते हैं कि 'दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ....' अहा! भाषा में तो यही कहा जाता है न! वरना वे तो आत्मा में ही हैं। अहा! धर्मी शुद्धदृष्टि पुरुष तो जहाँ हो, वहाँ आत्मा में ही है। आत्मा क्या कोई स्वर्गलोक में है ? नहीं; वह तो निज चैतन्यलोक में ही है। यहाँ तो यह पर्याय की (विभाव व्यंजनपर्याय की) अपेक्षा से बात है। मुनिराज ने पहले स्वयं २७वें कलश में कहा था कि जगत में मैं (समयसार) एक ही हूँ। मेरी अपेक्षा से निज समयसार के अलावा अन्य कोई है ही नहीं। वहाँ यह द्रव्य अपेक्षा से कहा था। अहो! वीतराग का स्याद्वाद मार्ग! उसकी कथन पद्धति! कोई अलौकिक है। तो कहते हैं कि — हे नाथ! मैंने ऐसी तिर्यच गति की बात सुनी और मेरे ख्याल में

भी यह चार गति है। अतः हे प्रभु! यदि मैं दैवयोग से स्वर्ग में होऊँ...देखो! यहाँ पहले स्वर्ग की बात की है; क्योंकि मुनिराज तो यहाँ से दैवयोग से-प्रबल पुण्य के योग से स्वर्ग में जाने वाले हैं तथा देवलोक में से निकलकर फिर मनुष्य ही होंगे। कहते हैं—

‘इस मनुष्यलोक में होऊँ.....’ अहा! पंचमकाल के मुनि को अभी मोक्ष तो है नहीं; इसलिए कहते हैं कि मैं स्वर्ग में होऊँ या मनुष्य में होऊँ...धर्मी आराधक जीव को तो दो (देव और मनुष्य) गति ही शेष रहती है, नरक और पशु गति नहीं होती; इसलिए प्रथम तो इन दो (देव और मनुष्य) गति की बात की है।

अब कहते हैं — ‘विद्याधर के स्थान में होऊँ.....’ बेटाल पर्वत में विद्याधर है न, सो कदाचित् पर्याय की ऐसी स्थिति के कारण वहाँ उत्पन्न हो गया होऊँ तो.....

‘ज्योतिष्कदेव के लोक में होऊँ.....’ कदाचित् मेरी ज्योतिष्क लोक में उपस्थिति होवे तो...

‘नागेन्द्र के नगर में होऊँ..’ नीचे असुरकुमारादि हैं न, सो कदाचित् वहाँ होऊँ तो...

‘नारकों के निवास में होऊँ.....’ — यह तो अपेक्षा से वर्णन किया है। ‘जिनपति के भवन में होऊँ.....’ जिनेन्द्रों के शाश्वत् भवन हैं, वहाँ होऊँ तो....देखो, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक स्वर्ग में शाश्वत जिनमन्दिर हैं। उनमें वीतरागत परमेश्वर की मूर्ति ऐसी होती है कि मानों अभी बोलेंगी — ऐसा शास्त्र में पाठ है। शाश्वत जिनमन्दिरों में मणिरत्नों की महा मनोहर प्रतिमायें होती हैं और वे ऐसी दिखती हैं कि मानों अभी बोलेंगी। अहा! वह ऐसी सुन्दर मनोज्ञ आकृति की होती हैं तो कदाचित् मैं ऐसे जिनभवन में गया होऊँ तो.....

देखो, ऐसा कहकर यह सब सिद्ध किया है कि ऐसा-ऐसा सब जगत में है तथा जिनभवन भी है — इसप्रकार जिनभवन सिद्ध किये हैं। कोई यह कहता है कि जिनभवन है ही नहीं, देवलोक में भी जिनभवन और जिन प्रतिमा नहीं है तो उसकी यह बात मिथ्या है। भाई! इस लोक में शाश्वत जिनमन्दिर हैं और अशाश्वत जिनमन्दिर भी हैं, इसलिए उनके निषेधक को सत्यार्थ तत्त्व का पता ही नहीं है। अहा! जो सम्प्रदाय के पक्ष में आ जाते हैं, उन्हें यथार्थ तत्त्व का पता नहीं रहता।

अहा! शाश्वत मन्दिर बहुत हैं और उन एक-एक मन्दिर में मणिरत्न की सुन्दर एक सौ आठ जिनप्रतिमाएँ हैं। जैसे वीतरागभाव अनादि का है, केवली अनादि के हैं; इसीप्रकार उनकी स्थापना भी अनादि की है। अहा! जगत में कभी केवलज्ञान का विरह नहीं होता। तीनकाल में तीनकाल-तीनलोक को जानने वाले का कभी विरह नहीं होता। जैसे तीनलोक अनादि के हैं, उसीप्रकार उनको जाननेवाले केवली भी अनादि के हैं और इसीप्रकार केवलज्ञानी का प्रतिबिम्ब-जिनबिम्ब भी अनादि का है। भाई! यह वस्तुस्थिति है। (कोई न माने उससे क्या ?)

प्रश्न : — तो क्या वीतराग का भवन होता है ?

उत्तर : — हाँ, अन्दर (भवन में) जिनप्रतिमा-वीतराग की प्रतिमा होती है — इस अपेक्षा से उसको जिनपति का-वीतराग का भवन कहा गया है और ऐसे बहुत जिनमन्दिर हैं। आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है, वहाँ विशाल-विशाल बावन जिन भवन हैं और उनमें महारत्नों की नयनाभिराम शाश्वत जिनप्रतिमाएँ हैं। वहाँ इन्द्र और देव अष्टान्हिका पर्व मनाने हेतु जाते हैं। कार्तिक शुक्ला ८ से १५, फाल्गुन शुक्ला ८ से १५ और आषाढ़ शुक्ला ८ से १५ इन दिवसों में वहाँ जाते हैं।

प्रश्न : — क्या महाविदेहक्षेत्र में एक ही मत प्रवर्तता है ?

उत्तर : — हाँ, वहाँ एक ही मत है; परन्तु 'दिगम्बर' ऐसा नाम नहीं है; वहाँ एक जैनधर्म ही (ऐसा नाम) है; क्योंकि वहाँ कोई दूसरा धर्म-मत है ही नहीं न! अहा! एक ही धर्म अनादि का है अर्थात् जो सनातन धर्म है, वह यही है; इसलिए वहाँ अन्य के मन्दिर भी नहीं है। त्रिलोकसार में पाठ है कि महाविदेहक्षेत्र में एक ही जाति के मन्दिर हैं, जिनमन्दिर ही है और उनमें भगवान की कृत्रिम प्रतिमाएँ हैं; जबकि अन्यत्र शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। अहा! वहाँ (महाविदेहक्षेत्र में) तो भगवान विराजमान हैं; परन्तु भगवान सर्वत्र तो नहीं होते न, इसलिए वहाँ भी बहुत जिनमन्दिर हैं। पण्डित श्री बनारसीदासजी ने व्यवहार से कहा है न कि — 'जिनप्रतिमा जिनसारखी', परन्तु लोगों को पक्ष हो जाने से वे सच्ची बात को भी उड़ा देते हैं और इसकारण सच्चे तत्त्व की खबर नहीं रहती। अरे पक्षांधपना! पक्ष का अंधापन मनुष्य को मार डालता है। अहा! ऐसी बाते हैं!

यहाँ कहते हैं — 'हे नाथ! मैं जिनपति के भवन में होऊँ या अन्य चाहे जिस स्थान पर होऊँ (परन्तु) मुझे कर्म का उद्भव न हो.....'

देखो, यह भव के अभाव की भावना! कहते हैं मैं चाहे जिस स्थान पर होऊँ, मुझे कर्म का उद्भव न हो अर्थात् भव का कारण जो कर्म-राग है, उस राग की मुझे उत्पत्ति न हो — ऐसी भावना भाते हैं। मैं तो मेरी चीज जो एक ज्ञायकभाव स्वरूप है, उसमें ही स्थिर होकर रहूँ और मुझको वीतरागता की ही उत्पत्ति हो — इसप्रकार मुनिराज शान्ति और स्थिरता की भावना करते हैं।

अहा! (गाथा में) चारगति का वर्णन किया है। उसकी टीका के साररूप मुनिराज ने ऐसी अलौकिक बात की है कि जो चार गति का वर्णन है, वह तो जानने के लिए है; परन्तु आदरणीय तो मेरा एक ज्ञायक भगवान ही है कि जिससे आश्रय से मुझको स्थिरता और वीतरागीशान्ति प्रगट होगी।

अहा! इस शास्त्र के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महान दिगम्बर संत-मुनिवर थे। वे नौ सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। अहाहा...! क्या दिगम्बर संत! आकाश के स्तम्भ जैसे, शासन के स्तम्भ, मानो केवलज्ञान का स्तम्भ ही पका हो। अहो! संतों की बलिहारी है!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु मैं चारगति में चाहे कहीं होऊँ, तो भी मुझको कर्म की उत्पत्ति न हो, विभाव की उत्पत्ति न हो; अपितु स्वभाव की उत्पत्ति हो। अहा! मैं तो ऐसा का ऐसा जैसा वर्तमान में हूँ, वैसा मेरे ज्ञानभाव में ही रहूँ, मुझको शुद्धि ही होओ, अशुद्धि न हो होओ। लो! मुनिराज की ऐसी प्रार्थना है — ऐसी भावना है।

वे कहते हैं — हे नाथ! मुझे कर्म का उद्भव न हो, पुनः पुनः आपके पाद पंकज की भक्ति हो।

हे नाथ! मुझको पुनः-पुनः बारम्बार आपके पाद पंकज की चरणकमल की भक्ति हो। अहा! अशुभभाव न आवे और बारम्बार वीतराग परमेश्वर की भक्ति का विकल्प आवे — ऐसा तो ज्ञानी को ही होता है। इसलिए कहते हैं कि हे नाथ! मुझे तो बारम्बार आपके चरण-कमल की भक्ति हो — इसका अर्थ ही यह है कि शुभभाव का भी अभाव हो जायेगा और अल्पकाल में मुझको पूर्ण शुद्धि हो जायेगी। अहा! शुद्धदृष्टिवंत पुरुष

को ही वीतराग परमेश्वर की सच्ची भक्ति होती है, क्योंकि अन्दर निश्चय होता है, तभी बाहर में भगवान की भक्ति का व्यवहार होता है। बाकी अन्य को (अज्ञानी को) भगवान की सच्ची भक्ति नहीं होती।

श्री समन्तभद्राचार्य कृत चौबीस भगवान की स्तुति में आता है न कि (हे जिन, सुर-असुर तुम्हें पूजें, मिथ्यात्वी चित्त नहीं तुम पूजें — श्री महावीर जिनस्तुति)।

हे नाथ! मिथ्यात्वी जीव आपकी भक्ति नहीं कर सकता, कारण कि वह राग की रुचिवाला है। वह बाहर में जो भक्ति करता है, वह सचमुच तो राग की ही भक्ति करता है। वीतरागी परमात्मा के समीप खड़ा हो, तब भी उसके अन्दर राग की ही रुचि होती है; इसकारण वह राग की ही भक्ति करता है। जबकि राग से रहित मैं एक ज्ञायकभाव मात्र हूँ — इसतरह निजस्वरूप की भक्ति करनेवाला तो एक वीतरागी शुद्ध-दृष्टिवंत सम्यग्दृष्टि ही होता है और उसको बारम्बार बाहर में वीतराग सर्वज्ञदेव की भक्ति का भाव होता है।

कलश २९ पर प्रवचन

नराधिपतियों के अनेकविध महावैभवों को सुनकर तथा देखकर, हे जड़मति, तू यहाँ व्यर्थ ही क्लेश क्यों प्राप्त करता है... ?

क्या कहते हैं कि हे जीव! दुनिया की यह सभी अनुकूलता और साहबी वैभव की बात सुनकर या देखकर यदि तुझे ऐसा लगता है कि यह मुझे होवे तो ठीक, तो तू जड़मति है, मूर्ख है। अहा! नराधिपति अर्थात् राजा, उसका बाहर में जो वैभव है वह तो जड़-मिट्टी-धूल है, तो भी उस वैभव को सुनकर अथवा नजर से देखकर तू उसकी अभिलाषा करता है तो तू जड़मति है; क्योंकि इससे तो व्यर्थ क्लेश ही होता है। अहा! ऐसा वैभव मुझको हो — ऐसी वांछा के विकारभाव से तू व्यर्थ ही दुःखी है। जगत की अनुकूलता की सामग्री मुझको हो, मैं बाहर में (प्रसिद्धि में) आऊँ, दुनिया मुझे माने, पहिचाने — ऐसी इच्छा करके हे जड़मति! तू व्यर्थ दुःखी ही होता है।

वे वैभव सचमुच पुण्य से प्राप्त होते हैं।

ये बाह्य वैभव तेरी इच्छा करने से प्राप्त होते हैं — ऐसा तो है ही नहीं। वह तो सचमुच पुण्य से प्राप्त होता है। तो, पुण्यभाव-शुभभाव तो करना चाहिए न ? ऐसी बात

नहीं है। बापू! अपने को पुण्यभाव करना चाहिए, क्योंकि उससे अपने को अनुकूल सामग्री मिलेगी, लोग अपने को मानेंगे और लोगों में अपनी गिनती (महिमा-प्रसिद्धि) होगी — ऐसा तो अज्ञानी मानता है भाई! यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व का पुण्य होवे तो बाह्यवैभव प्राप्त होता है, कहीं तेरी इच्छा से वह प्राप्त होता है — ऐसा है नहीं।

वह (पुण्योपार्जन की) शक्ति जिननाथ के पादपद्म युगल की पूजा में है....।

अहा! जिसको अपने एक ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मा की अंतरंग श्रद्धा हुई, तब उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति का भाव आता है और उस भक्ति के भाव में ऐसे-ऐसे वैभवों की प्राप्ति की सामर्थ्य है — ऐसा कहते हैं; परन्तु तू चाहे कि वे वैभव मुझे मिलें तो वे प्राप्त हों — ऐसा नहीं है तथा पुण्य करूँ तो यह वैभव मुझे मिले — ऐसी जो तेरी इच्छा है, वह तो अज्ञानभाव है, मिथ्यात्वभाव है, इसलिए यहाँ कहा है कि हे जड़मति! देखो, यहाँ उसको जड़मति कहा है।

प्रश्न : — यह जड़मति है, इसलिए कहा है या फिर... ?

समाधान : — वह ऐसा (जड़मति) है और वैसा कहा है। दुनिया की सभा में नरपति बैठा हो तो उसको देखकर अज्ञानी कहता है कि ऐसा अपने को होवे तो ठीक, तो ऐसी सब बाहर के वैभवों की अभिलाषा मिथ्यादृष्टि को होती है और इसीकारण उसको जड़मति कहा है; क्योंकि उसको निज-चैतन्य का भान नहीं है, उसको अंतर में चैतन्यस्वरूप की जागृति नहीं है।

भाई! अंतरंग में अपना जो वीतरागस्वभावी भगवान् आत्मा है उसकी, यदि तुझे दृष्टि है, यदि उसकी तुझे रुचि हो तो तुझे ऐसी जड़मति उत्पन्न नहीं होगी। अहाहा! अंदर में भगवान् आत्मा अनंतगुणों की रिद्धि और सिद्धि से भरपूर भरा है; अतः यदि इस अंतर के आत्मवैभव की दृष्टि और रुचि होवे तो पुण्य करूँ और उससे मुझे वैभव मिलेगा — यह जड़मति तुझको उत्पन्न नहीं होगी — ऐसा कहते हैं। अहा! १८वीं गाथा में कर्ता की बात कहेंगे; इसलिए उसके उपोद्घात के रूप में यहाँ यह श्लोक लिया है।

‘यदि तुझे उन जिनपादपद्मों की भक्ति हों, तो वे बहुविध भोग तुझे (अपने आप) होंगे।’

अहाहा..! कहते हैं — यह वैभव तो भगवान की पूजा-भक्ति के भाव में सहज आकर मिलेंगे; परन्तु हे जड़मति! तू याचना करेगा तो तुझे नहीं मिलेंगे। देखो न, कितने ही धर्म के नाम पर भी बाहर प्रसिद्धि पाने, बाहर में महान मनवाने और मान प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं न! परन्तु यहाँ कहते हैं कि दुनिया में प्रसिद्धि कैसे हो, लोग कैसे पहिचाने और मेरी महिमा कैसे हो — ऐसी बाहर की इच्छापूर्वक प्रयत्न करनेवाले सब मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

अहा! मुनिराज के अंतर में प्रचुर आनंद के संवेदन सहित निजवैभव प्रगट हुआ है। तो कहते हैं — भगवान! तेरा आनंद तो तेरे पास ही है न! तेरा वैभव तो तेरे ही पास है न! तो भी अरे रे! ऐसे चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद के वैभव की रुचि व एकाग्रता छोड़कर तुझको इस जड़वैभव की अभिलाषा है! तू जड़मति है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है — ऐसा कहते हैं। अहा! शुभभाव करके उसका कर्ता होना और मुझे उसके फलरूप बाहर के वैभव की अनुकूल सामग्री मिलेगी — ऐसी अभिलाषा करना सो मिथ्यादृष्टिपना है। अरे! कितने ही तो शुभभाव से धर्म होना भी मानते हैं। अहा! वे तो भारी ठगाये हैं। वे धर्म के नाम पर ठगाये हैं।

प्रश्न : — उसको किसने ठगा है ?

उत्तर : — उसने स्वयं ही अपने को ठगा है। जहाँ शुभभाव को धर्म मानने में नुकसान ही नुकसान है, वहाँ वह धर्म मानता है — वह ऐसा दंभी है, मायाचारी है। इसलिए बापू! जो बाह्यवैभव की इच्छा करता है और उस इच्छा के भाव से मुझे लाभ होता है — ऐसा मानता है, वह महामूढ़ है। बहुत कठोर बात है

अहा! यहाँ कहते हैं कि भगवान के चरणकमल की भक्ति-पूजा का भाव होवे तो यह वैभव तो सहज ही प्राप्त हो जाता है; परन्तु ऐसा भक्ति का भाव किसको होता है ? शुद्धदृष्टि सम्यग्दृष्टि को, ज्ञानी को। अहा! जिसको एक निजशुद्धात्मा की ही अभिलाषा है, जिसको ध्रुव चैतन्यस्वरूप की ही रुचि और भावना है, उसको ही वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की पूजा-भक्ति का भाव होता है और उसको उस भाव में ऐसे वैभव सहज-स्वयं स्वतः मिल जाते हैं, मिलाना नहीं पड़ते।

देखो न! ये दुनिया के लोग मान के लिए कैसे-कैसे यत्न करते हैं ? पाँच-पच्चीस लोगों को तैयार करते हैं और कहते हैं — हमने ऐसा महान कार्य किया है; अतः विशाल

सभा भरकर हमारी कदर करो, हमारा सम्मान करो; अभिनंदन करो। यद्यपि बाहर से तो वे ना करते हैं, परन्तु अन्दर प्रसन्न होते हैं; परन्तु प्रभु! तू स्वयं अपनी कदर कर न! अहाहा..! अन्दर अनंतगुणस्वभावों की ऋद्धि भरी है तो तू तेरा अभिनन्दन कर न! अर्थात् वहाँ एकाग्र होकर प्रसन्न-आनंदित-अभिनंदित हो न! तेरा अभिनंदन करनेवाली यह दुनिया कौन है ? क्या ये मूर्ख, पामर प्राणी तेरा अभिनंदन कर सकते हैं ? अरे! तुझे मिथ्यात्व के अंकुर हैं! तू मूढमति है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा! हम शुभभाव करते हैं तो इसमें बुरा क्या करते हैं ? तथा यह पुण्यभाव करने से बाह्य अनुकूलता भी मिलेगी, इसलिए उसमें खराब कुछ भी नहीं है — ऐसा मानकर वह मिथ्यात्व का पोषण करता है और फिर भी मानता है कि मुझे लाभ होता है। यहाँ कहते हैं कि भाई! यदि तुझे निजस्वभाव की दृष्टि हुई होगी तो ऐसा पुण्य तो तुझको सहज हो जायेगा। अहा! जिनेन्द्र की भक्ति का भाव, जोकि वैभव का कारण है, वह तुझको सहज हो जायेगा, सहजरूप से ही आयेगा। (कर्ता हुए बिना सहज ही आयेगा।)

अब कर्तापने की बात १८वीं गाथा में कहेंगे। उसके पूर्व कलश में भूमिका की है। यह तो टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव की ऐसी शैली है। श्री अमृतचन्द्राचार्य की शैली भी यही रही है कि जो बात आगे की गाथा में कहना हो, उसे पहले से ही कहना शुरू कर देते हैं। ●

वह कहीं अग्नि की अवस्था नहीं है...

जैसे दर्पण की स्वच्छता दर्पण को बतलाती है और अग्नि की ज्वाला आदि को भी दर्शाती है, तथापि दर्पण में दिखनेवाला स्व-पर के आकार का प्रतिभास-प्रतिबिम्ब वह दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है; वह कहीं अग्नि की अवस्था नहीं है, प्रतिबिम्बित वस्तु की अवस्था नहीं है तथा जैसे पदार्थ के सन्मुख हों वैसा प्रतिबिम्ब बतलाना वह दर्पण की स्वच्छता का स्वभाव होने से प्रतिबिम्बित पदार्थ के कारण प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; परन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण पड़ता है। उसीप्रकार ज्ञातृत्व वह आत्मा का ही है अर्थात् आत्मा स्व-पर का ज्ञाता ज्ञानस्वरूप है और भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म पुद्गल के परिणाम हैं। ज्ञानस्वरूपी ज्ञायक को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर, उसका ज्ञान करना तथा परज्ञेयों को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर तत्सम्बन्धी ज्ञान करना वह ज्ञान का स्वतःसिद्ध स्वभाव ही है। परद्रव्य हैं, इसलिए उनका ज्ञान हुआ - ऐसा पराश्रित स्वभाव है ही नहीं। - द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-५३

नियमसार गाथा-१८

कर्ता भोक्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कर्ता भोक्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥
कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात्।
कर्मजभावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः ॥१८॥

(हरिगीत)

है जीव कर्ता-भोगता जड़कर्म का व्यवहार से।
है कर्म-जन्य विभाव का कर्ता नियत नय द्वार से ॥१८॥

गाथार्थ :— आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता व्यवहार से है और आत्मा कर्मजनित भाव का कर्ता-भोक्ता (अशुद्ध) निश्चय से है।

टीका :— यह, कर्तृत्व-भोक्तृत्व के प्रकार का कथन है।

आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म का कर्ता और उसके फलरूप सुख-दुःख का भोक्ता है; अशुद्ध निश्चयनय से समस्त मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म का कर्ता और भोक्ता है, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से (देहादि) नोकर्म का कर्ता है, उपचरित असद्भूत व्यवहार से घट-पट-शकटादिक का (घड़ा, वस्त्र, छकड़ा इत्यादि का) कर्ता है। ऐसा अशुद्ध जीव का स्वरूप कहा।

[अब, १८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज छह श्लोक कहते हैं —]

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः
परम-गुरु-पदाब्ज-द्वन्द्व-सेवा-प्रसादात्।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥३०॥

(वीरछन्द)

कोई नर यदि सकल मोह अरु राग द्वेष होने पर भी।
पाता है सेवा प्रसाद वह परम गुरु पद-पंकज की॥

निर्विकल्प अरु सहज समय का सार जानता है निभ्रान्त।

परमश्रीरूपी सुन्दर कामिनि का होता है प्रिय कान्त ॥३०॥

श्लोकार्थ :- सकल मोहरागद्वेषवाला जो कोई पुरुष परमगुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से निर्विकल्प सहज समयसार को जानता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी सुन्दरी का प्रिय कान्त होता है ॥३०॥

(अनुष्टुभ्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।

द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥३१॥

(दोहा)

भावकर्म निरोध से द्रव्यकर्म निरोध ।

द्रव्यकर्म निरोध से ही संसार निरोध ॥३१॥

श्लोकार्थ :- भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है, द्रव्यकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है ॥३१॥

(वसंततिलका)

संज्ञान-भाव-परिमुक्त-विमुग्ध-जीवः

कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।

निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवाञ्छितुं नो

जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके ॥३२॥

(वीरछन्द)

करे शुभाशुभ कर्म मूढ़ जो वह है सम्यग्ज्ञान विहीन ।

लेश न जाने वाञ्छा शिवपथ की वह जग में शरण विहीन ॥३२॥

श्लोकार्थ :- जो जीव सम्यग्ज्ञानभावरहित विमुग्ध (मोही, भ्रान्त) है, वह जीव शुभाशुभ अनेकविध कर्म को करता हुआ मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी वाञ्छना नहीं जानता, उसे लोक में (कोई) शरण नहीं है ॥३२॥

(वसंततिलका)

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्व

निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे ।

मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं

स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥३३॥

(वीरछन्द)

कर्मज सुख त्यागे निष्कर्म सुखामृत सर में लीन रहे।

भव्य पुरुष वह अद्वितीय चैतन्य एक निज भाव लहे ॥३३॥

श्लोकार्थः— जो समस्त कर्मजनित सुखसमूह को परिहरण करता है, वह भव्य पुरुष निष्कर्म सुखसमूहरूपी अमृत के सरोवर में मग्न होते हुए ऐसे इस अतिशय-चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय निजभाव को प्राप्त होता है ॥३३॥

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः

सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्।

हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं

न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥३४॥

(वीरछन्द)

सकल विभाव असत् होने से उनकी चिन्ता हमें नहीं।

हम तो हृदय कमल में स्थित एक शुद्ध आत्म का ही ॥

“सर्व कर्म से मुक्त सदा हूँ” सतत् अनुभवन हैं करते।

क्योंकि मुक्ति का मार्ग नहीं है अन्य किसी भी कारण से ॥३४॥

श्लोकार्थः— (हमारे आत्मस्वभाव में) विभाव असत् होने से उसकी हमें चिन्ता नहीं है, हम तो हृदयकमल में स्थित सर्व कर्म से विमुक्त, शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभवन करते हैं, क्योंकि अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है ॥३४॥

(मालिनी)

भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यं

निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः।

व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-

र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥३५॥

(वीरछन्द)

संसारी जीवों में सांसारिक गुण ही हैं सदा रहें।

अरु सिद्धों में सिद्धिसिद्ध गुण ऐसा नय व्यवहार कहे ॥

निश्चयनय से सिद्ध नहीं है और नहीं संसारी भी।

बुध पुरुषों का यह निर्णय है अनुभव करते विज्ञ सभी ॥३५॥

श्लोकार्थ :— संसारी में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्ध जीव में सदा समस्त सिद्धिसिद्ध (मोक्ष से सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण हुए) निज परमगुण होते हैं — इसप्रकार व्यवहारनय है। निश्चय से तो सिद्ध भी नहीं है और संसार भी नहीं है। यह बुध पुरुषों का निर्णय है।

गाथा-१८ की टीका पर प्रवचन

‘यह, कर्तृत्व-भोक्तृत्व के प्रकार का कथन है।’

अहा! अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को कर्तृत्व और भोक्तृत्व किसप्रकार है—उसका यह कथन है। अतः कहते हैं कि —

‘आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों का कर्ता और उसके फलरूप सुख-दुःख का भोक्ता है।’

कर्म दूर नहीं, नजदीक में एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं; इसलिए उनको ‘निकटवर्ती’ कहा है तथा वे जीव की (संसार अवस्था में) साथ ही साथ रहते हैं। अर्थात् वे सदा-कायम संबंध में रहते हैं, इसकारण ‘अनुपचरित’ है; परन्तु वे जीव से अत्यन्त पृथक् चीज है—जीव की पर्याय में भी कर्म नहीं है, बाहर हैं; इसलिए ‘असद्भूत’ है और वह निमित्त-परवस्तु है, इसलिए ‘व्यवहार’ है। इसप्रकार अज्ञानी निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता और उसके फलरूप सुख-दुःख का भोक्ता है। वस्तुतः तो अज्ञानी उस कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं है; परन्तु असद्भूत व्यवहारनय से उपचार द्वारा उसको कर्ता-भोक्ता कहा जाता है।

आशय यह है कि आत्मा जड़ कर्म का कर्ता अज्ञानभाव से भी नहीं है; परन्तु असद्भूत व्यवहारनय से उसको कर्ता कहा जाता है और उस कर्म का फल जो यह स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, प्रतिष्ठा, धन इत्यादि आता है, उसको आत्मा भोक्ता है — ऐसा कहना भी असद्भूत व्यवहारनय से (उपचारमात्र) है; क्योंकि वस्तुतः आत्मा उसको नहीं भोगता; परन्तु विकार को भोगने में वे निमित्तरूप हैं; इसलिए उनको असद्भूत व्यवहारनय से भोगता है — ऐसा आरोप से कहा जाता है।

लोग कहते हैं कि उसको बादशाही है, उसको हाम, दाम और ठाम सभी है — ऐसा लोग कहते हैं न!

प्रश्न :— यह सब होता है तभी तो कहते हैं न ?

उत्तर :— उसको क्या होता है ? उसको होता है अर्थात् अज्ञानी उन पदार्थों को अपना मानता है। वरना वे उसको होते कहाँ है ? उसमें ये चीजे कहाँ होती हैं ? वे बाहर की वस्तुयें उसके (अज्ञानी के) द्रव्य-पर्याय में कहाँ आ गई है ? वे चीजें तो अज्ञानी को राग के भोगने में निमित्त है बस, इसलिए अज्ञानी को निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से उन चीजों का भोक्ता कहा जाता है। वे चीजे उसमें नहीं है इसलिए असद्भूत है और वे सब निमित्त-परवस्तु हैं; इसलिए व्यवहार है। बापू! बात ऐसी है।

‘अशुद्ध निश्चयनय से समस्त मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों का कर्ता और भोक्ता है।’

यह अज्ञानी की बात है।

प्रश्न :— अशुद्ध निश्चयनय से अर्थात् क्या ?

उत्तर :— मोह-राग-द्वेषादि उसकी पर्याय में होते हैं; इसलिए निश्चय है और वे मलिन हैं; इसलिए अशुद्ध हैं तो ऐसे मलिन समस्त मोह-राग-द्वेषादि अर्थात् समस्त मिथ्यात्व और शुभाशुभभाव आदि भावकर्म का कर्ता अज्ञानी अशुद्ध निश्चयनय से है। भाई! उस शुभाशुभ विकल्प का करना कर्तापना — यह तो दृष्टि मिथ्या है। अहा! जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, वह कर्ता होता है। अहा! अज्ञानी तो शुभभाव करता है और अशुभभाव भी करता है और मानता है कि अपने को यह शुभाशुभभाव करना चाहिए, इसमें नुकसान क्या है ? उसकी यह दृष्टि मिथ्या है। (क्योंकि राग का कर्तापना आत्मा का निजस्वरूप नहीं है।)

यहाँ ‘समस्त’ शब्द है न ? यानी कि शुभभाव के जो बहुतप्रकार हैं, उनमें से कोई भी शुभभाव हों और अशुभभाव के जो बहुतप्रकार हैं, उनमें से किसी भी प्रकार का अशुभभाव हो; तो भी वह नुकसानकारी ही है — ऐसा कहते हैं; तो भी अरे! अज्ञानी उनका कर्ता होता है। यह धर्म की पुस्तक बनाना, मन्दिर बनाना और प्रभावना के कार्य में लगना; क्योंकि इस भाव में लाभ है। अहा! ऐसी मान्यता, वह सब मिथ्यात्वभाव है। अहा! बापू! बहुत कठोर बात है; परन्तु भाई! मार्ग ऐसा है।

अहा! समस्त शब्द का प्रयोग किया है न ? अर्थात् अमुक प्रकार के शुभाशुभभाव का कर्ता और अमुक प्रकार के शुभाशुभभाव का कर्ता नहीं — ऐसा नहीं है; परन्तु जो कोई शुभाशुभ विकल्प हैं, अज्ञानी उन सबका अशुद्ध निश्चय से कर्ता है अर्थात् अज्ञानी अशुद्ध निश्चय से पुण्य-पापरूप समस्त विकल्पों की वृत्तियों का रचनाकार है और वह बंध का कारण है तथा वह हर्ष-शोक का भोक्ता भी है। यह हर्ष आता है न! उसको शुभभाव करने में होश (उत्साह) आता है न, उसमें अज्ञानी को आनंद-मजा आता है न; अतः वह उस हर्ष-शोक का भोक्ता भी होता है।

प्रश्न : — भावकर्म माने दुःख ?

उत्तर : — हाँ, भावकर्म अर्थात् दुःख। भावकर्म बंधरूप और बंध का कारण होने से दुःखरूप है। अहा! समाधिगतक (गाथा-१९ में) तो यह कहा है कि मैं दूसरों को समझाऊँ और मैं दूसरों से समझूँ — यह पागलपन है। मार्ग ऐसा है बापा! अहा! वीतराग निर्विकल्प आत्मा किससे समझे और किसको समझावे ?

प्रश्न : — भगवान तो दिव्यध्वनि द्वारा समझाते हैं न ?

उत्तर : — वह तो व्यवहार से ऐसा कहा जाता है, वरना दिव्यध्वनि कहाँ भगवान की है ? और उस वाणी से कौन समझे ? भाई! बात बहुत कठोर है। वह तो समझने की अपनी (ज्ञान की) पर्याय से समझता है, वाणी से-निमित्त से नहीं तथा सुनने के काल में वह (ज्ञान की) पर्याय हुई है, वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है।

अहा! तू उस परलक्ष्यी ज्ञान का कर्ता हो, वह बंध का कारण है। बहुत कड़क बात है प्रभु!

अहा! (आनंदधनजीकृत) अनंतनाथ भगवान के स्तवन में आता है कि —

‘धार तलवार नी सोहवली, दोह्यली जिनतणी चरण सेवा;
धार पर नाचतां देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।’

अहा! देव भी भगवान की सेवा-आज्ञा में अर्थात् आत्मा की सेवा में रह नहीं सकते। भगवान की सेवा अर्थात् आत्मा की सेवा; परन्तु अज्ञानी तो यह मानता है कि हम पर की सेवा करते हैं, पर को सुख प्राप्त कराते हैं; पर को सुधारने में हमारा हाथ

है; परन्तु यह तो उसका मिथ्याभ्रम है; क्योंकि कौन अन्य का काम कर सकता है ? वह तो व्यर्थ राग का कर्त्ता होता है।

अहा! इसप्रकार अज्ञानी अशुद्ध निश्चयनय से मोह-राग-द्वेषादि का कर्त्ता और भोक्ता होता है। अहा! हमको शुभराग से लाभ होता है और इस भाव द्वारा हम धर्म प्रभावना का कार्य करते हैं — ऐसा वह अज्ञानी मानता है; परन्तु यह तो उसका मिथ्याभ्रम है। भाई! बात सूक्ष्म है। अहा! यह नियमसार है न! नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग और उससे विपरीत/विरुद्धभाव क्या है, वह यहाँ बताया है।

प्रश्न : — दान करते समय अज्ञानी को मिथ्यात्वभाव तो है, साथ ही क्या वह अशुभ भाव भी करता है ?

उत्तर : — हाँ, मिथ्यात्व तो अशुभ है ही, साथ ही यदि वह मान-सम्मान और बड़प्पन के हेतु से दान करता है तो वह भी अशुभ अर्थात् पापभाव है। अरे! उसने अपने को ठगा है। उसने धर्म के नाम पर भी अपने को ठगा ही है।

प्रश्न : — यह गाथा खास इसमें (इस अधिकार में) क्यों डाली है ?

उत्तर : — क्योंकि यह जीव अधिकार है, इसकारण जीव की विकारी पर्यायों का कर्त्ता-भोक्तापना अज्ञान है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। कोई जीव ऐसा माने कि रागादि करने का मेरा अधिकार है और राग का फल भोगने का मेरा अधिकार है अर्थात् इस मानी हुई कल्पना का-सुख-दुःख का मैं भोक्ता हूँ — ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यात्वभाव है, इससे मिथ्यात्व की पुष्टि होती है — यह बात यहाँ स्पष्ट बतलाने का प्रयोजन है।

‘अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से (देहादि) नोकर्म का कर्त्ता है.....’

जिसप्रकार द्रव्यकर्म निकटवर्ती है उसप्रकार शरीर-नोकर्म निकटवर्ती नहीं है। इसकारण इसमें ‘निकटवर्ती’ शब्द निकाल दिया है; परन्तु शरीर एकक्षेत्रावगाहरूप है; इसलिए कहते हैं कि वह ‘अनुपचरित’ है तथा शरीर जड़-अचेतन है, चेतन नहीं है और वह शरीर चेतन आत्मा में, उसकी पर्याय में भी नहीं है, इसलिए ‘असद्भूत’ है तथा वह निमित्त-परवस्तु है; इसलिए ‘व्यवहार’ है। अतः देहादिक की हलन-चलनरूप क्रिया का और वाणी का कर्त्ता अज्ञानी को अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से (उपचार से) कहा जाता है।

अब, अन्य घट-पटादि की बात करते हैं। घट-पट अर्थात् वह सब-घट, वस्त्र, पुस्तक, मन्दिर इत्यादि। तो कहते हैं —

‘उपचरित असद्भूत व्यवहार से घट, पट शटकादि का (घड़ा, वस्त्र, छकड़ा इत्यादि का) कर्ता है।’

ये सब दूर क्षेत्रवर्ती है, इसलिए ‘उपचरित’-उपचार है। कर्म और देहादि नजदीक हैं। कर्म तो अत्यन्त निकटवर्ती हैं; क्योंकि कर्म तो कभी एक समय के लिए भी नहीं छूटे, जबकि देहादि छूट जाते हैं और नये आते हैं, तो भी वे एक क्षेत्र में नजदीक हैं। जबकि ये सब वस्तुएँ दूर क्षेत्रवर्ती हैं, इसकारण ‘उपचरित’ है। इसलिए कहते हैं अज्ञानी उपचरित असद्भूत व्यवहार से घट-पट-शटकादि का कर्ता है। यह मकान, पुस्तक, हवाई जहाज, राकेट इत्यादि का कर्ता अज्ञानी को उपचरित-झूठी निमित्त दृष्टि से कहा जाता है। अर्थात् अज्ञानी को घटादि का कर्ता झूठे व्यवहार से कहा जाता है।

भाई! वस्तुतः जीव घट-पटादि का कर्ता है नहीं। यह पुस्तक मैंने बनाई, यह वस्त्र मैंने बनाया, यह मकान मैंने बनाया — ऐसा नहीं है; परन्तु अज्ञानी ऐसा झूठा मानता है। अतः उन वस्तुओं के होने के काल में अज्ञानी के विकल्प को निमित्त जानकर उसने ये चीजें कीं — ऐसा उपचार से कहा जाता है और वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

इसप्रकार अशुद्धजीव का स्वरूप कहा।

देखो, इसमें अशुद्धजीव की ही व्याख्या है — ऐसा कहते हैं। अशुद्धजीव अर्थात् संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव की इसमें व्याख्या है।

कलश ३० पर प्रवचन

सकल मोह-राग-द्वेषवाला, जो कोई पुरुष परमगुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से....।

अहाहा...! कहते हैं, भले ही वह मिथ्यात्व और राग-द्वेष हो तो भी ऐसा पुरुष परम गुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से आत्मा का ज्ञान पा जाता है, सम्यग्ज्ञान पा जाता है। अहा! यह कहकर क्या कहा है ? कि संत-गुरुवर इसको निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव द्वारा सकल कर्तापना और भोक्तपना छोड़ देने की रीत बतलाते हैं और वह उसका अनुसरण करता है।

‘परमगुरु के चरणकमल युगल की सेवा’ – यह तो बाहर की बात हुई, परन्तु अंदर में इसका अर्थ ऐसा है कि वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की व्याख्या करनेवाले, मोक्षमार्ग बतलानेवाले गुरु की देशना अंतर में प्रमोद लाकर प्राप्त करता है। क्या ? कि प्रभु! तेरा भगवान आत्मा चैतन्य मूर्ति प्रभु अंदर नित्य पूर्णानंदस्वरूपपने विराजमान है; इसलिए तू वहाँ दृष्टि कर, उसका ज्ञान कर और उसमें स्थिर हो, तुझको परम आनंद होगा – देखो, ऐसा गुरु का उपदेश होता है और उसको वह अंगीकार करता है।

प्रश्न :— तो गुरु की मान्यता तो अवश्य है न!

उत्तर :— वह तो ऐसा विकल्प आता है और होता है — इतना ही; परन्तु यहाँ यह नहीं कहना है। यहाँ तो विशेष यह कहना है कि गुरुओं का उपदेश ऐसा होता है। अहा! गुरु का उपदेश तो उसको कहते हैं कि जो आत्मा के प्रति निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में ढाले (झुकावे)। बाकी व्रत, तप, भक्ति आदि पुण्य के परिणाम करो और उनसे परम्परा लाभ होगा — इसप्रकार पुण्य से धर्म होना बतलानेवाले तो गुरु ही नहीं हैं और वह उपदेश भी सच्चा नहीं है।

अहाहा! ‘परमगुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से....’ यह निमित्त से कथन है। यह तो समयसार की पाँचवीं गाथा में भी कहा न कि ‘हमारे गुरु ने कृपा करके हमको जो शुद्धात्मा का उपदेश दिया है, उससे हमारे निजवैभव का जन्म हुआ है।’ फिर शिष्य भी कैसा ? वह कभी यह विचार नहीं करता कि गुरु तो कहा करते हैं, अपनी तो शक्ति होगी वैसा करेंगे। अभी पंचमकाल है, इसलिए व्रत, तप, भक्ति करेंगे तो भी बहुत है। शिष्य ऐसा विचार नहीं करता और ऐसा विचार करनेवाला शिष्य ही नहीं है। भाई! गुरु की देशना से विपरीत विचारवंत को गुरु के स्वरूप का पता ही नहीं है।

अहा! सुननेवाला शिष्य भी कैसा होता है ? वह प्रसन्नचित्त होकर विचार करता है कि अहो! हमारे परमगुरु ने ऐसा शुद्धात्मा का उपदेश दिया। अहा! हमको अन्दर ठहरने की (स्थिरता की) बात की! क्या कहा ? करने की नहीं किन्तु ठहरने की बात गुरु ने की थी — इसप्रकार शिष्य अंदर में उल्लसित होता है। अहा! करने की (मिथ्यादृष्टि की) बात तो गाथा १८ में आ गई है और वह तो सत्य उपदेश प्राप्त किये बिना अनादि से करता ही है; इसलिए अब यहाँ कहते हैं कि सकल मोह-राग-द्वेषवाला

हो तो भी....अहा! भाषा तो देखो! आशय यह है कि पूर्व गाथा (१८ में) कथित अशुद्ध मिथ्यादृष्टि हो तो भी, परमगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् उसने गुरु के द्वारा दिये गये उपदेश को उल्लास से अंगीकार किया है। उसने अंतर में गुरु की बात मानी है। लो, यह गुरु की सेवा का प्रसाद! अहो! मार्ग यह है भाई! ऐसा कहते हैं। अहो! गुरु ने क्या कहा और शिष्य ने क्या किया, वह कहते हैं, तो ऐसा जो कोई 'निर्विकल्प सहज समयसार को जानता है....'

अहा! गुरु ने जो कहा, वैसा ही उसने किया है और जो उसने किया है, वही गुरु ने कहा था। गुरु ने निर्विकल्प सहज समयसार को जानने का कहा था और वही शिष्य ने किया है — ऐसा कहते हैं। यह महासिद्धांत है। अहो! वीतराग मार्ग और उसको प्राप्त करने की रीति-पद्धति यही है। अहो! दिगम्बर संतों के हृदय में ऐसी बात है कि जो अन्य कहीं नहीं है। अब इसमें लोगों को पक्षपात जैसा लगता है, परन्तु क्या हो ? दिगम्बर संतों ने तो वस्तु को टिकाकर रखा है। अहा! देखो न, इन संतों ने मक्खन दिया है मक्खन! जैसे मक्खन बिना दांतवाला भी खा सकता है, उसीप्रकार कोई ज्यादा बुद्धि न हो तो भी उसको पच जाए-समझ में आ जाए — ऐसी बात है। अहा! इसमें तो रुचि का काम है, बहुत बुद्धि का उघाड़ न हो तो भी चलेगा। पहले अंदर में अव्यक्तपने मार्ग की रुचि जागृत होना चाहिए अर्थात् उसके अंतर-जानपने में आना चाहिए कि यह मार्ग है।

अहा! गुरु ने कहा था कि भगवान! तू अभेद सहज समयसारस्वरूप ऐसा आत्मा-परमात्मा है, अतः अंतर एकाग्र होकर उसको जान और उसमें स्थिर हो। गुरु ने यह कहा था और शिष्य ने वैसा ही किया। भाई! चारों अनुयोगों के शास्त्रों में गुरुओं का यही उपदेश है। चारों ही अनुयोगों के कथनों का यही सार है। प्रथमानुयोग में अन्य और चरणानुयोग में अन्य कहा है — ऐसा नहीं है। चारों ही अनुयोगों का प्रयोजन वीतरागता है और वह अंतर एकाग्र होकर वहाँ स्थिरता करने से ही प्रगट होती है।

प्रश्न :— चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग का समकित अलग-अलग है न ?

उत्तर :— भाई! ऐसा नहीं है। समकित तो जो है, वही है; परन्तु चारों अनुयोगों में उसकी कथन पद्धति में अन्तर है। इसने कोई भी अनुयोग सुना हो तो भी उसका तात्पर्य यह लेना चाहिए अर्थात् उसको गुरु ने यह कहा था कि भगवान! तू अन्दर

सहजानन्द की मूर्ति ऐसा आत्मा-कारणपरमात्मा अभेद सहज समयसार है। अतः उसको जान, अंतर-एकाग्र होकर उसका ज्ञान कर; परन्तु पर का, राग का, पर्याय का ज्ञान मत कर! लो, गुरुओं ने शास्त्रों में भी यही कहा है, परन्तु शास्त्र को जान अथवा ऐसी कोई बात यहाँ ली ही नहीं है। अहो! त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञपरमात्मा का ऐसा उपदेश है और उसको गुरुओं ने शास्त्रों में प्रसिद्ध किया है।

अहो! दिगम्बर संतों ने मार्ग को टिका रखा है!

अहाहा...! कहते हैं भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु निर्विकल्प अभेद है और उसका ज्ञान कर। देखो, इसमें पर्याय का, राग का अथवा निमित्त-परवस्तु का ज्ञान करने की बात भी नहीं ली है। अहो! कैसी बात की है! अहा! गुरु ने कहा — भगवान! तू सहज नित्य अभेद-स्वरूप है; इसलिए उसको (अपने को) जान अर्थात् अंतर-एकाग्र होकर उसका अनुभव कर। जान अर्थात् अनुभव कर — यह हमारा उपदेश है। फिर यह नियमसार है; इसलिए इसमें मार्ग और मार्गफल दोनों लेना है न! मूल पाठ (गाथा-२) में है न कि 'मग्गो मग्गफलंति य दुविहं' अर्थात् इसमें मोक्षमार्ग एवं मोक्ष दोनों प्रतिपादित किये हैं; इसलिए कहते हैं — जो निर्भेद-निर्विकल्प ऐसे समयसार को जानता है, अनुभव करता है; उसको मुक्ति-मोक्ष हुए बिना नहीं रहता अर्थात् वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। अहा! दिगम्बर संतों की शैली कैसी है! दिगम्बर संतों की शैली में, भगवान केवली की परम्परा से जो कथनपद्धति चली आ रही है, वही कथनपद्धति है तथा मुनि हो या सम्यग्दृष्टि हो, कोई भी हो, अनादि से वे इसीप्रकार कहते आये हैं और यही मार्ग है। अहा! देखो न, कलश में कैसा कितना भरा है!

अहा! गाथा में तो अज्ञानी के कर्ता-भोक्तापने की बात की थी; परन्तु अब उससे कहते हैं कि कर्ता-भोक्तापना तो है, यह तुझे ज्ञान कराया; परन्तु उस अज्ञान से छूटकर तुझको अब यह करना है, शुद्धात्मा का अनुसरण करना है। अरे रे! मरण समय व्याधियों से घिर जाये और असाध्य-मूर्च्छित हो जाये, कुछ सुध-बुध नहीं रहे और अज्ञानभाव में देह छूट जावे — यह कोई मरण कहलाता है ? अरे! अंतरज्ञान में भी मैं कौन हूँ ? और यह सब क्या होता है ? इसका भान नहीं रहा और बाहर में भी असाध्य हो गया तो वह कैसा मरण ? (उसमें तो चारगति का परिभ्रमण और दुःख है बापू!)

यहाँ कहते हैं कि निज निर्विकल्प सहज समयसार को....अहाहा! चिन्मात्र अभेद

आत्मा को जानकर अनुभव करे तो आत्मभानपूर्वक देह छोटे और फिर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त होती है — यही अब कहते हैं।

“वह पुरुष परमश्रीरूपी सुन्दरी का प्रियकान्त होता है।”

अहा! जो परम केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी है, सिद्धपदरूपी अपनी जो लक्ष्मी है। अहा! ऐसी जो सुन्दरी अर्थात् अपनी परमोत्कृष्ट परिणति, उसका प्रियकान्त अर्थात् प्रिय स्वामी होता है। अब उसको अपूर्णपना नहीं रहेगा और अब उसको अवतार धारण करना भी नहीं रहेगा। अब लोगों को यह बात सुनना कठिन लगती है; परन्तु क्या हो सकता है? इसको सुनने वाले तो विरल (अत्यल्प) ही होते हैं न? और ऐसा उपदेश भी विरल ही है, कहीं-कहीं है।

तो कहते हैं — वह पुरुष परमश्रीरूपी सुन्दरी का अर्थात् अपनी सुन्दर परिणति का प्रियकान्त अर्थात् प्रिय पति होता है। अब से एक समय भी विरह नहीं पड़ेगा अर्थात् अनंतकाल तक वह परमसुखमय — ऐसी मोक्षदशा में-सिद्धदशा में रहेगा।

कलश-३१ पर प्रवचन

“भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है.....”

अहाहा! ‘भावकर्म के निरोध से.....’ भाई! यह पुण्य और पाप के विकल्प, भले ही तीर्थकर नामकर्म बाँधने का भाव हो तो भी, भावकर्म है — ऐसा जो शुभ अथवा अशुभ विकल्प है, उसको रोकने से, उसके निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है अर्थात् उस (जीव) को द्रव्यकर्म नहीं आते।

अहा! उसने अपने स्वभाव की-भगवान ज्ञायक की-दृष्टि की, इसलिए उसको भावकर्म का निरोध हुआ — यह कहना है। अहा! उसको पुण्य-पाप के विकल्प का कर्तापना मिट गया; इसलिए उसको भावकर्म भी रुक गया और इसलिए उसको द्रव्यकर्म भी नहीं आता। ओहो! अंदर अभेद निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र निजसमयसार वस्तु है। उसकी जहाँ दृष्टि और अनुभव हुआ तो वहाँ क्या हुआ ? तो कहते हैं कि उसको भावकर्म रुक गया, पुण्य-पाप रुक गये और पुण्य-पाप के रुकने से अब उसको नया द्रव्यकर्म नहीं आता; अपितु वह भी रुक गया। अहा! कर्म आता था, वह रुक गया — ऐसा नहीं; अपितु अब वह आता ही नहीं; पुद्गल नये कर्मभावरूप नहीं होता, पर भाषा में तो ऐसा ही आता है न कि कर्म रुक गया।

“द्रव्यकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है।”

समयसार के संवर अधिकार की अन्तिम गाथाओं में (गाथा १९०-१९२) भी यही आता है न! अहा! जहाँ अभेद, शुद्ध चिन्मात्र, पूर्णानंद प्रभु आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और रमणता-लीनता हुई तो शुद्धपरिणति प्रगट हुई। अब उसको भावकर्म उत्पन्न कैसे होंगे? उत्पन्न नहीं होंगे। अहाहा! जहाँ स्वभाव की एकाग्रता में शुद्धदशा प्रगट हुई, वहाँ अशुद्ध परिणाम उत्पन्न नहीं होते; अपितु रुक जाते हैं और अशुद्धता का निरोध होने से उसको नया कर्म भी नहीं आता और इसकारण संसार का निरोध होता है, संसार का व्यय हो जाता है।

अहा! पूर्ण स्वभाव की परिणति प्रगट होने पर भावकर्म उत्पन्न नहीं होता और इसकारण नया द्रव्यकर्म भी नहीं आता और उस स्वभाव की परिणति के पूर्ण होने पर संसार का व्यय हो जाता है अर्थात् द्रव्यकर्म के रुकने से संसार का, जो उदयभाव है उसका, अभाव हो जाता है। संसार अर्थात् उदभाव और उसका अभाव हो जाने से अकेला क्षायिकभाव प्रगट होता है। इसप्रकार वह पूर्णदशा-मोक्षदशा प्राप्त होती है।

कलश-३२ पर प्रवचन

‘जो जीव सम्यग्ज्ञानभाव रहित विमुग्ध (मोही, भ्रान्त) है.....’

अहाहा....! जो जीव ‘संज्ञानभावपरिमुक्त’ अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी भाव से रहित है। अहा! चैतन्य की निर्मल निर्विकार परिणति से रहित है, वह विमुग्ध अर्थात् मोही-भ्रान्त है। अहाहा...! अंदर भगवान आत्मा नित्य निर्विकार सहज चिदानंदप्रभु है; परन्तु जिसको उसका भान नहीं है; जिसको उसका आश्रय नहीं वर्तता, वह जीव चैतन्य की निर्विकल्प अभेदपरिणति से रहित मोही-भ्रान्त है — ऐसा कहते हैं। तथा

“वह जीव शुभाशुभ अनेकविध कर्म को करता हुआ.....”

देखो, कहना यह है कि जिसको निज ज्ञानानंदस्वरूप शुद्ध चिदानंदघन प्रभु आत्मा की निर्मल अंतर-परिणति नहीं है, वह मोही-भ्रान्त जीव, पुण्य-पाप के अनेकप्रकार के विकारी परिणाम को करता है। अहा! जिसको स्व-आश्रय से अंतर में निर्मल-परिणति नहीं है, वह भ्रान्त-मोही जीव अज्ञानभाव से कर्ता होकर पुण्य-पाप के विकारी परिणाम को करता है।

अहा! वह सम्यग्ज्ञान से रहित है न! इसकारण उसको भगवान् आत्मा स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं है। अतः उसको शुद्ध चैतन्य की परिणति का-स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और रमणता के भाव का-अभाव है। अहा! वह ऐसा मूढ़-पर्यायमूढ़ है। अतः वह मूढ़ उन अनेक प्रकार के शुभाशुभ विकारी परिणामों को करता है। इसलिए कहते हैं कि —

“वह जीव शुभाशुभ अनेकविध कर्म को करता हुआ मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता.....”

अहा! अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता; क्योंकि वह राग के कर्तापने में रुका हुआ है। वह ऐसे कि अभी तो भक्ति-पूजा-यात्रा आदि शुभभाव ही होते हैं; इसलिए अपने को शुभभाव करना चाहिए। अभी अन्य क्या हो सकता है ? इसप्रकार मानकर वह बिचारा ठगा गया है। अहा..! निजघर में विकल्प नाम की चीज ही नहीं होने पर भी ऐसे आत्मा का ज्ञान और भान नहीं होने से वह अज्ञानी उन समस्त विकल्पों का-राग का कर्ता होता है और राग के कर्तापने के आड़ में उसको मैं आत्मा हूँ — वह ऐसा विस्मृत हो गया है कि उसको अन्य कुछ सूझता ही नहीं है।

अहा! शुभभाव करने से अपने को लाभ होगा, अपने को परम्परा मोक्ष होगा — ऐसा अज्ञानी मानता है। वह कहता है, शास्त्र में भी ऐसी बात आती है; इसलिए हम शुभभाव करते हैं — इसमें गलत क्या है ? अहा! शास्त्र का वह कथन किसके संबंध में और किस पद्धति का है — वह अज्ञानी को कुछ पता नहीं है, मात्र अन्धानुकरण करता है। परन्तु बापू! (तू शूभराग का कर्ता होता है), वह जहर का प्याला तू पीता है; क्योंकि शुभराग भी जहर है और ज्ञानी संत उस जहर को पीने के लिए कैसे कह सकते हैं ? बापू! जब तुझे इस देह के छोड़ने का काल आयेगा तब तू घिर जायेगा-असमंजस में पड़ जायेगा; क्योंकि एक तो राग का कर्ता होकर वहाँ रुक गया है और उससे लाभ-मोक्ष होना मानता है। इसकारण तू मरण के काल में उलझ जायेगा-अटक जायेगा। अहा! तेरा वह मरण असमाधिमरण होगा। अहा! इसप्रकार राग के कर्तापने के भाववाला अज्ञानी मूढ़जी, रागरहित जो मोक्षमार्ग है, उसको लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता होने से चारगति में परिभ्रमण करता है।

देखो, अज्ञानी मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी नहीं करता यह तो है तथा वह मोक्षमार्ग की लेशमात्र भी नहीं वांछता यह भी है; तदुपरान्त यहाँ कहते हैं कि वह अज्ञानी

मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता। गजब बात है न! क्योंकि वह यह मानता है कि यह शुभभाव करते हैं सो अच्छा ही कार्य है और उससे ही शुभभाव करते-करते ही मोक्ष हो जायेगा। अहा! ऐसी भ्रान्ति में पड़ा हुआ, वह अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता। अहा! मोक्षमार्ग की वांछा तो दूर रहो; परन्तु वह उसकी वांछा करना भी नहीं जानता — ऐसी महा बेखबरी है। अरे रे! उसकी जिन्दगी यों की यों भ्रान्ति में, पागलपने में चली जाती है।

अहा! देखो, अन्दर कलश में है कि 'निर्मुक्ति मार्गम् अणुम् अपि अभिवाञ्छितुं नो जानाति' अहा! शुद्ध चिन्मात्र अभेद आत्मा की दृष्टि, अभेद आत्मा का ज्ञान और अभेद आत्मा में रमणता — ऐसा जो मोक्षमार्ग है, अज्ञानी उसकी वांछना भी नहीं जानता। अहा! उसको मोक्षमार्ग की भावना तो नहीं, वैसी भावना की वांछा भी नहीं और वह उसकी भावना की वांछा करना भी नहीं जानता। अहा! मुनिराज ने गजब की बात की है न! ऐसी बात है भाई! अहा! भगवान! वीतराग का मार्ग अलग ही है; इसलिए तू कितने ही अन्य (क्रियाकाण्ड के) झपट्टे मारे तो भी उससे मार्ग मिल जावे — ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहना है कि मुझे ये शुभाशुभभाव करना चाहिए, उसमें नुकसान क्या है ? इसप्रकार जो शुभाशुभभाव का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव छूटने के मार्ग को लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता। अब कहते हैं —

“उसको लोक में (कोई) शरण नहीं है।”

अहा! उस मूढ-भ्रान्त जीव को लोक में कहीं शरण नहीं है अर्थात् वह अशरण... अशरण...अशरण...अत्यन्त अशरण ही है। चारगति में जहाँ जाता है, वहाँ अशरण ही है। 'तस्य शरणं न समस्ति लोके' — ऐसा है न! उसको लोक में कोई शरण नहीं है। अहा! शरण तो राग के कर्तापने से रहित अपना चिदानंदघन प्रभु आत्मा अंदर है; परन्तु उसको तो इसने दृष्टि में लिया ही नहीं है और इस शुभ के कर्तृत्व की रुचि में फँस गया है, इसलिए उसको लोक में कहीं शरण नहीं है। भाई! शरण तो निजशुद्धात्मा है; परन्तु उसको तो दृष्टि में लिया नहीं, उसका तो पता नहीं और अज्ञानी कर्तापने में-राग के कर्तापने में मुग्ध है, वहाँ क्या हो ? अर्थात् उसको कौन शरण हो ? कोई भी नहीं; क्योंकि लोक में तो सर्वत्र अशरण ही अशरण है। एक शुद्धात्मा ही शरण है — ऐसा मुनिराज फरमाते हैं।

कलश-३३ पर प्रवचन

अहा! इसमें बहुत संक्षिप्त में सार भर दिया है। यह १८वीं गाथा का सार है न ? १८वीं गाथा में यह कहा था कि जो राग-द्वेष-मोह का, शुभाभावरूप व्यवहार की क्रिया का कर्ता होता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है; अब जो राग के कर्तापने से रहित है, उसकी बात यहाँ करते हैं। तो कहते हैं कि —

“जो समस्त कर्मजनित सुख समूह को परिहरण करता है.....”

अहा! इसको (जीव को) कर्म के निमित्त से, जो सुख की कल्पना होती है — इस शरीर में, स्त्री में, लक्ष्मी में, आबरु में, स्वर्ग में और अनेकविध भोग में सुख है — ऐसी जो कल्पना होती है, वह कर्मजनित है और जो उसको छोड़ता है...अहा! बापू! बात बहुत सूक्ष्म है; परन्तु देखो, कलश में है न कि ‘कर्मशर्मनिकरे परिहत्यं’ अहाहा..! कर्म से उत्पन्न होने वाले कल्पना के सुख को जो छोड़ता है...क्या करके ? कि शुद्धात्मा की दृष्टि करके; मैं चिन्मात्र चिदानंदमय शुद्धात्मा हूँ - ऐसी अन्तर्दृष्टि करके जो पुरुष कर्मजनित सुख समूह को परिहरण करता है..., इसमें शुभ और अशुभभाव — दोनों दुःखरूप हैं — ऐसी बात है; दोनों ही कर्मजनित भाव हैं न, इसलिए दोनों दुःखरूप हैं; तो भी अज्ञानी को अनुकूलता में सुख की कल्पना हो जाती है, सुख नहीं। तो जो पुरुष ऐसी सम्पूर्ण दुनिया के सुख की कल्पना के भाव को परिहरण करता है.....

“वह भव्य पुरुष निष्कर्म सुखसमूहरूपी अमृत के सरोवर में मग्न होते हुए.....”

वह भव्य पुरुष अर्थात् मोक्ष के योग्य आत्मा निष्कर्म सुख को प्राप्त करता है। अहा! जो कर्मजनित कल्पना के सुख को छोड़ता है, वह भव्य है और वह निष्कर्म सुख को प्राप्त करता है — ऐसा कहते हैं।

निष्कर्म सुख यानी क्या ? निष्कर्म अर्थात् रागरहित वीतरागी सुख — ऐसे निष्कर्म-वीतरागी सुख के समूहरूप, जो अमृत का सरोवर है, उसमें मग्न होने पर.....देखो ? कल्पना के सुख को छोड़ता है तो स्वरूप में-सुखामृत के सरोवर में मग्न होता है।

प्रश्न : — द्रव्य मग्न होता है या पर्याय (मग्न कौन होता है ? द्रव्य या पर्याय ?)

उत्तर : — पर्याय; मग्न तो पर्याय होती है।

प्रश्न : — पर्याय, द्रव्य में मग्न होती है या पर्याय में ?

उत्तर : — द्रव्य में; पर्याय में क्या मग्न हो ? अहाहा! सुखामृत का सरोवर जो भगवान आत्मा है, उसमें पर्याय मग्न होती है। अहा! पर में सुख की कल्पना छोड़ती है और यहाँ ध्रुवस्वरूप में मग्न होती है — ऐसा कहते हैं। भाई! यह तो बहुत संक्षिप्त में सार भर दिया है।

अहा! दोनों शुभाशुभभाव दुःखरूप हैं तो भी अनुकूलता की कल्पना के उल्लसित वीर्य में उसको ऐसा लगता है कि — यह मुझे ठीक है, इन बाहर की अनुकूलताओं में — पैसा, आबरू, चक्रवर्ती का वैभव, स्वर्ग की सम्पदा, स्त्री का भोग और शरीर की निरोगता इत्यादि में मुझे ठीक है; परन्तु भाई! यह कल्पना तो भ्रान्ति है, मिथ्यात्वभाव है। अतः जो पुरुष इस मिथ्यात्वभाव को छोड़ता है। अहा! वह निष्कर्म सुख के-राग रहित सुख के समूहरूप अमृत सरोवर ऐसे भगवान आत्मा में मग्न होता है; इसलिए कहते हैं कि —

“वह भव्य पुरुष निष्कर्म सुख समूहरूपी अमृत के सरोवर में मग्न होते हुए ऐसे इस अतिशय चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय निजभाव को प्राप्त होता है।”

निजदशा को-पूर्णानन्ददशा को प्राप्त होता है — ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो एकदम पूर्णता की ही बात है न ? इसलिए कहते हैं कि जो इस ओर की (बाहर के कर्मजन्य) सुख की कल्पना को परिहरण करता है, वह इस ओर (स्वरूप में-शुद्धात्मा में) लीन होने पर पूर्ण सुख को-परमानंद को प्राप्त होता है। भाई! वास्तव में तो छोड़ना क्या है ? दृष्टि पलट जाती है बस। बाकी अन्य क्या छोड़ना है ? ये कोई बाहर के महल, मकान अथवा बाहर का वैभव छोड़ना है — ऐसी बात नहीं है; क्योंकि वे सब तो छूटे ही पड़े हैं। वे कहाँ आत्मा के भीतर आये हैं ? परन्तु परवस्तु में ‘यह मुझे सुखरूप है’ — ऐसी जो कल्पना की थी, वह कल्पना की दृष्टि स्व के आश्रय में जाने पर, स्व की दृष्टि करने पर छूट जाती है। यहाँ आशय यह है कि भाई! स्व आश्रय से उस सुख की कल्पना की दृष्टि छोड़ दे; क्योंकि वह भ्रान्ति है और दुःखरूप है।

अहा! अज्ञानी को पर में सुख है — ऐसी (झूठी) कल्पना होती है। उस बाहर की कुटुम्ब-परिवार में, शरीर की सुन्दरता में, सम्पत्ति में और अनेकविध भोगों में-सुख है, वैसी कल्पना उसको ही होती है; परन्तु वह तो वास्तव में दुःख ही है; इसलिए उस

कर्मजनित सुख को-राग के समस्त समूह को छोड़ दे और पहलू बदल दे; क्योंकि निज सहजानंद आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सुख है ही नहीं। लो, ऐसी बात कहते हैं।

इसतरह बाहर में कोई अनुकूल हो तो ठीक रहे और प्रतिकूल हो तो ठीक नहीं रहे — यह सब तेरी कल्पना है भगवान! अहा! भूख लगी हो तब खाने में मैसूरपाक, मोहनथाल, गुलाबजामुन अथवा रसगुल्ले मिले तो बहुत हर्षित हो जाता है; परन्तु बापू! इसमें क्या है ? यह सब तो दुःख है। अहा! अनुकूल पत्नी हो और वह भी करोड़पति की पुत्री हो, उसके भाई न हो और आशा हो कि सारी सम्पत्ति अपने को ही मिलेगी तो देखो फिर उसकी कल्पना! मानों मजा ही मजा! अरे! क्या है प्रभु! वहाँ क्या धूल मजा-सुख है ? वह सब तो तूने कल्पना को सत्य माना है; वरना वहाँ रंचमात्र भी सुख नहीं है। बापू! उस सुख की कल्पना में से तो जहर बरसता है; इसलिए यदि सुखी होना होवे, सच्ची शान्ति प्राप्त करनी होवे तो उस कल्पना को छोड़ दे, पहलू बदल दे; और यहाँ (शुद्धात्मा में) दृष्टि कर — ऐसा कहते हैं। यहाँ भव्यजीव लिया है न! इसलिए कहते हैं कि तू तो सुखी होने के योग्य ही है।

अहा! निष्कर्म अर्थात् राग के कार्यरहित सुख, सहज-स्वाभाविक सुख और उसका समुद्र.....पहले भी 'निकरं' शब्द था और यहाँ भी 'निकरं' शब्द है। पहले 'कमशर्मकरं' था, जबकि अब यहाँ 'निःकर्मशर्मनिकर' है। इसप्रकार आमने-सामने शब्द डाले हैं और भव्य जीव लिया है। आशय यह है कि मोक्ष के योग्य ऐसा वह जीव, कर्मजन्य सुख को परिहरण करके अवश्य निष्कर्म-वीतरागी सुख को प्राप्त होता है।

अहा! भगवान आत्मा सुखामृत का सरोवर है। इसलिए उसमें मग्न होने पर वह अतिशय चैतन्यमय आनंद को प्राप्त होता है। देखो, वह आनंद अतिशय चैतन्यमय है। जबकि अज्ञानी का कल्पना का सुख तो जहर-राग है; परन्तु वहाँ अज्ञानी भरमाता है न? तो कहते हैं, जो भव्य पुरुष है, वह भ्रमरहित होकर इस अतिशय चैतन्यमय वीतरागी आनन्द को प्राप्त होता है तथा वह 'एकरूप' है। यहाँ पूर्ण आनन्द की बात करनी है न; इसलिए वह एकरूप-एकधारारूप है — ऐसा कहा है तथा वह 'अद्वितीय' है अर्थात् अजोड़ सुख है, उसके साथ किसी की ऊपमा या तुलना नहीं की जा सकती है। अहा! ऐसे 'निजभाव को प्राप्त होता है।' अहा! ऐसी जो एकांत सुख की-पूर्णानंद की परमानंदमयदशा है, उसको वह प्राप्त होता है।

अहा! अत्यन्त संक्षिप्त में समेटा है। संक्षिप्त में पूर्ण प्राप्ति की बात की है। आशय यह है कि पर में, शुभभाव में भी कहीं भी तुझको सुख की कल्पना होवे तो उसको छोड़ दे और सहजसुखामृत के सागर भगवान आत्मा में लीन हो जा। उससे तुझे शुद्ध चैतन्यमय, एकरूप, अतुल ऐसा आनंद आयेगा, वरना यह रागमय सुख की कल्पना तो जहर है-दुःख है।

प्रश्न :— यह कैसा उपदेश है ? पहले तो कुछ दूसरा होता है न ?

उत्तर :— भाई! पहले भी यही है। तू जिसको पहले मानता है, वह शुभभाव प्रशस्तराग तो तुझको अनंतबार हुआ है। वह कहाँ पहले है ? यहाँ तो संक्षिप्त में समेटा है कि भव्यपुरुष पर में सुख की कल्पना से रहित होकर, सुखामृत के समुद्र — ऐसे निजशुद्धात्मा में मग्न होता है और उससे वह अतिशय चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय सुख की दशा को प्राप्त होता है। बापू! विधि तो यही है। पहले भी यही विधि होती है।

अहा! करना हो तो यह है। छहढाला (४/९) में भी आता है न कि —

**“लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, निज आतम ध्याओ ॥”**

भाई! सुखी होने की तो यही विधि है। तू जो राग का अनुभव करता है, वह तो जहर का अनुभव है; इसलिए उसको छोड़कर निज शुद्धात्मा में आ, स्वानुभव करने में सावधान हो; तुझको पूर्णानंद दशा की प्राप्ति होगी।

ओहो! भगवान आत्मा सुखामृत से छलाछल (परिपूर्ण) भरा सागर है; इसलिए जो उसमें मग्न होता है, वह एकरूप, पूर्ण, अद्वितीय आनंद को प्राप्त होता है। मग्न होता है — यह कहकर मार्ग कहा है। समस्त कर्मजनित सुखसमूह का परिहरण करता है — ऐसा कहकर बंधमार्ग का निषेध-नाश कहा है और एकरूप, पूर्ण, अद्वितीय आनंद को प्राप्त होता है — यह कहकर मोक्ष कहा है।

भाई! मोक्षमार्ग ही यह है कि निज सहजानंदमय शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में लीन होना। यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय शुद्धरत्नत्रय है। अहा! वे तीनों ही आत्मा में लीनतारूप आनंद की दशा है। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग है ही नहीं। बापू! बात ऐसी है।

कलश-३४ पर प्रवचन

“(हमारे आत्मस्वभाव में) विभाव असत् होने से.....”

देखो, धर्मी की दृष्टि! कहते हैं — हमारे आत्मस्वभाव में विभाव नहीं है। अहा! जो सुख की कल्पना, राग-द्वेष और शुभाशुभभाव हैं, वे हमारे एक ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। हमारा तो एक ज्ञायकभाव है बस! अहा! हम जहाँ हैं, वहाँ यह चीज-विभाव नहीं है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि धर्मी पुरुष की दृष्टि अपने शुद्ध चैतन्य...चैतन्य, ऐसे चैतन्यमात्र स्वभाव पर है और वह वहाँ ही स्थित है।

‘असति सति विभावे’ — ऐसा पाठ है न ? अर्थात् ‘विभाव असत् होने से....’ अहाहा! विभाव, विभाव में हो, हमारे स्वभाव में-एक ज्ञायकभाव में शरीर, मन, वाणी और कर्म — ये सब परवस्तुएँ तो नहीं; परन्तु विभाव भी हमारे स्वभाव में नहीं है। अहा! ऐसा शुद्ध चिदानंदघन हमारा स्वभाव है।

प्रश्न :— इन पैसों में सुख है - ऐसा तो लगता है न ?

उत्तर :— अहा! प्रभु! सुख का सागर तो तू है। तेरा स्वभाव ही सुख से भरपूर भरा है। अहा! आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र सुख कहाँ हो सकता है ? वह तो तुझे सुख की कल्पना का-जहर का नशा चढ़ा है, इसकारण पैसे में सुख लगता है; वरना संयोग में कहीं सुख नहीं है। तुझे किसी भी संयोग में प्रसन्नता होती हो तो वह दुःख ही है। यहाँ कहते हैं कि वह दुःख हमारे आत्मस्वभाव में नहीं है। अहाहा! हम जिसको आत्मा मानते हैं, हम जो आत्मा हैं, वहाँ विभाव नहीं है — ऐसा कहते हैं।

अहा! देखो, यह भेदविज्ञान! कहते हैं —

“विभाव असत् होने से हमें उसकी चिन्ता नहीं है।”

अर्थात् वह विभाव मुझे होता है और मैं उसका अभाव कर दूँ — ऐसा हमको नहीं है। इसमें अनंत पुरुषार्थ है, यह कोई मात्र बात नहीं है। अहा! अंदर में अनंत-आनंद का धाम चिदानंप्रभु आत्मा है — वह हम हैं, वह हमारा स्वरूप है — ऐसी अन्तर्दृष्टि हमको हुई है तो विभाव हमारे में है — ऐसा हमको नहीं दिखता और तब फिर उसकी

क्या चिन्ता ? अहा! विभाव हमारे में नहीं है, अतः हमको उस संबंधी कोई दुःख है ही नहीं; इसकारण उसका अभाव करना भी हमको नहीं है। जो हमारे में-हमारे आत्मस्वभाव में है ही नहीं, उसको क्या मिटाना ? अहा! वीतराग का मार्ग अलौकिक है! भगवान! तू स्वरूप से ही वीतराग स्वभावी है, तब फिर तुझमें राग कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। तब फिर उसकी क्या चिन्ता ? ऐसा कहते हैं। भाई! बात सूक्ष्म है।

अहा! मेरा स्वभाव ही वीतराग है, मैं त्रिकाली सहज वीतराग स्वभाव का पिण्ड हूँ। अहा! कहते हैं — ऐसे मेरे स्वभाव में राग (विभाव) असत् है अर्थात् मेरे स्वभाव में राग का-विभाव का अभाव है; इसलिए अन्य कुछ भी कल्पना करना और उसमें कुछ ठीक करते हैं — यह मानना मिथ्याभ्रम है — ऐसा कहते हैं। अहा! यह कलश अज्ञानी की कर्तापने की गाथा पर लिखे हैं न ? तो यह सब उसका सार है। अहो! मुनिराज ने अलौकिक कलश बनाये हैं।

भाई! तेरी अस्ति में शरीर, मन, वाणी और कर्म तो नहीं है, तेरी अस्ति में विभाव भी नहीं है। अहा! भगवान! तेरी अस्ति में तो ज्ञान, आनंद और शान्ति का भरपूर सरोवर भरा है। अहाहा! तू सुख से परिपूर्ण भरा भगवान है, तो फिर तुझमें यह विभाव अर्थात् दुःख कैसे हो सकता है ? — ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे! किन्तु क्या इसका स्वीकार यों ही (अन्तर्पुरुषार्थ बिना) होगा ? अरे! लोगों को यह धर्म नहीं जँचता, इसलिए बाहर में धर्म मान लिया है और बिचारे क्रियाकाण्ड में चढ़ गये हैं। क्या हो ?

अहा! 'विभाव असत् होने से.....' कलश में भी 'असति सति विभावे....' ऐसा ही शब्द है न सीधा ? तो फिर उसका न्याय तो निकालना चाहिए न? वह यह कि विभाव किसमें असत् है ? इसलिए उसका भाव कोष्ठक में दिया है कि 'हमारे आत्मस्वभाव में..।' अहा! मुनिराज कहते हैं कि हमारा आत्मा तो पूर्ण वीतराग-स्वभावी है। अहा मैं परम निर्दोष स्वभाव का कंद पूर्ण आनंदकंद आत्मा हूँ, इसलिए मुझमें दुःख और दोष कैसे होंगे ? नहीं हो सकते। तो फिर मुझे उनकी क्या चिन्ता ? परन्तु अरे! ऐसे निज घर की बात जीव को सुनना भी मुश्किल हो गई है; इसलिए बिचारा बाहर की बातों में-मैं यह करता हूँ, वह करता हूँ — ऐसी बातों में-पड़ गया है।

प्रश्न : — परन्तु पैसे के आधार से तो धर्म चलता है न ? क्या यों ही पैसे बिना चलता है ?

उत्तर :— सुन! धूल भी पैसे के आधार से धर्म नहीं चलता। अब, जब राग भी आत्मा में नहीं है तो पैसा कहाँ से आया ? तो फिर उसके कारण धर्म चलता है, यह बात कहाँ से लाया। बापू! आत्मा तो परम वीतरागस्वभावी है और उसमें दृष्टि करने से व उसमें स्थिर होने से धर्म चलता है। जब राग से भी धर्म नहीं चलता तो पैसे से धर्म चलता है — यह बात ही कहाँ रहती है ? बापू! यह तो भ्रम है।

अहा! भगवान! तू अस्ति है न ? तो तेरी सत्ता तो ज्ञानानंदस्वभाव से-सुख के सागर से परिपूर्ण है। अहा! प्रभु! तेरा अस्तित्व पूर्ण वीतरागस्वभाव से भरा है। तो फिर जो निजस्वभाव की सत्ता में है ही नहीं, उन शुभराग और विकल्पों की क्या चिन्ता ? अहा! आत्मस्वभाव में विभाव तो है ही नहीं तो फिर उसकी क्या चिन्ता ? देखो, यहाँ मुनिराज कहते हैं कि 'उसकी हमको चिन्ता नहीं है।'

अब वस्तु का वर्णन करते हैं।

'हम तो हृदयकमल में स्थित.....' हृदयकमल में अर्थात् हमारे ज्ञानकमल में स्थित.....अहा! हमारी ज्ञान की पर्याय में सम्पूर्ण आत्मा स्थित है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :— क्या ज्ञान की पर्याय में पूरा आत्मा आता है ?

उत्तर :— ऐसा नहीं है बापू! ज्ञान की पर्याय में पूरा आत्मा पूर्ण सामर्थ्य सहित ज्ञात होता है और प्रगट ज्ञान की पर्याय को, पूर्ण-पूरे आत्मा का आश्रय प्रवर्तता है, पूर्ण शुद्धात्मा के आश्रय से वर्तमान ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है — इसकारण पर्याय में पूरा आत्मा स्थित है — ऐसा कहा है।

क्या कहा यह ?

कि स्वभाव में विभाव नहीं है, इसलिए हमको उसकी चिन्ता नहीं है। तो क्या है ? तो कहते हैं — हमारी ज्ञान की प्रगट पर्याय में पूरा भगवान आत्मा स्थित है। अहा! ऐसा यह मार्ग तो कोई मार्ग है और इसलिए ही आगे (३६वें) कलश में कहेंगे कि इस पृथ्वी पर परमत के कथन से सज्जनों को क्या फल है। अहा...! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो इस मार्ग का स्वरूप कहा है, वैसा अन्यमत में कहीं है ही नहीं; इसलिए तुझे अन्य के कथनों से क्या काम है ? उससे तुझे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं।

अहाहा...! कहते हैं — हमारे वीतरागस्वभाव में पर की तो क्या, राग की भी गंध नहीं है। अहा! जिस भाव से तीर्थकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है; क्योंकि वह सोलहकारण भावना तो राग है। अहा! सोलहकारण भावना से तीर्थकर नामकर्म बँधता है न, इसलिए वह विकल्प-राग है और उसके अभाव की हमको चिन्ता नहीं है क्योंकि वह हमारे होवें तो उसका अभाव करें न। हम तो जहाँ हैं, वही स्थित हैं; इसकारण अब हमको राग की उत्पत्ति ही नहीं होती और इसी को राग का अभाव किया — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वरना हमको तो राग का अभाव करना भी नहीं है। अहा! हमारे हृदयकमल में स्वभावसन्मुखता का खिला हुआ जो ज्ञान है; उस ज्ञानकमल में पूर्णानंद का नाथ, चैतन्य-चिन्तामणि भगवान आत्मा विराजमान है। अहाहा...!

“हम तो हृदयकमल में स्थित सर्व कर्म से विमुक्त शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभवन करते हैं.....।”

पहले कहा कि हमारे आत्म स्वभाव में विभाव नहीं है। अहा...! अन्दर भगवान आत्मा विभाव से रहित है तथा अब कहते हैं कि सर्व कर्म से रहित है; सर्व कर्म से-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भगवान आत्मा रहित है। अहा! ऐसे निजशुद्धात्मा को, एक को हम निरंतर अनुभव करते हैं। अहा...! हमारी दृष्टि में तो ऐसा परमस्वभावमय पूरा भगवान आत्मा वर्तता है — ऐसा कहते हैं। अहा! मार्ग ऐसा बहुत सूक्ष्म है।

कहते हैं — हम शुद्धात्मा को, एक को सतत अनुभव करते हैं। हम भगवान को-केवली को और सिद्ध को भजते हैं — ऐसा नहीं और हम पर्याय को भजते हैं — ऐसा भी नहीं; परन्तु वह प्रगट पर्याय तो यहाँ एक को (द्रव्य को) भजती है — ऐसा कहते हैं। अहा! हम एक को शुद्धात्मा को ही भजते हैं — ऐसा कहते हैं और वह भी सतत-निरन्तर भजते हैं अर्थात् हमारा परिणमन निरन्तर द्रव्यस्वभाव के प्रति ही वर्तता है - ऐसा कहते हैं। देखो, यह धर्म की दशा और वास्तविक स्थिति। अभी तो मार्ग तो एक ओर रह गया और बाहर की धामधूम और धमाधम चलती है; परन्तु बापू! उसमें कुछ भी नहीं है। अहो! दिगम्बर संतों ने तो जगत को निहाल कर दिया है। वे स्वयं तो निहाल हो ही गये हैं और जगत को भी निहाल कर दिया है।

अहाहा..! कहते हैं — शुद्ध भगवान आत्मा जोकि कर्म से विमुक्त और विभावरहित वस्तु है और जो हमारे ज्ञानकमल में विराजमान है, उस एक को ही हम सतत अनुभव करते हैं। अहा...! भाई! करनेयोग्य तो यह है; बाकी अन्य लाख बातें (क्रियायें) करें; परन्तु वे सब व्यर्थ हैं।

प्रश्न : — पद्मनंदि पंचविंशतिका में समागत दस धर्मों के वर्णन में आता है कि मुनि ने बाह्यवस्तु का त्याग किया है? (गाथा १०३, धर्मोपदेशामृत अधिकार)

उत्तर : — हाँ, आता है; परन्तु बापू! उसका अर्थ क्या है? उसका अर्थ यह है कि बाह्यवस्तु के प्रति जो विकल्प होता है, उसका वहाँ त्याग है। अहा! जहाँ वे निजस्वरूप में स्थित होते हैं, तो वहाँ विकल्प का त्याग हो जाता है। सो व्यवहार से तो यही कहा जाता है कि मुनि ने बाह्यवस्तु का त्याग किया है। व्यवहारनय के सब वचन ऐसे ही होते हैं। (भाई! नयविभाग को भलीभाँति समझना चाहिए।)

अहाहा! यहाँ कहते हैं - हम शुद्धात्मा को, एक को सतत अनुभव करते हैं। क्यों?

“क्योंकि अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है।”

‘न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः’ — ऐसा समयसार (कलश-२०) में भी आता है। यहाँ भी वही शैली ली है। वहाँ भी ‘न खलु...न खलु’ — ऐसा है और यहाँ भी वे ही शब्द हैं। देखो, अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है — ऐसा पुनः स्पष्ट करते हैं अर्थात् आत्मा के अनुभव से भी मुक्ति है और दया-दान-व्रत-भक्ति इत्यादि से भी मुक्ति है — ऐसा रंचमात्र भी है ही नहीं। ‘नान्यथा’ अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है, यह दो जगह स्पष्ट है। ‘अन्यथा’ यानी अन्यप्रकार से। अहा!

अहा! हमारे ज्ञानकमल में स्थित नित्य, ध्रुव, ज्ञानानन्दनस्वरूप भगवान आत्मा के एक के अनुभव से तो मुक्ति है, परन्तु अन्यथा यानी कि अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है। भाई! अभी ये शुभभाव करें और फिर धीरे-धीरे इनसे शुद्धभाव हो जायेगा — यह तो मिथ्यादृष्टि की मानी हुई बात है। अहा! जहाँ स्वभाव में राग ही नहीं है, वहाँ उससे मुक्ति हो — यह प्रश्न ही कहाँ है? जो अपने में नहीं है, उससे क्या लाभ हो सकता है? यहाँ तो ‘अन्य किसीप्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है’ — ऐसा अत्यन्त स्पष्ट कहा है। तो अब कौन-सा प्रकार बाकी रहा? अहो! मुनिराज ने क्या

कलश बनाये हैं। जंगलवासी मुनिराजों ने सिद्धों के साथ बातें की हैं। ऐसे कि भगवान! जैसे आप निवृत्त होकर अंदर में गये हो, वैसे ही मैं भी निवृत्त होकर अंदर में जाता हूँ। भाई! ऐसी अलौकिक बात है।

कलश-३५ पर प्रवचन

ज्ञानी-धर्मी पुरुषों को, समकिति को यह निर्णय है कि —

“संसारी में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्धजीव में सदा समस्त सिद्धि सिद्ध (मोक्ष से सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण हुए) निज परमगुण होते हैं — इसप्रकार व्यवहारनय है।”

देखो, ‘गुण’ शब्द से यहाँ पर्याय की बात है; क्योंकि गुण तो त्रिकाली होते हैं। अतः उनमें मोक्ष या संसार कैसा ? और वह तो यहाँ बात करनी है। तो, संसारी में सांसारिक गुण अर्थात् विकारी पर्यायें होती हैं - ऐसी बात है।

तथा ‘सिद्धजीव में सदा समस्त सिद्धि सिद्ध निज परमगुण होते हैं।’ यहाँ कहे गये सिद्ध में परमगुण भी पर्यायें हैं। ‘गुण’ — ऐसी भाषा है; परन्तु उसका अर्थ तो समझना चाहिए न ? यहाँ तो यह कहना है कि संसार की पर्याय सदोष है; जबकि सिद्धपर्याय परमनिर्दोष है, पूर्ण निर्दोष है — इसप्रकार व्यवहारनय है। सिद्धपर्याय और संसार की पर्याय दोनों ही व्यवहारनय है अर्थात् व्यवहारनय का विषय है। वे दोनों ही पर्याय हैं न! और भेद पड़ा न! इसलिए संसारपर्याय और सिद्धपर्याय — दोनों व्यवहारनय है। देखो, सिद्धपर्याय भी व्यवहारनय है - ऐसा कहते हैं।

“निश्चय से तो सिद्ध भी नहीं है और संसार भी नहीं है।”

देखो, वस्तु यानी आत्मा में विकारी-विभाव की पर्याय तो नहीं; परन्तु पूर्ण निर्विकार ऐसी सिद्ध की पर्याय भी नहीं है - ऐसा कहते हैं। कारण कि पर्याय तो एक भेद है, व्यवहार है; इसलिए वस्तु में-अन्तःतत्त्व में सिद्धि-मुक्ति और संसार दोनों नहीं है। अहा! व्यवहारनय है और व्यवहारनय का विषय भी है — ऐसा पहले सिद्ध किया। यानी कि व्यवहार पर्यायदृष्टि से-व्यवहार से है; परन्तु वस्तु में-ध्रुव में वह व्यवहार नहीं है — ऐसा कहते हैं। गजब बात है न!

अहाहा..! भगवान् आत्मा अंदर एकसमय में पूर्ण शुद्ध चिदानंदकंद ध्रुव चैतन्यमूर्ति प्रभु है और उसमें संसार व सिद्धि — दोनों ही नहीं है। कारण कि भगवान् आत्मा तो ध्रुव अभेद है और सिद्धि व संसार तो भेदरूप है तथा सिद्धि व संसार पर्यायनय का, व्यवहारनय का विषय है। अहा! संसार का व्यय और मुक्ति की उत्पत्ति — इसप्रकार उत्पाद-व्ययरूप वह पर्याय तो व्यवहारनय का-वर्तमान पर्याय को जाननेवाले ज्ञान के अंश का विषय है; इसलिए निश्चय से तो सिद्धि भी नहीं है और संसार भी नहीं है अर्थात् निश्चय का विषय तो ध्रुव एकरूप अभेद है, उसमें वे पर्यायें नहीं हैं। निश्चय से तो सिद्धि भी नहीं है। अहा! स्वरूप में सिद्धि अर्थात् मोक्ष नहीं है और इसकारण यह जो निश्चय मोक्षमार्ग-शुद्धरत्नत्रय, वह भी निश्चय से नहीं है अर्थात् त्रिकालीध्रुव अभेद आत्मद्रव्य में निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है। भाई! 'परमात्मप्रकाश' में भी आता है न कि — 'भावलिङ्ग, जो कि निर्विकल्प मोक्षमार्ग है, वह पर्याय है और वह पर्याय वस्तु में-द्रव्य में कहाँ है ?' नहीं है। यही बात यहाँ भी ली है। अहा! भाई! थोड़ा भी, किन्तु जैसा वस्तु का अस्तित्व है, वैसा इसको (जीव को) बैठना चाहिए न! (समझ में आना चाहिए न!)

अहा! संसार पर्याय एकसमय की अवस्था है और सिद्धपर्याय भी एकसमय की अवस्था है तथा वह उत्पाद-व्ययरूप पर्याय पर्यायनय का-व्यवहारनय का विषय है। देखो, सिद्धपर्याय भी व्यवहारनय का विषय है। इसकारण ध्रुव अभेदवस्तु में वह नहीं है; परन्तु अभी अज्ञानी तो दया-दान-व्रतादि के राग से लाभ होना मानता है। बापू! वह राग तो कहीं रह गया; वह तो अशुद्धव्यवहार है और असद्भूतव्यवहार है। भाई! वीतराग मार्ग ऐसा है। क्या हो ? वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। भाई! वस्तु का अस्तित्व सिद्ध करने पर तो यही स्थिति उपस्थित होती है।

अहा! निश्चय सम्यग्दर्शन का विषय, जो ध्रुव परमात्मा है, उसमें सिद्धि भी नहीं है और संसार भी नहीं है तथा उसमें मोक्षमार्ग भी नहीं है। जब त्रिकाली द्रव्य में मोक्ष ही नहीं है तो फिर मोक्षमार्ग तो कहाँ से होगा ? क्योंकि मोक्षमार्ग तो अपूर्णदशा है।

अहाहा..! 'निश्चयात् न एव सिद्धिः' निश्चय से तो सिद्धि भी नहीं है और 'न च भवति भवो' संसार भी नहीं है। 'निर्णयापेऽयं बुधानाम्' यह बुधपुरुषों का सम्यग्दृष्टियों का निर्णय है। देखो, इसका नाम तत्त्व का निर्णय है। अहा! यही वस्तु

(उपादेय, आश्रययोग्य) है — ऐसा निर्णय क्या यों ही होता है ? वह तो जब अंदर में वस्तु के तल में जाए और स्वानुभव करे, तब निर्णय होता है कि यह वस्तु है। अहा! यहाँ निर्णय कहा है न ? तो वह निर्णय कब होता है ? कि द्रव्यस्वभाव में एकाग्र होवे, तब निर्णय होता है कि अहो! वस्तु वह है कि जिसमें संसार भी नहीं है और सिद्धि भी नहीं है।

भाई! पर्याय में संसार है — यह व्यवहारनय कहा; क्योंकि पर्याय में जो उदयभाव, विकारभाव है, वह उसमें (पर्याय में) है; परन्तु वह कोई कर्म में है अथवा कर्म के कारण है — ऐसा नहीं है। अहा! वह उदयभाव, मोह-राग-द्वेष आदि संसारभाव उसकी पर्याय में है। सो वह जो विकार पर्याय में है, वह पर के कारण अथवा कर्म के कारण है — ऐसा नहीं है; अपितु वह तो उसकी पर्याय के कारण है। इसीप्रकार सिद्धि भी उसकी पर्याय के कारण है; परन्तु कर्म का अभाव हुआ, इसलिए यहाँ सिद्धि की पर्याय है — ऐसा नहीं है; अपितु वह तो उसकी पर्याय के कारण है। वरना, अर्थात् यदि ऐसा न स्वीकार किया जावे तो उसका व्यवहार भी स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होता।

अब किसी को ऐसा लगता है कि ऐसा जैनधर्म! ऐसा कैसा धर्म ? ऐसा धर्म तो इन सोनगढ़वालों ने नया निकाला है — ऐसा कितने ही कहते हैं; परन्तु भाई! अनंत तीर्थकरों द्वारा ओम्ध्वनि में कथितमार्ग ही यह है। इसमें सोनगढ़ का तो कुछ नहीं है। बापू! यह तो केवलीभगवान द्वारा कथित वस्तुस्थिति है। तुझको अभ्यास नहीं है, इससे क्या हो सकता है ? यहाँ कहते हैं कि 'संसारी में सांसारिक गुण होते हैं। संसारी को जो राग-द्वेष-मोहादि हैं, वे उसके गुण हैं — ऐसा कहते हैं और उसको उनसे दुःख का लाभ होता है। अहा! दुःख आवे, ऐसा उन मोह-राग-द्वेषादिक भावों का गुण अर्थात् स्वभाव है; इसलिए वे संसारी के गुण हैं। अहा! पुण्य और पाप; राग और द्वेष; दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति इत्यादि भाव और क्रोधादिभाव, वे सांसारिक गुण हैं — ऐसा कहते हैं।'

तथा 'सिद्ध जीव में सदा समस्त सिद्धिसिद्ध निज परमगुण होते हैं। देखो, सिद्ध के गुण 'समस्त सिद्धिसिद्ध' होते हैं। सिद्धिसिद्ध माने ? मोक्ष से सिद्ध हुए गुण, मोक्ष से परिपूर्ण हुए गुण और उन निज परमगुणों का अर्थ निज परम-सर्वोत्कृष्ट पर्यायें हैं तथा देखो, उनको (सिद्ध के गुणों को) निजगुण कहा है; जबकि संसारी के गुणों को

सांसारिक गुण कहा है, निज गुण नहीं कहा। क्यों ? क्योंकि वे निजस्वभावरूप पर्यायें नहीं हैं, निजस्वरूपभूत नहीं हैं; जबकि सिद्ध के वे परमगुण-पर्यायें निज (अपने) हैं। वे निजस्वभावभाव हैं न ? इसलिए निज-अपने गुण हैं। कहते हैं — इसप्रकार व्यवहारनय है अर्थात् त्रिकालीध्रुव द्रव्य सो निश्चय और उत्पाद-व्ययरूप प्रकट पर्याय सो व्यवहार है। इसप्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों को सिद्ध किया है। अहा! अभी तो अज्ञानी पर को-शरीरादि को अपना मानता है। मूढ़ है न! जबकि यहाँ कहते हैं कि त्रिकालीध्रुव द्रव्य में सिद्ध की पर्याय भी नहीं है और यह संसारी पर्याय भी नहीं है। अहा! द्रव्य में-शुद्ध परमात्मतत्त्व में-पर्याय कैसी ? अरे! शुद्धपर्याय भी द्रव्य में कहाँ है ? पर्याय तो पर्याय में है। यही बात आगे ५०वीं गाथा में आयेगी कि जितनी कोई पर्यायें हैं, वे सभी परद्रव्य हैं, परभाव हैं और इसकारण हेय है। कारण कि द्रव्य में-ध्रुव में-चिन्मात्रवस्तु में-पर्याय नहीं है; इसलिए पर्याय परद्रव्य ही है — ऐसा वहाँ कहा है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। यह त्रिकालीद्रव्य स्व है तो पर्याय, जोकि इसमें नहीं है; वह पर है — ऐसी बात वहाँ है; इसलिए निश्चय से मुक्ति भी द्रव्य में नहीं है। वह (मुक्ति) भी पर्याय है न और वह उत्पाद-व्ययरूप एक अंश है; इसीलिए वह ध्रुव में कैसे आवे ? नहीं आती। अहो! मुनिराज बात को कहाँ से कहाँ ले गये हैं, वह तो देखो।

अहा! 'निश्चय से तो' वास्तविक परमार्थदृष्टि से तो 'सिद्धि भी नहीं है' अर्थात् निज त्रिकाली द्रव्य में सिद्धिसिद्ध की पर्याय नहीं है; क्योंकि वह पर्याय तो पर्याय में है। 'और संसार भी नहीं है।' देखा, मात्र 'नहीं' इतना ही नहीं; परन्तु 'नहीं ही' इसतरह वजन देकर कहा है। अब कहते हैं —

“यह बुधपुरुषों का निर्णय है।”

अहा! धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों का यह निर्णय है। देखो तो सही! धर्मात्मा का कैसा निर्णय है कि द्रव्य में सिद्धि और संसार दोनों नहीं है।

**“ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री जिनराज;
समवसरण के मध्य में सीमंधर भगवान।”**

इसप्रकार १८वीं गाथा पूर्ण हुई।



नियमसार गाथा-१९

द्व्यथिण जीवा वदिरिक्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणाण जीवा संजुक्ता होंति दुविहेहिं ॥१९॥

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ताः पूर्वभणितपर्यायात् ।
पर्यायनयेन जीवाः संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम् ॥१९॥

(हरिगीत)

है उक्त पर्ययशून्य आत्मा द्रव्य-दृष्टि से सदा ।

है उक्त पर्यायों सहित पर्याय-नय से वह कहा ॥१९॥

गाथार्थ :— द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वकथित पर्याय से व्यतिरिक्त* है, पर्यायनय से जीव उस पर्याय से संयुक्त हैं। इसप्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त हैं।

टीका :— यहाँ दोनों नयों का सफलपना कहा है।

भगवान अर्हत् परमेश्वर ने दो नय कहे हैं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय। द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक है और पर्याय ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक है। एक नय का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य नहीं है; किन्तु उन दोनों नयों का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य है। सत्ताग्राहक (द्रव्य की सत्ता को ही ग्रहण करनेवाले) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के बल से पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से मुक्त तथा अमुक्त (सिद्ध तथा संसारी) समस्त जीवराशि सर्वथा व्यतिरिक्त ही है। क्यों ? **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** (शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं) — ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से। विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनय के बल से वे सर्व जीव (पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से) संयुक्त हैं। विशेष इतना कि सिद्ध जीवों के अर्थ पर्यायों सहित परिणति है, परन्तु व्यंजनपर्यायों सहित परिणति नहीं है। क्यों ? सिद्ध जीव सदा निरंजन होने से। (**प्रश्न** :—) यदि सिद्ध जीव सदा निरंजन है तो सर्व जीव द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयों से संयुक्त हैं। (अर्थात् सर्व जीवों को दोनों नय लागू होते हैं) — ऐसा सूत्रार्थ (गाथा का अर्थ) व्यर्थ सिद्ध होता है।

* व्यतिरिक्त=भिन्न, रहित, शून्य

(उत्तर:— व्यर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि) निगम अर्थात् विकल्प, उसमें हो वह नैगम*। वह नैगमनय तीन प्रकार का है, भूत नैगम, वर्तमान नैगम और भावी नैगम। यहाँ भूतनैगमनय की अपेक्षा से भगवन्त सिद्धों को भी व्यंजनपर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भवित होता है, क्योंकि पूर्वकाल में वे भगवन्त संसारी थे — ऐसा व्यवहार है। बहु कथन से क्या ? सर्व जीव दो नयों के बल से शुद्ध तथा अशुद्ध है — ऐसा अर्थ है।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(मालिनी)

“उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णामीक्षन्त एव॥”

(वीरछन्द)

दोनों नय में जो विरोध है उसे नष्ट करने वाले।
स्यात्कार पद से चिर अंकित जिनवच में रमने वाले॥
स्वयं मोह का वमन करें जो कुनय पक्ष कर सके न खण्ड।
परमज्योतिमय समयसार को शीघ्र लखें वे पुरुष प्रचण्ड॥

श्लोकार्थ :— दोनों नयों के विरोध को नष्ट करनेवाले, स्यात्पद से अंकित जिनवचन में जो पुरुष रमते हैं, वे स्वयमेव मोह को वमन करके, अनूतन (अनादि) और कुनय के पक्ष से खण्डित न होनेवाली ऐसी उत्तम परमज्योति को-समयसार को शीघ्र देखते ही हैं।

और (इस जीव अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं —)

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न संतः
परम-जिन-पदाब्ज-द्वन्द्व-मत्त-द्विरेफाः।

* जो भूतकाल की पर्याय को वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे), भविष्यकाल की पर्याय को वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे) अथवा किञ्चित् निष्पन्नतायुक्त और किञ्चित् अनिष्पन्नतायुक्त वर्तमान पर्याय को सर्वनिष्पन्नवत् संकल्पित करे (अथवा कहे), उस ज्ञान को (अथवा वचन को) नैगमनय कहते हैं।

सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्तेः किं फलं सज्जनानाम् ॥३६ ॥

(वीरछन्द)

उभय नयों के संबंधों का उल्लंघन नहीं करें सुजान।
परमेश्वर के पद पंकज में मत्त हुए जो भ्रमर समान ॥
ऐसे महापुरुष ही सत्वर समयसार को पाते हैं।
पृथ्वी पर परमत कथनों से सत्पुरुषों को क्या फल है ॥३६ ॥

श्लोकार्थः — जो दो नयों के संबंध का उल्लंघन न करते हुए परमजिन के पाद-
पंकजयुगल में मत्त हुए भ्रमर समान हैं — ऐसे जो सत्पुरुष वे शीघ्र समयसार को अवश्य
प्राप्त करते हैं। पृथ्वी पर परमत के कथन से सज्जनों को क्या फल है (अर्थात् जगत
में जैनेतर दर्शनों के मिथ्या कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है) ? ॥३६ ॥

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के
फैलाव रहित देहमात्र जिनको परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित
नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत
श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति
नामक टीका में) **जीव अधिकार** नाम का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

गाथा १९ की टीका पर प्रवचन

अहा! इस गाथा का अर्थ सीधी भाषा में तो 'द्रव्यार्थिकनय से जीवद्रव्य सभी पर्यायों
से रहित है' — ऐसा होता है और इससे, कारणपर्याय से भी जीव रहित है — ऐसा अर्थ
हो जाता है। परन्तु यहाँ उसका अर्थ मात्र इतना ही कहा है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से
जीव व्यंजनपर्याय से रहित है। यानी की यहाँ, पर्यायरहित जीव है — ऐसा जो कहा
है, उसमें मात्र व्यंजनपर्याय लेनी है और फिर तो पर्यायनय से सिद्ध भी (विभाव)
व्यंजनपर्याय सहित है — ऐसा कहेंगे, क्योंकि 'सभी जीव' — ऐसा शब्द है न ? सो
वैसे नयविवक्षा से कहेंगे। तो कहते हैं —

'यहाँ दोनों नयों का सफलपना कहा है।'

देखो, यहाँ दोनों नयों का अस्तित्व अर्थात् दोनों नय हैं — ऐसा स्वीकार किया है।
दोनों नयों का अस्तित्व है और उनका विषय भी है — ऐसा स्वीकार है। अहा! वस्तु

द्रव्य-पर्यायरूप है, वहाँ द्रव्य में पर्याय नहीं है; परन्तु पर्याय पर्याय में है — ऐसा यहाँ पर स्वीकार है।

तो कहते हैं — ‘भगवान अर्हत् परमेश्वर ने दो नय कहे हैं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।’ भाई! देखो, वीतराग परमेश्वर ने दो नय कहे हैं — ऐसा कहते हैं; क्योंकि यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ के सिवाय ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ?

प्रश्न :— दुनिया में सबको प्रसन्न रखने के लिए सभी समान हैं — ऐसा कहना चाहिए न ?

उत्तर :— भाई! इसतरह मिथ्या बात से सब प्रसन्न थोड़े ही हो जाते हैं ? तथा क्या पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार में नहीं कहा है कि ‘ऐसा तो कोई उपदेश नहीं है, जिससे सभी जीव प्रसन्न हों’ इसलिए भाई! सभी जीव प्रसन्न हो जायें और सबको पसन्द आ जायें - ऐसी तो एक भी बात नहीं है। यदि अभिप्राय में अन्तर नहीं होता तो अनेक अलग मत ही क्यों होते ? इसलिए बापू! सबको प्रसन्न रखने की बात जाने दे और वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा कथित बात को स्वीकार कर।

अहा....! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान तीर्थकरदेव ने...., अहा! देखो, यहाँ ‘भगवान अर्हत् परमेश्वर’ कहा है। वे पूज्य हैं न! अहा! वे परमेश्वर सौ इन्द्रों को पूज्य हैं। अहा! ऐसे परमेश्वर ने.....वे अर्हत् ही परमेश्वर हैं, बाकी जगत का कर्ता कोई परमेश्वर है — ऐसा नहीं है। तो कहते हैं कि उन भगवान परमेश्वर ने दो नय कहे हैं — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अब उनका अर्थ करते हैं —

‘द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक है और पर्याय ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक है।’

जिसका प्रयोजन वस्तु-त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। अहा! त्रिकाली एकरूप अभेद वस्तु को विषय करनेवाले-जाननेवाले ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और पर्याय ही-एकसमय की वर्तमान अवस्था ही-जिसका प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिकनय है। भाई! दोनों नय का विषय ज्ञान करने (जानने) के लिए वस्तु (अस्ति) है या नहीं ? दोनों वस्तु हैं या नहीं ? या फिर एक द्रव्यार्थिकनय का विषय

ही है और पर्यायार्थिकनय का विषय है ही नहीं ? क्या व्यवहारनय का विषय ही नहीं है ? यदि व्यवहारनय का विषय ही न होवे तो पर्याय ही नहीं हो; और पर्याय के अभाव में कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। पर्याय ही न होवे तो जीव को सिद्धदशा भी नहीं हो और उसकी संसारदशा भी नहीं हो; और तब जीव भी नहीं हो। भाई! इसप्रकार तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। इसप्रकार व्यवहारनय और व्यवहारनय का विषय-अंश, पर्याय अवश्य है ही — ऐसा संमत करना।

समयसार में जो यह कहा है कि मैं पर को मारता-जिलाता, सुखी-दुःखी करता हूँ - ऐसा कोई विषय ही नहीं तो वह बात दूसरी है; क्योंकि वह तो अभिप्राय ही निरर्थक है। अहा! उसका विषय ही कहाँ है ? वह वैसा कहाँ कर सकता है ? वह वैसा कर ही नहीं सकता; इसलिए उसका विषय ही नहीं है - इसकारण उसको अज्ञान कहते हैं। यदि उसका विषय होता तो वह व्यवहारनय कहलाता; परन्तु वह तो मूल (विषय) ही नहीं है।

आशय यह है कि वह पर का कर सकता होता तो पर को मारना-जिलाना व्यवहारनय कहलाता; परन्तु वैसा तो वह कर ही नहीं सकता। इसकारण वह व्यवहार-नय भी नहीं है; कारण कि उसकी वैसी पर्याय कहाँ है ? वह पर को कर कहाँ सकता है ?

यहाँ तो दोनों नयों का सफलपना कहा है। सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय — ऐसा कहकर अर्हत् परमेश्वर द्वारा कथित दोनों नयों के नाम कहे और फिर उनकी व्याख्या तथा प्रयोजन सिद्ध किया है। अब कहते हैं —

‘एक नय का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य नहीं है, किन्तु उन दोनों नयों का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य है।’

प्रश्न :- इसमें तो दोनों नयों का अवलम्बन करने की बात आई है ?

उत्तर :- हाँ, यह बराबर है। परन्तु दोनों नयों के अवलम्बन का अर्थ क्या है ? कि जानना। यहाँ जानने की बात है। बाकी अवलम्बन अर्थात् दूसरा क्या ? जिसमें अपेक्षा से वस्तु का कथन होता है — ऐसे वे दोनों नय ग्रहण करनेयोग्य अर्थात् जाननेयोग्य हैं। उसमें दोनों नय जैसे हैं, वैसे जानने की बात है। भाई! अकेले द्रव्य का

ही कथन (उपदेश) हो और पर्याय का कथन (उपदेश) ही न हो तो वह उपदेश ग्रहण करनेयोग्य नहीं है तथा एकांत से पर्याय का ही कथन हो और द्रव्य का कथन ही न हो तो वह उपदेश भी ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक में 'ग्रहण करनेयोग्य अर्थात् जाननेयोग्य' — ऐसा अर्थ किया है, इसलिए द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय — दोनों जाननेयोग्य हैं। कोई ऐसा माने कि द्रव्य ही है और पर्याय है ही नहीं, तो वह मिथ्या एकांत है, क्योंकि वस्तु का निर्णय तो पर्याय ही करती है। इसलिए यदि पर्याय हो ही नहीं तो द्रव्य-वस्तु का निर्णय कौन करे ? कोई भी नहीं और तब तो कोई वस्तु भी सिद्ध नहीं हो। तथा द्रव्य तो त्रिकाली कायम वस्तु है, इसलिए यदि वही नहीं हो तो पर्याय का आधार कौन ? कोई भी नहीं। तब तो पर्याय भी नहीं रहे। इसप्रकार सभी नाश को प्राप्त हों। इसलिए दोनों नय जाननेयोग्य हैं।

अहा! यह तो मुनिराज स्वयं ही आगे (कलश ३६ में) कहेंगे कि ऐसी (सत्य, उत्कृष्ट) बात जिनागम में-अर्हत् के मत में ही होती है, इसलिए अन्यमत के कथन से तुझे क्या प्रयोजन है ? इसकारण अर्हत् परमेश्वर द्वारा कथित दोनों नयों को यथार्थरूप से जानना योग्य है। अन्यत्र कहीं ऐसी बात है ही नहीं।

अहा! प्रत्येक वस्तु द्रव्य और पर्यायस्वरूप है। इसलिए दोनों (द्रव्य और पर्याय) वस्तु है। पर्याय भले ही वर्तमान एक अंश है तो भी वह वस्तु है, अवस्तु नहीं। यद्यपि त्रिकाली ध्रुव एकरूप द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय को अवस्तु कहा जाता है; परन्तु वह दूसरी (उपादेयतत्त्व सिद्ध करने की) बात है। अतः पर्याय की अपेक्षा से पर्याय भी वस्तु है, अस्ति है और इसकारण एक नय के आश्रयवाला उपदेश ग्रहणयोग्य नहीं है। अर्थात् कोई अकेला ध्रुवद्रव्य ही कहे और पर्याय है ही नहीं — ऐसा एकान्त कहता हो तो वह उपदेश ग्रहणयोग्य नहीं है।

अहा! पर्याय आश्रय करनेयोग्य नहीं है; परन्तु वह है अवश्य, इसलिए कहते हैं कि एक नय के आश्रयवाला उपदेश ग्रहणयोग्य-जाननेयोग्य नहीं है; परन्तु उन दोनों नयों का अवलम्बन करता हुआ उपदेश ग्रहणयोग्य है। अंदर 'दोनों नयों का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश' — ऐसा है न! तो उसमें 'व्यवहार का अवलम्बन लेना' यह कहाँ कहा है। वह तो दोनों नयों का अवलम्बन लेना उपदेश है — ऐसी बात है। अहा! वस्तुरूप से (वस्तु की अपेक्षा से) वस्तु द्रव्य भी है और पर्यायरूप से (पर्याय की अपेक्षा से)

पर्याय भी है। इसप्रकार दो नयों का अवलम्बन लेता उपदेश है जो कि ग्रहण करनेयोग्य-जाननेयोग्य है।

‘सत्ताग्राहक (द्रव्य की सत्ता को ही ग्रहण करनेवाले) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से मुक्त तथा अमुक्त (सिद्ध तथा संसारी) समस्त जीवराशि सर्वथा व्यतिरिक्त ही है। क्यों ? “सव्वे सुद्ध हु सुद्धणया (शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं)” ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से।’

अहा! वस्तु अर्थात् द्रव्य का जो त्रिकाली स्वभाव है। अहा! ऐसी जो ध्रुव सत्ता है, उसको ग्रहण करनेवाले, जाननेवाले ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से...अहा! अकेली त्रिकाली शुद्ध सत्तामात्र वस्तु जो अभेद एक द्रव्य है, उसको जाननेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से सभी पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से, मुक्त तथा अमुक्त...मुक्त माने सिद्ध और अमुक्त माने संसारी — इसप्रकार सिद्ध और संसारी समस्त जीवराशि सर्वथा व्यतिरिक्त ही है। अंदर गाथा में ही ‘पर्यायों से व्यतिरिक्त’ शब्द है। सो उसका अर्थ मुनिराज ने यह किया है कि व्यंजनपर्याय से व्यतिरिक्त है। यहाँ पर्याय शब्द से कारणशुद्धपर्याय अथवा निर्मलपर्याय की बात नहीं लेना है। यहाँ तो मात्र व्यंजनपर्याय की ही बात लेनी है और वह भी विभाव व्यंजनपर्याय की बात लेनी है; परन्तु स्वभावव्यंजनपर्याय की बात भी यहाँ नहीं लेनी है।

प्रश्न :— यह क्या कहा ? यह स्वभावव्यंजनपर्याय और विभावव्यंजनपर्याय क्या है ?

उत्तर :— संसारदशा में होनेवाले प्रदेशों के आकार को विभावव्यंजनपर्याय कहते हैं और सिद्ध के प्रदेशों के आकार को स्वभावव्यंजनपर्याय कहते हैं; परन्तु यहाँ स्वभाव व्यंजनपर्याय की बात नहीं लेनी है। अहा...! सिद्ध को असंख्यप्रदेशी आकार तो है; परन्तु वह शुद्ध है। इसलिए यहाँ उसकी बात नहीं ली है तथा सिद्ध को अर्थपर्याय भी शुद्ध है, उसकी बात भी यहाँ नहीं लेनी है। भाई! जरा ध्यान रखकर समझना, क्योंकि यहाँ थोड़े में बहुत तत्त्व रख दिया है।

अहा! आत्मा, वस्तु है या नहीं ? है, तो वस्तु है तो उसका आकार भी है — ऐसा कहते हैं। अहा! संसारदशा में उस आकार की विभावव्यंजनपर्याय है। भाई! यह वस्तु की स्थिति है। अहा! वस्तुस्थिति की ऐसी व्याख्या वीतराग अरहन्त के मत के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। तो कहते हैं कि वस्तु का आकार प्रकट है। पहले गाथा १५ में

आया था कि घट-पट की तरह व्यंजनपर्याय चक्षु के द्वारा दिखती है। देखो न, यह शरीर की अवगाहना प्रमाण आकार दिखता है न? जबकि अर्थपर्याय सूक्ष्म है।

यहाँ कहते हैं कि जो शुद्ध त्रिकाली द्रव्य ध्रुववस्तु है। उसको जाननेवाले नय के बल से...देखो! 'बल से' — ऐसा शब्द इसमें रखा है अर्थात् इस नय की अपेक्षा से 'पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से' — यहाँ व्यंजनपर्याय से आशय विकारी व्यंजनपर्याय से है, आत्मा के प्रदेशों के विकारी आकार की बात है। जैसे कि इस शरीर प्रमाण जीव का अंदर जो आकार है वह विकारी आकार है। (व्यंजन=प्रकट — बाह्य आकार) भाई! यह वस्तु की स्थिति है। यह वस्तुस्थिति सर्वज्ञ परमेश्वर ने ही जानी और कही है। यह बात अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

अहा! आत्मा असंख्यप्रदेशी चैतन्यप्रभु अनंत गुणों का पिण्ड है। उन अनंत गुणों का परिणमन, वह अर्थपर्याय है; जबकि प्रदेशत्व गुण का जो आकार का परिणमन है वह व्यंजनपर्याय है और संसारदशा में वह व्यंजनपर्याय विभावरूप है। यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वह विभाव व्यंजनपर्याय दोनों को (संसारी और सिद्ध को) नहीं है। यद्यपि (पर्याय से देखने पर) संसार में विभाव व्यंजनपर्याय है अवश्य, परन्तु शुद्धद्रव्य का आश्रय लेने से जो ध्रुव जानने में आता है उसमें—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय में वह व्यंजनपर्याय नहीं है। अहा! सिद्ध को तो वह विभावव्यंजनपर्याय (पर्यायरूप भी) नहीं है; परन्तु संसारी को भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से वह विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा...! यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से... पूर्व में (गाथा १५ में) चार व्यंजनपर्याय आई थीं न? देव, नारक, मनुष्य और पशु। तो उनके प्रदेशों का आकार...इस अरूपी जीव को भी प्रदेशों का आकार है — ऐसा कहते हैं। अब यह सब सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहाँ है?

वस्तु है तो उसका क्षेत्र भी होता है। अहा! वस्तु-द्रव्य हो तो उसका क्षेत्र भी होता है, उसका काल भी होता है और उसका भाव भी होता है। तो उसका जो क्षेत्र है, वह उसका आकार होता है। अहा! ऐसी वस्तु की मर्यादा है और उसके द्वारा वस्तु की पर से पृथक्ता है। आशय यह है कि आत्मा के असंख्यप्रदेशी आकार को व्यंजनपर्याय कहते हैं।

अब यहाँ कहते हैं — संसार की अपेक्षा से जो विभाव व्यंजनपर्याय (नर, नारक आदि) है, वह शुद्धनय की दृष्टि से है ही नहीं। अहा! शुद्धनय की दृष्टि से सिद्ध को वह पर्याय नहीं है और संसारी को भी नहीं है। मूल में तो कहना यह है कि वह पर्याय संसारी को भी नहीं है; क्योंकि सिद्ध को तो वह है ही नहीं। इसलिए कहते हैं कि मुक्त-अमुक्त समस्त जीवराशि पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से सर्वथा अव्यतिरिक्त अर्थात् रहित ही है।

देखो, फिर यहाँ तो 'सर्वथा' कहा है। 'शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से' - ऐसी बात है न! इसलिए उसमें 'कथंचित्' नहीं आता। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से तो समस्त जीवराशि उससे सर्वथा व्यतिरिक्त-रहित ही है, भिन्न ही है। अहा! शुद्ध सत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय से संसारी जीव के भी विभावव्यंजनपर्याय-आकार है ही नहीं; परन्तु वह रहित ही है। अर्थात् वह शुद्ध जीवतत्त्व व्यवहार से (पर्याय से-व्यंजनपर्याय से) पृथक् है - ऐसा कहते हैं। अहो कैसी शैली है!

अहा! संसारी जीव को अशुद्धता और विभावव्यंजनपर्याय है अवश्य। अहा! वे दोनों पर्यायनय का विषय है और वह पर्यायरूप है, परन्तु उसकी त्रिकाली ध्रुव सत्ता की-शुद्ध चिन्मात्रवस्तु भगवान आत्मा की दृष्टि से देखने पर वह है नहीं — ऐसा कहते हैं।

'क्यों ? सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया (शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं) — ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से।' अहा! यह शास्त्र का (द्रव्यसंग्रह गाथा १३) का वचन है कि शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं। यहाँ विभाव व्यंजनपर्याय का अभाव बतलाना है। यानी कि वस्तु अंदर शुद्ध है तो उसमें विभाव व्यंजनपर्याय-विकारी आकार कहाँ से आये ? यह कहना है। यहाँ मुख्यरूप से जीव की बात है; क्योंकि आकाशादि को तो सदा शुद्ध व्यंजनपर्याय होती ही है। अहा! आकाश सर्वव्यापक है न! तो उसके प्रदेशों की व्यंजनपर्याय प्रकट आकार भी है और वह सदा शुद्ध है। इसीप्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल के भी सदा शुद्ध आकार है। मात्र एक पुद्गल के और दूसरे संसारी जीव के विकारी व्यंजनपर्याय होती है। परन्तु यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय से 'शुद्ध' की दृष्टि से संसारी को भी विकारी व्यंजनपर्याय नहीं है।

अहा! यह जीव अधिकार है न! इसलिए इसमें जीव की मर्यादा का वर्णन चलता है कि जीव की वस्तुस्थिति यह है। क्या ? कि जीव को संसारदशा में विभाव

व्यंजनपर्याय-विकारी आकार है। अहा! ऐसा पर्यायनय का विषय है। संसारी के असंख्य प्रदेशों की विकारी पर्याय-विभावरूप प्रकट आकार होने पर भी, शुद्ध सत्ताग्राहक दृष्टि में वह है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। यह कहकर, जीव की सत्ता में त्रिकाली शुद्ध सत्ता भी है और उसकी वर्तमान सत्ता में अशुद्धता भी है - इसप्रकार दोनों सिद्ध करते हैं।

बापू! अब ऐसी बात एक सर्वज्ञ के मत के अलावा अन्यत्र कहाँ है। अकेले द्रव्य को माननेवाले वेदान्तादि में यह बात कहाँ होगी ? तथा अकेली पर्याय को माननेवाले क्षणिकवादी बौद्ध में भी यह बात कहाँ होगी ?

अहा! असंख्य प्रदेशी अनंत आत्मायें एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं और उन प्रत्येक को संसार में विभावरूप आकार है। इसलिए उनको विभावरूप आकार है - ऐसा अस्तित्व पर्यायार्थिकनय से जानना चाहिए। तथा 'उसको पर्यायनय का उपदेश जानना' - ऐसा कहते हैं। दोनों नयों का अवलम्बन लेता उपदेश ग्रहण करना - ऐसा कहा है न ? अहा! कोई अकेला द्रव्यार्थिकनय का ही विषय कहे और पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं कहे, नहीं बताये, लोप करे; तो वह उपदेश ही मिथ्या है। भाई! यह तो वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वरना अन्यप्रकार से वस्तुस्थिति सिद्ध ही नहीं होती।

श्रीमद् राजचंद्र ने भी एक पत्र में कहा है कि प्रत्येक पदार्थ की व्याख्या अपन चारप्रकार से कर सकते हैं - उसके द्रव्य से, उसके क्षेत्र से, उसके काल से और उसके भाव से। इसप्रकार उन्होंने वस्तु की स्थिति का ज्ञान कराया है। यदि आत्मा के लिए भी वे चार बोल उतारें तो वे जाननेयोग्य हैं - **द्रव्य** - आत्मा का त्रिकाली ध्रुवद्रव्य, वह द्रव्य है। **क्षेत्र** - उसका त्रिकाल असंख्यप्रदेशी क्षेत्र, वह क्षेत्र है। उसका आकार संसार में विकारी है अर्थात् प्रकट व्यंजनपर्याय संसार में विकारी है, जबकि सिद्ध को वह निर्विकार शुद्ध है। **काल** - आत्मा की एकसमय की अवस्था वह काल है तथा **भाव** - उसके त्रिकाल शुद्ध गुण है, वह भाव है। इसप्रकार जीववस्तु का स्वरूप है। भाई! द्रव्य और पर्याय से जीव का ऐसा स्वरूप है; इसलिए वे दोनों जाननेयोग्य हैं; परन्तु एक भी नय का निषेध करनेयोग्य नहीं है। यहाँ, संसारी को भी विकारी व्यंजनपर्याय नहीं है - ऐसा जो कहा है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के जोर से कहा है; क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय पर्याय नहीं है, त्रिकाली शुद्धद्रव्य ही उसका विषय है।

भाई! आत्मा...आत्मा...आत्मा — ऐसा तो सब कहते हैं; परन्तु आत्मा असंख्यप्रदेशी है और संसार में उसका विभावरूप आकार है — यह वर्णन सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहाँ है ? इसीलिए तो मुनिराज कहते हैं कि दो नयों का अवलम्बन लेता उपदेश जाननेयोग्य है। भले ही व्यवहारनय का विषय हो; परन्तु वह जानना तो चाहिए न ? जाने बिना हेय किसको करेगा तथा जो है, वह हेय होता है न ? या जो नहीं हो वह हेय होता है; इसलिए जो पर्याय को ही स्वीकार नहीं करे-नहीं जाने, वह आत्मा के असंख्यप्रदेशी विभाविक आकार को भी स्वीकार नहीं करता-नहीं जानता; इसलिए वह जो कुछ कहता है। वह सब मिथ्या एकांत ही होता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तु की स्थिति-मर्यादा जानता ही नहीं है।

यह जीव अधिकार की अन्तिम गाथा होने से इसमें दोनों पहलुओं से वस्तुस्थिति स्पष्ट की है।

कहते हैं कि शुद्धनय से सर्व जीव वास्तव में शुद्ध हैं — ऐसा शास्त्र का वचन होने से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के बल से संसारी को भी विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है। इसप्रकार यहाँ तक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की बात की है। बापू! बात ऐसी सूक्ष्म है। अब दूसरा नय कहते हैं —

“विभाव व्यंजनपर्यायार्थिक नय के बल से वे सर्व जीव (पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से) संयुक्त है।”

अहा! यह भाषा देखो! आत्मा के असंख्य प्रदेश में कर्म के निमित्त संबंध से जो आकार का विभावपना है वह अपने में अपने कारण से है अर्थात् वह अपनी ही स्थिति है — ऐसा कहते हैं। अहा! वह कर्म के कारण है — ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि विभावव्यंजनपर्याय का अस्तित्व-होनापना जीव की अपनी सत्ता के कारण स्वयं में है और वह जीव की मर्यादा है।

देखो, ‘सर्वजीव’ कहा है। अर्थात् सिद्ध भगवान का जीव भी विभाव व्यंजनपर्याय से सहित है — ऐसा कहते हैं।

वह किसप्रकार ?

भाई! सिद्ध के जीव की पर्याय भी पूर्व में (संसार अवस्था में) विभाव व्यंजनपर्याय-रूप थी न ? अभी नहीं है; परन्तु पूर्व में थी, उसको यहाँ गिनती में लेकर कहते हैं

कि सिद्ध का जीव भी विभाव व्यंजनपर्याय से सहित है। अहा! मुनिराज का कथन कितना गंभीर है।

भगवान सिद्ध को भले ही अभी वैभाविक आकार नहीं हो, क्योंकि अभी तो शुद्ध आकार है; परन्तु अभी उसको (शुद्ध आकार को) गिना नहीं है; अपितु पूर्व में उनको जो विभावव्यंजनपर्याय-वैभाविक आकार था, उसकी बात करनी है; इसलिए उसको लक्षगत करके कहते हैं कि — विभावव्यंजनपर्यायार्थिक नय के बल से सर्व जीव पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से संयुक्त है। अहा! संसारी और सिद्ध-सभी जीव विभाव-आकार से सहित है। अहा! अकेले संसारी नहीं, सिद्ध भी विभावव्यंजन-पर्यायों से सहित है। किस अपेक्षा से? भूत-नैगमनय के बल से। अहा! ऐसा ही जीव की पर्याय का स्वरूप है। अब कहते हैं —

“विशेष इतना कि सिद्ध जीवों के अर्थपर्यायों सहित परिणति है; परन्तु व्यंजनपर्यायों सहित परिणति नहीं है।”

देखो, सिद्ध को अनंतगुणों की शुद्ध अर्थपर्यायें हैं, परन्तु प्रदेशत्वगुण की-आकृति की-विभाव व्यंजनपर्याय सिद्ध को नहीं है; इसलिए कहते हैं सिद्ध को व्यंजनपर्याय सहित परिणति नहीं है। सिद्ध को व्यंजनपर्यायें नहीं है; क्योंकि उनके विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है। यहाँ व्यंजनपर्याय से आशय विभाव व्यंजनपर्याय समझना चाहिए। अहा! जिसका (जिस गुण का) जो अंश विभाविकरूप है उसको यहाँ सिद्ध करते हैं। अहा! वस्तु की मर्यादा-स्थिति और उसकी सत्ता को कैसी शैली से सिद्ध करते हैं! भाई! त्रिकाली सत्ता और उसकी पर्याय की अशुद्धता की सत्ता भी उसकी (वस्तु की) मर्यादा है। अहा! क्षण-क्षण की जो आकृति-आकार होती है वह भी वस्तु की मर्यादा है। इसलिए जहाँ ऐसी बात नहीं है, वहाँ एक ही नय का कथन है। वह कथन ग्रहणयोग्य नहीं हैं।

अहा! संसार अनादि-सांत है। वस्तु-जीव द्रव्य अनादि-अनंत है, परन्तु उसका संसार अनादि-सांत है और वहाँ तक ही उसको विभाव व्यंजनपर्याय होती है — ऐसा यहाँ कहते हैं। वह विकार है न! कर्म के निमित्त से प्रकट आकार है, इसलिए विकार है, विभावरूप है अर्थात् विभाव व्यंजनपर्याय है। तो उस विभाव व्यंजनपर्याय सहित परिणति सिद्ध को नहीं है।

‘क्यों ?’ तो कहते हैं — ‘सिद्ध जीव सदा निरंजन होने से।’

अहा! भगवान सिद्ध सदा निरंजन-निर्विकार होने से उनको विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है। अहो! कैसी गजब शैली से वस्तु को सिद्ध करते हैं!

अहा! एक ओर जो ऐसा कहा कि —

- जीव में असंख्यप्रदेश हैं तथा
- उनका समय-समय का आकार विभावरूप भी होता है तथा
- शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के बल से संसारी को भी विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है।
- विभाव व्यंजनपर्यायार्थिक नय के बल से सिद्ध को भी विभाव व्यंजनपर्यायों से सहितपना है। विशेष इतना कि —
- सिद्ध को विभाव व्यंजनापर्यायों सहित परिणति नहीं है।

अहो! वस्तु की स्थिति का कैसा वर्णन किया है! अहा! वस्तु का ऐसा स्वरूप जैन सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग सिवाय अन्यत्र कहीं हो ही नहीं सकता। अहा! यहाँ जीव अधिकार में यह बात करके सम्पूर्ण वस्तु की स्थिति का सुस्पष्ट वर्णन कर दिया है। अहो! मुनिराज की गजब शैली है!

अहा! वस्तु-जीव का अधिकार ही नहीं होवे तो प्रदेशत्वगुण ही सिद्ध नहीं होता और तब तो संसार में जो उसका विभावरूप आकार है, वह भी सिद्ध नहीं होता। अरे! वस्तु ही सिद्ध नहीं होती।

फिर कहते हैं — सिद्ध को अन्य गुणों का परिणमन होता है, अर्थपर्यायों सहित सिद्ध की परिणति होती है; परन्तु सिद्ध को व्यंजनपर्यायों सहित परिणति नहीं होती। अर्थात् विभावव्यंजनपर्याय जीव को संसारदशा में ही होती है; परन्तु भगवान सिद्ध को वह नहीं होती। क्यों? सिद्ध नित्य निरंजन होने से। बापू! ऐसी गंभीर बात है।

“(प्रश्न :—) यदि सिद्ध जीव सदा निरंजन है तो सर्व जीव द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयों से संयुक्त है (अर्थात् सर्व जीवों को दोनों नय लागू होते हैं) ऐसा सूत्रार्थ (गाथा का अर्थ) व्यर्थ सिद्ध होता है।”

क्या कहते हैं ? प्रश्न समझ में आया या नहीं ? आपने कहा था कि सभी जीव दोनों नयों से सहित है और फिर यहाँ सिद्ध को विभाव व्यंजनपर्याय सहित परिणति नहीं है — ऐसा कहकर आप ही उनको निकाल देते हो, तब सभी जीव दोनों नयों सहित है — ऐसी आपकी बात कहाँ रही ? अहा! सभी जीव वस्तु-द्रव्यरूप से और पर्यायरूप से दोनों नयों से सहित ही है और इसलिए सभी जीव व्यंजनपर्याय सहित हैं — ऐसा तुमने कहा था; जबकि अब तुम तो ऐसा कहते हो कि सिद्ध को वह विभाव व्यंजनपर्याय नहीं है, इससे तो तुम्हारे द्वारा किया हुआ सूत्र का अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है — ऐसा प्रश्न है।

“(उत्तर :— व्यर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि) निगम अर्थात् विकल्प; उससे हो वह नैगम। वह नैगमनय तीन प्रकार का है — भूतनैगम, वर्तमाननैगम और भावी-नैगम। यहाँ भूतनैगमनय की अपेक्षा से भगवन्त सिद्धों को भी व्यंजनपर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भवित होता है, क्योंकि पूर्वकाल में वे भगवन्त संसारी थे — ऐसा व्यवहार है। बहु कथन से क्या ? सर्व जीव दो नयों के बल से शुद्ध तथा अशुद्ध हैं — ऐसा अर्थ है।”

देखो, यह प्रश्न का समाधान! कहते हैं — हमारा कहा हुआ सूत्रार्थ व्यर्थ सिद्ध नहीं होता। क्यों ? क्योंकि वह विभाव व्यंजनपर्याय सिद्ध को पूर्व में थी, इसकारण उसका उपचार करके, सिद्ध को वह वर्तमान में है — ऐसा यहाँ कहा गया है। दूसरे प्रकार से कहें तो, पूर्व में सिद्ध को संसार पर्याय-विकारपर्याय नहीं थी — ऐसा नहीं है; अपितु वह पूर्व में थी ही। इसप्रकार जीव की पर्याय की स्थिति सिद्ध करते हैं।

अहा! संसारी जीव को वर्तमान में ही विकारीपर्याय है; परन्तु सिद्ध को वह वर्तमान में नहीं है। सिद्ध को वर्तमान में तो परिपूर्ण शुद्ध ही पर्याय है। तथापि सिद्धभगवान भी पर्यायनय से विभाव व्यंजनपर्याय से सहित होते हैं — ऐसा जो कहा गया है, उसका समाधान यह है कि-पूर्व में (संसार अवस्था में) सिद्ध के जीव को भी विकारी आकार की पर्याय थी और उसको लक्ष में लेकर, उस अपेक्षा से वे उससे सहित हैं— ऐसा कहा गया है। अहा! इसप्रकार यहाँ जीव की पर्याय की स्थिति सिद्ध की गई है; परन्तु यह जानकर फिर आश्रय तो त्रिकाली ध्रुव द्रव्य का ही लेना है। अहा! ज्ञान दोनों का करना है; क्योंकि ज्ञान तो वस्तु जैसी है वैसा जानता है न, अन्यथा नहीं

जानता; परन्तु धर्मी पुरुष आश्रय तो त्रिकाली ध्रुव द्रव्य का ही लेता है। उसको ध्रुव का ही शरण है।

अहा! यहाँ कहते हैं — भगवान सिद्ध का जीव भी पूर्व में संसार अवस्था में था। वे पूर्व में भी सिद्ध ही थे — ऐसा नहीं है, वे भी पूर्व में संसारी ही थे और तब वे विकाररूप थे। तब आत्मा का आकार भी कर्म के संबंध से विकाररूप था; परन्तु फिर कर्म का संबंध छूट गया और वे स्वभावरूप हो गये; इसलिए पूर्व की अपेक्षा से, भूत-नैगमनय से उनको विभाव व्यंजनपर्याय कही जाती है।

भूतनैगमनयादि का अर्थ फुटनोट में इसप्रकार दिया है —

“जो भूतकाल की पर्याय को वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे, भविष्यकाल की पर्याय को वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे) अथवा किंचित् निष्पन्नतायुक्त और किंचित् अनिष्पन्नतायुक्त वर्तमान पर्याय को सर्व निष्पन्नतावत् संकल्पित करे (अथवा कहे) उस ज्ञान को (अथवा वचन को) नैगमनय कहते हैं।”

देखो, भूतकाल की अवस्था को वर्तमानवत्, मानों कि वह अभी ही है — ऐसा संकल्पित करे अथवा कहे वह नैगमनय है। (जैसे कि भगवान आदिनाथ को अभी भी तीर्थंकर कहना।)

इसीप्रकार भविष्यकाल की अवस्था को वर्तमानवत्, मानों कि वह अभी ही है — ऐसा संकल्पित करे अथवा कहे वह भी नैगमनय है। जैसे कि कोई मोक्षमार्गी, जोकि अभी सिद्धदशा को साधता है, उसको सिद्ध करना। प्रवचनसार में, मोक्ष नहीं होने पर भी उसको इस नय से मोक्षतत्त्व कहा है। तथा —

कुछ निष्पन्न और कुछ अनिष्पन्न ऐसी वर्तमान अवस्था को सर्वनिष्पन्नवत्, सम्पूर्ण निष्पन्न हो गई कहना-जानना भी नैगमनय है। जैसे कि चूल्हे पर चावल चढ़ रहे हों उन्हें बन गये हुए चावल कहना सो नैगमनय है।

इस अनुसार, एक प्रकार से नहीं अपितु बहुत प्रकार से जिसमें कथन हो वह नैगमनय है। वह नैगमनय तीन प्रकार का है — भूतनैगम, वर्तमाननैगम और भावीनैगमनय। यहाँ भूतनैगमनय की अपेक्षा से भगवान सिद्ध को भी व्यंजनपर्यायवानपना है और अशुद्धपना संभवित है।

अभी सिद्ध को अशुद्ध व्यंजनपर्याय है — ऐसा भूतनैगमनय के बल से कहा गया है। अहा! वस्तु की स्थिति किसप्रकार स्पष्ट करते हैं वह तो देखो! भले ही अभी सिद्ध को विभावरूप आकृति नहीं है, परन्तु पूर्व में असंख्यप्रदेशों की विभावरूप आकृति थी। इसकारण पूर्व की अवस्था का आरोप करके, उनको वह अभी है — ऐसा भूत-नैगमनय के बल से कहा जाता है। सिद्ध को विभाव व्यंजनपर्याय नाश हो गई होने पर भी वह वर्तमान में है — ऐसा नय से (भूतनैगमनय से) कहा जाता है।

यहाँ तीनों काल की पर्याय का स्वरूप बताकर जीव में आकार की विकारी पर्याय को सिद्ध करते हैं और ऐसी बात सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। अहा! भगवान सिद्ध को वर्तमान में व्यंजनपर्याय शुद्ध है, इसलिए उनका छोटा-बड़ा आकार नहीं होता, और इसीकारण उनको व्यंजनपर्याय नहीं गिनी है; परन्तु उनको पूर्व में व्यंजनपर्याय में छोटा-बड़ा आकार था। जैसे प्रत्येक संसारी जीव की व्यंजनपर्याय में फेरफार होता है; उसीप्रकार पूर्व में सिद्ध के जीव को भी व्यंजनपर्याय में फेरफार होता था। अतः उसको लक्ष्य में लेकर पूर्व की विभावरूप व्यंजनपर्याय का आरोप करके वह वर्तमान में है — ऐसा नैगमनय से कहा जाता है, इसलिए कहा कि सिद्ध को पूर्व में व्यंजनपर्याय-आकृति की पर्याय विकारी थी; परन्तु अभी वह अशुद्ध नहीं होने पर भी, पूर्व की पर्याय का आरोप करके, अभी विभाव व्यंजनपर्याय है — ऐसा कहा जाता है। लो, अब ऐसी वस्तु है, उसमें सबका समन्वय कैसे किया जा सकता है।

अहा! सर्वज्ञस्वभावी भगवान ने यह सब देखा है और टीका में भी कहा है न कि भगवान अर्हत् परमेश्वर ने दो नय कहे हैं, इसलिए उनके सिवाय-उनको छोड़कर अन्यत्र कहीं ऐसी बात नहीं है और न हो ही सकती है। सर्वज्ञपना एक समय में तीनकाल और तीनलोक को जानता है और प्रत्येक जीव की ऐसी ही शक्ति है। अतः जिनको वह शक्ति प्रगट हुई है उन सर्वज्ञपरमेश्वर ने ऐसा वस्तु का स्वरूप देखा है और वस्तु का स्वरूप इसीप्रकार हो सकता है। अन्यथा प्रकार से वस्तु साबित ही नहीं हो सकती।

यहाँ कहते हैं — भगवान सिद्ध को वर्तमान में विभाव व्यंजनपर्याय है और अशुद्धता भी है — ऐसा भूतनैगमनय के बल से कहा जा सकता है; क्योंकि पूर्व में वे अशुद्ध थे न ? अतः अभी भी वैसे हैं — ऐसा भूतनैगमनय से कहा जाता है। जैसे जो भविष्य में राजा होनेवाला हो, उसको अभी राजा कहा जाता है और कोई राजापने से परिच्युत

हो गया हो-राज्यपना अन्य को सौंप दिया हो तो भी उसको राजा कहते हैं; उसीप्रकार पूर्व की संसारी दशा में सिद्ध को आकृति की विकारी पर्याय थी, भले ही अभी वह नहीं है तो भी, भूतकाल की अपेक्षा लेकर, वर्तमान में वह है — ऐसा कहा जाता है। अब ऐसी बात, अध्यात्म की बात के साथ मुनिवरों ने-कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी यहाँ की है; तो भाई! उसको जानना तो चाहिए न! अहा! अंदर जैसा वस्तु की पर्याय का अंश है व पर्याय का जैसा स्वभाव है, वैसा उसको नक्की तो करना पड़ेगा — ऐसा कहते हैं। अहा! वस्तु तो जो है, वही है; परन्तु वह चीज ऐसी है — ऐसा अपने ज्ञान में यथातथ्य न आवे तो फिर उसका सहारा-आश्रय किसतरह ले सकता है ?

अहा! यह नियमसार (मोक्षमार्ग) है न? इसलिए जैसा असंख्य प्रदेशी भगवान आत्मा है वैसा यहाँ वर्णन करते हैं। देखो, श्रीमद्जी ने भी आत्मसिद्धि में कहा है न कि 'शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन.....' तो वहाँ यह कहा है कि भगवान आत्मा चैतन्यघन है, असंख्य प्रदेशी है। उसके एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का अभाव है; इसलिए असंख्य प्रदेश सिद्ध होते हैं। आत्मा के वे असंख्यप्रदेश हैं तो अखण्ड; कहीं कोई प्रदेश पृथक् पड़ जाए — ऐसा नहीं है, तो भी वह भिन्न है। क्यों ? क्योंकि यदि एव (प्रदेश में) दूसरे का अभाव नहीं होवे तो असंख्य प्रदेश सिद्ध नहीं हो सकते। यह बात प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में है। अहा! यह सब जानकर उसको झुकना और ठहरना तो अखण्ड ध्रुवद्रव्य में ही है; परन्तु द्रव्य पर झुकने में यदि पर्याय का सत्यपना (सत्पना) ही ज्ञान में न होवे तो अर्थात् उसकी व्यंजनपर्याय जिसप्रकार विकारी या अविकारी है, उसका सच्चाज्ञान न होवे तो, वह स्वभावसन्मुख झुक-ढल सकेगा ही नहीं।

यहाँ कहते हैं — 'क्योंकि पूर्वकाल में वे भगवान संसारी थे — ऐसा व्यवहार है।' सिद्ध भी पूर्व में संसारी थे, इसलिए यह व्यवहार है।

प्रश्न :- परन्तु सिद्ध तो अनादि के हैं न ?

उत्तर :- सुन! अनादि के हैं — यह बात तो सामान्य अपेक्षा से है; परन्तु जहाँ व्यक्तिशः नये सिद्ध होते हैं — ऐसी बात है, वहाँ तो वे पहले संसारी थे और नये सिद्ध हुए — ऐसा कहलाता है। अतः कहते हैं कि पूर्वकाल में वे भगवंत संसारी थे और इस कारण यह व्यवहार है। यानी कि सिद्ध पहले अशुद्ध थे, इसलिए वे अभी अशुद्ध हैं — ऐसा कहने का व्यवहार है।

यह तो भक्ति में आता है न कि हे भगवान! अभी आप महान होकर विराजमान हो; परन्तु अज्ञानदशा में अपना सब साथ खेलते थे वह क्या आप भूल गये ? हे प्रभु! बालपने में (अज्ञानपने में) अपन निगोदादि में साथ रहे थे, वह क्या आप भूल गये? ऐसा भक्ति में (भक्तिवश) आता है न ? तो भक्ति में ऐसा कहकर, सिद्ध को पूर्व में अज्ञानदशा थी — ऐसा सिद्ध करते हैं और इसकारण उनको वर्तमान में अज्ञानदशा है, यह कहने का व्यवहार है — ऐसा कहते हैं।

‘बहुकथन से क्या ? सर्व जीव दो नयों के बल से शुद्ध तथा अशुद्ध हैं — ऐसा अर्थ है।’

अहा! अशुद्ध आकृति और मलिनता की जैसी स्थिति पूर्व में थी, वह सिद्ध करके, सिद्ध दशा में भी वह वर्तमान में है — ऐसा आरोप करके कहा और इसप्रकार दो नयों के बल से सभी जीव ऐसे शुद्ध-अशुद्ध हैं — ऐसा कहते हैं। बापू! ऐसी गंभीर बात है। अब कहते हैं —

“इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि —

दोनों नयों के विरोध को नष्ट करने वाले, स्यात्पद से अंकित जिनवचन में जो पुरुष रमते हैं.....”

अहा! स्यात्पद की मुद्रावाली भगवान केवली की वाणी अर्थात् वाणी का भाव दोनों नयों के विरोध को नष्ट कर देता है। स्यात्पद माने क्या ? स्यात्पद अर्थात् कथंचित्, किसी अपेक्षा से कहना। अहा! जिनवचन अपेक्षा दर्शाकर दोनों नयों के विरोध को मिटा देता है। अहा! द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है और पर्यायार्थिकनय से, पर्याय से देखने पर, पर्याय में अशुद्धता है, विकार है तथा सिद्ध को निर्विकार शुद्धता है तो भी पूर्व में अशुद्धता थी, उस अपेक्षा से अशुद्धता है — ऐसा कथंचित् कहा जाता है। इसप्रकार स्यात्पद से अंकित जिनवाणी सर्व विरोध को मिटा देती है।

इसलिए ‘ऐसे जिनवचनों में जो पुरुष रमते हैं.....’ जिनवचनों में रमते हैं अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के कहे हुए भाव में रमना यानी भगवान के द्वारा कहा हुआ शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय, जो शुद्ध चिन्मात्रवस्तु एक ज्ञायकभाव है, उसमें एकाग्र होकर उसका ही अभ्यास करना, वह जिनवचन में रमना है।

अतः जिनवचन में अर्थात् वीतरागीभाव में भगवान् जिनेश्वरदेव कथित अखण्ड एक ध्रुव ज्ञायकभाव में जो पुरुष रमते हैं — ‘वे स्वयमेव मोह का वमन करके.....’

अहाहा.....! कहते हैं — वे स्वयमेव-स्वयं ही मिथ्यात्व का वमन कर देते हैं। अहा! पर्याय में विकार-विभाव होने पर भी, जो भगवान् ज्ञानस्वरूप निज आत्मा में एकाग्र-अन्तर्लीन होते हैं, वे अपने आप ही दूसरे अन्य किसी कारण के बिना ही मिथ्यात्व का वमन कर देते हैं। (अर्थात् वे सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं।)

अहाहा...! पूर्व के ३४वें कलश में आया था न कि ‘हमारे आत्मस्वभाव में विभाव नहीं है; इसलिए उसकी हमको चिन्ता नहीं है’ और यहाँ भी जिसको आत्मा को भान हुआ है, उसकी बात है न ? इसलिए कहते हैं कि पर्याय में विकार और विभाव है, तथापि पूर्णानन्दस्वरूप भगवान् आत्मा का परमभाव ऐसा जो स्वभाव है, उसके भान में-दृष्टि में, विभाव असत् है। अहा! नित्यानन्द ध्रुववस्तु में विभाव नहीं है और वस्तु की दृष्टि में भी विभाव नहीं है। पर्याय में विभाव सत् है तो भले हो; परन्तु जिसको निजस्वभाव का भान हुआ है कि वह स्वभाव तो चैतन्य...चैतन्य...चैतन्य — ऐसा ज्ञानमूर्ति ध्रुव है; वह कहता है कि हमारे स्वभाव में विभाव कैसा ?

अहा! मुनिराज कहते हैं कि हमको स्वभाव की दृष्टि हुई है, इसलिए हमको विभाव की चिन्ता नहीं है। अहा! हमने शुद्ध चिदानन्दघन निज प्रभु को जाना है और उसमें विभाव असत् है; इसकारण हमको विभाव की चिन्ता नहीं है अर्थात् अब हमको संसार ही नहीं है — ऐसा कहते हैं। अहा! अब हमको कहाँ भव करना पड़ेगा और कहाँ जाऊँगा — ऐसी कोई चिन्ता हमको नहीं है; क्योंकि हम तो निज परमभाव स्वभाव में हैं और वहाँ ही रहूँगा-रमूँगा-ठहरूँगा।

तो कहते हैं — ‘वे स्वयमेव मोह को वमन करके, अनूतन (अनादि) और कुनय के पक्ष से खण्डित न होनेवाली — ऐसी उत्तम परमज्योति को-समयसार को शीघ्र देखते ही हैं।’

अहाहा! चैतन्य की परमज्योति, ज्ञान की जगमग ज्योति — ऐसा भगवान् आत्मा अनूतन है अर्थात् वह नया नहीं हुआ है; अपितु वह पुराण पुरुष अनादि से है, है और है ही तथा वह कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता अर्थात् कोई एकांत कहता हो कि

द्रव्य नहीं, पर्याय ही है या पर्याय नहीं, द्रव्य ही है, तो ऐसे कुनय से वह खण्डित नहीं होता तथा यहाँ उसको ज्योति कहा है न ? सो वह संसार को जलाकर भस्मीभूत कर दे — ऐसी उत्तम ज्योति है।

तो कहते हैं — वे पुरुष, मोहरहित होकर, उत्तम चैतन्यज्योतिरूप निजसमयसार को शीघ्र ही देखते हैं अर्थात् वे अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अहा! 'शीघ्र ही देखते हैं' — ऐसा कहा है। अहा! जो पूर्णानंद स्वरूप निजभगवान आत्मा का और अपूर्ण तथा विकारी दशा का दोनों का यथार्थ ज्ञान करके पूर्ण चिदानंद घनस्वरूप में ढलते हैं, रमते हैं, लीन होते हैं, अहाहा! स्वभाव के साथ जिन्होंने रमत की है, उनको मोह का-मिथ्यात्व का नाश होकर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त होती है।

अहा...! जो उत्तमज्योति-परम चैतन्यज्योति नहीं थी और (नई) हुई है — ऐसा नहीं है। वह तो अनादि से ऐसी की ऐसी ही विद्यमान है तथा वह कभी भी कुनय से खण्डित नहीं होती। कुनय से-मिथ्यापक्ष से खण्डित हो — ऐसी वह चीज ही नहीं है। अतः जो जिनवचन में रमते हैं अर्थात् भगवान ज्ञायक में एकाग्र-लीन होते हैं, वे शीघ्र ही उस परमज्योति को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे अल्पकाल में ही केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। अहा! अन्तरस्वभाव की बातें ऐसी हैं!

कलश-३६ पर प्रवचन

“जो नयों के संबंध का उल्लंघन न करते हुए परमजिन के पादपंकजयुगल में मत्त हुए भ्रमर समान है.....”

अहा! द्रव्य, द्रव्यरूप से त्रिकाल ध्रुव है और पर्याय, पर्यायरूप से वर्तमान है; वे दोनों होकर एकसमय में पूर्ण वस्तु है, जो ऐसी वस्तुस्थिति को यथार्थ जानते हैं, वे दोनों नयों के संबंध का उल्लंघन नहीं करनेवाले सत्पुरुष हैं अर्थात् सत्पुरुष दो नयों के विषय का उल्लंघन नहीं करते; अपितु वस्तु को दो नयों की युक्ति द्वारा जैसे हैं, वैसे यथार्थ जानते हैं तथा वे परमजिन अर्थात् भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव के चरणकमल में मत्त हुए भ्रमर के समान हैं। अहा! धर्मी संतपुरुष भगवान वीतरागदेव के चरणकमल में मत्त हुए भ्रमर के समान है।

अहा! भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव को, अंदर में जैसी पूर्ण सहजशक्ति थी, वह पर्याय में व्यक्त-प्रगट हुई है। तो ऐसे पूर्ण परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित दो नयों की युक्ति का उल्लंघन नहीं करते हुए, दोनों नयों की जैसा है, वैसा यथातथ्य जानते हुए-धर्मी सत्पुरुष परम योगीश्वर जिनपरमात्मा के चरणकमल में मत्त हुए भ्रमर के समान हैं। आशय यह है कि भगवान को जैसी पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता पर्याय में प्रगट हुई है, उसीप्रकार अंदर में अपना भी पूर्ण सहजवीतराग और सर्वज्ञस्वभाव है — ऐसा जानकर, सत्पुरुष निज वीतरागस्वभाव में भ्रमर की तरह लीन होते हैं। अहा! जैसे भ्रमर फूल के रस में लीन होता है; उसीप्रकार सत्पुरुष भगवान आत्मा के चिदानंदघन स्वभाव में 'यह मैं हूँ' — ऐसी प्रतीति सहित मत्त होकर लवलीन होते हैं।

अतः भगवान द्वारा कथित मार्ग में रहने वाले 'ऐसे जो सत्पुरुष वे शीघ्र समयसार को अवश्य प्राप्त करते हैं।'

यह तो समयसार में भी आया था न कि 'सर्वनयों का कथंचित्पना स्वीकार करके...' अहा! विभावनय से आत्मा विभावरूप है; क्योंकि पर्याय में विभाव है; इसलिए विभावनय से विभाव असत् नहीं है; क्योंकि तब तो व्यवहारनय ही नहीं होगा। इसलिए दोनों नयों के द्वारा कथंचित् जिसप्रकार जहाँ व्याख्यान हो, उसको वहाँ उस अनुसार स्वीकार करके, जान करके, जो अपने सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा में रमता है, वह शीघ्र ही अवश्य आत्मा को प्राप्त करता है अर्थात् उसको अल्पकाल में ही पूर्ण आनंद और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

अहा! भगवान के द्वारा कथित दोनों नयों का और उनके विषय का ज्ञान करके, जो निजस्वभाव में-निजपरमभाव में रमता है, वह शीघ्र ही आत्मा को प्राप्त करता है — ऐसा कहना है। भाई! ज्ञान तो दोनों नयों का करना है न ? दो नय हैं और भगवान ने दो नय कहे हैं, अतः दोनों को जानना तो चाहिए न ? परन्तु दोनों को जानकर, शुद्धचैतन्यघन स्वभाव में अर्थात् अनादि-अनंत शुद्ध चैतन्यरस का निजसत्त्व है, उसमें जो रमता है, लीन-लवलीन होता है, वह अवश्य शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त करता है। यहाँ 'रमता है' वह पर्याय हुई और जिसमें रमता है, वह वस्तु-द्रव्य हुआ। इसप्रकार अविरोधरूप से दोनों नय सिद्ध हुए।

अब कहते हैं — ‘क्षितिषु परमतोक्ते किं फलं सज्जनानाम्’ ‘पृथ्वी पर अन्य मत के कथन से सज्जनों को क्या फल है?’

अहा! ऐसा भगवान सर्वज्ञ वीतरागदेव का सुन्दर सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, तो फिर उसको छोड़कर अन्यमत के कथनों के प्रति सज्जन क्यों प्रेरित हों ? अहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो ये दो नय कहे हैं और वस्तु की स्थिति यथातथ्य दर्शायी है; अब यह बात उनके सिवाय पृथ्वी पर प्रवर्तते अन्य मत में तो कहीं है नहीं। न्याय और युक्ति-युक्त वस्तु और मार्ग का स्वरूप अन्यमत में तो कहीं है नहीं। तब अन्यमत के कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है ? कुछ भी लाभ नहीं होता — ऐसा कहते हैं।

अब लोगों को यह थोड़ा कठिन लगता है; परन्तु बापू! यह तो वस्तु की स्थिति-मर्यादा है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है और वस्तु के उस स्वरूप का कथन भगवान सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं है ही नहीं। इसलिए यहाँ कहते हैं कि पर मत के कथनों से सज्जनों को क्या फल है? अर्थात् भगवान सर्वज्ञ के मत से तो सज्जनों को समयसार मिलता ही है, पूर्ण आनंद और केवलज्ञान मिलता ही है; तो फिर अन्य मत से सज्जनों को क्या काम है ? क्योंकि अन्यमत से तो संसार के अतिरिक्त अन्य कुछ फल नहीं है। अन्य मत का फल संसार ही है।

प्रश्न : — इसमें क्या करना ? क्योंकि जैन परमेश्वर ने कहा बस, वही सत्य है— ऐसा मानने से तो पक्ष जो जायेगा ?

उत्तर : — भाई! ऐसा नहीं होता; क्योंकि जैन परमेश्वर ने ही सत्य देखा, जाना और कहा है। अहा! उन्होंने वीतराग भाव से जाना और कहा है, इसलिए भगवान द्वारा कथित बात अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर के वीतरागमार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं यह बात नहीं है। भाई किसी को अच्छा लगे या न लगे, बापू! मार्ग तो यह है।

भाई! वीतराग सर्वज्ञ के सिवाय वस्तु की स्थिति को सत्यार्थ स्वरूप से कौन कह सकता है ? देखो न! इस अन्तिम गाथा में व्यंजनपर्याय की बात कहकर कहना यह है कि ऐसा स्वरूप सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कहीं नहीं है। यह जीव के अस्तित्व में प्रतिसमय आकृति है, उसका कथन करके भी तीनकाल की पर्यायों का अस्तित्व उसमें कैसा है, यह सिद्ध किया है। अब ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है बापू! है ही नहीं; इसीलिए तो कहते हैं कि पृथ्वी पर अन्य मत के कथनों से सज्जनों को क्या फल है ?

अहा! वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित ऐसे द्रव्य-पर्याय के स्वरूप का, जिसको अंतर में भान हुआ है और जो भेदविज्ञान के अभ्यास से निरंतर निजस्वरूप में रमता है; उसको समयसार प्राप्त होता ही है, केवलज्ञान सहित परमानंद की प्राप्ति होती ही है। तब फिर उसको अन्यमत के कथन से क्या फल है ? अर्थात् सत्पुरुषों को अन्यमत के प्रति रुचि होती ही नहीं; क्योंकि उसका फल संसार है। अन्य मत की रुचि-श्रद्धा और अन्यमत के अनुसरण से तो चतुर्गतिरूप संसार ही फलेगा। अतः जिससे संसार फले, ऐसे अन्यमत से सत्पुरुष को क्या काम है ?

अहा....! कहते हैं — '(जगत के जैनेतर दर्शनों के मिथ्या कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है।)'

देखो, इसमें तो जैन के अलावा अन्य दर्शनों के सब कथन मिथ्या हैं — ऐसा कहने हैं। यह अज्ञानी को-अन्य मती को बहुत कठिन लगता है। जो पक्ष में बैठा हो, उसको ऐसा लगता है कि अरे रे! यह क्या कहते हैं ? परन्तु बापू! यह तो वस्तुस्थिति है न भगवान! तू या अन्य कोई जब आत्मा को कहे और यदि वह (आत्मा) सर्वव्यापक हो, तब हो, उसमें अन्य कुछ होता ही नहीं अर्थात् समझना भी नहीं होता और कुछ टालना भी नहीं होता; कुछ होता ही नहीं; परन्तु ऐसा तो है नहीं; इसलिए वह सर्वव्यापक नहीं है, अपितु अपने (असंख्यातप्रदेश के) क्षेत्र में व्यापक है। भाई! उसका आकार कितना है, कैसा है और कितने भाव हैं और कितनी अर्थपर्यायें हैं — इत्यादि यह सब वस्तुस्थिति तो उसको जानना चाहिए न ? परन्तु यह सब दो नयों का कथन-वर्णन तो भगवान वीतराग के मार्ग में ही है, अन्य कहीं है ही नहीं; इसलिए कहते हैं कि धर्मी-संतपुरुषों को अन्यमत के कथनों से क्या काम है ?

इसप्रकार यह जीव अधिकार पूर्ण हुआ। ●

मैं तो ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ, जानना-देखना वह मेरा कार्य है। विकार के परिणामों को छुए बिना स्पर्श किए बिना, अपने अस्तित्व के कारण मैं जानता हूँ। रागादि किसी भी प्रकार से मेरा कार्य नहीं है, इसप्रकार सभी ओर से कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का शमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रकट होती है, स्फुरायमान होती है। कर्त्ता-कर्म में तो अज्ञानी को विकार का स्फुरण था, चैतन्यज्योति अंतर्दृष्टि होने पर ज्ञानज्योति प्रस्फुरित हुई वह मेरा कार्य है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

२

अजीव अधिकार

नियमसार गाथा-२०

अणुबंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥
अणुस्कन्ध विकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥२०॥

(हरिगीत)

परमाणु एवं स्कन्ध हैं दो भेद पुद्गलद्रव्य के ।
है स्कन्ध छै विधि और विविध विकल्प है परमाणु के ॥२०॥

गाथार्थ :— परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद से पुद्गलद्रव्य दो भेदवाला है, स्कन्ध वास्तव में छह प्रकार के हैं और परमाणु के दो भेद हैं ।

टीका :— यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है ।

प्रथम तो पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं — स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल । उनमें परमाणु वह स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध वह विभावपुद्गल है । स्वभाव-पुद्गल कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु — ऐसे दो प्रकार का है । स्कन्धों के छह प्रकार हैं — १. पृथ्वी, २. जल, ३. छाया, ४. (चक्षु के अतिरिक्त) चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध, ५. कर्मयोग्य स्कन्ध और ६. कर्म को अयोग्य स्कन्ध — ऐसे छह भेद हैं । स्कन्धों के भेद अब कहे जानेवाले सूत्रों में (अगली चार गाथाओं में) विस्तार से कहे जायेंगे ।

(अब, २०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं —)

(अनुष्टुभ्)

गलनादणुरित्यक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ॥३७॥

(वीरछन्द)

गलने से परमाणु होता मिलने से स्कन्ध बने ।
इस पदार्थ के बिना जगत में लोकयात्रा नहीं बने ॥३७॥

श्लोकार्थः — (पुद्गल पदार्थ) गलन द्वारा (अर्थात् भिन्न हो जाने से) 'परमाणु' कहलाता है और पूरण द्वारा (अर्थात् संयुक्त होने से) 'स्कन्ध' नाम को प्राप्त होता । इस पदार्थ के बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती ॥३७॥

गाथा-२० की टीका पर प्रवचन

'अब अजीव अधिकार कहा जाता है।'

देखो, जीव अधिकार पूर्ण हुआ और अब अजीव अधिकार शुरू होता है । अहा! भगवान ने ज्ञान में जीव और अजीव ऐसे दो जाति के द्रव्य देखे हैं । उनमें अजीव के पाँच प्रकार हैं तो उन्हें तो जानना चाहिए न! अहा! पहले शुद्ध चैतन्यवस्तु भगवान आत्मा की बात की और अब उससे भिन्न अजीव का स्वरूप कहते हैं । उस अजीव में भी पहले पुद्गल के स्वरूप का वर्णन करते हैं । अतः कहते हैं कि —

'यह पुद्गलद्रव्यों के भेदों का कथन है।'

देखो, अजीव पाँच प्रकार के हैं । उनमें से जो पुद्गल है, उसकी यह व्याख्या है । वहाँ — **'प्रथम तो पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं — स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल।'**

अहा! पुद्=पूरण और गल=गलन । इसप्रकार जिसमें (स्वभाव से ही) पूरण-गलन होता है, वह पुद्गल है । उसके दो भेद हैं — स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल । यह सब जानकर **'यह पुद्गल मुझ आत्मा से भिन्न वस्तु है'** — ऐसी श्रद्धा करना चाहिए और इसीलिए यह कथन है ।

अब कहते हैं —

'उनमें, परमाणु वह स्वभाव पुद्गल है और स्कंध वह विभाव पुद्गल है।'

अहा! जो एक प्वाइन्ट मात्र एक (अविभागी) रजकण है कि जिसका अन्य से कुछ भी संबंध नहीं है अर्थात् जिसमें विभाव नहीं है, वह परमाणु है और उसको स्वभाव पुद्गल कहा जाता है। अहा! एक पुद्गल परमाणु जो सहज स्वभावरूप है वही वास्तविक पुद्गल है, स्वभाव पुद्गल है। अहा! ऐसा पुद्गल परमाणु अपने (जड़) स्वभावरूप है, परन्तु वह कोई आत्मा के स्वरूप में है — ऐसा नहीं है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न ही है।

अब, दो रजकण से लेकर अनन्त परमाणु जो पिण्डरूप से इकट्ठे (बँधे हुए) दिखते हैं, उन सबको विभाव पुद्गल कहा जाता है। यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, कर्म, पैसा, दाल, भात, शाक, रोटी, सोना, पत्थर, मिट्टी इत्यादि सब स्कंध हैं अर्थात् बहुत रजकणों के बने हुए पिण्ड हैं और वह विभाव पुद्गल है। एक पिण्ड में रहे हुए ये रजकण एक-दूसरे के निमित्त-नैमित्तिक संबंध में आये हैं न ? इसलिए विकारी पर्याययुक्त वे पुद्गल विभाव पुद्गल हैं। यद्यपि उनको विकार है, तथापि दुःख नहीं है; क्योंकि वे जड़ हैं न! जड़ को क्या सुख-दुःख ? परन्तु यह तो उनका स्वरूप ऐसा है — वह यहाँ वर्णन किया है।

भाई! स्वभाव पुद्गल हो या पिण्डरूप विभाव पुद्गल हो, भगवान आत्मा से तो वह भिन्न ही है और उससे चैतन्यवस्तु भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न ही है। अब कहते हैं —

‘स्वभाव पुद्गल कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु — ऐसे दो प्रकार का है।’

अहा! एक परमाणु, जो कि अन्तिम प्वाइन्ट है, वह वस्तु है, अस्ति है, जगत का तत्त्व है। उसके दो भेद हैं। देखो, पहले पुद्गल के दो भेद कहे — स्वभाव पुद्गल अर्थात् परमाणु और विभाव पुद्गल अर्थात् स्कन्ध। अब स्वभाव पुद्गल के (परमाणु के) भी दो भेद कहते हैं — कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे २५वीं गाथा में आयेगा। तथा —

‘स्कन्धों के छह प्रकार हैं — १. पृथ्वी, २. जल, ३. छाया, ४. (चक्षु के अतिरिक्त) चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध, ५. कर्मयोग्य स्कन्ध और ६. कर्म को अयोग्य स्कन्ध — ऐसे छह भेद हैं। स्कन्धों के भेद अब कहे जानेवाले सूत्रों में (अगली चार गाथाओं में) विस्तार से कहे जायेंगे।

देखो, जो अनेक रजकणों का पिण्ड होता है, उसको स्कन्ध कहते हैं और उसके ऊपर कहे अनुसार छह प्रकार हैं। उनका स्वरूप आगामी चार गाथाओं में विस्तार से कहा जायेगा।

कलश ३७ पर प्रवचन

‘(पुद्गल पदार्थ) गलन द्वारा (अर्थात् भिन्न हो जाने से) परमाणु कहलाता है और पूरण द्वारा (अर्थात् संयुक्त होने से) स्कन्ध नाम को प्राप्त होता है।’

देखो, यहाँ परमाणु और स्कन्ध की व्याख्या करते हैं। कहते हैं — गलन द्वारा परमाणु कहलाता है — माने क्या ? कि जो परमाणु है, वह स्कन्ध में से-पिण्ड में से भिन्न होने पर प्राप्त होता है। अहा! जो यह रजकणों के जत्थेरूप पिण्ड-स्कन्ध है, उसमें से जो अन्तिम रजकण पृथक् हो, उसे यहाँ परमाणु कहा जाता है और पूरण द्वारा अर्थात् संयुक्त होने से स्कन्ध नाम को प्राप्त करता है। यों तो स्वयं परमाणु पुद् और गल, पूरण और गलन ऐसे दोनों स्वभावरूप है, परन्तु यहाँ स्थूल रीति से परमाणु का स्वभाव स्कन्ध से पृथक् पड़ने का-भिन्न पड़ने का है — ऐसा कहते हैं और उसको परमाणु कहते हैं। जबकि बहुत परमाणुओं का जत्था-पिण्ड होता है अर्थात् पूरण होता है, उसको स्कन्ध कहते हैं। अब कहते हैं —

इस पदार्थ के बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती।

अहा! जो यह गमन और हलन-चलन है न, वह इस जड़ की क्रिया है, वह कहीं आत्मा की क्रिया नहीं है। हिलना, चलना, उठना, बैठना, दाल-भात का होना, खाना-पीना और मकान का होना इत्यादि जो सब क्रिया की स्थिति है, वह पुद्गल परमाणु की है, परन्तु आत्मा की नहीं। अतः कहते हैं कि इस पदार्थ के बिना लोकयात्रा अर्थात् लोक में भ्रमण नहीं हो सकता। अहा! यहाँ से वहाँ जाना वह पुद्गल की क्रिया है और वह भगवान आत्मा से भिन्न है, वह क्रिया आत्मा की नहीं है। इस पुद्गल की क्रिया को आत्मा की मानना भ्रान्ति है-मिथ्यात्व है।

इसप्रकार २०वीं गाथा व कलश हुआ।



नियमसार गाथा-२१-२४

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१ ॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया ॥२२ ॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३ ॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेति ॥२४ ॥

अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥२१ ॥
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः ।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्पिर्जलतैलाद्याः ॥२२ ॥
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३ ॥
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४ ॥

(हरिगीत)

अतिस्थूलस्थूल रु स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल रु सूक्ष्म ये ।
अतिसूक्ष्म, यों छै भेद पृथ्वी आदि पुद्गलस्कन्ध के ॥२१ ॥
भू, भूमिधर इत्यादि ये अतिस्थूल स्कन्ध प्रमानिये ।
घृत, तैल, जल इत्यादि इनको स्थूल स्कन्ध सु जानिये ॥२२ ॥
आताप, छाया स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध निश्चय कीजिए ।
अरु स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल चारों अक्ष से गहि लीजिए ॥२३ ॥
कार्माणवर्गण योग्य पञ्चम स्कन्ध सूक्ष्म स्कन्ध है ।
विपरीत जो इस योग्य नहीं अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है ॥२४ ॥

गाथार्थ :— अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म — ऐसे पृथ्वी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं ।

भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल-स्थूल स्कन्ध कहे गये हैं, घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध जानना।

छाया, आतप (धूप) आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध जान और चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्धों को सूक्ष्मस्थूल कहा गया है।

और कर्मवर्गणा के योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं, उनसे विपरीत (अर्थात् कर्मवर्गणा को अयोग्य) स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे जाते हैं।

टीका :— यह, विभावपुद्गल के स्वरूप का कथन है।

सुमेरु, पृथ्वी आदि (घन पदार्थ) वास्तव में अतिस्थूलस्थूल पुद्गल हैं। घी, तेल, मट्टा, दूध, जल आदि समस्त (प्रवाही) पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं। छाया, आतप, अंधकारादि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय - स्पर्श, रस, गंध और शब्द - सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं। शुभाशुभ परिणाम द्वारा आनेवाले ऐसे शुभाशुभ कर्मों को योग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्म पुद्गल हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मों को अयोग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गल हैं - ऐसा (इन गाथाओं का) अर्थ है। यह विभावपुद्गल का क्रम है।

(**भावार्थ :**— स्कन्ध छह प्रकार के हैं — १. काष्ठपाषाणादि जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर स्वयमेव जुड़ नहीं सकते वे स्कन्ध अतिस्थूलस्थूल हैं। २. दूध, जल आदि जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर पुनः स्वयमेव जुड़ जाते हैं, वे स्कन्ध स्थूल हैं। ३. धूप, छाया, चाँदनी, अंधकार इत्यादि जो स्कन्ध स्थूल ज्ञात होने पर भी भेदे नहीं जा सकते या हस्तादिक से ग्रहण नहीं किये जा सकते वे स्कन्ध स्थूलसूक्ष्म हैं। ४. आँख से न दिखनेवाले ऐसे जो चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं। (स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श किये जा सकते हैं, जीभ से आस्वादन किये जा सकते हैं, नाक से सूँघे जा सकते हैं अथवा कान से सुने जा सकते हैं) वे स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। ५. इन्द्रियज्ञान को अगोचर ऐसे जो कर्मवर्गणारूप स्कन्ध वे स्कन्ध सूक्ष्म हैं। ६. कर्मवर्गणा से नीचे के (कर्मवर्गणातीत) जो अत्यन्त सूक्ष्म द्वि-अणुकपर्यन्त स्कन्ध से स्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।)

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसमय में (*गाथा द्वारा) कहा है कि —

* देखो, श्री परमश्रुतप्रभावकमण्डल द्वारा प्रकाशित पंचास्तिकाय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-१३०

“पृथ्वी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा ।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥”

“(गाथार्थ :—) पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषयभूत, कर्म के योग्य और कर्मातीत — इसप्रकार पुद्गल (स्कन्ध) छह प्रकार के हैं ।”

और मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(अनुष्टुभ्)

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ॥

(वीरछन्द)

स्थूलस्थूल स्थूल और स्थूल सूक्ष्म अरु सूक्ष्म स्थूल ।
छह प्रकार स्कन्ध लखों ये सूक्ष्म और जो हैं अतिसूक्ष्म ॥

श्लोकार्थ :- स्थूलस्थूल, पश्चात् स्थूल, तत्पश्चात् स्थूलसूक्ष्म, पश्चात् सूक्ष्मस्थूल, पश्चात् सूक्ष्म और तत्पश्चात् सूक्ष्मसूक्ष्म (इसप्रकार स्कन्ध छह प्रकार के हैं ।)

इसप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ४४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(वसंततिलका)

“अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादि-पुद्गल-विकारविरुद्ध-शुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥”

(वीरछन्द)

इस अनादि अविवेकरूप अज्ञान भाव के नाटक में ।
वर्णादिक गुणयुक्त एक पुद्गल ही नाचे अन्य नहीं ॥
रागादिक पुद्गल विकार से सदा विलक्षण यह चेतन ।
एक शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्तिरूप है यह चेतन ॥

“**श्लोकार्थ :-** इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं, (अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव तो अनेकप्रकार का है नहीं;) और यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।”

और (इन गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विविध प्रकार के पुद्गलों में रति न करके चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा में रति करना श्लोक द्वारा कहते हैं) —

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमान
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ॥
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३८ ॥

(वीरछन्द)

विविध भेद वाले पुद्गल के दृष्टिगोचर होने पर।
हे भव्योत्तम! तू इनके प्रति किञ्चित भी रतिभाव न कर ॥
केवल चेतन चमत्कारमय निज आत्म में तू रति कर।
इससे होगा परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ वर ॥३८ ॥

श्लोकार्थः — इसप्रकार विविध भेदोंवाला पुद्गल दिखाई देने से, हे भव्यशार्दूल! (भव्योत्तम!) तू उसमें रतिभाव न कर। चैतन्यचमत्कारमात्र में (अर्थात् चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा में) तू अतुल रति कर कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा ॥३८ ॥

गाथा २१ से २४ की टीका पर प्रवचन

‘यह विभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है।’

देखो, स्वभाव पुद्गल की सामान्य व्याख्या पहले (कलश ३७ में) आ गई है और कार्यपरमाणु तथा कारणपरमाणु — ऐसे उसके भेदों की विशेष व्याख्या आगे (गाथा-२५वीं में) कहेंगे। अब यहाँ तो विभाव पुद्गल की बात है।

अहा! जो बहुत परमाणु इकट्ठे होते हैं और पृथक् होते हैं, वह जड़-पुद्गल की क्रिया है; परन्तु वह क्रिया आत्मा की बिलकुल नहीं है। अतः उसे जानकर, अहा! परमाणुओं की ऐसी जाति है और उसकी स्थिति ऐसी है यह जानकर उनसे लक्ष्य हटाना और निज चैतन्यस्वरूप में लक्ष जोड़ना, निज चैतन्यस्वरूप की ही दृष्टि करना। इसी के लिए यहाँ यह बात है। अहा! तो जिसका लक्ष छोड़ना है, वह वस्तु क्या है और किसप्रकार है — यह जानना तो चाहिए न? तो कहते हैं कि —

‘सुमेरु, पृथ्वी आदि (घन पदार्थ) वास्तव में अति स्थूल-स्थूल पुद्गल है।’

अहा! मेरु पर्वत आदि घन पदार्थों के टुकड़े होने पर वे इकट्ठे नहीं होते — ऐसी वह चीज है। अतः उनको अतिस्थूलस्थूल कहते हैं।

‘घी, तेल, मट्टा, दूध, जल आदि समस्त (प्रवाही) पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं।’

प्रवाही है न ? तो उनके छेदने पर स्वयमेव इकट्ठे जुड़ जाते हैं। इसकारण उनको स्थूल कहते हैं।

‘छाया, आतप, अंधकार आदि स्थूल सूक्ष्म पुद्गल हैं।’

ऐसे पदार्थ नेत्र से ज्ञात होने पर भी छेदे नहीं जा सकते अथवा हाथ से भी ग्रहण नहीं किये जा सकते। अतः वे स्थूल सूक्ष्म पुद्गल हैं।

‘स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय-स्पर्श, रस, गंध और शब्द — सूक्ष्म स्थूल पुद्गल हैं।’

‘शुभाशुभपरिणाम द्वारा आनेवाले ऐसे शुभाशुभ कर्मों को योग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्म पुद्गल हैं।’

कर्म सूक्ष्म पुद्गल है।

‘उनसे विपरीत अर्थात् कर्मों को अयोग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गल हैं — ऐसा (इन गाथाओं का) अर्थ है। यह विभाव पुद्गल का क्रम है।’

अब इसके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं —

भावार्थ :— स्कन्ध छह प्रकार के हैं।

देखो, परमाणु के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। बहुत परमाणु पिण्डरूप से इकट्ठे हों, वह स्कन्ध है। वे स्कन्ध छह प्रकार के हैं —

‘१. काष्ठपाषाणादिक जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर स्वयमेव जुड़ नहीं सकते, वे स्कन्ध अतिस्थूल-स्थूल हैं।’

लकड़ी, पाषाण, लोहा इत्यादि जो स्कन्ध हैं, यदि उनके टुकड़े हो जाएँ तो वे स्वयमेव जुड़कर इकट्ठे नहीं होते, इसलिए उनको अतिस्थूल स्थूल कहते हैं।

‘२. दूध, जल आदि जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर पुनः स्वयमेव जुड़ जाते हैं, वे स्कन्ध स्थूल हैं।’

अहा! दूध, जल, तेल आदि प्रवाही स्कन्ध पृथक् होते हैं और पुनः स्वयमेव जुड़ जाते हैं — ऐसा उनका जड़-पुद्गल का स्वभाव है। वे स्कन्ध स्थूल हैं।

‘३. धूप, छाया, चाँदनी, अंधकार इत्यादि जो स्कन्ध स्थूल ज्ञात होने पर भी भेदे नहीं जा सकते या हस्तादि से ग्रहण नहीं किये जा सकते वे स्कन्ध स्थूल सूक्ष्म हैं।’

देखो, क्या प्रकाश या छाया पकड़ी जा सकती है ? नहीं, इसलिए उनको स्थूल सूक्ष्म कहा जाता है।

‘४. आँख से न दिखनेवाले ऐसे जो चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं। (स्पर्शोन्द्रिय से स्पर्श किये जा सकते हैं, जीभ से आस्वादन किये जा सकते हैं, नाक से सूँघे जा सकते हैं अथवा कान से सुने जा सकते हैं) वे स्कन्ध सूक्ष्म स्थूल हैं।’

यह निमित्त से (निमित्त सापेक्ष) कथन है। वरना आस्वादन किये जा सकते हैं, सूँघे जा सकते हैं इत्यादि का अर्थ यह है कि उस-उस काल में जीव को इन्द्रियाँ मात्र निमित्तरूप होती हैं, बस, इतनी बात है।

प्रश्न :— एक ओर तो आप यह कहते हो कि एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और फिर यहाँ कहा है कि जीभ से आस्वादन किये जा सकते हैं, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श किये जा सकते हैं — इत्यादि। तो यह किसप्रकार है ?

उत्तर :— एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता, है तो ऐसा ही, यह सत्य है; परन्तु यहाँ तो व्यवहारनय के कथन द्वारा पुद्गल की जाति समझाते हैं। (निमित्त की मुख्यता से किये गये व्यवहारनय के सभी कथन ऐसे ही होते हैं)

५. इन्द्रियज्ञान को अगोचर ऐसे जो कर्मवर्णणारूप स्कन्ध वे स्कन्ध सूक्ष्म हैं। कर्मवर्णणा और कर्म सूक्ष्म हैं। इन्द्रियगोचर नहीं, इसलिए सूक्ष्म है।

६. कर्मवर्णणा से नीचे के (कर्मवर्णणातीत) जो अत्यन्त सूक्ष्म द्वि-अणुक पर्यन्त स्कन्ध वे स्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

यह परमाणु की बात नहीं है; परन्तु द्वि-अणुक आदि स्कन्ध की बात है। यहाँ तो स्कन्ध के भेद की बात है न? अतः दो परमाणु तक के वे स्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म हैं। अब कहते हैं —

‘इसीप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री पंचास्तिकाय समय में (गाथा द्वारा) कहा है कि —

(गाथार्थ :-) पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषयभूत, कर्म के योग्य और कर्मातीत — इसप्रकार पुद्गल (स्कन्ध) छह प्रकार के हैं।’

इसका विस्तार ऊपर आ गया है। यह तो, जैसे यहाँ नियमसार में कहा है, वैसे ही इस पंचास्तिकाय में भी स्वयं कुन्दकुन्ददेव ने कहा है — इसप्रकार इसका समर्थन है।

और मार्गप्रकाश में श्लोक द्वारा कहा है कि —

(श्लोकार्थ :-) स्थूल-स्थूल, पश्चात् स्थूल, तत्पश्चात् स्थूलसूक्ष्म, पश्चात् सूक्ष्मस्थूल, पश्चात् सूक्ष्म और तत्पश्चात् सूक्ष्मसूक्ष्म (इसप्रकार स्कन्ध छह प्रकार के हैं)।

इसमें भी छह स्कन्धों के नाम हैं। अब कहते हैं —

इसप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ४४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

यह समयसार का कलश है। देखो, क्या कहते हैं —

इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं....।

अहाहा...! भगवान आत्मा तो अन्दर ज्ञानानन्द-सहजानन्द की मूर्ति प्रभु है। जबकि यह शरीरादिक हैं और कर्म के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के विकल्प हैं - यह सब पुद्गल का नाटक है, भगवान सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा का नहीं। अहाहा...! भगवान आत्मा तो शुद्धज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड प्रभु है, और उसकी दृष्टि होना धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है, परन्तु इसके भान बिना इसको जो यह सब संयोग आते और जाते हैं वह सब पुद्गल का नाटक है अब ऐसा सूक्ष्म है बापू!

अहा! यह सब पुद्गल के भेदों का वर्णन चलता है न! तो तन, मन, वचन, कर्म,

महल और मकान इत्यादि अविवेक का नाटक है अथवा इस नाच में पुद्गल ही नाचता है। अहाहा...! यह हिलना, चलना, बोलना, खाना, पीना इत्यादि क्रियायें जड़-पुद्गल की हैं। अहा! ये सब क्रियायें कहीं आत्मा नहीं करता। अहा! यह खावे-पीवे और बोले यह कोई आत्मा नहीं है। भाई! सूक्ष्म बात है! आत्मा तो ध्रुव, अखण्ड, चिदानन्दकंद प्रभु है। वह कहीं राग अथवा शरीर की क्रिया में नहीं आता। अहा...! यह दया, दान, भक्ति इत्यादि का विकल्प उत्पन्न होता है, उसमें कहीं आत्मा नहीं आता, क्योंकि वह विकल्प जड़-अनात्मा है। यह सब अविवेक का-अनात्मा का नाटक है।

अहा! इस अनादि के महा अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही परिणमता है, अन्य कोई नहीं, अर्थात् आत्मा नहीं। अहा! आत्मा किसको कहते हैं? अहाहा...! ज्ञानानन्द की मूर्ति अभेद एक ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड प्रभु आत्मा है। उसमें पर का अथवा रागादि विकार का प्रवेश ही नहीं है। अहा! ऐसे निजस्वरूप की अन्तर्दृष्टि होने का नाम सम्यग्दर्शन है और वही धर्म की पहली भूमिका है। बापू! इसके अतिरिक्त दया, दान, भक्ति इत्यादि सब ही पुद्गल का-अजीव का नाटक है और इस नाटक में पुद्गल ही नाचता है। यह भगवान आत्मा का नाच नहीं है। प्रभु! अहा! अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेकप्रकार का दिखाई देता है, क्योंकि शुद्ध जीववस्तु चैतन्य महाप्रभु तो अनेकप्रकार का है ही नहीं।

और यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण.....।

देखो, भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु शरीर, मन, वाणी इत्यादि स्कन्धों और परमाणुओं से तो भिन्न है ही, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि के परिणामों से भी भिन्न-विलक्षण है — ऐसा कहते हैं। तो, राग से-शुभाशुभ से भी भिन्न ऐसा मैं अन्दर चिदानन्दकंद प्रभु आत्मा हूँ — ऐसा भान और श्रद्धान होना धर्म की पहली दशा है और इसके अतिरिक्त सब निःसार है।

अहा! भाषा कैसी ली है, यह तो देखो! कि यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण...!

पहले परमाणु का वर्णन किया, फिर स्कन्ध का-विभाव पुद्गल का वर्णन किया। अब, समयसार के कलश का आधार देकर कहते हैं कि आत्मा में (पर्याय में) होनेवाले शुभाशुभभाव — दया, दान, व्रत, भक्ति आदि और हिंसा, झूठ आदि ये समस्त विकल्प-

पुद्गल का विकार है। अहा! यह सब पुद्गल की खड़खड़ाहट (नाच) है। प्रभु! अहा! आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप एक प्रकार है, उसमें तो यह अनेकप्रकार है नहीं, तो ये अनेकप्रकार किसके हैं ? तो कहते हैं कि पर्याय में पुद्गल के निमित्त से होनेवाले ये भाव पुद्गल विकार हैं। कड़क बात है बापा!

‘रागादिक पुद्गल विकार’ — ऐसा कहा है न ? इसका आशय यह है कि यह पंच महाव्रत का विकल्प और दया, दान, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि का जो प्रशस्तराग है, वह सब पुद्गल का विकार है। ये शुभ परिणाम आत्मा की जाति के हैं ही नहीं। अहा! यह तो जड़ पुद्गल कर्म के संग से हुई खड़खड़ाहट सब पुद्गल का विकार है और भगवान आत्मा तो इससे भिन्न है।

यह कलश समयसार में आया है। इसमें ऐसी भाषा है कि ‘रागादि पुद्गल विकार विरुद्ध शुद्ध...’ रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्ध....’ ऐसी भाषा है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परमाणु और छह प्रकार के स्कन्धों से तो भिन्न है ही और इसलिए शुद्ध है, परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प — दया, दान, व्रत, भक्ति आदि तथा काम-क्रोधादि के विकल्प — यह सब पुद्गलविकार हैं और भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति इससे विरुद्ध-विलक्षण-भिन्न है। अर्थात् यह रागादिक आत्मा का लक्षण नहीं है।

देखो, एक ‘विलक्षण’ शब्द में कितना भर दिया है।

अहा! जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कर्म जो कि अनंत परमाणुओं का सूक्ष्म स्कन्ध है, उसके लक्ष्य से होते हैं। वे आत्मा के लक्ष्य से नहीं होते। यहाँ स्कन्धों की व्याख्या आई है न ? तो उसमें कर्म सूक्ष्म स्कन्ध है। उस स्कन्ध के लक्ष्य से-उस स्कन्ध के अस्तित्व पर लक्ष्य जाने से यह पुण्य-पाप आदि विभाव प्रगट होते हैं और इसीलिए उन्हें पुद्गल विकार कहा गया है। जबकि भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा तो उनसे विलक्षण अर्थात् भिन्न ही है। आत्मवस्तु में राग है ही नहीं, इसलिए राग उसका लक्षण नहीं है। देखो, स्कन्धों की व्याख्या में यह बात की है, क्योंकि राग भी स्कन्धों की तरह जड़ है — पुद्गलविकार है।

अहा! शरीर, मन, धन, वचन और कर्म — यह सब तो पुद्गल हैं, परन्तु इनके लक्ष्य से होनेवाला विकार भी पुद्गल का विकार है। अहा! अज्ञानी को जो विकार होता है,

वह पुद्गल का विकार है, वह जीव का स्वभाव नहीं है - ऐसा कहना है। यद्यपि स्वभावदृष्टि होने पर, पर्याय में जो रागादि और अल्पपना रहा है, वह जीव की दशा में है — ऐसा ज्ञान जानता है, तो भी वस्तु के स्वभाव की दृष्टि में तो यह रागादि पर है, पुद्गलविकार है, वह कोई निजस्वभाव नहीं है।

समयसार के इस कलश में एकदम (शुद्ध) द्रव्यस्वभाव कहना है न; इसलिए कहते हैं कि — जगत में, अविवेक के अखाड़े (नाटक) में पुद्गल नाचता है, आत्मा नहीं, क्योंकि भगवान आत्मा शुद्ध चिद्रूप प्रभु तो नित्य अभेद एकरूप है। इसकारण वह अनेक में कैसे आये ? अर्थात् अनेकरूप कैसे हो ? नहीं होता। इसलिए यह अनेकरूप दिखता है, वह सब पुद्गल का नाच है।

भाई! यहाँ दो बातें की हैं —

१. पहली यह कि शरीर, मन, वचन, धन, कर्म इत्यादि सब है, वह जड़-पुद्गल का नाटक है, उसमें आत्मा का कुछ भी (स्वामित्व अथवा कर्तापना) नहीं है।

२. दूसरी बात यह कि रागादि पुद्गल विकार है। अहा! वस्तु के द्रव्यस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से ये सब पुण्य-पापादि भाव पुद्गल का विकृतभाव है और फिर जब वह ज्ञान करे, तब जानता है कि पर्याय में किंचित् राग का भाव है — ऐसा भी जानता है; क्योंकि ज्ञान का स्व और पर को दोनों को जानने का स्वभाव है न ? अतः वह जानता है कि इस स्वभाव से भिन्न चीज पर्याय में है, परन्तु दृष्टि तो अकेली निर्विकल्प है। वह अभेद को ही देखती-स्वीकारती है; इसलिए दृष्टि अपेक्षा से रागादि को पुद्गल विकार गिनकर उससे विलक्षण-भिन्न भगवान चिद्रूपरूप आत्मा शुद्ध है — ऐसा कहा है। यहाँ विरुद्ध का अर्थ विलक्षण-भिन्न किया है।

आशय यह है कि भगवान आत्मा शुद्ध चिद्रूप वस्तु राग से विरुद्ध है। अहा! आत्मा उसको कहते हैं कि जो राग से-पुण्य-पापादि भाव से-विरुद्ध हो, क्योंकि ये रागादिभाव पुद्गल का विकार है और इसलिए इनसे आत्मा विरुद्ध है। अहा! ये रागादिभाव आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं — यह तो ठीक; परन्तु यहाँ तो इन रागादि भावों से आत्मा विरुद्ध है — यह कहते हैं। भाई! यह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प-यह शुभोपयोग भी राग होने से पुद्गल का विकार है और इसीलिए आत्मा इससे विरुद्ध है।

यह अजीव अधिकार है न ? और वहाँ समयसार में भी अजीव अधिकार है; इसलिए यह कहा है कि राग पाप और पुण्यभाव भी पुद्गलविकार है और भगवान आत्मा उनसे अत्यन्त विरुद्धस्वभाववाला है, क्योंकि रागादि अजीवस्वभाव-जड़स्वभाव है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव-चैतन्यस्वभाव है। इसलिए आत्मा रागादि से विरुद्ध-विलक्षण-भिन्न है।

अहा! रागादि से विलक्षण-भिन्न ऐसा भगवान आत्मा अन्दर अकेला ज्ञानानन्द का सागर है। इसलिए उसमें निमग्न होकर उसका अनुभव करना। अहा! इस स्वानुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, निराकुलसुख का वेदन अनुभव में आता है, उसको यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न :— विकार को पर का-पुद्गल का क्यों कहा ?

उत्तर :— अहा! यह विकार की पर्याय पर के-पुद्गलकर्म के लक्ष्य से होती है, इसलिए यहाँ उसको पर का-पुद्गल का कहकर निकाल दिया है और उससे विरुद्ध आत्मा-भगवान शुद्ध चिद्रूप है — ऐसा कहा है।

भाई! राग बंध का कारण है, जबकि आत्मस्वभाव अबंधस्वरूप है। राग विपरीत है, जबकि चैतन्यस्वभाव अविपरीत भाव है। समयसार की ७२वीं गाथा में आया है कि — 'असुचित्तं य विपरीयभावं य दुःखस्स कारणं' अहा! विपरीयभावं अर्थात् रागादिभाव आत्मा से विपरीत है - ऐसा ७२वीं गाथा में कहा है। जबकि यहाँ कलश में ऐसा आया है कि राग से विपरीत आत्मा है। अहा! वहाँ ७२वीं गाथा में ऐसा आया कि — रागादि आस्रव दुःख का कारण है, विपरीतभाव है और अशुचि है। जबकि यहाँ कहते हैं कि आत्मा का शुद्धस्वभाव रागादि से विलक्षण-भिन्न है, अर्थात् दुःख से विपरीत ऐसा आत्मस्वभाव है। अहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

द्रव्यसंग्रह की ५६वीं गाथा में आता है कि — मा चिट्ठ मा जंपह मा चिन्तह। कहते हैं भाई! मा चिट्ठह — काया के व्यापार से भिन्न हो, क्योंकि काया और काया का व्यापार तेरा नहीं है। काया का ऐसा होना या वैसा होना, यह सब तुझसे भिन्न है। तथा मा जंपह — बोल मत! कुछ भी मत बोल, वचन के व्यापार से पृथक् हो और अन्दर चिद्रूप में स्थिर हो, क्योंकि वचन तेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु पुद्गल की चीज है। अब मन की

बात करते हैं। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनगुप्ति — ऐसा आता है न ? अतः पहले काय और फिर वचन की बात करके अब मन की बात करते हैं। कहते हैं — **मा चिन्तह**, मन में विकल्प मत कर, चिन्तवन मत कर। क्यों ? **जेण होइ थिरो** कि जिससे आत्मा स्थिर हो। **अप्पा अप्पम्मि रओ**, आत्मा, आत्म में अर्थात् सहज ज्ञानानन्दस्वभाव में लीन होवे। इसका नाम ध्यान और शुद्धरत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का मार्ग है और यह शुद्धोपयोग है।

अहा! यह देह, मन, वाणी तो धूल-मिट्टी-पुद्गल है, इसलिए वहाँ से विरक्त हो जा और जो वाणी बोलने का विकल्प उत्पन्न होता है, वह अन्तर्जल्प है, वह भी तेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलस्वरूप है। इसलिए उससे भी विरक्त हो जा! देखो, मन में जो कोई विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी पुद्गलस्वरूप है - ऐसा कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि मन, वचन, काया के व्यापार से विरक्त हो जा! जिससे **जेण होइ थिरो** — विकल्प और एकसमय की पर्याय के पीछे, अन्दर वस्तु चिदानन्दमय चैतन्य बिम्ब है, उसमें स्थिरता हो और **अप्पा अप्पम्मि रमो** — आत्मा, आत्मा में सहज जानने-देखने और आनन्द के स्वभाव में लीन होकर रमे और जमे। इसको भगवान ध्यान कहते हैं और यह शुद्धोपयोग अर्थात् मोक्ष का मार्ग है। अब जगत को यह मार्ग कठिन लगता है, परन्तु भाई! मार्ग यही है।

वही यहाँ कहते हैं कि जीव तो रागादि विकारों से विलक्षण...., देखो न, इस एक शब्द में कितना भर दिया है। अहा! इन छह स्कन्धों का लक्ष्य छोड़, क्योंकि ये स्कन्ध तेरे स्वरूप में नहीं है, तेरे नहीं हैं। अब इन स्कन्धों में तो सारी परवस्तुएँ आ गई न? शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, कर्म, नोकर्म, धन, दाल, भात, लड्डू इत्यादि — यह सभी स्कन्ध में आ गया या नहीं ? (आ गया) अतः कहते हैं, यह सब जड़-पुद्गल का जत्था-पिण्ड है, इसलिए वहाँ से विरक्त हो जा; क्योंकि वह तुझमें नहीं है और तू उनमें नहीं है और तेरे कारण भी वह नहीं है। यह तो ठीक, परन्तु उन स्कन्धों के लक्ष्य और संग से जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी पुद्गलविकार है, इसलिए वहाँ से दृष्टि हटा ले, क्योंकि तेरा चैतन्यस्वरूप उनसे विरुद्ध-भिन्न है।

अहा! पुण्य-पाप के पुद्गल विकारों से विरुद्ध तेरा स्वरूप है - यह तो नास्ति से कहा, परन्तु अस्ति से क्या है ? तो कहते हैं -

‘शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।’

अहाहा...! प्रभु आत्मा शुद्ध सहजज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। अहाहा...! चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य ऐसा शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति प्रभु आत्मा है। अहाहा...! अकेले अतीन्द्रिय अनाकुल शान्तरस-आनन्दरस-सुखरस-चैतन्यरस का पिण्ड ऐसा चैतन्यधातुमय प्रभु आत्मा तू है, यह कहते हैं। अहा...! जिसने अकेला चैतन्यपना धार रखा है, वह तू है। भगवान! परन्तु इन पुण्य-पाप को धार रखे अथवा कहे गये स्कन्धों को धार रखे वह तेरा-आत्मा का स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह सब जड़-अनात्मा है, पुद्गलस्वभाव है।

कलश ३८ पर प्रवचन

हे भव्य शार्दूल! अहा! कैसा पुरुषार्थ जागृत करनेवाला सम्बोधन है! अहा! शार्दूल अर्थात् जैसे सिंह हिरण को चीरकर फाड़ देता है, इसीतरह हे भव्योत्तम! तू रागादि को चीर दे। तू भव्य है न प्रभु! तो रागादि का नाश कर डाल, क्योंकि वे तुझसे भिन्न हैं, तेरी वस्तु में वे नहीं हैं। लो, ऐसा सम्बोधन!

कहते हैं — **इसप्रकार विविध भेदोंवाला पुद्गल दिखाई देने से.....।**

अहाहा...! क्या कहते हैं ? कि भगवान तू तो शुद्ध चैतन्यधातुमय त्रिकाल अभेद एकरूप है और ये दिखाई देनेवाले विविध भेद तो पुद्गल के भेद हैं। अहाहा...! दिखाई देने से...दृश्यमान - ऐसा कहा है न ? तो दिखाई देनेवाले तो विविध पुद्गल हैं। वह तेरी चीज नहीं हैं, यों कि तू तो अभेद शुद्ध चैतन्यवस्तु है और ये दिखाई देनेवाले भेद जड़-पुद्गल की जात है, इसलिए वह तेरी चीज नहीं है। यह स्त्री का शरीर, परिजनों का शरीर और अपना शरीर तथा हीरा, माणिक व धन के-धूल के ढेर इत्यादि जो दिखाई देते हैं, वह तो पुद्गल की जात है। अहा! यह चमड़ी काली हो, सफेद हो या सांवली हो, आकार सुन्दर हो या कुबड़ा हो यह सब पुद्गल की जात है। भगवान! इसमें तेरा कुछ नहीं है और ये कोई तेरे संबंधी नहीं हैं, क्योंकि इनमें तू नहीं और ये तेरे में नहीं हैं। इसलिए हे भव्य शार्दूल! (भव्योत्तम!) तू उनमें रतिभाव न कर।

अहाहा! ऐसा सम्बोधन करके जीव की मोक्ष की समीपता दर्शायी है। ऐसे कि हे भव्यों में उत्तम! तेरा मोक्ष समीप है, अतः तू इन पुद्गलों में रति मत कर और राग में-पुद्गल विकार में भी रति मत कर! अहा! जो तुझे विरुद्ध हैं और जिससे तू विरुद्ध है - ऐसे विरुद्ध रागादि पुद्गल विकार में प्रीति मत कर! क्योंकि भाई! इससे तुझको

दुःख होगा, वहाँ तेरी हिंसा होगी। रागादि में प्रीति करने से आत्मा चैतन्य-चमत्काररूप नहीं रह सकता, घाता जाता है।

अहाहा...! भगवान आत्मा चैतन्य-चमत्कारमात्र वस्तु है। अहा! वह अपने को जाने, राग को जाने और विविधप्रकार के पुद्गलों को भी अपने में रहकर जाने। अहा! अपनी स्वभाव की समर्थ्य से ही स्व-पर को जाने ऐसा वह चैतन्य चमत्कारमात्र पदार्थ है। यह उसके चैतन्य का चमत्कार है कि वह स्व-पर सबको जानता है। कोई परवस्तु है तो उसको ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है।

क्या कहा ? कि यह सब रागादिभाव और शरीरादि स्कन्ध कहे हैं, वे सब हैं, इसलिए चैतन्यभाव उनको जानने की पर्याय करता है - ऐसा नहीं है। अहा! आत्मा ऐसी चैतन्य चमत्कारवस्तु है कि अपनी जाननक्रिया के लिए उसको किसी पर की अपेक्षा नहीं है। स्वयं चैतन्य-चमत्कार से ही स्व और पर को जानने का कार्य उत्पन्न होता है। अहा! विविधप्रकार के पदार्थों के अस्तित्व के कारण नहीं, परन्तु अपने ही अस्तित्व में चैतन्य का ऐसा चमत्कार है कि जिससे आत्मा स्व को और पर को जानने के स्वभाव को स्वयं प्रगट करता है। अब ऐसी बात जगत को कठिन लगती है, परन्तु बापू! यह तो परमार्थ सत्य है।

जगत के अज्ञानी जीव तो जहाँ एक आँख फूट जाए अथवा पैर कट जाए वहाँ तो चिल्लाते हैं। अन्दर हाय-हाय करते हैं कि मेरी आँख फूट गई, मेरा पैर कट गया! परन्तु इससे क्या है — ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि आँख फूटी अथवा पैर गया - यह तो पुद्गल का गया है। इसमें तेरे में से क्या गया है ? इसीप्रकार पास में पाँच-दस लाख रुपये हों और उनमें से पाँच-पचास हजार चले जायें तो चिल्लाता है कि हाय, पैसा गया! परन्तु भाई! पैसा गया है या तुझको उसकी विविधदशा का ज्ञान हुआ है? तेरा क्या गया! तेरा तो ज्ञान रहा है। पहले पैसे यहाँ थे ऐसा जानता था और अब अन्यत्र है — ऐसा तेरा ज्ञान तो खड़ा ही है, क्योंकि भगवान! तू ऐसा ही चैतन्य-चमत्कार है। स्वयं अपने से ही स्व-पर को जानने का काम करता है - ऐसे स्वरूप से ही तू है। इसलिए कहते हैं कि पुद्गल के संयोग और रागादि पुद्गल विकारों में रति मत कर।

अपितु 'चैतन्य-चमत्कारमात्र में अर्थात् चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मा में तू अतुल रति कर।'

कहते हैं कि निज चैतन्य-चमत्कारस्वरूप निज आत्मा में अतुल रति कर। अहाहा... ! प्रभु! तू अन्दर नित्यानन्द-सहजानन्दस्वरूप चैतन्य महाप्रभु है तो उसमें अतुल अर्थात् जिसकी उपमा नहीं ऐसा अमर्यादित प्रेम कर और पुद्गलादि से रति-प्रेम छोड़ दे। भाई! यदि आत्मा का परमहित करना हो और यदि धर्म करना हो तो राग से लेकर लोक की समस्त पर-वस्तुओं का प्रेम छोड़ दे और शुद्ध चैतन्य-चिदानन्दमय निज आत्मा में अतुल रति कर।

अब उसका फल दर्शाते हैं —

‘कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा।’

‘हे भव्यशार्दूल!’ ऐसा सम्बोधन करके यह कहना है।

अहाहा... ! चैतन्य-चमत्कारस्वरूप निज आत्मा में-भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप में रति करने पर तुझे उसके फलरूप में मुक्ति प्राप्त होगी, जो कि सादि-अनन्तकाल रहेगी। अहा! वह परमसुखमय मुक्ति की दशा अब तुझसे कभी भिन्न नहीं होगी। लो, इसका नाम वल्लभ है। वल्लभ होगा - यह कहा है न ? इसका अर्थ यह है कि वह मुक्तिरूपी परिणति अब कभी भी अलग नहीं पड़ेगी। अहा! आत्मा के चैतन्य-चमत्कारस्वभाव में अतुल रति करने से अन्दर पूर्ण आनन्द की ऐसी निर्मल परिणति प्रगट होगी कि जो अब एक समय के लिए भी दूर नहीं रहेगी।

अहा! ‘परमश्रीरूपी कामिनी’ — ऐसा कहा है न ? तो परमश्री अर्थात् परम उत्कृष्ट लक्ष्मी। देखो, मुक्ति परमलक्ष्मीस्वरूप है और ऐसी परमलक्ष्मीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा - यह कहते हैं। आशय यह है कि मुक्तिरूपी रमणी-परिणति इसका वरण करेगी और यह उसका ऐसा वल्लभ होगा कि वह इसको कभी नहीं छोड़ेगी।

भाई! तू राग में रति करेगा, तो राग तो छूट जायेगा और शरीरादि पुद्गलों के प्रति प्रेम करेगा तो वे पुद्गल भी छूट जायेंगे, वे तेरे संग में स्थायी नहीं रहेंगे। उनका वल्लभ होने में-वहाँ प्रेमभाव से जुड़ने में-तू ठगाया जायेगा भगवान! क्योंकि वे सब चीजें तेरे साथ नहीं रहेंगी। इसलिए स्व-स्वभाव में ही अतुल रति कर, उसमें ही अतिशयरूप से लीन हो। इससे तुझे परमानन्द की प्राप्ति होगी जो कभी नहीं छूटेगा।

देखो, इन चार गाथाओं में स्कन्ध की व्याख्या में भी यह बात की है। ●

नियमसार गाथा-२५

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो ।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणु ॥२५ ॥

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः ।
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ॥२५ ॥

(हरिगीत)

जो हेतु धातु चतुष्क का कारण-अणु विख्यात है ।
अरु स्कन्ध के अवसान में कार्याणु होता प्राप्त है ॥२५ ॥

गाथार्थ :— फिर जो (पृथ्वी, जल, तेज और वायु — इन) चार धातुओं का हेतु है, वह कारणपरमाणु जानना; स्कन्धों के अवसान को (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को) कार्यपरमाणु जानना ।

टीका :— यह, कारणपरमाणुद्रव्य और कार्यपरमाणुद्रव्य के स्वरूप का कथन है ।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु यह चार धातुएँ हैं, उनका जो हेतु है, वह कारणपरमाणु है । वही (परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होने से, सम या विषम बन्ध को अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है — ऐसा अर्थ है । एक गुण स्निग्धता या रूक्षता के ऊपर, दो गुणवाले का और चार गुणवाले* का समबन्ध होता है तथा तीन गुणवाले का और पाँच गुणवाले का विषमबन्ध* होता है, यह उत्कृष्ट परमाणु है । गलते अर्थात् पृथक् होते पुद्गलद्रव्यों के अन्त में-अवसान में (अन्तिम दशा में) स्थित वह कार्यपरमाणु है (अर्थात् स्कन्ध खण्डित होते-होते जो छोटे से छोटा अविभाग भाग रहता है, वह कार्यपरमाणु है) । (इसप्रकार) अणुओं के (परमाणुओं के) चार भेद हैं — कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट । वह परमाणुद्रव्य स्वरूप में स्थित होने से उसे विभाव का अभाव है, इसलिए (उसे) परमस्वभाव है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (१६५वीं तथा १६६वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

* समबन्ध अर्थात् सम संख्या के गुणवाले परमाणुओं का बन्ध और विषमबन्ध अर्थात् विषम संख्या के गुणवाले परमाणुओं का बन्ध । यहाँ (टीका में) समबन्ध और विषमबन्ध का एक-एक उदाहरण दिया है, तदनुसार समस्त समबन्ध और विषमबन्ध समझ लेना ।

“णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥”

“(गाथार्थ :—) परमाणु के-परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों, यदि समान की अपेक्षा दो अधिक अंशवाले हों तो बँधते हैं; जघन्य अंशवाला नहीं बँधता ।

स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ बन्ध का अनुभव करता है अथवा रूक्षता से तीन अंशवाला परमाणु पाँच अंशवाले के साथ जुड़ा हुआ बँधता है ।”

और (२५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा पुद्गल की उपेक्षा करके शुद्ध आत्मा की भावना करते हैं) :—

(अनुष्टुभ्)

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम् ।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ॥३९॥

(वीरछन्द)

छह प्रकार स्कन्धों या चौ विधि अणुओं से मुझको क्या ?
मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को हूँ पुनः पुनः भाता ॥३९॥

(श्लोकार्थ :—) उन छहप्रकार के स्कन्धों या चारप्रकार के अणुओं के साथ मुझे क्या है ? मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को पुनः पुनः भाता हूँ ॥३९॥

गाथा-२५ की टीका पर प्रवचन

स्वभावपरमाणु के दो भेद कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु पूर्व में (गाथा-२० में) आ गये हैं न ? इसलिए उनका विशेष वर्णन करते हैं । देखो भाई! यह भाषा (कार्य और कारण शब्द) मूल गाथा में ही है, परन्तु ऐसा नहीं है कि टीकाकार ने ही कहे हैं । ये शब्द — कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु — मूल गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्वयं ही डाले हैं और इसीलिए इसमें से कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा — ऐसे

भेद उठते हैं-खड़े होते हैं। कारण कि जब परमाणु में कार्य और कारण - ऐसे भेद हैं तो आत्मा में भी वे लागू पड़ते ही हैं। इसलिए टीकाकार मुनिराज ने कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा की बात करके कोई नया-अपने घर का नहीं डाला है। किसी अज्ञानी को ऐसा लगता है कि कहाँ से निकाला ? सुन! सब जो है, वही निकाला है। तो कहते हैं कि —

यह कारणपरमाणुद्रव्य और कार्यपरमाणुद्रव्य का कथन है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु यह चार धातुएँ हैं, उनका जो हेतु है, वह कारणपरमाणु है।

देखो, विशेषता क्या है ? कि पृथ्वी, जल, तेल और वायु - यह चार धातुएँ हैं। अतः इन पृथ्वी के परमाणुओं का जो स्कन्ध होता है, जल के परमाणुओं का जो स्कन्ध होता है और इसीतरह तेज व वायु के परमाणुओं का जो स्कन्ध होता है, उसका हेतु वह कारणपरमाणु है; परन्तु जीव उसका हेतु नहीं है — ऐसा कहते हैं। अहा! यह लड्डू बनें, पृथ्वी हुई, जल इकट्ठा हुआ और तेज तथा वायु हुए, उसका हेतु कारणपरमाणु है। अहा! वह परमाणु कारण होकर ये सब स्कन्ध हुए हैं; परन्तु जीव कारण होकर ये स्कन्ध हुए हैं — ऐसा नहीं है। अहा! ये लड्डू यों बने, रोटी बनी और ये अक्षर लिखे गये, इत्यादि स्कन्ध होते हैं, उसका हेतु कारणपरमाणु है, जीव नहीं। अहा! ऐसा कारणपरमाणु!

अब विशेष कहते हैं —

‘वही (परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रुक्षता होने से, सम या विसम बंध को अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है — ऐसा अर्थ है।’

देखो, यहाँ शब्द तो ‘गुण’ है, परन्तु वास्तव में यह स्निग्धता पर्याय है। यह तो भाई! पंचास्तिकाय में अनंत अगुरुलघु की व्याख्या में (गाथा ३१-३२ में) भी नहीं आया ? वह अनंत अगुरुलघु (अंश) है तो पर्याय, तथापि वहाँ भी गुण शब्द का प्रयोग किया है। अहा! भाई! यह कोई शब्द से पार नहीं पड़ता है, परन्तु भाव समझने पर ही काम होता है।

अज्ञानी विरोध करते हैं कि शास्त्र में समकित को गुण कहा होने पर भी तुम उसको पर्याय क्यों कहते हो ?

परन्तु भाई! गुण शब्द तो यहाँ भी कहा है! एक गुण स्निग्धता कहकर चिकनाहट को भी यहाँ गुण कहा है, परन्तु वस्तुतः गुण तो स्पर्श है और यह स्निग्धता तो पर्याय है। अहा! जो परमाणु-रजकण है, उसमें स्पर्श नाम का गुण है। जोकि त्रिकाली है, जबकि यह स्निग्धता तो पर्याय है।

प्रश्न :— परन्तु समकित के आठ गुण कहे हैं न ?

उत्तर :— भाषा तो यही कही जाती है न ? जैसे सिद्ध के आठ गुण कहे जाते हैं; उसीप्रकार समकित के भी निःशंकित आदि आठ गुण कहे जाते हैं। उनको आठ आचार भी कहते हैं और आठ लक्षण भी कहते हैं। अतः वहाँ गुण, आचार, अंग, लक्षण इत्यादि का आशय पर्याय है। तात्पर्य यह है कि समकित पर्याय है। परन्तु क्या हो ? जैसे झगड़ालू (जिद्दी) बालक किसी भी बात में से बात-बात में से झगड़ा निकालता है, उसीप्रकार अज्ञानी कुछ न कुछ विरोध ही निकालता है, परन्तु भाव समझने का प्रयत्न नहीं करता है।

अहा! परमाणु में एक गुण स्निग्धता की पर्याय अथवा एक गुण रुक्षता की पर्याय होने पर, वह परमाणु बंध के अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है।

प्रश्न :— परमाणु को जघन्य क्यों कहा ?

उत्तर :— क्योंकि एक गुण स्निग्धता या रुक्षतावाला परमाणु बंध होनेयोग्य नहीं है, अयोग्य है, इसलिए उसको जघन्य-हलका कहा है।

प्रश्न :- तो फिर परमाणु को कारणपरमाणु क्यों कहा ?

उत्तर :- क्योंकि वह पृथ्वी, जल, तेज और वायु का कारण होता है, इसलिए उसको कारणपरमाणु कहा है। यहाँ कारण परमाणु कहकर यह कहना है कि विविध स्कंधों का कारण वह परमाणु है; परन्तु उन स्कन्धों का कारण आत्मा अथवा आत्मा का ज्ञान अथवा कोई विकल्प है — ऐसा नहीं है। अहा! यह रुपये आते और जाते हैं, उसका कारण इनका परमाणु है; परन्तु उसका कारण तू (आत्मा) नहीं है और तेरा ज्ञान तथा विकल्प भी नहीं है।

प्रश्न :— रुपये आते हैं, वे हमारे पास ही आते हैं न ?

उत्तर :— रुपये किसके पास आते हैं (रुपये तेरे पास कहाँ आते हैं ?) अब जहाँ राग भी तेरे पास नहीं आता, तो फिर यह पैसा तेरे पास कैसे आया ? भारी बात है भाई! आत्मा तो राग से भी विरुद्ध शुद्ध चैतन्यस्वभावमय है; राग भी ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव के समीप नहीं है, दूर है। तब रुपये तेरे समीप आवें — यह बात तू लाया कहाँ से ? (वे तो दूर अति दूर हैं)

क्या राग भी दूर है ?

हाँ, जैसे यह अजीब दूर है, वैसे ही राग भी दूर है। यह राग भी अन्य (आस्रव) तत्त्व है न ? इसलिए वह जीवतत्त्व नहीं है। अहा! एक तत्त्व से दूसरा तत्त्व पृथक् हो तभी उसको दूसरा तत्त्व कहा जा सकता है। वरना 'दूसरा' कैसे कहा जा सकता है ? दूसरे तत्त्व का अर्थ ही यह होता है कि वह अन्य है।

यहाँ कहते हैं कि एक गुण स्निग्धता अथवा रुक्षतावाला परमाणु दो गुण स्निग्धता या रुक्षतावाले परमाणु के साथ सम अथवा विसम बंध के अयोग्य है। इसीप्रकार वही एक गुण स्निग्धता या रुक्षतावाला परमाणु तीन गुण स्निग्धता या रुक्षतावाले परमाणु के साथ भी बंध के अयोग्य है। इसकारण वह एक गुण स्निग्धता या रुक्षतावाला परमाणु जघन्य परमाणु है — ऐसा अर्थ है। जो बंध के योग्य नहीं है, उसको यहाँ जघन्य परमाणु कहा है।

'एक गुण स्निग्धता या रुक्षता के ऊपर, दो गुणवाले का और चार गुणवाले का समबंध होता है तथा तीन गुणवाले का और पाँच गुणवाले का विषमबंध होता है — यह उत्कृष्ट परमाणु है।'

देखो, यह तो दृष्टान्त दिया है। इसका स्पष्टीकरण फुटनोट में इसप्रकार है —

'समबंध अर्थात् समसंख्या के गुणवाले परमाणुओं का बंध और विषम बंध अर्थात् विषम गुणवाले परमाणुओं का बंध। यहाँ टीका में समबंध और विषम बंध का एक-एक उदाहरण दिया है, तदनुसार समस्त समबंध और विषमबंध समझ लेना।'

यहाँ कहना यह है कि इतना ही (उदाहरण में है इतना ही) बंध नहीं लेना, परन्तु जैसे तीन गुण और पाँच का बंध लिया है, वैसे ही पाँच गुण का और सात गुण का, सात गुण का और नौ गुण का — इसप्रकार आगे बढ़ा लेना — विषमबंध में इसतरह लेना।

तथा समबंध में दो और चार गुणों का बंध लिया है तो मात्र इतना ही नहीं लेना। यह तो दृष्टान्तमात्र है, परन्तु फिर चार और छह गुण का, छह और आठ गुण का, आठ और दस गुण का — इसतरह आगे-आगे सर्वत्र दो गुण अधिक लेना। समबंध में इसतरह लेना — यह कहते हैं। इसप्रकार जो बंध होनेयोग्य है, उसको उत्कृष्ट परमाणु कहते हैं।

देखो, परमाणु अनंत स्निग्धता या रुक्षतारूप से परिणमें तो वह उत्कृष्ट परमाणु है - ऐसा नहीं कहना है। यहाँ तो सम अथवा विषमबंध के योग्य को उत्कृष्ट परमाणु कहा है। अहा! जो बंध होने के अयोग्य है, उसको जघन्य परमाणु और जो बंध होने के योग्य है, उसको उत्कृष्ट परमाणु कहते हैं। भले ही वह तीन, पाँच, नौ, ग्यारह गुण अथवा दो, चार, छह, आठ गुण इत्यादि स्निग्धता या रुक्षतारूप हो तो भी उसको उत्कृष्ट परमाणु कहते हैं। उस परमाणु की जाति ही अलग है। अर्थात् उस परमाणु में दो अधिक गुणवाले अन्य परमाणु के साथ संबंध होने की योग्यता हुई है और उसको उत्कृष्ट परमाणु कहा है।

अहा! इस नियमसार की भाषा ही कोई अलग है; परन्तु यह गाथा में है या नहीं? देखो न! कारण-कार्य तो गाथा में ही है; इसलिए उसमें से टीकाकार ने जघन्य और उत्कृष्ट की बात की है।

‘गलते अर्थात् पृथक् होते पुद्गल द्रव्यों के अंत में-अवसान में (अन्तिम दृश्य में) स्थित वह कार्यपरमाणु है (अर्थात् स्कन्ध खंडित होते-होते जो छोटे से छोटा अविभाग भाग रहता है वह कार्यपरमाणु है)।’

पृथक् परमाणु, वह कार्यपरमाणु है। वह पृथक् रहने के योग्य हो गया है न ? इसलिए स्कन्ध में से पृथक् पड़ा वह कार्यपरमाणु है और स्कन्ध का कारण हो वह कारणपरमाणु है। देखो, यह पुद्गल की स्थिति का वर्णन! अहा! ऐसा वर्णन सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं हो ही नहीं सकता।

‘(इसप्रकार) अणुओं के (परमाणुओं के) चार भेद हैं - कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट। वह परमाणु द्रव्यस्वरूप में स्थित होने से उसे विभाव का अभाव है।’

कहते हैं — उसको विभाव का अभाव है। किसको ? कि परमाणु को। क्योंकि

परमाणु तो अपने स्वरूप में है और उसको विभाव नहीं है। दो परमाणु में जुड़ान नहीं है, इसलिए उसमें विभाव का अभाव है।

‘इसलिए (उसे) परमस्वभाव है।’

परमाणु का परमस्वभाव है। इसप्रकार यहाँ —

१. जो स्कंध का कारण हो। उसे कारणपरमाणु कहा।
२. स्कंध से पृथक् पड़ते-पड़ते जो (अन्तिम) भाग रहता है, उसे कार्य-परमाणु कहा।

३. स्कंध में जुड़ने का कार्य करनेवाले को उत्कृष्ट परमाणु कहा अर्थात् जिसको स्कन्ध होने के योग्य स्निग्धतादि हो, वह उत्कृष्ट परमाणु है।

४. जो स्कंध होनेयोग्य नहीं है, उसे जघन्य परमाणु कहा।

अहा! यह बात श्वेताम्बर में भी कहीं नहीं है। पुद्गल की इसप्रकार की बात अन्यत्र कहीं है ही नहीं। यहाँ तो सनातन पूरी बात ही अलग है।

अहा! परमाणु, स्कंध का कारण है, इसलिए वह कारणपरमाणु है। तथा उसी परमाणु को दोनों बातें लागू पड़ती हैं। टीका में भी यही है कि ‘वही परमाणु...’ अर्थात् जो यह एक परमाणु-रजकण-प्वाइन्ट है, उसको ही जघन्य और उत्कृष्ट — ये दो बातें लागू पड़ती हैं। देखो, यह वस्तुस्वभाव! अहा! भले ही क्षेत्र छोटा है, तो भी वह परमाणु द्रव्य है और इसकारण उसको क्षेत्र की विशालता की क्या जरूरत है ? तो,

१. एक परमाणु का ऐसा स्वभाव है कि वह स्कंध का कारण होता है, इसलिए वह कारणपरमाणु है।

२. यदि उसी परमाणु में एक गुण स्निग्धतादि होवे तो वह परमाणु बंध होने के अयोग्य है, इसलिए उसको जघन्य परमाणु कहते हैं।

३. यदि उसी परमाणु में दो, तीन, चार, पाँच आदि गुण स्निग्धतादि होवे तो, वह बंध के योग्य होने से, उत्कृष्ट परमाणु कहते हैं। ध्यान रहे वही परमाणु और

४. स्कंध के अन्तिम अविभागी टुकड़े को अर्थात् स्कंध के टुकड़े करते-करते जो अन्तिम अविभागी अंश-भाग रह जाता है, उसको कार्यपरमाणु कहते हैं। इसप्रकार परमाणु के चार प्रकार हुए।

देखो, यह वस्तु का-जड़ का-स्वतः स्वभाव! यद्यपि परमाणु को तो कुछ भी पता नहीं है, परन्तु ज्ञानस्वरूपी आत्मा को सब पता है कि परमाणु में ऐसा होता है।

प्रश्न :— तो ऐसी बात अन्य कहीं भी क्यों नहीं है ?

उत्तर :— क्योंकि अन्यत्र (अन्यमत में) सर्वज्ञ नहीं है। इसलिए अन्य में कल्पनामात्र मिथ्या बात ही होती है। मिथ्या में यह सत्य कैसे हो सकता है

अब प्रवचनसार गाथा १६५-१६६ का आधार देते हैं —

परमाणु के परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों.....'

देखो! परमाणु, जो कि एक रजकण, प्वाइन्ट है, उसके परिणाम अर्थात् पर्यायें स्निग्धतारूप हो या रूक्षरूप हो तथा सम अर्थात् दो, चार, छह अंशवाले आदि हो या विषम अर्थात् तीन, पाँच, सात अंशवाले आदि हो....

'यदि समान की अपेक्षा दो अधिक अंशवाले हों तो बंधते हैं; जघन्य अंशवाला नहीं बंधता।'

कहते हैं — दो अंशवाला उससे दो अंश अधिक ऐसे चार अंशवाले के साथ, तीन अंशवाला, उससे दो अंश अधिक ऐसे पाँच अंशवाले के साथ बंधता है। इसीप्रकार सात अंशवाला उससे दो अंश अधिक ऐसे नौ अंशवाले के साथ और आठ अंशवाला उससे दो अंश अधिक ऐसे दश अंशवाले के साथ बंधता है। इसी अनुसार परमाणु अपने से दो अंश अधिकवाले के साथ बंधता है, परन्तु एक अंशवाला नहीं बंधता अर्थात् एक अंशवाला परमाणु बंध के योग्य नहीं है। इसीप्रकार आत्मा में भी अवगुण का जघन्य अंश उसके बंध का कारण नहीं है।

आशय यह है कि मोह का-राग का जो अन्तिम जघन्य अंश है, वह स्वयं अपने (मोह के) बंध का कारण नहीं है। अहा! राग का अन्तिम अंश राग को बांधे - ऐसा नहीं हो सकता। जैसे यहाँ परमाणु में एक गुण स्निग्धता अथवा एक गुण रूक्षता की जो अवस्था है, वह बंध के योग्य नहीं है; इसीप्रकार आत्मा में भी जो क्रोध, मान, माया और दर्शनमोह है - दर्शन में सम्यक्त्व मोह लो तो भी, उसका जो अन्तिम अंश है, वह बंध का कारण नहीं है। अहा! समकितमोह का अन्तिम अंश दर्शनमोह को नहीं

बाँधना; क्योंकि वह अन्तिम (जघन्य) अंश है न; इसीप्रकार जो रागादि का अन्तिम अंश है, वह भी अपने को नहीं बाँधता। वह राग का अंश अन्य छह कर्म के बंध का कारण भले ही हो; परन्तु अपने को नहीं बाँधता। ऐसा ही वस्तु का स्वतः स्वभाव है।

‘स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रुक्ष) परमाणु के साथ बंध का अनुभव करता है अथवा रुक्षता के तीन अंशवाला परमाणु पाँच अंश वाले के साथ जुड़ा हुआ बंधता है।’

यह तो दृष्टान्त दिया है कि तीन अंशवाला रुक्ष परमाणु पाँच अंशवाले परमाणु के साथ बंध को प्राप्त होता है। यों तो तीन अंश स्निग्धतावाला परमाणु पाँच अंशवाले स्निग्धतावाले परमाणु के साथ भी बंधता है तथा देखो, यहाँ ‘अनुभव करता है’ — ऐसा शब्द है।

प्रश्न :— परमाणु को अनुभव करता है - ऐसा कहा है ?

उत्तर :— अनुभव करता है का अर्थ यह है कि अनुसर कर होता है।

तो कहते हैं कि रुक्ष हो या स्निग्ध हो, कोई भी हो; दो अंश और चार अंशवाला, तीन अंश और पाँच अंशवाला — ऐसे इस अनुसार परमाणु बंधते हैं; परन्तु एक अंशवाला नहीं बंधता। भाई! ‘एकड़े एक और बिगड़े दो’ अर्थात् एक अंशवाला नहीं बंधता; परन्तु दो अथवा अधिक अंशवाला बंध के योग्य होने से बंधता है। पुद्गल का भी ऐसा स्वभाव है कि एक अंशवाला जघन्य परमाणु नहीं बंधता, क्योंकि वह बंध के अयोग्य है।

कलश ३९ पर प्रवचन

‘उन छह प्रकार के स्कन्धों अथवा चार प्रकार के अणुओं के साथ मुझे क्या है..’

कहते हैं कि यह छह प्रकार के स्कन्ध और चार प्रकार के अणु कहे गये हैं। तो वे हो, परन्तु मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् वे मेरे कुछ (संबंधी) ही नहीं हैं। क्यों ? क्योंकि वह तो परवस्तु है और मैं तो जाननहार... जाननहार... जाननहार... — ऐसा ज्ञानस्वरूप हूँ और वह भी स्वयं में रहकर अपने से जाननेवाला हूँ।

‘मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को पुनः पुनः भाता हूँ।’

अहाहा...! मेरा प्रयोजन तो अतीन्द्रिय आनंद है। इसलिए मैं तो सहज आनंदस्वरूप निज आत्मा को भाता हूँ। यहाँ तो (कथन करनेवाले) मुनिराज हैं न! तो कहते हैं पुनः-पुनः अक्षय शुद्ध आत्मा को भाता हूँ। अहाहा....! अंदर मेरा आत्मा अक्षय आनंद का धाम सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। अतः मैं पुनः-पुनः वहाँ ही एकाग्र होता हूँ।

अहाहा...! मुझे तो एक आनंद का ही प्रयोजन है और आनंद तो मेरे पास ही है। अर्थात् मैं ही अक्षय आनंद का पिण्ड हूँ; इसलिए मैं तो ऐसे अक्षय-क्षय न हो ऐसा — शुद्धात्मा को अर्थात् पूर्णानंदमय निज द्रव्यस्वभाव को पुनः-पुनः भाता हूँ। कलश में **भावयामि मुहुर्मुहुः** ऐसा शब्द है न ? अर्थात् पुनः पुनः भाता हूँ — इसका अर्थ क्या है ? क्या यह विकल्प है ? नहीं भाई ! यह तो अंतर-एकाग्रता की बात है। मुनिराज अंतर-एकाग्रता करके बारम्बार स्वरूप में लीन होते हैं - ऐसी बात है। बापू! मार्ग ऐसा है।

अहाहा...! कहते हैं लोक में छह प्रकार के स्कन्ध और चारप्रकार के परमाणु हों तो हों। अब इसमें ये कर्म और नोकर्म सब आ गये हैं। मुनिराज कहते हैं मुझे इन सबसे क्या काम है ? मुझे इन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। मुझे तो अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति का ही एक प्रयोजन है और यह एक ही काम है, इसलिए मैं तो अक्षय आनंद के धाम निज शुद्धात्मा में बारम्बार एकाग्र होकर लीन होता हूँ। अहा...! मेरा परम शुद्ध आत्मा अनंत-आनंद और अनंत शान्ति से पूर्ण भरा अक्षय-आनंद का धाम है, अतः मैं अन्तर्मुख होकर उस आत्मा को पुनः पुनः भाता हूँ। देखो, यह कहकर मुनिराज कहते हैं कि यही करनेयोग्य काम है।

लो, इसप्रकार सार यह निकाला कि अजीव जाननेयोग्य है, परन्तु उसको जानकर, फिर उसका लक्ष्य छोड़कर स्वरूप की भावना और स्वरूप में ही लीनता करना ही प्रयोजन है। ●

मुझे अपने गुण-पर्याय की आवश्यकता है और किसी की नहीं - इसका नाम वैराग्य है। जो अपने में है, उसकी अपेक्षा और अपने में जो नहीं है; उस सबकी उपेक्षा - ऐसे अपने अस्तित्व की प्रतीति होना, वह ज्ञान है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२२६

नियमसार गाथा-२६

अतादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिद्यग्गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥२६ ॥

आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नैवेन्द्रियैर्ग्राह्यम् ।
अविभागि यद्द्रव्यं परमाणुं तद् विजानीहि ॥२६ ॥

(हरिगीत)

जो आदि में भी आप है मध्यान्त में भी आप ही ।
अविभाग, इन्द्रिय ग्राह्य नहीं, परमाणु सत् जानो वही ॥२६ ॥

गाथार्थ :— स्वयं ही जिसका आदि है, स्वयं ही जिसका मध्य है और स्वयं ही जिसका अन्त है (अर्थात् जिसके आदि में, मध्य में और अन्त में परमाणु का निजस्वरूप ही है), जो इन्द्रियों से ग्राह्य (जानने में आनेयोग्य) नहीं है और जो अविभागी है, वह परमाणुद्रव्य जान ।

टीका :— यह, परमाणु का विशेष कथन है ।

जिसप्रकार सहज परम पारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य और अनित्य निगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है, उसीप्रकार पंचमभाव की अपेक्षा से परमाणुद्रव्य का परमस्वभाव होने से परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है, स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य है और स्वयं ही अपना अन्त भी है (अर्थात् आदि में भी स्वयं ही, मध्य में भी स्वयं ही और अन्त में भी परमाणु स्वयं ही है, कभी निजस्वरूप से च्युत नहीं है) । जो ऐसा होने से, इन्द्रियगोचर न होने से और पवन, अग्नि इत्यादि द्वारा नाश को प्राप्त न होने से, अविभागी है, उसे हे शिष्य! तू परमाणु जान ।

(अब २६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(अनुष्टुभ्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः ।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठन्ति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥४० ॥

(वीरछन्द)

जड़ पुद्गल की स्थिति पुद्गल में ही जो ऐसा जानें।
सिद्ध प्रभु वे निज चैतन्य स्वरूप मात्र में क्यों न रहें ॥४०॥

(श्लोकार्थः—) जड़ात्मक पुद्गल की स्थिति स्वयं में (पुद्गल में ही) जानकर (अर्थात् जड़स्वरूप पुद्गल पुद्गल के निज स्वरूप में ही रहते हैं — ऐसा जानकर), वे सिद्धभगवन्त अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे ? (अवश्य रहेंगे) ॥४०॥

गाथा-२६ की टीका पर प्रवचन

अहा! परमाणु को क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना अत्यन्त छोटा होने पर भी, उसमें जीव के गुणों की संख्यावत् अनंतगुण हैं। भले ही उसमें चेतनगुण नहीं है, तो भी उसमें जीव जितने ही अनंत जड़ गुण हैं। अर्थात् एक आत्मा में गुणों की जितनी संख्या है। उतने ही जड़ गुणों की संख्या एक परमाणु है। परन्तु आत्मा के गुण उसमें नहीं हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन आदि अनंतगुण हैं, उसीतरह उतने ही अनंत जड़ गुण परमाणु में हैं। अहा! परमाणु में जीव के जैसे चेतनगुण नहीं हैं, परन्तु संख्या में उतने ही जड़ गुण एक परमाणु में हैं। अहा! एक प्रदेशी परमाणु में भी जीव के जितने ही अनंत जड़ गुण हैं।

परन्तु यह जानने से क्या काम है ?

जब परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी वस्तुस्वभाव है, तो आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् उसके स्वभाव का क्षेत्र तो असंख्यप्रदेशी है और वह ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा है। अतः अन्दर में उसके एक ज्ञायकस्वभाव की महिमा लाकर, उसका आश्रय करना और उसकी ही भावना करनी चाहिए। लो, यह करनेयोग्य है। यदि सुखी होना होवे तो पुनः-पुनः भी पढ़-पढ़कर भी, सब जानकर भी करना तो यह है।

यहाँ कहते हैं कि 'यह परमाणु का विशेष कथन है।' और कहते हैं कि 'जिसप्रकार सहज परमपारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनय की अपेक्षा से...'

'सहज परमपारिणामिकभाव' अर्थात् आत्मा का स्वाभाविक त्रिकाली ध्रुव परमभाव, और उसकी विवक्षा का आश्रय करनेवाले अर्थात् उसके कथन का तथा उसके भाव का

आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनय की अपेक्षा से....अहा! जिसमें सहज परमपारिणामिक-भावस्वरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की ही विवक्षा है। अर्थात् जिसमें उदयभाव की, उपशमभाव की, क्षयोपशमभाव की अथवा क्षायिकभाव की विवक्षा नहीं है, परन्तु जिसमें त्रिकाली ध्रुव परमस्वभाव भाव एक ज्ञायकभाव की ही विवक्षा है — ऐसे सहज-स्वाभाविक निश्चयनय की अपेक्षा से.....। अहा! इस अपेक्षा से क्या बात है ? तो कहते हैं कि इस अपेक्षा से भगवान आत्मा नित्य है अर्थात् भगवान आत्मा कभी भी नित्यपने से च्युत नहीं होता। अहा! परम स्वभावभाव एक ज्ञायकभाव से आत्मा कभी च्युत नहीं होता। सूक्ष्म बात है प्रभु! अहाहा...!

‘जिसप्रकार सहज निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य और अनित्य निगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है...।’

कहते हैं कि निगोद से लेकर सिद्ध तक की पर्याय में रहे हुए समस्त जीवों के, द्रव्य का जो परमस्वभावभाव है, उससे वे कभी च्युत नहीं होते।

यह आत्मा जो नित्यवस्तु है, वह कैसी है ? अहाहा...! सहज परमपारिणामिकभाव स्वरूप भगवान आत्मा है। अहा! एक ज्ञायकभाव जिसका परमस्वभावभाव है, उस आत्मा का कथन करनेवाले सहज निश्चयनय की अपेक्षा से भगवान आत्मा नित्य...नित्य... नित्य त्रिकालध्रुव है। अहाहा...! अनंतज्ञान, अनंत आनंद, अनंत शान्ति, अनंत स्वच्छता, अनंत प्रभुता आदि ऐसी अनंत शक्तियों से भरपूर भरा आत्मतत्त्व, उसके सहज परम पारिणामिकभाव की अपेक्षा से नित्य है। अहा! सभी आत्माएँ इसीप्रकार नित्य हैं। अहा! सहज परमपारिणामिकभाव को कहनेवाले सहज निश्चयनय से निगोद से लेकर सिद्ध तक की पर्यायवाले सभी जीव त्रिकाल नित्य हैं, वे कभी नित्यपने से च्युत नहीं होते — ऐसे अच्युत हैं। ओहो....! वस्तु के स्वभाव को कहने की दिगम्बर संतों की क्या अलौकिक शैली है! बापू! वस्तु के स्वभाव का ऐसा वर्णन अन्यत्र कहाँ है ? वह तो जो है, वह बाहर आया है, वरना अन्यत्र कहीं ऐसी बात है ही नहीं।

अहाहा....! जिसप्रकार परमाणु स्वयं स्वयं से अपने आदि-मध्य-अन्त में है, उसीप्रकार आत्मा भी वस्तुस्वभाव की-परमस्वभाव की अपेक्षा से कभी स्वयं से च्युत नहीं होता। अहा! वस्तु तो ध्रुव ऐसी की ऐसी त्रिकाल है अर्थात् स्वयं ही अपनी आदि में है, स्वयं ही अपने मध्य में है और स्वयं ही अपने अन्त में है। कहा है न — ‘नित्य

और अनित्य निगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त।' अहाहा....! आत्मा का परमस्वभावभाव, जोकि ध्रुव-त्रिकाल है; वह निगोद से लेकर सिद्ध तक की पर्यायों में नहीं आया। अर्थात् वह पर्यायमय नहीं हुआ और नित्यपने से च्युत नहीं हुआ। अहाहा....! भगवान आत्मा ऐसा त्रिकालध्रुव चैतन्यमय हीरा है! उसका क्या मूल्य करना ? अहा! जिसका मूल्यांकन करने पर अपनी बुद्धि भी मूल्यवान हो जाती है, उसका क्या मूल्य करना ? वह तो ऐसी अचिन्त्य अमूल्य चीज है।

अहाहा....! जिसको किसी पर्याय की-उदयादिभाव की अपेक्षा नहीं है — ऐसा सहज परमपारिणामिकभावस्वरूप भगवान आत्मा अलौकिक वस्तु है और उस परमस्वभाव-भाव को कहनेवाले सहज निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा त्रिकाल नित्य है। अहा! जैसे परमाणु के आदि-मध्य-अंत में वह स्वयं ही है; उसीप्रकार आत्मा के परमपारिणामिक-भाव में-नित्यपने में भी स्वयं ही त्रिकाल कायम है, वह कभी उसमें से च्युत नहीं हुआ है।

अहा! निगोद से लेकर सिद्ध तक के सर्व जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है। किस नय से ? सहज परमपारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले अर्थात् उसको कहनेवाले सहज निश्चयनय से वे सब ही अच्युत हैं, नित्य हैं। अहा....! सर्व जीवों का चाहे तो पर्याय में निगोदपना हो या पर्याय में त्रसपना हो अथवा पर्याय में सिद्धपना हो, इन सर्व जीवों का-निजस्वरूप से अच्युतपना निश्चयनय से कहा गया है। सहज निश्चयनय से सबका नित्यपने से अच्युतपना कहा गया है। अहो! क्या टीका है!!

भाई! दशा में निगोद की पर्याय हो या सातवें नरक के नारकी की पर्याय हो अथवा अन्तिम ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि की पर्याय हो या क्षायिक समकिति की पर्याय हो अथवा सिद्ध की पर्याय हो; अहा! निगोद से लेकर जिसमें अनंत-आनंदादि प्रगट हुए हैं — ऐसी सिद्धपर्याय तक की कोई भी पर्याय प्रगट हो; यहाँ कहते हैं कि वस्तु-आत्मा अपने परमस्वभावभाव से नित्य है, वह कभी नित्यपने से च्युत नहीं हुआ है। सभी अनंतजीव निजस्वरूप से अच्युत हैं। भाई! टीका गजब की है!

‘नित्य और अनित्य निगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त रहनेवाले जीवों का...’ ऐसा

पाठ है न ? अर्थात् इस लोक में एक जीव नहीं; अपितु बहुत अनंतजीव हैं तथा यहाँ निगोद से लेकर सिद्ध तक के जीव लिये हैं न ? तो मिथ्यादृष्टि के त्रस और स्थावरमय अनंतजीव हैं, सिद्धजीव भी अनंत हैं और बीच में जिनको साधकपना और किंचित् बाधकपना है - ऐसे असंख्य जीव भी हैं। इन सभी जीवों का, सहज निश्चयनय से निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है। अर्थात् सर्व विविध अवस्थाओं में रहनेवाले वे जीव निज परमस्वभावभाव से च्युत नहीं होते।

देखो, निगोद के जीव को अक्षर के अनंतवें भाग मात्र ही ज्ञान की पर्याय प्रगट है, जबकि भगवान केवली को और सिद्ध को पूर्णज्ञान की-केवलज्ञान की पर्याय प्रगट है और बीच में ही साधक जीवों को मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट है अर्थात् सभी पंचेन्द्रिय तक के मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय में तीव्र मिथ्यात्वरूप परिणमते हैं, जबकि केवली और सिद्ध अनंत केवलज्ञानादिरूप परिणमते हैं। तो भी कहते हैं कि वे सब जीव भले ही संसारी हों या सिद्ध हों — अपने निज ध्रुवस्वरूप से कभी च्युत नहीं हुए और न कभी च्युत होंगे। वाह! देखो न, दो पंक्तियों में कितना सार भर दिया है ?

अहा! परमाणु जैसे अजीव अचेतन पदार्थ को भी रहने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं ही स्वयं से स्वयं में अपने आदि-मध्य-अन्त में है। अहा! इसीप्रकार भगवान आत्मा निगोद से लेकर सिद्ध तक...., अहा! बीच में अन्य सब भी आ गये न ? एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव आ गये या नहीं ? आ गये। ये मांसभक्षी सिंह, बाघ और भालू आदि सब आ गये। तो कहते हैं कि — ऐसी-ऐसी पर्यायों में रहनेवाले तीव्र गृहीत मिथ्यात्व की पर्याय में, सम्यग्दर्शन की साधक की पर्याय में अथवा सिद्ध की पर्याय में रहनेवाले उन सभी जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है अर्थात् उस-उस पर्याय के समय भी नित्य ध्रुव वस्तु तो कभी अपने स्वरूप से च्युत हुई ही नहीं। अहा! वह त्रिकाली ध्रुवस्वभावभाव कभी पर्याय में आया ही नहीं! कहो, ऐसी बात अब अन्यत्र कहाँ है ? यहाँ बात तो परमाणु की करनी है, तथापि उसमें आत्मा के स्वभाव की बात भी साथ ही कर दी है। अब कहते हैं —

‘...उसीप्रकार पंचमभाव की अपेक्षा से परमाणु द्रव्य का परमस्वभाव होने से परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है, स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य

और स्वयं ही अपना अन्त भी है (अर्थात् आदि में भी स्वयं ही, मध्य में भी स्वयं ही और अन्त में भी परमाणु स्वयं ही है, कभी निजस्वरूप से च्युत नहीं है।)....

देखो, यहाँ परिणमते शब्द से परिणति अर्थात् पर्याय - ऐसा नहीं लेना है; क्योंकि यहाँ पंचमभाव की-त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से कथन है। परमाणु के पंचमभावस्वरूप जो उसका त्रिकाली परमस्वभाव है, त्रिकाली ध्रुवभाव है — यहाँ उसकी बात है। यों तो उसकी पर्याय भी पारिणामिक भाव की ही पर्याय है, परन्तु यहाँ उसको सिद्ध नहीं करना है। अहा! पाठ में 'अत्तादि' इत्यादि है न ? तो कहते हैं स्वयं जो वस्तु है-जो सूक्ष्म एक परमाणु है, वह स्वयं ही अपनी आदि है, वह स्वयं ही अपना मध्य है और वह स्वयं ही अपना अन्त है। यद्यपि कथन में भेद पड़ता है, परन्तु वस्तु में ऐसा कोई भेद नहीं है।

अहाहा...! कहते हैं — 'उसीप्रकार पंचमभाव की अपेक्षा से....'

यह किसका पंचमभाव है ?

परमाणु का। तो पंचमभाव की अपेक्षा से 'परमाणु द्रव्य का परमस्वभाव होने से परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है' अर्थात् परमाणु स्वयं ही अपने भाव का-स्वभाव का आदि है। यहाँ परिणति शब्द से पर्याय नहीं कहना है, अपितु उसका भाव-स्वभाव कहना है। उसीप्रकार 'स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य है।' अहा! स्वभाव का मध्य भी स्वयं ही ध्रुववस्तु-द्रव्य है और स्वयं ही अपना अन्त भी है। अर्थात् अपनी आदि-मध्य-अन्त में परमाणु द्रव्य स्वयं ही है। देखो, यह सार निकला। परिणति अर्थात् पर्याय का यहाँ काम (प्रयोजन) नहीं है; क्योंकि यहाँ पंचमभाव की अपेक्षा से कथन है और उसका (परमाणु का) पंचमभाव लिया है। भाई! यहाँ द्रव्य को-परमार्थ द्रव्य को ही सिद्ध करना है।

अहा! एक परमाणु भी अतीन्द्रिय वस्तु है और आकाश के एक प्रदेश में ऐसे अनंत परमाणुओं के अनंत स्कन्ध समा जाते हैं। अहा! ऐसा एक परमाणु है! अहा! उसकी आदि-मध्य-अन्त में वह वस्तु-द्रव्य स्वयं ही है। अहा! वह परमाणु कभी निजस्वरूप से च्युत नहीं होता।

वह जो परमाणु द्रव्य है, वह कभी स्निग्धता या रुक्षता की पर्याय में नहीं आया।

एक गुण स्निग्धता हो, दो गुण स्निग्धता हो, तीन गुण स्निग्धता हो, बंध के योग्य हो अथवा बंध के अयोग्य हो — पंचमभाववाला यह जो तत्त्व-वस्तु-द्रव्य है, वह कभी पर्याय में नहीं आता। अहा! परमाणु की जो पर्याय है, वह तो पारिणामिकभाव की ही पर्याय है; क्योंकि उसको उदय या ऐसा कोई भाव नहीं है, तथापि वह जो वस्तु, जो कि पंचमभावस्वरूप ध्रुव शक्तिरूप भाव है, वह पर्याय में नहीं आती। अहा! देखो तो सही! वस्तु छोटी है या बड़ी — ऐसे उसके क्षेत्र को नहीं देखना, परन्तु उसका स्वभाव क्या है, यह देखना। अहा! एक परमाणु का स्वभाव भी ऐसा है कि एक गुण स्निग्धता हो या अनंतगुण स्निग्धता हो; एक गुण रुक्षता हो या अनंतगुण रुक्षता हो, वह भारीपने परिणमा हो या हलकापने परिणमा हो; परमाणु द्रव्य तो जो है वही है, वह पर्याय में आता ही नहीं। अहा! वह कभी निजस्वरूप से च्युत नहीं होता। अहा! अब ऐसा (वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन) सर्वज्ञ के अलावा अन्य कहाँ मिल सकता है ?

अहा! कहते हैं 'वह कभी निजस्वरूप से च्युत नहीं है।' अर्थात् पंचमभाववाला अजीव परमाणु तत्त्व अपनी पर्याय में नहीं आया। अहा! सुगंध की पर्याय हो या दुर्गन्ध की पर्याय हो; स्निग्धता की पर्याय हो या रूक्षता की पर्याय हो; शीतलता की पर्याय हो या उष्णता की पर्याय हो; भारीपन की पर्याय हो या हलकापन की पर्याय हो, पंचमभाव उसमें नहीं आया।

प्रश्न :— परमाणु में भारी पर्याय है ?

उत्तर :— हाँ है; परमाणु की भारी पर्याय है। देखो, विशेषता! कि स्कन्ध में परमाणु की भी भारी-हलकी पर्याय हुई है। तथापि परमाणु (द्रव्य-स्वभाव) उससे पृथक् है, उस भारी-हलकी पर्याय में पंचमभावमय द्रव्य नहीं आया है। अहा! देखो न! यह कितना लॉजिक है ? बापू! यह तो वस्तुविज्ञान है।

प्रश्न :— शरीर में परमाणु भारी है न ? इसलिए वह परमाणु स्कन्ध में आया तो इतना बदला या नहीं ? परमाणु स्कन्ध में आया तब भारीपन की पर्याय हुई न ? अतः वह भारी पर्याय पर के कारण हुई न ?

उत्तर :— नहीं, ऐसा नहीं है, परमाणु स्कन्ध में आया, इसलिए भारी पर्यायरूप परिणमा है — यह बात सत्य नहीं है। वह तो परमाणु की पर्याय उस काल में स्वयं

से वैसी हुई है और उस भारीपन की पर्यायरूप से परिणमता है, इसलिए द्रव्य (पंचम-भाव) उस पर्याय में आया है — ऐसा भी नहीं है। ऐसी परमाणु की व्याख्या! ऐसा बहुत सूक्ष्म! अहा! यहाँ परमाणु की व्याख्या है, अतः ऐसा नहीं मानना कि भला परमाणु की व्याख्या में क्या होगा ? भाई! इसमें तो भगवान आत्मा की व्याख्या भी समा जाती है।

अहा! परमाणु की कोई भी पर्याय हो, भारी-हलकी पर्याय हो या कठोर-नरम पर्याय हो; वह किसी भी पर्यायरूप हुआ हो, तो भी उससमय परमाणु द्रव्य (पंचमभाव) उसमें नहीं आया; कारण कि वह पर्याय पर्यायपने हुई है और द्रव्य तो ध्रुवपने-नित्यपने रहा है। अहा! द्रव्य तो पर्याय में आता ही नहीं न ? क्योंकि जब दो अंश ही भिन्न हैं, वहाँ द्रव्य पर्याय में कैसे आवे ?

इसप्रकार भगवान आत्मा निगोद से लेकर.....अहाहा.....! देखो, इसमें जीवों की कितनी अवस्थायें ली हैं ? और कितने जीव लिये हैं ? अहा....! निगोद के एक शरीर में अनंतजीव हैं। भाई! इस अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने शकरकंद में असंख्य शरीर हैं, और उस एक-एक शरीर में सिद्ध की अपेक्षा भी अनंतगुने अनंतजीव हैं। तो पंचमभाव स्वरूप द्रव्य उन सब पर्यायोंरूप नहीं हुआ है। ओहो...! कहते हैं भले ही अभव्य की पर्याय हो या तीव्र मिथ्यात्व की पर्याय हो अथवा तीव्र पापाचार की पर्याय हो; कैसी ? कि दो-दो मील में पशुओं को काटने का कारखाना-कषायखाना खोले — ऐसी पापाचार की पर्याय हो, तो भी परमभावस्वरूप द्रव्य उसमें नहीं आया; क्योंकि द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल नित्य है। तथा जो सिद्धपने परिणमन है, द्रव्य तो उस पर्यायरूप भी नहीं हुआ है, द्रव्य तो उस पर्याय में भी नहीं आया है; क्योंकि द्रव्य तो ऐसा का ऐसा अभेद एकरूप ध्रुव नित्य है। अहाहा....! ऐसा जो अन्दर ज्ञान और आनंद का कंद भगवान ज्ञानस्वरूप नित्य आत्मा है, तू उसकी अंतर-एकाग्रता कर! भाई! यही तेरे कल्याण का मार्ग है। शेष अन्य सब व्रत, तप और भक्ति आदि कर-करके तो तू हैरान हो गया है, क्योंकि वह सब तो राग और काय-क्लेश है।

अब कहते हैं 'जो ऐसा होने से, इन्द्रियज्ञानगोचर न होने से और पवन, अग्नि इत्यादि द्वारा नाश को प्राप्त न होने से, अविभागी है उसे, हे शिष्य! तू परमाणु जान!'

लो, उसको तू परमाणु जान — ऐसा कहते हैं। योगसार में भी कहा है न कि तू छह द्रव्यों को प्रयत्न से जान! छह द्रव्य का व्यवहारज्ञान तू प्रयत्न से कर।

कलश ४० पर प्रवचन

जड़-आत्मक पुद्गल की स्थिति स्वयं में (पुद्गल में ही) जानकर (अर्थात् जड़-स्वरूपरूप पुद्गल पुद्गल के निजस्वरूप में ही रहते हैं ऐसा जानकर), वे सिद्ध भगवंत अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे ? (अवश्य रहेंगे)

अहाहा...! कहते हैं जब ऐसा जड़ परमाणु भी अपने में रहता है, अहा! जिसको कोई भान नहीं है, जिसमें कुछ ज्ञान नहीं है - ऐसा परमाणु भी जब स्वयं अपने में द्रव्यस्वरूप से नित्य-कायम रहता है, तब वे सिद्धभगवंत अपने नित्य एक चिदानन्दमय स्वरूप में ही क्यों नहीं रहेंगे ? यहाँ 'सिद्ध भगवंत' — ऐसी भाषा ली है, तथापि बात तो समस्त आत्माओं की है। यानी कि जब परमाणु भी अपने द्रव्यस्वरूप में त्रिकाल रहता है तो फिर सिद्धस्वरूपी ऐसा भगवान आत्मा स्वरूप में क्यों नहीं रहेगा ?

अहा! यह आत्मा अपने द्रव्य में क्यों नहीं रहेगा ? यानी कि द्रव्य तो ऐसा का ऐसा त्रिकाल है, तो वहाँ (दृष्टि) क्यों नहीं जायेगी ? सारभूत बात है भाई! अहो! दिगम्बर संतों की जड़ की कथनी होवे तो भी अलग और चैतन्य की कथनी होवे तो भी अलग! उनकी शैली ही अलग अनोखी है!! अहा! अज्ञानी मानता है कि यह सम्प्रदाय-बाड़ा है, परन्तु ऐसा नहीं है। भगवान! यह तो वस्तुस्थिति की बात है।

कहते हैं - जब परमाणु भी अपनी जड़पने की स्थिति से च्युत नहीं होता, तो फिर त्रिकाल द्रव्यस्वभावी भगवान आत्मा अपने से च्युत कैसे हो ? नहीं होता और जहाँ ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ वह दृष्टि भी स्वरूप में ही रहती है - ऐसा कहते हैं। अहा! जो निजस्वरूप से कभी च्युत नहीं होता - ऐसे स्वरूप का जिसको ज्ञान होता है, वह उसी में रहता है। अर्थात् आत्मा तो स्वरूप में रहा ही है, परन्तु स्वरूप की दृष्टि होने पर दृष्टि भी वहाँ ही स्थित रहती है।

अहा! जब जड़-पुद्गल परमाणु भी अपने स्वभाव में नित्य स्थित रहता है, तो फिर यह स्वयं एक ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा है, वह अपने में स्थित क्यों नहीं रहेगा — ऐसा कहते हैं। भाई! जब इसकी ज्ञान की पर्याय में यह निर्णय होता है कि यह भगवान ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ऐसा का ऐसा ही है, तभी इसने 'मैं आत्मा ऐसा का ऐसा हूँ' — यह जाना कहा जाता है और तब इसका उपयोग वहाँ ही स्थित क्यों नहीं रहेगा ? ऐसा कहते हैं।

जैसे तोता नलिनी को पकड़कर उल्टा हो गया होने पर भी उसकी उड़ने की शक्ति तो ज्यों की त्यों है, परन्तु उस उल्टी दशा के समय वह मानता है कि मैं उल्टा हो गया हूँ। यदि अपनी शक्ति का विचार करे तो एकदम नलिनी को छोड़कर आकाश में उड़ सकता है। अहा! उसीप्रकार अपना ध्रुव स्वभाव ऐसा का ऐसा है, ऐसा जानते ही एकदम दृष्टि स्वभाव में स्थित हो जाती है (और वह ज्ञान-आकाश में विहार करने लगता है।)

अहा! जब परमाणु ने भी नित्यपने का परित्याग नहीं किया है, तो फिर अपना नित्यानंदकंद प्रभु आत्मा अपने स्वभाव का परित्याग कैसे करेगा ? और जिसको ऐसा भान हुआ है वह ऐसी दृष्टि क्यों नहीं करेगा ? ऐसी स्थिरता क्यों नहीं करेगा ? ऐसा कहते हैं। अहा! परमाणु स्वभाव से नित्य ऐसा का ऐसा ही रहा है; परन्तु उसकी पर्याय को इसका पता नहीं है। क्या परमाणु की पर्याय को इसका पता है ? नहीं। यह तो ज्ञानस्वभावी जीव को पता है कि परमाणु ऐसा का ऐसा नित्य रहा है और पर्याय में नहीं आता, तो त्रिकाल नित्य ज्ञानानंदस्वभावी ऐसा मैं (उदयादि) पर्यायों में कैसे आऊँगा ? ऐसा मानने से - ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर पर्याय द्रव्य में स्थिर होती है। दिगम्बर संतों की ऐसी लहर है। अरे! कोई अज्ञानी कहते हैं कि यह पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं इसलिए इनकी टीका मान्य नहीं है। अरे भगवान! यह तू क्या कहता है ? भाई! तुझको सत्य का पता नहीं है, इसलिए ऐसा कहता है। देखो तो सही! इन मुनिराज ने क्या अलौकिक बात की है। परमाणु की बात करते हुए भी आत्मा की मुख्यता रखते हैं। अहो! गजब की शैली है।

अहा! परमाणु की आदि-मध्य-अन्त में परमाणु स्वयं ही है, उसको किसी अन्य की अपेक्षा-गरज नहीं है तथा उसको पता भी नहीं है कि मेरे आदि-मध्य-अन्त में मैं ही रहा हूँ; परन्तु उसको जाननेवाले की पर्याय में ऐसा आया कि यह परमाणु तो ऐसा का ऐसा ध्रुव-नित्य है। तब अब वह जाननेवाले की पर्याय, यह मेरा आत्मद्रव्य ऐसा का ऐसा ध्रुव त्रिकाल है — यह जानकर उसमें स्थित क्यों नहीं होगी ? होगी ही — ऐसा कहते हैं।

अहा! 'जड़स्वरूप पुद्गल पुद्गल के निजस्वरूप में ही रहते हैं — ऐसा जानकर...' देखो! जानकर ऐसा कहा है न ? और गाथा में 'वियाणाहि' ऐसा है न ? भगवान

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी गाथा में कहा है कि 'वियाणाहि' — विशेष जान, तो यह जानने का प्रयोजन क्या है कि एक-एक परमाणु ऐसा है और ऐसे परमाणु लोक में जीव की संख्या की अपेक्षा भी अनंतगुने हैं। जब वे परमाणु भी द्रव्यरूप से ऐसे के ऐसे नित्य रहते हैं और ऐसी ही वस्तुस्थिति है कि जिसका इन परमाणुओं को तो पता भी नहीं है। तो इसका पता करनेवाला जो यह ज्ञान है वह ज्ञान, जैसे परमाणु द्रव्य को ऐसा का ऐसा नित्य रहता है यह जानता है, उसीप्रकार मैं भी ऐसा का ऐसा सहज परम पारिणामिकभावरूप त्रिकाल नित्य हूँ — ऐसा क्यों नहीं जानेगा ? और ऐसा जानकर उसमें स्थिर क्यों नहीं होगा ? ऐसा कहकर मुनिराज ने पुरुषार्थ का प्रेरणामृत पिलाया है। जगत को ऊँचा (उर्ध्व) किया है।

अहा....! 'वे सिद्धभगवंत....' सिद्धभगवंत अर्थात् यह आत्मा ही; क्योंकि निश्चय से यह आत्मा सहजानंद प्रभु अन्दर सिद्धस्वरूपी ही है न? अहा...! ध्रुव...ध्रुव...ध्रुवरूप रही हुई शुद्ध चैतन्यवस्तु सिद्धस्वरूप ही है। तो वह अपने सिद्धस्वरूप में कैसे नहीं रहे ? अहा! जिसको यह भी पता नहीं है कि हम जगत के तत्त्व हैं या नहीं और जिसको कोई ज्ञान-भान नहीं है - ऐसे अनंतानंत जड़ परमाणु द्रव्य भी जब ऐसे के ऐसे त्रिकाल नित्य रहते हैं, तो फिर उनको जाननेवाला भगवान सहजानंदी आत्मा ऐसा का ऐसा क्यों नहीं रहेगा ? और ऐसा जानकर, वह जाननेवाली पर्याय उसमें ही स्थिर क्यों नहीं होगी ? अहा! अनंत परमाणु द्रव्यरूप से तो ऐसे के ऐसे ही हैं। वे कोई पर्याय में नहीं आये हैं — ऐसा जाननेवाली ज्ञान की पर्याय 'मेरा द्रव्य भी ऐसा का ऐसा ही है, पर्याय में नहीं आया' — ऐसा स्वरूप सन्मुखता का निर्णय करके स्वरूप में क्यों नहीं स्थिर होगी ? अहो! मुनिराज ने इस एक-एक पंक्ति में कितना भाव भर दिया है। भाई! श्वेताम्बर और स्थानकवासी के सूत्रों में ऐसी बात तो नाममात्र भी नहीं है।

प्रश्न :— अब यह दिगम्बर धर्म बाहर आया है, वरना तो यह गुप्त हो गया था न ?

उत्तर :— अब यह तो परम्परा से चला आता है, क्योंकि दिगम्बर धर्म तो आत्मा का सनातन स्वरूप है, आत्मधर्म है। यह कोई सम्प्रदाय, पक्ष अथवा बाड़ा नहीं है।

कारणपरमाणु, कार्यपरमाणु, जघन्यपरमाणु और उत्कृष्ट परमाणु की बात करके, फिर कहा कि वह परमाणु द्रव्य की पर्याय में नहीं आया है। अर्थात् पर्यायरूप नहीं हो गया

है। अहा! पर्याय एक गुण स्निग्धतारूप परिणमें या अनंतगुण पर्यन्त स्निग्धतारूप परिणमें, तथापि परमाणु द्रव्य उसमें नहीं आया, उसरूप नहीं हुआ। अहो! यह तो गजब बात है! वस्तु की स्थिति को प्रसिद्ध करने की कोई अलौकिक शैली है।

अहा! यह परमाणु जैसा जड़ द्रव्य भी चाहे कैसी हल्की-भारी, स्निग्धता-रूक्षता, कठोर-नरम पर्यायरूप नहीं होता, तो फिर सहजज्ञान और सहज आनंद जिसका त्रिकाली स्वरूप है — ऐसा भगवान आत्मा का द्रव्य संसार की पर्यायरूप कैसे हो सकता है ? अहा! वह संसार की पर्याय में कैसे आ सकता है ? कभी नहीं आता। अहा! ऐसी उसकी दृष्टि अन्दर त्रिकाली द्रव्य में-एक ज्ञायकस्वरूप में जाने पर उसको अन्दर में सिद्धरूप परिणमित होने की योग्यता हो जाती है — ऐसा कहते हैं। ●

संतों की रचना तो देखो!

लोग तो ऐसा मानते हैं कि बाह्य में फेरफार कर दें और बाह्य संयोग-साधन जुटाकर उनमें से सुख प्राप्त कर लें, किन्तु भाई! तेरा सुख संयोगों में नहीं है। अरे! देखो तो सही, यह सर्वज्ञ की वाणी! संतों की रचना तो देखो! सर्वज्ञ के मार्ग के सिवा दूसरे का एक अक्षर भी सच्चा नहीं है, दूसरा तो सभी विपरीत है। सत्य बात समझने से पूर्व भी गहरे-गहरे उसका बहुमान करके जो स्वीकार करता है, उस जीव को अन्य विपरीतता का आदर करनेवाले जीवों की अपेक्षा तो फेर पड़ा है। भले ही अभी स्वभाव की दृष्टि नहीं प्रकट हुई हो; किन्तु सत्य का आदर किया, उसमें भी उतना तो फेर पड़ा है या नहीं ? भव का अभाव तो स्वभाव की दृष्टि करेगा, तभी होगा; परन्तु उससे पूर्व असत्य का पोषण छोड़कर सत्य के आदर का भाव भी जिसे न आये, उसको तो स्वभाव में जाने की पात्रता भी कहाँ से आयेगी ? अखण्ड स्वभाव की दृष्टि प्रकट होने से पूर्व उसके बहुमानपूर्वक श्रवण-मनन का भाव आये बिना नहीं रहता। सत्य का स्वीकार करके उसका आदरभाव भी जो नहीं करे, उसे तो अंतरस्वभाव की दृष्टि प्रकट करने का अवसर भी नहीं आता।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-२००

नियमसार गाथा-२७

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं ।
विहावगुणमिदि भणितं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।
विभावगुण इति भणितो जिणसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥२७॥

(हरिगीत)

दो स्पर्श इक रस गंध वर्ण स्वभावगुणमय है वही ।
सर्वाक्षगम्य विभावगुणमय को प्रगट जिनवर कही ॥२७॥

गाथार्थ :— जो एक रसवाला, एक वर्णमाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला हो, वह स्वभावगुणवाला है, विभावगुणवाले को जिणसमय^१ में सर्व प्रगट (सर्व इन्द्रियों से ग्राह्य) कहा है ।

टीका :— यह, स्वभावपुद्गल के स्वरूप का कथन है ।

चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा – इन पाँच रसों में का एक रस; सफेद, पीला, हरा, लाल और काला इन (पाँच) वर्णों में का एक वर्ण; सुगन्ध और दुर्गन्ध में की एक गंध; कठोर, कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) इन आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में के अविरोद्ध दो स्पर्श; यह, जिनों के मत में परमाणु के स्वभावगुण हैं । विभावपुद्गल विभावगुणात्मक होता है । यह द्वि-अणुकादिस्कन्धरूप^२ विभावपुद्गल के विभावगुण सकल इन्द्रियसमूह द्वारा ग्राह्य (जानने में आनेयोग्य) है — ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है ।

इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसमय में (८१वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

“एयरसवण्णगंधं दोफासं सहकारणमसहं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥”

१. समय=सिद्धान्त, शास्त्र, दर्शन, मत ।

२. दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं का बना हुआ स्कन्ध वह विभावपुद्गल है ।

“(गाथार्थ :—) एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला वह परमाणु शब्द का कारण है, अशब्द है और स्कन्ध के भीतर हो; तथापि द्रव्य है (अर्थात् सदैव सर्व से भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है)”

और मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(अनुष्टुभ्)

“वसुधान्त्यचतुःस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम्।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे ॥”

(वीरछन्द)

परमाणु को वसु स्पर्श के अन्तिम चार स्पर्शों में।
द्वय स्पर्श इक वर्ण गन्ध रस एक-एक युत ही जानें ॥

“(श्लोकार्थ :—) परमाणु को आठप्रकार के स्पर्शों में अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध तथा एक-एक रस समझना, अन्य नहीं।”

और (२७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा भव्य जनों को शुद्ध आत्मा की भावना का उपदेश करते हैं) —

(मालिनी)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः।
इति निजहृदि मत्त्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः ॥४१ ॥

(वीरछन्द)

वर्ण आदि निज गुण समूह में सदा प्रकाशित परमाणु।
किन्तु नहीं उसमें किञ्चित् भी कार्यसिद्धि मम मात्र अणु ॥
इसप्रकार अपने अन्तर में जो जन यह निश्चित माने।
परम सौख्यपद का वाञ्छक वह भव्य निजातम को जाने ॥४१ ॥

(श्लोकार्थ :—) यदि परमाणु एकवर्णादिरूप प्रकाशते (ज्ञात होते) निज गुणसमूह में है, तो उसमें मेरी (कोई) कार्यसिद्धि नहीं है (अर्थात् परमाणु तो एक वर्ण, एक गंध आदि अपने गुणों में ही है, तो फिर उसमें मेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता); इसप्रकार

निज हृदय में मानकर परम सुखपद का अर्थी भव्यसमूह शुद्ध आत्मा को एक को भाये ॥४१॥

गाथा-२७ की टीका पर प्रवचन

‘यह स्वभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है। चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों में का एक रस....’

देखो, परमाणु में इन पाँच रसों में से एक रस (पर्याय) होता है। अहा! परमाणु का जो रस गुण है वह तो त्रिकाल है, जबकि यह खट्टा, मीठा आदि तो पर्याय है, गुण नहीं। यहाँ ‘गुण’ शब्द प्रयोग किया है, परन्तु वह है पर्याय। आशय यह है कि रस, यह परमाणु का त्रिकाली गुण है और यह खट्टा, कड़वा, मीठा आदि पर्याय है। अहा! वह रसगुण इन पर्यायों में नहीं आया है, पर्यायरूप नहीं हो गया है, क्योंकि गुण तो ध्रुव-त्रिकाल है। उसीप्रकार -

‘सफेद, पीला, हरा, लाल और काला - इन पाँच वर्णों में का एक वर्ण....’

यहाँ वर्ण शब्द से वर्णगुण की बात नहीं है, क्योंकि वर्णगुण तो त्रिकाली है, जबकि यह सफेद, पीला इत्यादि तो उसकी पर्यायें हैं और उन पर्यायों को यहाँ गुण कहा गया है। तो कहते हैं कि लाल, पीला इत्यादि पर्यायों में वर्णगुण अथवा द्रव्य नहीं आया है। अहा! नित्य रंग-रस से भरपूर तत्त्व ऐसी पर्याय में नहीं आता। अहा! यह वीतराग का विज्ञान ही कोई अनोखा-अलग जाति का है।

‘सुगन्ध और दुर्गन्ध में भी एक गंध.....’

देखो, यह सुगन्ध और दुर्गन्ध गंध गुण की पर्यायें हैं, गुण नहीं। गंध गुण तो ध्रुव-त्रिकाल है और वह पर्याय में नहीं आता। द्रव्य पर्याय में नहीं आता इसका अर्थ ही यह है कि द्रव्य के अनंतगुण भी पर्याय में नहीं आते, अर्थात् पर्यायरूप नहीं हो जाते। अहो! जहाँ परमाणु का ध्रुवद्रव्य और उसके अनंतगुण पर्याय में नहीं आते, वहाँ नित्यानंदस्वरूप ध्रुव आत्मा और उसके गुण, पर्याय में कैसे आयेंगे ?

अहो! वीतराग की कथनी वीतरागभाव को ही प्रसिद्ध करती है। कहते हैं — भगवान! तेरी कैसी भी पर्यायरूप दशा हो, परन्तु उसको न देख, अहा! अन्दर तेरा ध्रुव

त्रिकाली तत्त्व, जो कि पर्याय में आया ही नहीं, उसको देख। भाई! यह तो (समयसार गाथा ५० से ५५ में) चौदह मार्गणा की बात में भी आता है न! कि मार्गणा को मत देख, क्योंकि मार्गणा तू नहीं है। अहा! मार्गणा तेरे जीवद्रव्य में नहीं है। अहा! मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ - ऐसा मत देख, परन्तु द्रव्य को-ध्रुव त्रिकाली को देख और द्रव्य को देखा यानी सब पूरा हो गया (सब ज्ञात हो गया)।

प्रश्न :— मार्गणा जीव में नहीं है, तो वह जीव नहीं है न ?

उत्तर :— नहीं, (वह परमार्थ जीव नहीं है।) वह तो पर्याय है, इसलिए व्यवहार जीव है, परन्तु निश्चय जीव नहीं है। भाई! अद्भुत बात है। अहा! केवलज्ञान में भी जीव नहीं आया, क्योंकि एक अंश में पूरा ध्रुव-अंशी कैसे आये ? एक अंश में पूरा अंशी नहीं समाता। अहा! ज्ञान और आनंदादि गुणों का अखण्ड तत्त्व पूर्ण प्रभु आत्मा उसकी पर्याय में-अंश में नहीं आता। उसीप्रकार पर-परमाणु भी इन रंग-रस आदि की पर्यायों में नहीं आता।

‘कठोर, कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) इन आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में के अविरुद्ध दो स्पर्श, यह जिनों के मत में परमाणु के स्वभावगुण हैं।’

देखो, स्पर्श की कोमल, कठोर इत्यादि आठ पर्यायें हैं न! तो एक परमाणु में इन आठ पर्यायों में से अन्तिम चार स्पर्शों के अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं। अर्थात् उष्ण पर्याय होवे तो उससमय शीतपर्याय नहीं होती और शीतपर्याय के समय उष्णपर्याय नहीं होती, परन्तु शीतपर्याय और स्निग्धपर्याय अथवा उष्णपर्याय और स्निग्धपर्याय एकसाथ होवे — ऐसा होता है, अथवा शीतपर्याय और रूक्षपर्याय या उष्णपर्याय और रूक्षपर्याय एक साथ होवे ऐसा होता है।

अहा! यहाँ परमाणु की पर्याय लेना है न ? तो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और ऊपर कहे गये आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में के अविरुद्ध दो स्पर्श - इसप्रकार परमाणु के स्वभावगुण अर्थात् स्वभावपर्यायें वीतराग भगवान के अभिप्राय में है।

‘विभाव पुद्गल विभाव गुणात्मक होता है।’

अहा! विभाव पुद्गल माने क्या ? फुटनोट में है कि दो परमाणुओं से लेकर अनंत

परमाणुओं का बना हुआ स्कन्ध वह विभाव पुद्गल है और उस विभाव पुद्गल की विभावपर्यायें होती हैं। यहाँ विभावगुण का अर्थ विभावपर्यायें हैं।

‘यह द्वि-अणुकादि स्कन्धरूप विभाव पुद्गल के विभाव गुण सकल इन्द्रियसमूह द्वारा ग्राह्य (जानने में आने योग्य) है - ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है।’

देखो, परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं था, जबकि यह (स्कन्ध) पर्याय इन्द्रिय ग्राह्य है — ऐसा कहते हैं।

यहाँ आधार के लिए पंचास्तिकाय की ८१वीं गाथा दी है, उसमें पूर्व में कही हुई बात ही फिर से आई है।

भाई! यह अंगुली एक स्कन्ध-पिण्ड में है। उसमें एक-एक रजकण अपने स्व-चतुष्टय से रहा हुआ है। अहा! उसका (परमाणु का) नित्य द्रव्य तो पर्याय में आया नहीं, परन्तु उसकी पर्याय स्कन्ध के अन्य परमाणु को छूती तक नहीं है - ऐसा कहते हैं। तो कहते हैं कि -

‘एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला यह परमाणु शब्द का कारण है, अशब्द है और स्कन्ध के भीतर हो तथापि द्रव्य है (अर्थात् सदैव सर्व से भिन्न, शुद्ध एकद्रव्य है)।’

अहा! एक रस की पर्यायवाला, एक वर्ण की पर्यायवाला, एक गंध की और दो स्पर्श की पर्यायवाला परमाणु है। वह शब्द का कारण है, परन्तु स्वयं अशब्द है। इस स्कन्ध में का चाहे वह एक रजकण हो तो भी उसमें शब्द नहीं है, तथापि वह शब्द कारण है और स्कन्ध के अन्दर होने पर भी द्रव्य है। देखो तो सही! वह रजकण देह में हो या अन्य स्कन्ध में हो, वह द्रव्य है अर्थात् सदा सर्व से भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है। ‘शुद्ध’ माने क्या ? कि वह अकेला है। स्कन्ध में विभावरूप परिणाम होने पर भी अकेला है, शुद्ध एकद्रव्य है।

प्रश्न :- यहाँ परमाणु का द्रव्य बतलाना है न ?

उत्तर :- हाँ, तो भी उसको पर्यायवाला कहा है। वह परमाणु पर्यायवाला है तो भी...ऐसा कहा है न ? और दो स्पर्शवाला वह परमाणु शब्द का कारण है, अशब्द है और स्कन्ध के अन्दर होने पर भी द्रव्य है। ऐसी पर्यायवाला होने पर भी वह परमाणु

‘द्रव्य’ है अर्थात् सदा सबसे भिन्न शुद्ध एकद्रव्य है। वस्तुरूप से देखने पर वह शुद्धद्रव्य है, पर के संबंध रहित भिन्न वस्तु है। अहा...! अपने छोटे क्षेत्र में रहने पर भी वह परमाणु अपने स्वचतुष्टय में ही है। अब ऐसी बात सर्वज्ञ के अलावा अन्य कहाँ मिलेगी ?

तथा, देखो! यहाँ शब्द का कारण कहा है। किसको ?

एक परमाणु को। अर्थात् शब्द का कारण आत्मा नहीं है तथा यह ओंठ भी शब्द का कारण नहीं है। शब्द का कारण परमाणु है। अहा! आत्मा शब्द का कारण नहीं है और आत्मा है तो शब्द की उत्पत्ति होती है - ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न :— ओंठ हिलने पर ही शब्द होते हैं न ?

उत्तर :— नहीं, ऐसा नहीं है। कारण कि ओंठ की वर्गणा अन्य है, वह आहारवर्गणा है, जबकि शब्द भाषावर्गणा है। अहा! आहारवर्गणा से भाषावर्गणा की उत्पत्ति कैसे होगी ? नहीं होती। अब जगत को यह बात कठिन लगती है, परन्तु यह तो वस्तुस्थिति है। जगत तो बाहर में अटका हुआ है। अहा! जैन के बड़े कहे जानेवाले पण्डित भी कहने लगे हैं कि आत्मा को पर का कर्ता नहीं माननेवाला दिगम्बर जैन नहीं है। अब, ऐसा कहते हैं। अररर! यह तू क्या कहता है भगवान! मैं पर से भिन्न हूँ - इतना ख्याल में लेना भी कठिन पड़ता है ? भाई! आत्मा शरीर में होने पर भी शरीर से अत्यन्त पृथक् है। राग के साथ दिखने पर भी राग से अत्यन्त पृथक् है और पर्यायवाला दिखने पर भी द्रव्य-ध्रुववस्तु पर्याय से पृथक् है। बापू! ऐसी दृष्टि किये बिना तुझको सम्यग्दर्शन-आत्मा का श्रद्धान कैसे होगा ?

अहाहा...! भगवान आत्मा, सहज परम-पारिणामिक भाव का आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनय से निज एक ज्ञायकभाव से कभी भ्रष्ट नहीं हुआ। त्रिकाल नित्य एक ज्ञायकभाव जोकि आत्मा का सदा एकरूप परमस्वभाव है, भगवान आत्मा ऐसे अपने निजस्वभाव से च्युत होकर, निगोद से लेकर सिद्ध तक की पर्यायों में कभी नहीं आया। अहा! ऐसा जो आत्मद्रव्य है, उसमें एकाग्र होकर उसका ध्यान करनेयोग्य है।

प्रश्न :— ध्यान करना — यह तो पर्याय हो गई ?

उत्तर :— (तो इसमें क्या दिक्कत है ?) भले ही वह ध्यान पर्याय है, परन्तु उसका विषय तो ध्रुव एक भगवान ज्ञायक है न ? पर्याय की अस्ति का निषेध कहाँ है ? भाई! ध्यान करना मोक्षमार्ग है, उसका फल मोक्ष है - यह सब पर्यायें (अस्तिरूप) हैं।

प्रश्न :— परन्तु उसका (पर्याय का) कथन ही नहीं करना। बस, अकेला ध्रुव...ध्रुव.... ध्रुव हूँ करना ?

उत्तर :— परन्तु ध्रुव....ध्रुव...ध्रुव हूँ - ऐसा निर्णय कौन करता है ? ध्रुव का निर्णय कौन करता है ? पर्याय या ध्रुव ?

प्रश्न :— परन्तु भगवान ने तो पर्याय के सन्मुख देखने का निषेध किया है न ?

उत्तर :— हाँ, पर्याय के सन्मुख देखने का निषेध किया है, यह तो सत्य है, परन्तु ध्रुव के सन्मुख देखनेवाली तो पर्याय है, क्या उसका निषेध किया है ?

अहा! वस्तु-आत्मद्रव्य तो एक ज्ञायकभाव, शुद्ध परम-स्वभावभाव ऐसे परम पारिणामिकभावस्वरूप है कि जिसमें पर्याय नहीं है, पर्याय उसमें नहीं है; परन्तु निर्णय और अनुभव तो पर्याय करती है। भाई! भगवान ज्ञायक के-त्रिकाली ध्रुव के सन्मुख होकर दशा प्रगट किये बिना तीनकाल में भी धर्म नहीं होता। यह वस्तुस्थिति है।

प्रश्न :— बस, मैं ध्रुव...ध्रुव....ध्रुव एक ज्ञायक हूँ — ऐसा ही कहो न ?

उत्तर :— परन्तु मैं ध्रुव एक ज्ञायक हूँ - ऐसा जानता कौन है ? अन्दर 'यह ध्रुव है' — ऐसा कौन जानता है ? क्या ध्रुव ऐसा जानता है ?

प्रश्न :— तो ऐसा कौन जानता है ?

उत्तर :— अन्तर-सन्मुख हुई पर्याय। भाई! यहाँ तो त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द-नित्यानन्द प्रभु है। अहा! त्रिकाल ध्रुव परमस्वभावभाव एक ज्ञायकभावमय जो तत्त्व है वही आत्मा है और उसका ध्यान करना अर्थात् उसमें दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना ही धर्म है।

प्रश्न :— देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करना धर्म है या नहीं ?

उत्तर :— नहीं, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करना धर्म नहीं है, क्योंकि ये देव-शास्त्र-गुरु अपने आत्मा से भिन्न परवस्तु हैं। इसलिए उनके सन्मुख देखकर जितनी भक्ति होती है, वह सब राग है, पुण्यभाव है, धर्म नहीं। अहा! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ तीर्थकरदेव समवशरण में विराजमान हों और इन्द्र उनकी पूजा करते हों, तो भी भगवान के प्रति भक्ति या श्रद्धा का वह विकल्प और उनकी सन्मुखतावाला ज्ञान यह सब पराधीनता

और राग है तथा वह राग पुण्यबंध का कारण है, धर्म का नहीं।

प्रश्न :— और शास्त्र का अभ्यास..... ?

उत्तर :— शास्त्र का अभ्यास भी पराधीनता और राग है। अरे! सत् (सत्य बात) दुनिया के हाथ ही नहीं आया है। अहा! ऐसा सुन्दरमार्ग! परन्तु लोगों ने इसे सुना ही नहीं है और मानते हैं कि ऐसे ही ऐसे भगवान अथवा गुरु की भक्ति करने से अपना कल्याण हो जायेगा। परन्तु भाई! इसमें रंचमात्र भी कल्याण नहीं होगा। अरे! कल्याण तो नहीं होगा, परन्तु एक भव कम भी नहीं होगा, क्योंकि यह भव के अभाव का उपाय ही नहीं है। अहा! अन्दर में भगवान आत्मा अपना वास्तविक भगवान है, उसकी भक्ति से भव का नाश होता है और इसलिए तो (समयसार गाथा ३१ में) तीर्थकर की स्तुति में यह बात ली है।

यहाँ इस गाथा में ऐसा कहा है कि परम-पारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनय से नित्य भगवान आत्मा अनित्य निगोदादि पर्यायों से भिन्न है।

अब यहाँ कहते हैं कि यह अंगुली, पैसा, वाणी, दाल, भात, साग, कर्म इत्यादि जड़-मिट्टी के रजकणों का जत्था-स्कन्ध है न! तो उसमें स्थित जो एक परमाणु, उसमें जो एक पृथक् प्वाइन्ट-रजकण है, वह एक रसवाला है, एक रंगवाला है, एक गंधवाला है और दो स्पर्शवाला है और वह परमाणु शब्द का कारण है; परन्तु आत्मा शब्द का कारण नहीं है। न तो आत्मा भाषा बोलता है और न आत्मा से भाषा होती है। अरे! अज्ञानी को जगत के तत्त्वों का पता नहीं है और बाहर के क्रियाकाण्ड से धर्म हो जाना मानता है, परन्तु यह तो मूढ़ता है।

भाई! शब्द का कारण परमाणु है, आत्मा नहीं। यह जो आवाज उत्पन्न होती है, वह आत्मा से नहीं होती। वह जड़ की दशा जड़ परमाणुओं से उत्पन्न होती है। यहाँ कहते हैं कि वे जड़-परमाणु स्कन्ध के अन्दर हों तो भी द्रव्य हैं अर्थात् सदा सबसे भिन्न, शुद्ध एकद्रव्य है। यह तो यहाँ 'शुद्ध' शब्द आया है न, इसलिए जरा अधिक स्पष्ट करना है। अहा! यह जो रजकण, जो कि है तो स्कन्ध के अन्दर, तो भी वह अकेला और स्वतंत्र है — इसकारण उसको शुद्ध कहते हैं। यद्यपि उसकी पर्याय विभाविक है,

तथापि वह अन्य से पृथक् है, अतः इस अपेक्षा से उसको शुद्ध कहते हैं।

अहा! यह स्कन्ध तो बहुत परमाणुओं का पिण्ड है, परन्तु उसके खण्ड करते-करते जो अन्तिम प्वाइन्ट रहे, स्कन्ध में रहा हुआ, जो अन्तिम प्वाइन्ट-रजकण है, वह शुद्ध है।

शुद्ध का क्या अर्थ है ?

यही कि वह पर के संबंध रहित है और जो परमाणु स्कन्ध में रहा हुआ है, वह विभाविक अवस्थावाला-विकारी अवस्थावाला होने पर भी उसको शुद्ध कहने में आया है, क्योंकि वह पर के संबंध रहित है। अब (अज्ञानी को) ऐसी वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं होने से समझ नहीं होती और मानता है कि धर्म हो जायेगा, परन्तु भाई! यह तो अनंतकाल से चला आ रहा वह का वही चौरासी में परिभ्रमण का मार्ग है।

प्रश्न :— स्कन्ध में रहा होने पर भी परमाणु को शुद्ध कैसे कहा ?

उत्तर :— भाई! यह तो कहा न कि पर के संबंध रहित वह परमाणु अपने चतुष्टय में रहा है, इसलिए इस अपेक्षा से उसको शुद्ध कहा है।

प्रश्न :— अच्छे-बुरे जो शब्द होते हैं....

उत्तर :— शब्द जड़ से होते हैं, इसलिए शब्द में अच्छा या बुरा है ही नहीं। भाई! यह वाणी तो जड़-धूल है।

प्रश्न :— तो फिर यह शास्त्र सुनो और दूसरा मत सुनो, कुशास्त्र नहीं सुनना चाहिए और सुशास्त्र सुनना चाहिए - ऐसा जो आता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— यह बात व्यवहार से है। सुशास्त्र सुनने में शुभराग-विकल्प होता है- इस अपेक्षा यह बात है, यों तो सुशास्त्र सुनना भी शुभराग है, पुण्यभाव है; धर्म नहीं। उसका अर्थ यह है कि जो शुभराग-सुनने का विकल्प आता है, वह प्रशस्तराग है और वह होता है, परन्तु वह धर्म नहीं है।

प्रश्न :— सुशास्त्र अपने-आप थोड़े ही बने हैं ?

उत्तर :— भाई! शास्त्र तो जड़ हैं और इसलिए जड़ से-स्वयं से ही हुए हैं। शास्त्र, शास्त्र से-जड़ से हुए हैं, आत्मा से नहीं।

प्रश्न :— क्या वाणी निमित्त नहीं है ?

उत्तर :— भाई! वाणी जड़ है और यह शास्त्र भी जड़-पुद्गल है। यह आत्मा कहाँ है ? यह जो वाणी-आवाज उत्पन्न होती है, वह जड़ है अर्थात् आवाज तो पुद्गल है, आत्मा नहीं; क्योंकि आत्मा तो उससे भिन्न है। अहा! भगवान क्या कहते हैं और वस्तु की स्थिति क्या है। अज्ञानी तो मान लेता है कि अपने को तो भक्ति करना और दान देना, जिससे भगवान कुछ दे देंगे और गुरु कुछ दे देंगे और अपना कल्याण हो जायेगा, परन्तु भाई! इसमें रंचमात्र भी कल्याण नहीं होगा, तेरा एक भी भव कम नहीं होगा। लाखों-करोड़ों रुपये दान में दे और सैकड़ों वर्षों तक भक्ति करके मर जाए तो भी एक भव नहीं घटेगा, अपितु अनंत भव खड़े रहेंगे — ऐसा यहाँ कहते हैं। कारण कि पर की भक्ति से और पर से मुझे लाभ होता है — यह मान्यता ही मिथ्याभाव है।

कल रात्रि चर्चा में प्रश्न हुआ था कि यहाँ परमाणु को शुद्ध कहा है तो वह अकेला द्रव्य है इसलिए उसको शुद्ध कहा है न ?

भाई! यहाँ मूल तो गुण-पर्यायवाला परमाणु द्रव्य लिया है और उसको शुद्ध परमाणु कहा है। कारण कि परमाणु को स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध करना है न ? पंचास्तिकाय में भी कहा है कि 'यह परमाणु द्रव्य में गुण-पर्याय वर्तने का कथन है।' अर्थात् यह अकेले द्रव्य की (ध्रुव की) बात नहीं है, अपितु भाई! द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की बात है, इसलिए कहा है कि 'गुण-पर्याय वर्तने का कथन है' और 'स्निग्ध-रुक्षत्व के कारण बंध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्वपरिणतिरूप स्कन्ध के भीतर रहा हो तथापि स्वभाव को न छोड़ता हुआ, संख्या को प्राप्त होने से (अर्थात् परिपूर्ण एक की भाँति पृथक् गिनती में आने से) अकेला ही द्रव्य है।' (गाथा ८१)

और मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा कहा है कि —)

'परमाणु को आठप्रकार के स्पर्शों से अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध तथा एक रस समझना अन्य नहीं।'

अहाहा! परमाणु को अर्थात् एक रजकण-प्वाइन्ट और वह भी एक स्वतंत्र वस्तु है। देखो! परमाणु का स्वरूप स्वतंत्र है, इसलिए उसका जो कोई परिणमन होता है-भाषा होती है, वाणी होती है, हिलना होता है इत्यादि वह सब स्वतंत्र उससे (जड़ से) होता है; परन्तु वह आत्मा से बिलकुल नहीं होता — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यह वस्तुस्थिति होने पर भी अज्ञानी जीव इस बोलने-चलने की क्रिया को जीव की क्रिया

मानता है — इसकारण ही वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न :- व्यवहार से तो वह क्रिया जीव की है न ?

उत्तर :- बिलकुल नहीं, व्यवहार से भी वह क्रिया किंचित्मात्र जीव की नहीं है। व्यवहार से भी कैसी ? व्यवहार माने निमित्त का कथन है। साथ में कौन उपस्थित था इतना बतलाने के लिए व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु इतने मात्र से कहीं वह कार्य निमित्त से नहीं हुआ है।

भाई! यह भाषा परमाणुओं से हुई है, यह शरीर परमाणुओं से हुआ है और जो यह शरीर चलता है, वह भी परमाणुओं से चलता है, आत्मा के कारण नहीं चलता। ऐसा होने पर भी, यह जड़ मुझसे चलता है — ऐसी जो मान्यता है, वही मिथ्यात्व है, महापाप है। भाई! वह पाखण्ड का-मिथ्यात्व का महापाप है।

अब वीतराग का ऐसा मार्ग है, जो इसने कभी सुना ही नहीं है और सुनानेवाले की दरकार भी नहीं की है। कहीं सस्ता (सरल) मिल जाए — ऐसी इच्छा की है या तो दान करके अथवा पूजा-भक्ति करके धर्म हो जाए - ऐसी इच्छा की है, परन्तु यह सब तो व्यर्थ-निकम्मा है बापू!

कलश ४१ पर प्रवचन

यह अंगुली, शरीर, वाणी, दाल, भात, सब्जी, मकान आदि ये सब जड़तत्त्व हैं, मिट्टी हैं; वे कोई आत्मा नहीं हैं। अहा! अन्दर आत्मा अलग तत्त्व है और यह शरीर अलग तत्त्व है, कारण कि यह शरीर तो जड़-मिट्टी (अजीव) तत्त्व है। यहाँ कहते हैं कि इस मिट्टी (शरीर) में इसका जो अन्तिम अंश प्वाइन्ट-परमाणु है वह.....(निज गुण समूह में है)।

अहा! यह अंगुली कोई एकवस्तु नहीं है, परन्तु यह तो बहुत परमाणु इकट्ठे होकर बनी है तथा यह अंगुली आत्मा भी नहीं है, क्योंकि आत्मा तो अन्दर सच्चिदानंद-निर्मलानंद प्रभु शुद्ध अरूपी ज्ञानघन है और इसकारण इससे (अंगुली या शरीर से) भिन्न है। अब मैं ऐसे आत्मा के गुण में रहता हूँ — ऐसा बताते हुए यहाँ कहते हैं कि —

‘यदि परमाणु एक वर्णादिरूप प्रकाशते (ज्ञात होते) निज गुण समूह में है....’

अहाहा....! जो यह परमाणु है, वह अपनी शक्ति के-गुण के समूह में रहता है; परन्तु आत्मा में नहीं। अहा! इन अंगुली आदि में जो यह परमाणु हैं, वे एक वर्ण, एक गंध आदि निजगुण समूह में रहते हैं। 'तो उसमें मेरी (कोई) कार्यसिद्धि नहीं है.....' अहा! यह जड़-जड़ गुणों में रहता है तो उसके कारण मेरी कार्यसिद्धि क्या ? (कुछ नहीं); क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ और मेरा स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय एक ज्ञानघन है। इसलिए परमाणु में कुछ भी हो, उसमें मेरा क्या है ? (मुझे क्या है ?)

'इसप्रकार निज हृदय में मानकर परम सुखपद का अर्थी भव्यसमूह शुद्ध आत्मा को एक को भावे।'

अहा! जिसको आत्मा का अनाकुल आनंद चाहिए वह भव्यसमूह शुद्ध आत्मा को एक को भावे। इसमें अभी बहुत मर्म भरा है। इसका अर्थ (भाव) बहुत गहरा है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि जो यह एक-एक रजकण परमाणु है, वह स्वयं के गुण-पर्याय में रहता है, आत्मा में नहीं रहता। इसलिए हम तो जड़ उसके गुण में रहता है - यह जानकर अपने गुण में रहेंगे। अहा! हम (मैं) तो भगवान आत्मा हूँ, जिससे ज्ञान, आनन्द और शान्ति भरे हैं। अहा! वे रजकण उनकी शक्ति और दशा में रहते हैं, परन्तु उससे हमारी कोई कार्यसिद्धि नहीं है। हमारे अपने गुण में रहने में ही हमारी कार्यसिद्धि है। भाई! सूक्ष्म बात है। अरे! लोगों ने तत्त्व की ऐसी बात कभी सुनी नहीं है।

देखो, यहाँ 'सुखपद का अर्थी' — ऐसा कहा है। आत्मा जोकि सच्चिदानन्दस्वरूप उसके सुख का अर्थी। सच्चिदानन्द=सत्+चित्+आनन्द=शाश्वत ज्ञान और आनन्द। अहाहा...! उसका रूप शाश्वत ज्ञान और आनन्दमय है। जो ऐसे आत्मा का अर्थी है — ऐसा भव्यसमूह शुद्ध आत्मा को एक को भावे। अहाहा...! भाषा देखो! वह देव-शास्त्र-गुरु को भावे — ऐसा भी नहीं — यह कहते हैं। कारण कि देव-शास्त्र-गुरु की भावना करना और उनकी भक्ति आदि करना यह सब तो शुभराग है, पुण्य है, परन्तु वह धर्म नहीं है और वह पुण्य करते-करते धर्म हो जायेगा — ऐसा भी नहीं है।

भगवान आत्मा अनंत गुणवाला है। जैसे परमाणु स्पर्श, रस, गंध आदि वर्णवाला है; वैसे ही मैं भी ज्ञान आनन्द गुणवाला हूँ तथा जैसे परमाणु उसके जड़ गुणों में रहता है, वैसे ही मैं भी अपने आनन्दगुण में रहता हूँ और उसी में मेरी कार्यसिद्धि है। इसप्रकार

परमसुख का अर्थी निज शुद्धात्मा को एक को भाता है।

अहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति है। यह आत्मा का स्वरूप ही है। अहाहा...! आत्मा स्वरूप से ही अतीन्द्रिय आनंदमय है। अतः ऐसे 'सुखपद का अर्थी' भव्यसमूह..! देखो! समूह कहकर, भव्यजीव भी बहुत हैं, भव्यजीवों का झुण्ड है - ऐसा कहते हैं। अहा! वह भव्य जीव का समूह अर्थात् भव्य जीव शुद्धात्मा को एक को भावे - ऐसा कहते हैं।

अहा...! भव्यसमूह-जो लायक जीव हैं, वे शुद्धात्मा को यानी कि मैं परमानंदमय प्रभु ध्रुव चैतन्य आनंदस्वरूप हूँ — ऐसे आत्मा को एक को भजो। देखो, उस एक की ही सेवा करे, परन्तु पर की नहीं — ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से कल्याण नहीं होता तथा यह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग होता है, उससे भी कल्याण नहीं है तथा इस एक समय की वर्तमानदशा को भजने से भी कल्याण नहीं है।

भाई! यहाँ तो आत्मा की बात है। यह आत्मा अन्दर प्रभु है, सच्चिदानंद की मूर्ति है। उसमें अनंत-अनंत शक्तियाँ हैं। अहा! वह अनंत अतीन्द्रिय आनंद से परिपूर्ण है, तो भव्यसमूह ऐसे शुद्धात्मा को एक को ही भजो। देखो, 'शुद्धात्मा को एक को भावे' — ऐसा कहते हैं (अर्थात् अन्य को नहीं)।

यह क्या कहा समझ में आया ?

कि मैं अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यधातु हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ — ऐसे निजस्वरूप के सन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना, ध्यान में उसकी भावना करनी, वर्तमान ज्ञान की दशा का ध्येय-विषय ध्रुव को बनाना-उसको भावना कहा जाता है और उसका नाम धर्म है।

प्रश्न :- लायक-भव्यजीवों को कल्याण करना होवे तो क्या करना चाहिए ?
उनको धर्म करना होवे तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर :- भव्यों के समूह को शुद्धात्मा को एक को भाना चाहिए। अहा! अन्दर आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु है, उसका भजन करना अर्थात् उसमें एकाग्रता करना चाहिए।

प्रश्न :- पहले जानना तो चाहिए न कि शुद्धात्मा कैसा है ?

उत्तर :- हाँ भाई! शुद्धात्मा क्या है, पर्याय क्या है, राग क्या है, संयोग क्या है — यह सब उसको (सुखार्थी को) जानना तो पड़ेगा न! क्योंकि नवतत्त्वों की भिन्नता

जाने बिना वह एक शुद्धात्मतत्त्व में आयेगा कहाँ से ? भाई! बात बहुत सूक्ष्म है! अहा! सच्चिदानंद जिसका स्वभाव है, ऐसे अपने आत्मा का ध्यान छोड़कर, इसने (भेदज्ञान के अभ्यास बिना) अन्य ध्यान तो अनादि से अनंतबार किये हैं, परन्तु उससे क्या ? उससे कुछ लाभ नहीं हुआ और चौरासी के जन्म-मरण यों के यों चलते रहे। परमात्मप्रकाश में आता है कि 'भवो भव जिनवर पूजिओ'..अहा! इसने अनंतबार भव-भव में जिनवर तीर्थकर की पूजा की है, परन्तु बापू! यह सब तो व्यर्थ था, यह सब तो राग था, इसमें धर्म कहाँ था ? सम्यग्ज्ञानदीपिका की भूमिका में भी आता है कि साक्षात् तीर्थकर भगवान जब समवशरण में विराजमान थे, तब इसने अनंतबार मणिरत्न के दीपक, हीरा के थाल और कल्पवृक्षों के पुष्पों से भगवान की पूजा की है, तथापि उसे आत्मा का कुछ (हित) नहीं हुआ ? क्योंकि वह तो शुभराग है, शुभ विकल्प है, पुण्य है, परन्तु धर्म नहीं है। भगवान! बात कठोर होने पर भी यह सत्य है।

अहा! अभी सम्प्रदाय में तो बहुत गड़बड़ चलती है। वह यह कि शुभराग ही मार्ग है और इसी मार्ग से धर्म होता है। कितने ही दया, दान, व्रत और तप करके धर्म मानते हैं तो कितने भगवान की भक्ति और गुरु की भक्ति से धर्म मानते हैं, परन्तु वे सब मिथ्यादृष्टि विपरीत मार्ग पर हैं। अनादि से जो परिभ्रमण का मार्ग था, उसी पर वे हैं।

प्रश्न :— समकित्ती भी भगवान की भक्ति तो करता है ?

उत्तर :— समकित्ती को विकल्प आता है, उसको जानता है कि यह हेय है। यद्यपि वह विकल्प है तो हेय, परन्तु वस्तु में स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए उसको अशुभ से बचने के लिए वैसा विकल्प आता है और तो भी उसको वह हेय है, आदरणीय नहीं। आदरणीय तो एक स्वभाव ही है। यहाँ भी भाषा देखो न! भव्य समूह शुद्ध आत्मा को एक को भावें। भाई! अज्ञानी बहुत भक्ति, उपवास और तप करके सूख जाए तो भी उसमें किंचित् कुछ नहीं होता, यह तो बड़ी मजदूरी है।

अहा! यहाँ कहते हैं अर्थात् भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं कि जो भव्यसमूह जीव है, वे 'शुद्धात्मा को, एक को भावें' अर्थात् जिसमें अनंतशक्ति पड़ी है, जिसमें अनंत शान्ति, आनंद आदि अपरिमित गुण पड़े हैं - ऐसा जो भगवान है, उसमें अंतर-एकाग्र होकर उस एक की भावना करे, इसी का नाम भगवान धर्म और मुक्ति का उपाय कहते हैं।

अहा! इसने ऐसे ही ऐसे चार गतियों में भ्रमण करते हुए अनंतकाल व्यतीत किया है। धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन किया है और उसमें धर्म माना है। इसको वास्तविक धर्म तो सुनने को भी नहीं मिला है। इसको तो सुनने को भी दूसरा (शुभ से धर्म होता है इत्यादि) मिलता है। भगवान की भक्ति करो और भक्ति करते-करते धुन लगाओ - ऐसा सुनने को मिलता है। परन्तु भाई! भगवान की भक्ति की धुन लगाना तो राग की धुन है।

अहा! अन्दर आत्मा एकरूप सच्चिदानंद प्रभु है। अहा! अन्दर शक्ति से भरपूर वह तत्त्व पूर्णस्वरूप है। प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का धाम है। अतः उसकी अन्तर्दृष्टि करके, उसकी एकाग्रता की भावना करने का नाम मुक्ति का उपाय है और वह धर्म है। लो, इतना तो याद रहेगा या नहीं ? यदि इसका थोड़ा अभ्यास होगा तो समझने में ठीक पड़ेगा, परन्तु इसके अभ्यास बिना बिचारे लोग तो कहीं के कहीं बाहर में हैरान होकर मर जाते हैं।

प्रश्न :— शत्रुंजय अथवा सम्मेदशिखर की यात्रा करने से तो कल्याण हो जाता है न ?

उत्तर :— धूल भी नहीं होता, सुन! (क्योंकि वह सब तो राग है)।

प्रश्न :— अपन भी यात्रा में तो गये थे ?

उत्तर :— ऐसा शुभभाव होता है, तथापि वह शुभभाव आदरणीय नहीं है। अशुभ से बचने के लिए वह शुभभाव होता है, परन्तु वह न तो आदरणीय है और न धर्म है। यदि उसमें धर्म माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है, वह धर्म है - ऐसा ज्ञान करे तो वह ज्ञान मिथ्या है और वह राग है, इसलिए वह आचरण भी मिथ्या है। जगत को कठिन लगे ऐसी बात है, परन्तु देखो न! मुनिराज ने कितनी स्पष्ट बात की है कि - 'शुद्धमात्मानमेकम् परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः' इतने में तो कितना भर दिया है।

अहा....! जो कोई सच्चे सुख का अर्थी होवे...सच्चे सुख का अर्थी, क्योंकि इन सबमें-धनादि में-सुख माननेवाला तो मूढ़ है, क्योंकि उसमें-धूल में कहाँ सुख है ? क्या पैसे में, स्त्री में, प्रतिष्ठा में सुख है ? नहीं; क्योंकि वे सब तो जड़ हैं, तथापि अज्ञानी ने उनमें सुख की कल्पना की है। परन्तु यह तो मूढ़ता है। अहा! सुख तो भगवान आत्मा

में-अंतर में-त्रिकाल विद्यमान है। इसलिए अतीन्द्रिय आनंद और सुख का अर्थी ऐसा भव्यसमूह! 'शुद्धात्मा को एक को भावे।' भव्यसमूह कहकर समस्त भव्य जीव कहा है।

भगवान आत्मा अकेला नित्यानंद प्रभु है। अतः अन्तर में उसकी पहिचान करके, राग-विकल्प होता है, वह पर है - ऐसा जानना। अहा! शरीर की क्रिया जड़ है तथा वाणी की क्रिया भी जड़ है और राग की क्रिया होती है, उसमें भी मैं नहीं हूँ और उस राग को जाननेवाली एकसमय की ज्ञानपर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ, उसमें भी मैं नहीं हूँ। अहा...! निमित्त का भजन नहीं, राग का भजन नहीं तथा पर्याय का भजन भी नहीं, यहाँ तो भव्यसमूह एक शुद्धात्मा को-त्रिकाल ध्रुव आनंदकंद को भावे — ऐसा कहते हैं अर्थात् शुद्धात्मा में एकाग्र हो — ऐसा कहते हैं। देखो, यह भावना! क्या यह कल्पना होगी ? नहीं। भाई! यह मार्ग ही ऐसा है, क्या हो सकता है ?

अज्ञानी कुगुरु तो कहता है कि हमारी भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा, हमको मानों तो कल्याण होगा; परन्तु यहाँ वीतराग प्रभु ने उससे इंकार किया है। वीतराग प्रभु तो कहते हैं कि हमको मानो तो भी तुमको राग है, तुम अपने चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर, बस उसी में एकाकार हो जाओ - यही धर्म है और यही मुक्ति का उपाय है। गजब बात है भाई!

इसप्रकार यह २७वीं गाथा पूर्ण हुई। इसमें आत्मा को भाने की बात आई है, इसलिए थोड़ा अधिक स्पष्ट किया है। यद्यपि इसमें व्याख्या तो पुद्गल की है, तो भी उसमें आत्मा की बात तो आती ही है न!

शुभराग असंख्यप्रकार का है तथा अशुभ के भी असंख्यप्रकार हैं, वह सब जीव के नहीं हैं। ऐसे तो दसवें गुणस्थान तक राग है और यहाँ कहा है कि राग जीव को नहीं है; क्योंकि जीव के स्वरूप में राग है ही नहीं; किन्तु स्वरूप की दृष्टि करने पर जो अनुभूति होती है, उसमें भी राग का अभाव है। दसवें गुणस्थान में राग है - ऐसा कहकर पर्याय की स्थिति का ज्ञान कराया है; परन्तु यहाँ तो पर्याय की स्थिति की बात है, वस्तुस्वरूप कैसा है, वह कहकर वस्तु की दृष्टि करायी है, इसलिए राग जड़ में है, पुद्गल के परिणाम हैं, अचेतन हैं, उनमें चेतनता नहीं है इसलिए वे जीव में नहीं हैं, जीव के नहीं हैं। जीव के आश्रय से अनुभूति होती है, वह राग से भिन्न होकर होती है, यदि राग जीव का हो तो वह भिन्न नहीं होगा।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-५७

नियमसार गाथा-२८

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८ ॥

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः ।
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः ॥२८ ॥

(हरिगीत)

पर्याय पर-निरपेक्ष जो उसको स्वभाविक जानिये ।
जो स्कन्धपरिणति है उसे वैभाविकी पहिचानिये ॥२८ ॥

गाथार्थ :— अन्यनिरपेक्ष (अन्य की अपेक्षा रहित) जो परिणाम वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूप परिणाम वह विभावपर्याय है ।

टीका :— यह, पुद्गलपर्याय के स्वरूप का कथन है ।

परमाणुपर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है, जोकि परमपारिणामिकभावस्वरूप है, वस्तु में होनेवाली छहप्रकार की हानि-वृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है और सादि-सान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है अथवा एकसमय में भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मक है ।

स्कन्धपर्याय स्वजातीय बन्धरूप लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध है ।

(अब टीकाकार मुनिराज २८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहते हैं:)

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पंचबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ॥४२ ॥

(वीरछन्द)

पर-परिणति से दूर शुद्ध पर्यायरूप ही होने से ।
परमाणु को शब्दरूप स्कन्ध अवस्था नहीं होवे ॥
जिसप्रकार जिन-परमेश्वर में कामदेव की बात नहीं ।
उसप्रकार परमाणु नित्य में कभी शब्द की बात नहीं ॥४२ ॥

(श्लोकार्थ :—) (परमाणु) पर-परिणति से दूर शुद्धपर्यायरूप होने से परमाणु को स्कन्धपर्यायरूप शब्द नहीं होता। जिसप्रकार भगवान जिननाथ में कामदेव की वार्ता नहीं होती, उसीप्रकार परमाणु भी सदा अशब्द ही होता है (अर्थात् परमाणु को भी कभी शब्द नहीं होता) ॥४२ ॥

गाथा-२८ की टीका पर प्रवचन

यह परमाणु की व्याख्या है। उसमें जड़ परमाणु का स्वतंत्रपना बतलाते हैं कि यह परमाणु तेरे (जीव के) कारण नहीं है, परन्तु परमाणु अपने गुण-पर्याय के कारण है। तथा तू भी उसके कारण नहीं है, परन्तु तू तेरे गुण-पर्याय के कारण रहता है।

‘यह पुद्गलपर्याय के स्वरूप का कथन है।’

यह पुद्गलपर्याय की बात है और पुद्गल की वह अवस्था दो प्रकार की है।

‘परमाणुपर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है, जोकि परम-पारिणामिकभाव-स्वरूप है।’

जो यह एक पृथक् रजकण-परमाणु है, वह पुद्गल की शुद्धपर्याय है। अहा! जो परमाणु स्कन्ध में शामिल है, वह यदि पृथक् होवे तो वह परमाणु की पर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है जो कि परम-पारिणामिकभावस्वरूप है। देखो, अब यह (मुद्दे) की बात आई है।

प्रश्न :— परमाणु में भी परम-पारिणामिकभाव कैसे लिया ? फिर यहाँ तो पर्याय को भी परम-पारिणामिकभाव कहा है ? और पहले (गाथा-२६ में) परमाणु का पंचमभाव आया था। सो अब आत्मा में तो पाँच भाव हैं, इसलिए उसमें पंचमभाव लिया जा सकता है, परन्तु परमाणु के तो पूर्व में चार भाव ही कहाँ है कि जिससे उसमें पंचमभाव लेना ?

उत्तर :— भाई! पंचमभाव का अर्थ यह है कि जैसे जीव में त्रिकाली भाव है, वैसे ही परमाणु में भी वैसा त्रिकाली भाव है। अर्थात् आत्मा के त्रिकाली भावरूप पंचमभाव की तरह परमाणु में भी त्रिकालीभाव है - ऐसा कहना है और यहाँ तो परमाणु की पर्याय को परम-पारिणामिकभाव कहा है। परन्तु अभी जीव को (अज्ञानी को) अपनी तो खबर

नहीं है, परन्तु जड़ परमाणु पृथक् किसप्रकार है और वे किसप्रकार वर्त रहे हैं, इसका भी उसे पता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परमाणु पर्याय परम-पारिणामिकभावस्वरूप है। अकेले, पृथक् उस परमाणु की पर्याय परम-पारिणामिकभावपने है। तथा —

‘वस्तु में होनेवाली छह प्रकार की हानि-वृद्धिरूप है, अति सूक्ष्म है, अर्थ पर्यायात्मक है’ परमाणु में भी यह षट्गुणहानिवृद्धि है — ऐसा कहते हैं।

और सादि-सांत होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूत-व्यवहारनयात्मक है। परमाणु की पर्याय नई उत्पन्न होती है और उसका नाश होता है अर्थात् परमाणु पर्याय सादि-सांत होने पर भी वह पर की अपेक्षा रहित है और इसकारण वह परमाणु की अकेली पर्याय ‘शुद्ध’ है तथा वह अस्तित्व धारण करती है, इसलिए ‘सद्भूत’ है तथा वह एक समय की पर्याय है, इसलिए ‘व्यवहारनयस्वरूप है।’ जैसे कि आत्मा में, आत्मा के अन्तरस्वभाव में से जो केवलज्ञानपर्याय प्रगट होती है वह पर्याय शुद्ध है, सद्भूत है और व्यवहारनयस्वरूप है। अहा! ऐसे सब पहलू...! हमें कितने पहलू सीखना — ऐसा अज्ञानी को लगता है। परन्तु भाई! वस्तुस्थिति तो जाननी चाहिए न!

यहाँ कहते हैं — भाई! यह देह तो अनेक रजकणों का पिण्ड है, परन्तु यह देह कोई आत्मा नहीं है तथा यह (देह) कोई एक चीज नहीं है, अपितु ये तो बहुत रजकण इकट्ठे होकर यह शरीर बना है। अब इसमें से एक रजकण पृथक् पड़े वह पुद्गल की शुद्धपर्याय है। अब कहते हैं कि उसमें षट्गुणहानिवृद्धि होती है तथा वह एकसमय की पर्याय ‘सादि’ है तथा वह ‘सांत’ है अर्थात् वह पर्याय नई उत्पन्न होती है और उसका व्यय भी होता है, और फिर भी वह परद्रव्य से निरपेक्ष होने से-परद्रव्य से उसका संबंध नहीं होने से, उसे ‘शुद्ध’ कहते हैं तथा वह अपनी दशा है इसलिए ‘सद्भूत’ है और वह एकसमय का ‘अंश’ होने से ‘व्यवहार’ है।

प्रश्न :— इसमें नय का क्या काम है ?

उत्तर :— नय का ज्ञान तो करना चाहिए न ? द्रव्य किसका विषय है, पर्याय

किसका विषय है, वह जानना तो चाहिए या नहीं ? परमाणु जोकि त्रिकाली परमपारिणामिक-भाव है वह निश्चयनय का विषय है, जबकि पर्याय है वह व्यवहारनय का विषय है।

प्रश्न :— व्यवहारनय के विषय में परम-पारिणामिकभाव कहाँ से आया ?

उत्तर :— जो यह परमाणु की पर्याय है, वह उसकी है या नहीं ? वह पारिणामिकभाव की पर्याय है न ? इसलिए वह पारिणामिकभाव की पर्याय होने से, उसको (परमाणु की पर्याय को) पारिणामिकभावस्वरूप कहा है। यद्यपि वह पर्याय होने से सद्भूत व्यवहारनय का विषय हो गया, तथापि वह है पारिणामिकभाव की पर्याय। तथा परमाणु में कहाँ उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव है ? इसलिए उसको (उसकी पर्याय को) पारिणामिकभाव कहा है। अहा! सूक्ष्म बात है बापू! जैनदर्शन-वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित मार्ग को समझना बहुत कठिन है और उसको समझे बिना सब व्यर्थ है, फिर भले ही वह बाह्य क्रिया करके मर जाए, तो भी चारगति के चक्कर मिटनेवाले नहीं हैं।

‘अथवा एकसमय में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्मऋजुसूत्र-नयात्मक है।’

अहा...! उस परमाणु की पर्याय सादि-सांत है तो भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने से वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारस्वरूप है अथवा एकसमय में तीन (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) साथ होने से उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयस्वरूप भी कहा जाता है।

‘स्कन्धपर्याय स्वजातीय बंधरूप लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध है।’

अब यह (गाथा के) दूसरे भाग की बात आई है। यह पुद्गल पर्याय के स्वरूप का कथन है और उसके दो भाग हैं न ? अतः अब दूसरे भाग की बात करते हैं और गाथा में भी ‘विभावपर्याय’ शब्द है न! ‘खंदसरूवेणपुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ’ — ऐसा पाठ है न ? ये जो परमाणु इकट्ठे हुए हैं वह स्कन्ध है, पिण्ड है और वह स्वजातीय बंधरूप अर्थात् एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एकरूप (बंधरूप) रहना — इस लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध है। अर्थात् वह विभाव है — ऐसा कहते हैं। गाथा में ‘विभाव’ शब्द आया है, जबकि यहाँ टीका में उसके लिए ‘अशुद्ध’

शब्द का प्रयोग किया है।

पुद्गल पर्याय, परमाणु में शुद्ध है और यदि वह स्कन्धरूप होवे तो अशुद्ध है — ऐसे पुद्गल पर्याय के दो प्रकार हैं। इसीतरह भगवान आत्मा रागादिरूप होवे तो वह अशुद्ध है और यदि वह स्वभाव में रहे तो शुद्ध है - ऐसी बात है।

कलश-४२ पर प्रवचन

‘(परमाणु) पर-परिणति से दूर....’ अहा! एक पृथक् रजकण में जो पर्याय होती है, वह पर-परिणति से दूर है अर्थात् वह पर-परिणति के संबंध से रहित है और इसकारण वह शुद्धपर्याय है। तो कहते हैं-

‘शुद्धपर्यायरूप होने से परमाणु को स्कन्धपर्यायरूप शब्द नहीं होता....’

परमाणु में स्कन्धपर्यायरूप शब्द नहीं होता। तात्पर्य यह है कि बहुत परमाणुओं के इकट्ठे होने पर वाणी निकलती है, परन्तु एक परमाणु में शब्द नहीं होता।

‘जिसप्रकार भगवान जिननाथ में कामदेव की वार्ता नहीं होती....’

यह दृष्टान्त दिया है कि वीतराग परमात्मा को पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने की काम की वासना नहीं होती। अहा...! जो परम वीतराग, पूर्ण आनन्दस्वरूप हुए हैं, उन जिननाथ भगवान को कामदेव की वार्ता नहीं होती।

‘उसीप्रकार परमाणु भी सदा अशब्द ही होता है (अर्थात् परमाणु को भी कभी शब्द नहीं होता)।’ अकेला परमाणु अशब्द है।

इसप्रकार यह गाथा पूर्ण हुई।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द को नाथ प्रभु है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द की उत्कंठा जाग्रत हो, उसे आत्मा के सिवा अन्य कुछ रसप्रद नहीं लगता; जगत के पदार्थों का रस नीरस हो जाता है, संसार के राग का रस उड़ जाता है। अहो, जिसकी इतनी-इतनी प्रशंसा होती है, वह आत्मा अनंतानंत गुणों का पुंज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य हो, उसकी लगन लगे, उसकी धुन चढ़े; उसे आत्मा मिलेगा ही, नहीं मिले - ऐसा हो ही नहीं सकता। जितना कारण दे, उतना कार्य आता है। कारण दिये बिना कार्य नहीं आता। कारण में कचाश होने से कार्य नहीं आता। आत्मा के आनन्द स्वरूप की अंतर से सच्ची लगन लगे, उत्कंठा जागे, स्वप्न में भी वह का वही रहे, उसे आत्मा प्राप्त होगा ही।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०६

नियमसार गाथा-२९

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९ ॥
पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण ।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ॥२९ ॥

(हरिगीत)

‘परमाणु पुद्गल द्रव्य है’ यह कथन निश्चयनय करे।
व्यवहारनय की रीति है, वह स्कन्ध को पुद्गल कहे ॥२९ ॥

गाथार्थ :— निश्चय से परमाणु को ‘पुद्गलद्रव्य’ कहा जाता है और व्यवहार से स्कन्ध को ‘पुद्गलद्रव्य’ ऐसा नाम होता है।

टीका :— यह, पुद्गलद्रव्य के कथन का उपसंहार है।

शुद्ध निश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्यायात्मक परमाणु को ही ‘पुद्गलद्रव्य’ ऐसा नाम होता है। अन्य ऐसे व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक स्कन्धपुद्गलों को पुद्गलपना उपचार द्वारा सिद्ध होता है।

(अब २९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं—)

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च ।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ ॥४३ ॥

(वीरछन्द)

इसप्रकार जिनवचनों द्वारा जानो तुम तत्त्वार्थ समूह।
जो अपने से भिन्न सदा त्यागो वह चित्त-अचित्त समूह ॥
अन्तरंग में निर्विकल्प होकर समाधि में लीन रहो।
पर से जो है भिन्न परम चित्-चमत्कार निज तत्त्व भजो ॥४३ ॥

(श्लोकार्थ :-) इसप्रकार जिनपति के मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूह को जानकर पर ऐसे समस्त चेतन और अचेतन को त्यागो, अन्तरंग में निर्विकल्प समाधि में परविरहित (पर से रहित) चित्त्वमत्कारमात्र परमतत्त्व को भजो ॥४३ ॥

(अनुष्टुभ्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥४४ ॥

(वीरछन्द)

पुद्गल द्रव्य अचेतन हैं अरु जीव सदा रहता चेतन।
यह विकल्प हो प्रथम भूमि में, करें न योगी जन निष्पन्न ॥४४ ॥

(श्लोकार्थ :-) पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है - ऐसी जो कल्पना वह भी प्राथमिकों को (प्रथम भूमिकावालों को) होती है, निष्पन्न योगियों को नहीं होती (अर्थात् जिनका योग परिपक्व हुआ है, उनको नहीं होती) ॥४४ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्
सचेतने वा परमात्मतत्त्वे।
न रोषभावो न च रागभावो
भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५ ॥

(वीरछन्द)

जड़ पुद्गल तन में न द्वेष, नहीं चेतन परमात्मा में राग।
ऐसी शुद्ध दशा यतियों की होती वे रहते वीतराग ॥४५ ॥

(श्लोकार्थ :-) (शुद्धदशावाले यतियों को) इस अचेतन पुद्गलकाय में द्वेषभाव नहीं होता या सचेतन परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता - ऐसी शुद्धदशा यतियों की होती है ॥४५ ॥

गाथा-२९ की टीका पर प्रवचन

‘यह पुद्गलद्रव्य के कथन का उपसंहार है।’

अब, यहाँ पुद्गलद्रव्य की बात पूर्ण होती है।

शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्यायात्मक परमाणु को ही ‘पुद्गलद्रव्य’ ऐसा नाम होता है।

देखो, क्या कहते हैं ? कि शुद्धनिश्चयनय से स्वभाव शुद्धपर्यायस्वरूप परमाणु को ही अर्थात् जो पर से भिन्न है - ऐसे निर्मल पर्यायवाले परमाणु को ही पुद्गलद्रव्य कहा गया है। भाई! स्कन्ध को पुद्गलद्रव्य कहना तो उपचार से है, क्योंकि वे सब स्कन्ध तो इकट्ठे हुए जड़ (परमाणुओं) का जत्था है (वह कोई एक वस्तु नहीं है), इसलिए जो अकेला परमाणु है, उसको ही-जिसको स्वभाव शुद्धपर्याय है उसको ही-वास्तव में पुद्गलद्रव्य कहा है। इसीतरह आत्मा में, पुण्य-पाप के रागरहित अर्थात् निर्मलपर्याय से सहित आत्मा को ही आत्मा कहा जाता है।

अहा...! कहते हैं - जिसप्रकार शुद्ध निश्चय से स्वभावशुद्धपर्यायस्वरूप होने से परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहते हैं, उसीप्रकार भगवान आत्मा को आत्मा किसप्रकार (कहना) ? कि राग और पुण्य-पाप रहित जो त्रिकाल शुद्धस्वभाव है, उसका जिसको अंतरंग में भान हुआ है, उसको अर्थात् वैसी शुद्धपर्याय सहित जो आत्मा है, उसको ही आत्मा कहा जाता है, परन्तु जो दया, दान, भक्ति इत्यादि का जो विकल्प है, वह आत्मा है ही नहीं, अपितु वह तो अनात्मा है।

अहा... अज्ञानी प्रतिदिन के चौबीस घंटों में से तेबीस घंटों तो पाप ही करता है और फिर एक घंटा रहता है, उसमें वह थोड़ा वाचन करता है, भक्ति करता है और मानता है कि इससे कल्याण हो जायेगा। अरे रे...! इसने ऐसे ही ऐसे अवतार अनंतबार किये हैं, परन्तु वे सब व्यर्थ गये हैं और उसमें फिर यहाँ धर्मक्षेत्र में आकर भी, भक्ति के भाव से धर्म होना माने तो वह भी मिथ्यात्व का ही पोषण है।

प्रश्न :— भक्ति के भाव में धर्म मानता है, वह कम मूढ़ता है — ऐसा तो कहो ?

उत्तर :— नहीं, नहीं; वह पूरी मूढ़ता है। राग में धर्म माननेवाले को पूरी मूढ़ता है। वह पूरा मिथ्यादृष्टि है। कम-ज्यादा मिथ्यात्व का प्रश्न ही यहाँ नहीं है, क्योंकि वह एक ही जाति है। सूक्ष्म बात है भाई!

यहाँ कहते हैं — शुद्ध निश्चयनय से अंतर्वस्तु की दृष्टि से देखें तो स्वभाव शुद्ध-पर्यायस्वरूप परमाणु को ही पुद्गलद्रव्य कहते हैं। बाकी इन पैसों को, स्त्री-पुत्रादि के शरीर को, दाल-भात को पुद्गलद्रव्य कहना तो व्यवहार है। अहा! इकट्ठे हुए बहुत परमाणु के पिण्ड को पुद्गल कहना व्यवहार है, इसलिए अकेले परमाणु को ही

वास्तविक पुद्गल कहते हैं। इसीप्रकार अपनी पर्याय में राग से, पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न आत्मा का भान हुआ तो ऐसा जो शुद्धात्मा है, उसको ही आत्मा कहा है अर्थात् अनुभव तो पर्याय है और उससे सहित आत्मा को आत्मा कहा गया है।

प्रश्न :— शुद्धरूप से परिणमें तब आत्मा को शुद्ध कहा जाता है ?

उत्तर :— हाँ, क्योंकि जब शुद्धरूप से परिणमें तभी त्रिकालीद्रव्य शुद्ध है — ऐसा भान होता है न! परिणमन बिना भान कहाँ होता है ? अतः कहते हैं कि पर्याय की शुद्धता सहित त्रिकाली शुद्धता को आत्मा कहते हैं। कारण कि संवर-शुद्धता की पर्याय उसका अपना स्वभाव है। अर्थात् त्रिकाली स्वभाव को और एक समय के शुद्धपर्याय भाव को (दोनों मिलकर) आत्मा कहा जाता है। श्री समयसार की ५० से ५५वीं गाथा में आता है कि 'अनुभूति से भिन्न है।' वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि रागादि आत्मा से भिन्न है। इसलिए अनुभूति की पर्यायवाला जो आत्मा है, उसको आत्मा कहा जाता है।

अहा! आत्मा तो उसको कहते हैं कि जिसको शरीर, मन, वाणी और दया, दान, व्रतादि के विकल्पों से भिन्न भगवान आत्मा अनुभव में आता है। अहा! स्वानुभूति में कोई विकल्प नहीं आता, अपितु उसमें तो एक आत्मा ही आता है और इसकारण अनुभूति से भिन्न होने के कारण-अन्य सभी भावों को पुद्गल कहा जाता है, जबकि अनुभूति सहित आत्मा को आत्मा कहा जाता है। अरे! क्या हो ? सारा जगत लुट रहा है। एक तो सारे दिन संसार के पाप के नाम पर सारी जिन्दगी लुट रही है और उसमें फिर दूसरे प्रकार से धर्म के नाम पर भी लुटता है। अरे रे! इनका क्या होगा ? यहाँ से निकलकर यह कहाँ जायेगा ? अरे! जीव का सच्चा भाव क्या है और मिथ्याभाव क्या है - यह भी इसे पता नहीं है। अररर! बिचारा, निर्धन, अनाथ, अरक्षित और दुःखी है, पराधीन-पराधीन है।

अब कहते हैं — 'अन्य ऐसे व्यवहारनय से विभाव पर्यायात्मक स्कन्धपुद्गलों को पुद्गलपना उपचार द्वारा सिद्ध होता है।'

यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, पैसा इत्यादि विभावपर्यायमय स्कन्ध पुद्गलों को व्यवहारनय से उपचार द्वारा पुद्गल कहा जाता है।

कलश-४३ पर प्रवचन

‘इसप्रकार जिनपति के मार्ग द्वारा.....’ जिनपति अर्थात् जिनेश्वरदेव, वीतराग परमेश्वर, त्रिलोकीनाथ तीर्थकर परमात्मा और उनके मार्ग द्वारा....अर्थात् क्या ? कि भाई! यह वीतराग भगवान का मार्ग है ऐसा कहते हैं। तो उस मार्ग द्वारा.... ‘तत्त्वार्थसमूह को जानकर.....’ देखो, वीतराग भगवान द्वारा कथित ऐसे तत्त्वों को जानकर - ऐसा कहा है, परन्तु रागी अज्ञानियों ने जो तत्त्व कहे हैं, उन्हें जानकर - ऐसा नहीं कहा। तथा यहाँ ‘तत्त्वार्थसमूह शब्द’ है न! अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - यह तत्त्वार्थसमूह है और उसको जिनपति के मार्ग द्वारा जानकर....., अहाहा! वीतरागकथित अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान में आये हुए और उनके द्वारा प्रतिपादित किये गये तत्त्वार्थ समूह को जानकर....

देखो, यहाँ पहले जानने की बात की है। अरे! पहले जाने तो सही कि आत्मा शुद्ध है, रागादि अशुद्ध है, कर्म जड़ है और शरीर-वाणी भी अजीव जड़ है; इसलिए उनका और मेरा कोई संबंध नहीं है। इसीप्रकार यह पैसा, स्त्री, पुत्र इत्यादि का और मेरा कुछ संबंध नहीं है, क्योंकि वे तो जड़ और जगत की अन्य वस्तु (अजीव) है। अहा! वे द्रव्य तो अपनेरूप, जड़रूप होकर रहे हैं; परन्तु वे कोई जीवरूप होकर नहीं रहे हैं। यह शरीर, शरीर की अवस्थारूप-जड़रूप होकर रहा है, वह कोई आत्मा की पर्यायरूप होकर नहीं रहा है। इसीप्रकार पैसा भी अजीवरूप होकर रहा है; परन्तु वह कोई आत्मा की दशारूप होकर नहीं रहा है अथवा आत्मा होकर नहीं रहा है। अतः यहाँ कहते हैं कि जो जैसे होकर रहा है, उसको वैसे भलीभाँति जानना चाहिए।

अहा! शरीर तो जड़-मिट्टी-धूल होकर रहा है। क्या वह आत्मा का होकर रहा है ? यदि वह आत्मा का होकर रहा होवे तो, जैसे आत्मा अरूपी है, वैसे ही वह शरीर भी अरूपी हो जाए; परन्तु ऐसा तो नहीं है। इसलिए यह शरीर रूपी-जड़ होकर रहा है; परन्तु वह आत्मा का होकर नहीं रहा है। इसीप्रकार लक्ष्मी भी जड़ होकर रही है और यह वाणी भी जड़ होकर रही है — इसप्रकार जड़ तत्त्वों को जड़रूप रहा जानकर आत्मा भी आत्मारूप रहा है — ऐसा जान, यह कहते हैं।

और जो पुण्य-पापरूप होकर रहे हैं, वे आस्रव और बंध इस जीव को दुःखरूप हैं — ऐसा जान, तथा भगवान आत्मा उनसे रहित है अर्थात् जो रागरहित होकर रहा

है, वह आत्मा — ऐसा भी जान। इसप्रकार जिनपति के मार्ग द्वारा...अहाहा! वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने जो मार्ग कहा है, उस मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूह को जानकर....। आशय यह है कि जैन परमेश्वर के मार्ग के अतिरिक्त किसी अन्यमत में तत्त्व की यह बात नहीं हो सकती। इसलिए उन जिनपति के मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूह को जानकर...जानकर क्या करना ? तो कहते हैं —

‘पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन को त्यागो.....’

देखो, क्या कहते हैं ? कि स्त्री, पुत्र का आत्मा परचेतन है और देव-शास्त्र-गुरु का आत्मा भी परचेतन है। अतः उनको दृष्टि में से त्यागो अर्थात् वे मेरे नहीं हैं - ऐसा जानकर, उनको दृष्टि में से छोड़ो।

अहा...! पर ऐसे समस्त चेतन...तो पर चेतन भी है न ? अरिहन्त भगवान इस आत्मा से परचेतन हैं, सिद्धभगवान इस आत्मा से परचेतन हैं। अरे! पाँचों परमेष्ठी इस आत्मा से परचेतन हैं। वे पर हैं, क्योंकि वे इस आत्मा के कहाँ हैं ? अतः उन समस्त परचेतन और अचेतन को-रागादि पुद्गल विकारों को और देहादि पुद्गलों को-दृष्टि में से त्यागो — ऐसा कहते हैं। भाई! जो तेरे में नहीं है, उनकी दृष्टि छोड़ और जो तेरे में है, वहाँ दृष्टि स्थापित कर।

अहा! ऐसी त्याग की व्याख्या है और यह त्याग! तथापि अज्ञानी बाहर का त्याग करके स्त्री-पुत्र-परिवार को छोड़ करके बैठ जाता है और मान लेता है कि हम त्यागी हो गये; परन्तु यह कोई त्याग नहीं है। देखो, यहाँ क्या कहते हैं ? कि अन्तर में इस आत्मा के अलावा अन्य सभी आत्मायें-निगोद से लेकर अरिहन्त परमात्मा, सिद्ध परमात्मा आदि पंचपरमेष्ठी भी तेरे नहीं हैं अर्थात् वे तुझसे नहीं रहे हैं, वे तो उनसे स्वयं से रहे हुए हैं, इसलिए तुझको उनसे कुछ लाभ नहीं है। देखो, इसमें किसको शेष रखा ? समस्त चेतन तथा अचेतन को त्यागो — ऐसा कहा है न? तो इसमें कौन शेष रहा ? सब ही आ गये-सारा जगत आ गया, इसलिए पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन को त्यागो, अर्थात् उन सब पदार्थों का लक्ष्य छोड़ दो, क्योंकि वे कोई तेरे नहीं हैं, तुझमें नहीं हैं और तू वहाँ नहीं है।

तो फिर किसका लक्ष्य करना वह कहते हैं —

‘अन्तरंग में निर्विकल्प समाधि में परविरहित (पर से रहित) चिच्चमत्कारमात्र परमतत्त्व को भजो।’

अंतरंग में=अन्तर+अंग में=वस्तु में। निर्विकल्प समाधि में=भेदरहित अभेद शान्ति में अर्थात् अतीन्द्रिय शान्ति के समय में, परविरहित अर्थात् पर से रहित-विकल्पादि पर से रहित ऐसे चिच्चमत्कारमात्र परमतत्त्व को भजो — ऐसा कहते हैं। सारभूत बात है भाई! अभी तो यह सब समझना ही कठिन पड़ता है।

क्या कहा ? कि ‘जिनपति के मार्ग द्वारा...’ अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो मार्ग कहा है, उसके द्वारा तत्त्वार्थ के समूह को जानकर, पर ऐसे समस्त चेतन और अचेतन को-एक परमाणु हो या राग, समस्त अचेतन को-दृष्टि में से छोड़ो! तब अब करना क्या ? कि ‘अंतरंग में निर्विकल्प समाधि में....’ देखो, राग में तो (राग के काल में तो) जो पर है, उनकी दृष्टि थी; परन्तु अब निर्विकल्प समाधि में-राग रहित होकर अन्तर्मुख होने पर अभेदसमाधि में पर से रहित अर्थात् राग और विकल्प से भी रहित चिच्चमत्कारमात्र निजभगवान आत्मा को भजो, उसमें अंतर-एकाग्र होओ। यह धर्म और मुक्ति का मार्ग है। भाई! वजनदार बात है। देखो, यह तो आत्मा को भजो - ऐसा कहते हैं।

श्रोता — हाँ, सत्य है प्रभु! आप फरमाते हो, वह सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री — परन्तु ऐसा अन्दर है या नहीं ? यह गाथा कहाँ यहाँ की (सोनगढ़ की) है, यह तो श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की है, दो हजार वर्ष प्राचीन श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है और यही बात मुनि भगवंत अनादिकाल से कहते आये हैं।

अहा! यह नियमसार शास्त्र है। इसकी रचना में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव निमित्त थे। वे कहते हैं - भगवान! तुझे अपना कल्याण करना होवे, हित करना होवे, धर्म करना होवे तो रागादि परिणाम या जो सब अचेतन हैं, उनका त्याग कर, उनकी दृष्टि छोड़ दे। अरे! भगवान की भक्ति का भाव होवे तो भी वह राग है, और इसकारण वह अचेतन है। इसलिए उसका लक्ष्य छोड़ दे तथा शरीर के परमाणु अनुकूल रहें तो मेरा धर्म टिका रह सकता है - यह भी लक्ष्य में से छोड़ दे और ‘अंतरंग में निर्विकल्प समाधि में’ अर्थात् अंतरंग में राग रहित शान्ति और श्रद्धा की दशा में, परविरहित अर्थात् रागरहित अपना जो चैतन्यचमत्कार तत्त्व है, अहा! ऐसा जो निज परमतत्त्व है, उसको भज। अहा!

भगवान आत्मा तो चिच्चमत्कारमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र चमत्कारस्वरूप है, ये दया, दान अथवा व्रत के विकल्प आदि ऐसा कुछ वस्तु में नहीं है। इसलिए रागरहित होकर चिच्चमत्कारमात्र निज परमतत्त्व को भज।

प्रश्न :— सीधे यही करने का है ? परन्तु इसके पहले क्या उपाय है ? इसके पहले कुछ करना या नहीं ? या सीधे यही करना ?

उत्तर :— भाई! यही उपाय है। प्रथम तत्त्वार्थसमूह को जानना। राग का क्या स्वरूप है, वस्तु का क्या स्वभाव है, धर्म की दशा हो तो उसका क्या स्वरूप है, विकार होने में निमित्तरूप वस्तु कौन है ? अर्थात् स्ववस्तु क्या है और परवस्तु क्या है — यह सब भगवान कथित मार्ग से भलीभाँति जानना। जानकर फिर पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन का त्याग करना और निजचेतन को ग्रहण करना — ऐसा कहते हैं।

अहा! भगवान आत्मा स्वयं नित्य चिदानंदस्वरूप है, उसका भजन कर अर्थात् पर का लक्ष्य छोड़कर स्ववस्तु में एकाकार हो - ऐसा कहते हैं। लो, तब इसको धर्म की शुरूआत होगी। इसप्रकार इस कलश में तो यहाँ तक कहा और फिर (४४ वें कलश में) यह कहेंगे कि चेतन-अचेतन इन दो के विकल्प मुनि को-धर्मी को नहीं होते। यह विचार तो प्रारम्भ में आता है कि मैं चेतन हूँ और ये रागादि अचेतन हैं; परन्तु फिर अभ्यास से तो इन दोनों के विकल्प भी छूट जाते हैं। मुनि को अथवा धर्मी को अंतरंग में धर्मध्यान के अभ्यास से ये दो विकल्प भी नहीं रहते।

कलश-४४ पर प्रवचन

पूर्व में पुद्गल की व्याख्या आई है न कि छह प्रकार के स्कन्ध हैं और परमाणु को स्वभावपर्याय है - इसप्रकार स्वभावपर्याय, विभावपर्याय इत्यादि बहुत आया था। अब कहते हैं कि अहो! जगत में — ‘पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है...’ पुद्गल और रागादि अचेतन हैं और जीव जानने-देखनेवाला ऐसा भगवान आत्मा (चेतन) है। अहा! राग से लेकर पुद्गल परमाणु आदि सब अचेतन है और जीव चेतन है।

‘ऐसी जो कल्पना वह प्राथमिकों को (प्रथम भूमिकावालों को) होती है।’

अहा! कहते हैं कि शुरूआत में अभी जिसको भेद करना है अथवा जिसको भेद करके ध्यान करना है, उसको ऐसा विकल्प होता है कि यह रागादिक पर अचेतन हैं

और आत्मा (स्वयं) चेतन है — इसतरह मुमुक्षुजीव को प्रारम्भ में यह विचार होता है; परन्तु 'निष्पन्न योगियों को नहीं होती (अर्थात् जिनका योग परिपक्व हुआ है, उनको नहीं होती)।' जहाँ अन्दर में स्वभावसन्मुखता की रमणता उग्ररूप से प्रगट हुई है वहाँ, अर्थात् जिसको वीतरागस्वभाव की उग्र स्थिरता प्रगट हुई है उस योगी को ऐसी कल्पना नहीं होती कि यह राग अचेतन है और मैं चेतन हूँ, अपितु वह तो ज्ञाता-दृष्टारूप परिणमता है। अहा! जिसप्रकार सिद्धभगवान जानते-देखते हैं, उसीप्रकार यह जीव भी जानने-देखने के स्वभावरूप रहता है। अहा! जो स्वरूप में स्थिरतारूप ध्यान को प्राप्त नहीं हुआ है उसको 'यह अचेतन है और चेतन है' — ऐसे दो भाग के विकल्प-कल्पना होते हैं; परन्तु जहाँ ज्ञान और आनंदस्वभाव में लीनता जमी है, वहाँ वे विकल्प नहीं होते। अहा! निष्पन्न योगी को अर्थात् जिसको अन्तर-एकाग्रता की प्राप्ति हुई है — ऐसे संतों को-योगियों को वह कल्पना नहीं होती।

जगत में पुद्गल है, स्कन्ध हैं, स्कन्ध छह प्रकार के हैं, स्वाभाविक कारणपरमाणु है, कार्यपरमाणु है, उत्कृष्ट और जघन्यपरमाणु है — ऐसा कहकर, उसमें से सार यह निकाला कि भले ही हों; परन्तु मेरा उनके साथ कोई संबंध नहीं है। मात्र पहले विचार में यह आता है कि वे (पुद्गल) तथा यह जो रागादि कल्पना है वह अचेतन है और मैं उनको जाननेवाला एक चेतन हूँ। इसलिए मुझे निजचेतन में स्थिर होना चाहिए। यह वस्तु का स्वरूप है — ऐसी कोई कल्पना, जिन्हें अन्दर में स्वरूप का योग अर्थात् जमावट (स्थिरता) नहीं हुई, उनको होती है; परन्तु निष्पन्न योगी को-जिसको उग्रपने आत्मा और राग की भिन्नता होकर, योग परिपक्वता अर्थात् एकाग्रता हुई है उसको-स्वभाव में जिसकी एकाग्रता हुई है; उसकी-वह कल्पना अर्थात् जो यह पुद्गल है, वह अचेतन है और मैं चेतन हूँ — ऐसी कल्पना नहीं होती। लो, इसका नाम स्वभावसन्मुख की एकाग्रता है और यह मोक्ष का मार्ग है।

प्रश्न :— प्राथमिक भूमिका में अर्थात् मिथ्यादृष्टि ही न... ?

उत्तर :— नहीं, सम्यग्दृष्टि भी। क्योंकि सम्यग्दृष्टि होने पर भी अभी जहाँ तक 'यह चेतन है और अचेतन है' ऐसी विचारधारा चलती है, वहाँ तक उसको निष्पन्न स्थिरता नहीं हुई है — ऐसा कहते हैं, तथापि वह है समकित्ती...।

प्रश्न :— समकित्ती को चेतन तो प्राप्त हुआ है न ?

उत्तर :— हाँ, तो भी विकल्प है न! उसको चेतन तो प्राप्त ही है, तथापि अभी विकल्प है। इसकारण उसमें 'यह चेतन है और अचेतन है' — ऐसा भाव आता है।

प्रश्न :— शास्त्र लिखनेवाले प्राथमिक भूमिका में हैं ?

उत्तर :— नहीं, वे प्राथमिक भूमिका में नहीं हैं। वे तो जम गये हैं और विकल्प विकल्प के स्थान पर हैं। मुझे अन्तर की दृष्टि में कुछ नहीं है - इसप्रकार वे जम गये हैं, वीतरागता जमी है। वे जिनेन्द्रप्रभु समान आत्मा में जम गये हैं। यहाँ तो यह बात की है कि पहले ऐसी कल्पना होती है, परन्तु फिर स्वरूप में स्थिर होने पर समकित्ता और मुनि को-सबको वह कल्पना नहीं होती — इतनी बात यहाँ सिद्ध करना है।

कलश-४५ पर प्रवचन

शुद्धदशा वाले यतियों को — अहा! शुद्धदशा वाले यतियों को अर्थात् संत-मुनिवर को... 'इस अचेतन पुद्गल काय में द्वेषभाव नहीं होता या सचेतन परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता — ऐसी शुद्धदशा यतियों की होती है।' अचेतन के प्रति यह मैं नहीं हूँ, यह मैं नहीं हूँ — ऐसा भाव अर्थात् द्वेषभाव नहीं होता, अपितु वे तो ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं। और त्रिलोकनाथ तीर्थकर परमेश्वर सचेतन हैं, तो उनके प्रति भी उनको रागभाव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वे मुनिराज तो वीतरागभाव में जम रहे हैं। इसका नाम यति है। अहा! जिनको आनंदस्वरूप ज्ञानभाव अनुभव में आया है और अब उसमें-उसकी साधना में ही जो वर्तते हैं, उनको यति कहा जाता है। अतः जिनको मात्र आत्मस्वभाव-समभाव प्रगट हुआ है, उन यतियों को परमात्मा के प्रति राग नहीं होता और पुद्गल के प्रति द्वेष नहीं होता। अर्थात् उनको तीनलोक के नाथ तीर्थकर के प्रति राग और शरीरादि के प्रति द्वेष नहीं है।

अहा! ये मेरे परमेश्वर हैं, परमात्मा हैं - ऐसा राग यति को नहीं होता। यद्यपि पहले (शुरुआत में) वह होता है, तथापि वह आदरणीय नहीं होता। परन्तु यह तो जब राग नहीं हो तब वहाँ समभाव वर्तता है - ऐसा कहते हैं। अहा! मुनियों की-यतियों की ऐसी शुद्धदशा जो आत्मध्यान में होते हैं, उनकी होती है और इसकारण उनको समभाव होता है। सारी दुनिया में खलबलाहट हो जाने पर भी उनको विषमभाव नहीं होता, विषमभाव उत्पन्न नहीं होता।

अहा! अनुकूलता-इन्द्र स्तुति करे तो भी उसमें राग नहीं और प्रतिकूलता-निन्दा की झड़ी बरसने पर भी उसमें द्वेष नहीं है; क्योंकि वह तो पुद्गल है तथा अपने समीप में परमात्मा विराजमान होने पर भी वहाँ राग नहीं है। अहा! ऐसे यति रागरहित निजस्वभाव में समस्थितिपने को प्राप्त है। अहा! यतियों की दशा अलौकिक होती है। भले ही निचली भूमिका में (चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में) राग होता है, तथापि दृष्टि में उसका आदर नहीं होता; परन्तु यहाँ तो अब राग ही नहीं है — ऐसा कहते हैं। यहाँ तो जिनको अस्थिरता ही मिट गई है, उनकी बात है। निचले गुणस्थानों में परमात्मा के प्रति विकल्प और यह नहीं, ऐसा नहीं होता — ऐसा द्वेष का अंश भी होता है; परन्तु वह अस्थिरता का दोष-अंश-भाव ही जहाँ छूट गया है, वहाँ आगे तो समभाव.....समभावसमभाव है अर्थात् वे तो वीतरागी बिम्ब होकर ज्ञाता रहते हैं — ऐसा कहते हैं। इसकारण उनको निन्दा की झड़ी में द्वेष नहीं है और साक्षात् परमात्मा विराजमान हों तो भी उनको सुनने का विकल्प राग नहीं है।

अहा! आत्मा का स्वरूप ही समभावी है। अतः जिनको ऐसे आत्मा की समस्थिति प्रगट हुई है, दशा में जिनको समभाव प्रगट हुआ है — ऐसे संत दोनों में-पुद्गल या परमात्मा में-ज्ञाता-दृष्टा होकर रहते हैं। अहा! यतियों की ऐसी शुद्धदशा होती है। अहाहा...! बापू! साधु की दशा किसको कहते हैं, इसका भी जगत को पता नहीं है। अरे! अभी तो सम्यग्दर्शन क्या है, यह भी जगत को पता नहीं है। भाई! सम्यग्दर्शन होने पर, परमात्मा के प्रति राग और अचेतन के प्रति द्वेष करनेयोग्य नहीं है — ऐसी श्रद्धा तो हो जाती है, तथापि अभी अस्थिरता होती है; परन्तु समभावी संतों के तो वह अस्थिरता भी नहीं होती — यह बात यहाँ करते हैं।

इसप्रकार यह पुद्गल की व्याख्या की। अब धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश की व्याख्या करते हैं; क्योंकि यह पाँच अजीव द्रव्यों की व्याख्या है न! ●

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द की उत्कंठा जाग्रत हो, उसे आत्मा के सिवा अन्य कुछ रसप्रद नहीं लगता; जगत के पदार्थों का रस नीरस हो जाता है, संसार के राग का रस उड़ जाता है। अहो, जिसकी इतनी-इतनी प्रशंसा होती है, वह आत्मा अनंतानंत गुणों का पुंज प्रभु है कौन? ऐसा आश्चर्य हो, उसकी लगन लगे, उसकी धुन चढ़े; उसे आत्मा मिलेगा ही, नहीं मिले — ऐसा हो ही नहीं सकता। जितना कारण दे, उतना कार्य आता है। कारण दिये बिना कार्य नहीं आता। कारण में कचाश होने से कार्य नहीं आता। आत्मा के आनन्द स्वरूप की अंतर से सच्ची लगन लगे, उत्कंठा जागे, स्वप्न में भी वह का वही रहे, उसे आत्मा प्राप्त होगा ही।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१०६

नियमसार गाथा-३०

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३० ॥
गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मःस्थितेः जीवपुद्गलानां च ।
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम् ॥३० ॥

(हरिगीत)

जो जीव, पुद्गल, गमन-स्थिति में हेतु धर्म अधर्म है ।
आकाश जो सब द्रव्य का अवकाश हेतुक द्रव्य है ॥३१ ॥

गाथार्थ :— धर्म जीवपुद्गलों को गमन का निमित्त है और अधर्म (उन्हें) स्थिति का निमित्त है, आकाश जीवादि सर्व द्रव्यों का अवगाहन को निमित्त है ।

टीका :— यह, धर्म-अधर्म-आकाश का संक्षिप्त कथन है ।

यह धर्मास्तिकाय, बावड़ी के पानी की भाँति, स्वयं गतिक्रियारहित है । मात्र (अ, इ, उ, ऋ, लृ - ऐसे) पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितनी जिनकी स्थिति है, जो 'सिद्ध' नाम के योग्य हैं, जो छह अपक्रम^१ से विमुक्त हैं, जो मुक्तिरूपी सुलोचना के लोचन का विषय है (अर्थात् जिन्हें मुक्तिरूपी सुन्दरी प्रेम से निहारती है), जो त्रिलोकरूपी शिखरी^२ के शिखर हैं, जिन्होंने समस्त क्लेश के घररूप पंचविध संसार को (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप पाँच प्रकार के संसार को) दूर किया है और जो पञ्चमगति की सीमा पर हैं - ऐसे अयोगी भगवान को स्वभावगतिक्रियारूप से परिणमित होने में स्वभावगतिक्रिया* का हेतु धर्म है और छह अपक्रम से युक्त ऐसे संसारियों को वह (धर्म) विभावगतिक्रिया* का हेतु है । जिसप्रकार पानी मछलियों को गमन का कारण है, उसीप्रकार वह धर्म उन जीव-पुद्गलों को गमन का कारण (निमित्त) है । वह धर्म अमूर्त, आठ स्पर्श रहित तथा पाँच वर्ण, पाँच रस और दो गंध

१. संसारी जीवों को अन्य भव में उत्पन्न होने के समय 'छह दिशाओं में गमन' होता है, उसे 'छह अपक्रम' कहने में आता है ।

२. शिखरी=शिखरवन्त, पर्वत ।

* स्वभावगतिक्रिया तथा विभावगतिक्रिया का अर्थ, गाथा ९ के फुटनोट में देखें ।

रहित, अगुरुलघुत्वादि गुणों के आधारभूत, लोकमात्र आकारवाला (लोकप्रमाण आकारवाला) अखण्ड एक पदार्थ है। “सहभावी गुण और क्रमवर्ती पर्यायें हैं” ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से गति के हेतुभूत इस धर्मद्रव्य को शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं।

अधर्मद्रव्य का विशेषगुण स्थितिहेतुत्व है, इस अधर्मद्रव्य के (शेष) गुण-पर्यायों जैसे उस धर्मास्तिकाय के (शेष) सर्व गुण-पर्याय होते हैं।

आकाश का अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है। धर्म और अधर्म के शेष गुण आकाश के शेष गुणों जैसे भी हैं।

इसप्रकार (इस गाथा का) अर्थ है।

(यहाँ ऐसा ध्यान में रखना कि) लोकाकाश, धर्म और अधर्म समान प्रमाणवाले होने से कहीं अलोकाकाश को न्यूनता-छोटापन नहीं है (अलोकाकाश तो अनन्त है)।

(अब ३०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(मालिनी)

इह गमनविशेषं यत्स्थितेः कारणं वा
यद्परमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः ॥४६॥

(वीरछन्द)

इस जग में गति में निमित्त जो और स्थिति का कारण।
सबको जो अवकाश प्रदान करे उनका कर अवलोकन ॥
धर्म अधर्म तथा नभ की अस्ति में शंका करो न लेश।
भव्य समूह सर्वदा निज शुद्धात्म तत्त्व में करो प्रवेश ॥४६॥

(श्लोकार्थ :-) यहाँ ऐसा आशय है कि जो (द्रव्य) गमन का निमित्त है, जो (द्रव्य) स्थिति का कारण है और दूसरा जो (द्रव्य) सर्व को स्थान में देने में प्रवीण है, उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप से अवलोक कर (यथार्थतः स्वतंत्र द्रव्यरूप से समझकर) भव्यसमूह सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो ॥४६॥

गाथा-३० पर प्रवचन

‘यह धर्म-अधर्म-आकाश का संक्षिप्त कथन है।’

देखो, धर्म-अधर्म और आकाश — ये जगत के तीन पदार्थ हैं, तीन द्रव्य हैं और इस गाथा में उनका संक्षिप्त में कथन है। उनमें पहले धर्मास्तिकाय का वर्णन है।

‘यह धर्मास्तिकाय, बावड़ी के पानी की भाँति, स्वयं गतिक्रिया रहित है।’

देखो, यहाँ बावड़ी के पानी का दृष्टान्त दिया है, क्योंकि नदी का पानी तो हिलता है, गति करता है, जबकि बावड़ी का पानी हिलता नहीं है, अपितु स्थिर है। इसीप्रकार धर्मास्तिकाय एक अरूपी पदार्थ है और उसमें गति नहीं है, वह स्थिर है।

‘मात्र (अ, इ, उ, ऋ, लृ - ऐसे) पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितनी जिनकी स्थिति है.....’

यह अयोगी (चौदहवें) गुणस्थान की बात करते हैं और उस अयोगी गुणस्थान के अन्त में सिद्धशिला में जाने की गति क्रिया में धर्मास्तिकाय निमित्त है - ऐसा सिद्ध करते हैं।

‘जो सिद्ध नाम के योग्य हैं, जो छह अपक्रम से विमुक्त हैं...’

देखो, छह अपक्रम अर्थात् छह दिशा में जाना। संसारी जीव, जब देह छूटती है, तब छह दिशाओं में-चार दिशाएँ और ऊपर-नीचे इन छह दिशाओं में जाते हैं, परन्तु जब चौदहवें गुणस्थानवाले सिद्ध होते हैं-सिद्ध होने पर जब यहाँ से मोक्ष में जाते हैं, तब उनकी गति इन छह दिशाओं में नहीं होती, अपितु उनका उर्ध्वगमन होता है।

‘जो मुक्तिरूपी सुन्दरी के लोचन का विषय है (अर्थात् जिन्हें मुक्तिसुन्दरी प्रेम से निहारती है....)’

अर्थात् जिनको पूर्णदशा प्राप्त हो गई है।

अहा! जो अयोगी गुणस्थान में होते हैं, उनकी देह छूटने पर वे यहाँ ही सिद्ध होते हैं और फिर यहीं से गति करके ऊपर जाते हैं, अतः यहाँ कहते हैं कि —

जो त्रिलोकरूपी शिखरों के शिखर हैं —

तीनलोकरूपी जो पर्वत है, भगवान उसके शिखर समान हैं। तथा —

‘जिन्होंने समस्त क्लेश के घररूप पंचविध संसार को (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप संसार को) दूर किया है.....’

अहाहा...! देखा! अयोगी भगवान को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप परावर्तन-बदलना बंद हो गया है।

‘और जो पंचमगति की सीमा पर हैं.....’

पंचमगति के एकदम नजदीक हैं।

ऐसे अयोगी भगवान को स्वभावगति क्रियारूप से परिणमित होने में स्वभावगति क्रिया का हेतु धर्म है।

यहाँ से सिद्ध जो इसतरह ऊपर जाते हैं, उसमें (स्वभावगति क्रिया में) धर्मास्तिकाय निमित्त है।

‘और छह अपक्रम से युक्त ऐसे संसारियों को वह (धर्म) विभावगति क्रिया का हेतु है।’

देखो, अयोगी भगवान को छह अपक्रम से मुक्त कहा था, जबकि संसारीजीव उन छह अपक्रम से युक्त हैं — ऐसा कहते हैं। तो धर्मास्तिकाय, छह अपक्रम से युक्त ऐसे संसारियों की विभावगति क्रिया का हेतु है। संसारी चार दिशाओं में जाते हैं या ऊपर-नीचे जाते हैं — ऐसी उनकी विभावगति क्रिया है, उसका हेतु (निमित्त) धर्मास्तिकाय है। किसकी तरह ? तो दृष्टान्त देते हैं —

‘जिसप्रकार पानी मछलियों को गमन का कारण है, उसीप्रकार वह धर्म उन जीव-पुद्गलों को गमन का कारण (निमित्त) है।’

इसप्रकार धर्मास्तिकाय, जीव-पुद्गलों को गमन का निमित्त है। अब धर्मास्तिकाय का स्वरूप कहते हैं।

‘वह धर्म-अमूर्त, आठ स्पर्श रहित तथा पाँच वर्ण, पाँच रस और दो गंध रहित, अगुरुलघुत्वादि गुणों के आधारभूत, लोकमात्र आकारवाला (लोकप्रमाण आकारवाला) अखण्ड एक पदार्थ है।’

अहा! धर्मास्तिकाय चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वह स्पर्शादिरहित अखण्ड एक अरूपी पदार्थ है।

‘सहभावी गुण और क्रमवर्ती पर्यायें ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से गति के हेतुभूत इस धर्मद्रव्य को शुद्धगुण और शुद्धपर्यायें होती हैं।’

साथ रहनेवाले गुण हैं और क्रम से होनेवाली पर्यायें हैं, यह शास्त्र का वचन है अर्थात् ऊँ ध्वनि (दिव्यध्वनि) में आई हुई बात है। अतः वे गुण-पर्यायें धर्मास्तिकाय में भी होते हैं - ऐसा कहना है। धर्मास्तिकाय में भी अनंत शुद्धगुण और उनकी अनंत शुद्धपर्यायें होती हैं।

‘अधर्मद्रव्य का विशेषगुण स्थितिहेतुत्व है, इस अधर्मद्रव्य के (शेष) गुण-पर्यायों जैसे उस धर्मास्तिकाय के (शेष) सर्व गुण-पर्यायें होते हैं।’

देखो, गमन करनेवाले जीव-पुद्गलों को स्थिर होने में अधर्मास्तिकाय निमित्त है — ऐसा स्थितिहेतुत्व उसका विशेषगुण है। धर्मास्तिकाय के शेष गुण-पर्यायों जैसे अधर्मास्तिकाय के गुण-पर्यायें होते हैं।

‘आकाश का, अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है। धर्म और अधर्म के शेष गुण आकाश के शेष गुणों जैसे भी हैं।’

देखो, ऐसी भाषा बदली है, वरना तो यह चाहिए कि आकाश के शेष गुण, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के शेष गुणों जैसे हैं, परन्तु इसके बदले ‘धर्म और अधर्म के शेष गुण आकाश के शेष गुणों जैसे भी हैं’ — ऐसा लिया है। क्या कहा समझे? कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के शेष गुण जैसे आकाश के शेष गुण हैं — ऐसा लेना चाहिए, परन्तु वैसा न लेकर यह लिया कि आकाश के शेष गुण जैसे हैं, वैसे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के भी शेष गुण हैं।

इसप्रकार (इस गाथा का) अर्थ है।

(यहाँ ऐसा ध्यान में रखना कि) लोकाकाश, धर्म और अधर्म समान प्रमाण वाले होने से कहीं अलोकाकाश को न्यूनता-छोटापन नहीं है (अलोकाकाश तो अनंत है।)

इसप्रकार गाथा का अर्थ हुआ।

अहा! ये तीनों (धर्म, अधर्म और लोकाकाश) इतने बड़े हैं, इसलिए अलोकाकाश छोटा हो गया है - ऐसा नहीं है। अलोक तो अनंत...अनंत...अनंत चारों ओर अनंत हैं। अब मुनिराज श्लोक कहते हैं —

कलश ४५ पर प्रवचन

यहाँ ऐसा आशय है कि जो (द्रव्य) गमन का निमित्त है...

जो, अर्थात् धर्मास्तिकाय गमन का निमित्त है तथा जो (द्रव्य) स्थिति का कारण है। अधर्मास्तिकाय स्थिति का निमित्त है। देखो, यहाँ उसको कारण कहा है। एक को (धर्मास्तिकाय को) निमित्त और अधर्मास्तिकाय को कारण कहा है। दोनों में बात एक ही है। निमित्त कहो या कारण कहो — यहाँ एक ही अर्थ है, क्योंकि कारण को निमित्त और निमित्त को कारण भी कहा जाता है, क्योंकि निमित्त व्यवहार कारण है न!

और दूसरा जो (द्रव्य) सर्व को स्थान देने में प्रवीण है...

लो, स्थान देने में प्रवीण है, आकाश स्थान देने में प्रवीण है - ऐसा कहा है। प्रवीण है अर्थात् समस्त द्रव्य आकाश में रहते हैं। अतः —

उन सबको सम्यक् द्रव्यरूप से अवलोक कर (यथार्थतः सम्यक् द्रव्यरूप से समझकर...)

अहा...! कहते हैं कि वे सभी स्वतंत्र पदार्थ हैं — ऐसा जानकर। अहा! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश — ये भगवान के द्वारा देखे हुए जगत के अनादि-अनंत पदार्थ हैं — इसप्रकार उनको यथार्थरूप से स्वतंत्र द्रव्यरूप समझकर, सम्यक् द्रव्यरूप से समझकर अर्थात् सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं, एक-दूसरे के साथ उनका संबंध नहीं है अर्थात् किसी के कारण कोई द्रव्य नहीं है — ऐसा यथार्थरूप से समझकर...ऐसा देखकर...अब कहते हैं -

‘भव्यसमूह सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो।’

अहाहा...! हे भव्यो! सर्वदा भगवान आत्मा, जोकि त्रिकाल ज्ञान और आनंदस्वरूप है, उसमें प्रवेश करो, उसमें लीन होओ।

प्रश्न :— क्या सभी भव्य जीवों को ऐसा उपदेश है ?

उत्तर :— हाँ, देखो न! यहाँ भव्यसमूह कहा है या नहीं ? भव्यसमूह अर्थात् जो लायक-योग्य जीव हैं वे सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो। लो, यह करनेयोग्य है। (अन्य सब तो व्यर्थ है।)

प्रश्न :— अभव्य को उपदेश नहीं करना ?

उत्तर :— अभव्य की बात ही कहाँ है ? यहाँ तो भव्यसमूह के लिए यह उपदेश है - ऐसा कहते हैं। परन्तु उसको पहले कुछ दूसरा उपदेश है, प्रथमानुयोग का उपदेश या मंदकषाय करने को कहना - ऐसे उपदेश से इंकार करते हैं।

प्रश्न :— परन्तु समस्त भव्यों को एक ही बात.... ?

उत्तर :— हाँ, यहाँ भव्यों का सारा समूह कहा है न! (कलश ४३ में भी) समूह शब्द आया था न; तत्त्वार्थसमूह और इस कलश के अलावा (कलश ४१ में भी) भव्यसमूह आया था। देखो, वहाँ आया था कि 'परमसुखपद का अर्थी भव्यसमूह शुद्धात्मा को एक को भाये।' सो भाई! सर्वत्र उपदेश तो ऐसा ही है।

अहा! भगवान! करनेयोग्य कार्य तो यही है, शेष अन्य क्या करने का था ? सब समझ-समझकर उसे करना तो यह है कि भगवान आत्मा जो कि नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें प्रवेश करना और राग का अवलम्बन तजना और सारा उपदेश भी इसी के लिए है। देखो, यहाँ भी यही बात आई है कि 'भव्यसमूह सर्वदा...' और भाषा भी कैसी है कि 'सर्वदा...' एक तो 'समस्त भव्य जीवों का समूह' कहा और फिर सर्वदा कहा है। अर्थात् पहले दूसरा करना और फिर यह करना — ऐसा नहीं, परन्तु सर्वदा-सर्वकाल यही करना। 'सर्वदा निजतत्त्व में प्रवेश करो' — यह शब्द हैं या नहीं ? अब ऐसी वस्तु है वहाँ पहले-बाद का (पहले व्यवहार और बाद में निश्चय ऐसा) प्रश्न ही कहाँ है ? क्योंकि वस्तु के स्वभाव में ऐसा है ही नहीं कि पहले ऐसा व्यवहार होता है तो फिर निश्चय होता है। व्यवहार से निश्चय होता है — यह वस्तुस्वरूप में है ही नहीं।

अहा! भगवान आत्मा ध्रुव ज्ञायकस्वभावी प्रभु है और उसमें गहरे-गहरे प्रवेश कर, उसमें गहरे-गहरे जा, वहाँ दृष्टि ला और अब उसमें प्रवेश कर — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :— शास्त्र में आता है कि श्रोता को देखकर उपदेश करना चाहिए ?

उत्तर :— यह आता है — ऐसा व्यवहार का कथन आता है, परन्तु श्रोता को देखकर उपदेश करना — इसका आशय क्या है ? कि अन्दर ऐसा उपदेश देने का विकल्प आता है—होता है; इसलिए वहाँ उसका ज्ञान कराया है। परन्तु पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग-प्रकाशक में कहा है कि जो मिथ्यात्व है, उसका त्याग और स्वभाव में स्थिरता करना, क्योंकि भाई! मोक्षमार्ग ही वहाँ है, अन्य क्रियाकाण्ड में मोक्षमार्ग है ही नहीं, अन्य सब तो जानने के लिए है बस। अतः प्रभु! तू प्रयोजनभूत बात की तरफ देख न! (अन्य से तुझे क्या काम है ?)

इसप्रकार यह ३०वीं गाथा का कलश पूर्ण हुआ। अब ३१वीं गाथा में काल का वर्णन है। यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी (गाथा नं. ५७७) है। ●

गुणों का भण्डार तू है...

भगवान पूर्णानन्द का नाथ है कि जिसका कथन करने के लिए योगीन्द्रदेव को शब्द कम पड़ते हैं। तेरी महानता तो देख! तेरा जो स्वरूप भगवान ने देखा है, उसे भगवान भी कह नहीं सके। जड़ वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन किस प्रकार हो सकता है? शत्रु द्वारा कितनी प्रशंसा करवायी जा सकती है ? जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कह न सके उसको जब श्री भगवान भी। ऐसा परमब्रह्म तेरा स्वरूप है। उस स्वरूप में प्रभु अपनी मति लगा, एकबार उसकी रुचि कर! निर्विकल्प आनन्द का स्वामी, सुख का सागर, गुणों का भण्डार तू है - ऐसी महिमा एकबार तो ला। बिना उस महिमा के तेरी मति वहाँ नहीं लगेगी। बाहर की महिमा छोड़.....वहाँ क्या है ? इसलिए पर की महिमा एवं आकर्षण छोड़कर एकबार परब्रह्म प्रभु की महिमा लाकर वहाँ मति लगा तो चार गतियों का भ्रमण मिट जायेगा।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-८५

नियमसार गाथा- ३१

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।

तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥३१ ॥

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः ।

अतीतः संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु ॥३१ ॥

(हरिगीत)

आवलि, समय दो भेद या भूतादि त्रयविध जानिये ।

संस्थान से संख्यातगुण आवलि अतीत प्रमानिये ॥३१ ॥

गाथार्थ :— समय और आवलि के भेद से व्यवहारकाल के दो भेद हैं अथवा (भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से) तीन भेद हैं। अतीत काल (अतीत) संस्थानों के और संख्यात आवलि के गुणाकार जितना है।

टीका :— यह, व्यवहारकाल के स्वरूप का और उसके विविध भेदों का कथन है।

एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मन्दगति से लाँघे उतना काल वह समयरूप व्यवहारकाल है। ऐसे असंख्य समयों का निमिष होता है अथवा आँख मिचे उतना काल वह निमिष है। आठ निमिष की काष्ठा होती है। सोलह काष्ठा की कला, बत्तीस कला की घड़ी, साठ घड़ी का अहोरात्र, तीस अहोरात्र का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन और दो अयन का वर्ष होता है। ऐसा आवलि आदि व्यवहारकाल का क्रम है। इसप्रकार व्यवहारकाल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है।

यह (निम्नोक्तानुसार), अतीतकाल का विस्तार कहा जाता है : अतीत सिद्धों को सिद्धपर्याय के प्रादुर्भाव^१ समय से पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल वह, उन्हें संसारदशा में जितने संस्थान बीत गये, उनके जितना^२ होने से अनन्त है। (अनागत

१. प्रादुर्भाव=प्रगट होना वह, उत्पन्न होना वह।

२. सिद्धभगवान को अनन्त शरीर बीत गये हैं, उन शरीरों की अपेक्षा संख्यातगुनी आवलियाँ बीत गई हैं, इसलिए अतीत शरीर भी अनन्त हैं और अतीत काल भी अनन्त है। अतीत शरीरों की अपेक्षा अतीत आवलियाँ संख्यातगुनी होने पर भी दोनों अनन्त होने से दोनों को अनन्तपने की अपेक्षा से समान कहा है।

सिद्धों को मुक्ति होने तक का) अनागत काल भी-अनागत सिद्धों के जो मुक्तिपर्यन्त अनागत शरीर उनके बराबर है।

ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पञ्चास्तिकायसमय में (२५वीं गाथा द्वारा) कहा है कि -

“समओ णिमिसो कट्टा कला य णाली तदो दिवारत्ती ।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥”

“(गाथार्थ :-) समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष - इसप्रकार पराश्रित काल (जिसमें पर की अपेक्षा आती है - ऐसा व्यवहारकाल) है।”

और (३१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः ।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किञ्चिद्
निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ॥४७॥

(वीरछन्द)

समय निमिष अरु घड़ी कला दिन रात भेद से यह उत्पन्न ।
किन्तु एक निज निरुपम तत्त्व सिवाय न उससे कोई फल ॥४७॥

(श्लोकार्थ :-) समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह काल (व्यवहारकाल) उत्पन्न होता है, परन्तु शुद्ध एक निज निरुपम तत्त्व को छोड़कर, उस काले से मुझे कोई फल नहीं है ॥४७॥

गाथा-३१ की टीका पर प्रवचन

‘यह व्यवहारकाल के स्वरूप का और उसके विविध भेदों का कथन है।

एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मन्दगति से लांघे उतना काल वह समयरूप व्यवहारकाल है।’

यहाँ कहना यह है कि परमाणु परमाणु को लांघे, इसका अर्थ यह है कि आकाश के एक प्रदेश में रहा हुआ परमाणु, आकाश के दूसरे प्रदेश को लांघे उतना काल वह समयरूप व्यवहारकाल है। उसको एकसमय अर्थात् छोटा (सूक्ष्म) व्यवहारकाल कहते हैं।

‘ऐसे असंख्य समयों का एक निमिष होता है अथवा आँख मिचे उतना काल वह निमिष है।’

यह काल का एक माप है। अब कहते हैं -

‘आठ निमिष की एक काण्ठा होती है। सोलह काण्ठा की कला, बत्तीस कला की घड़ी, आठ घड़ी का अहोरात्र, तीस अहोरात्र का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन और दो अयन का वर्ष होता है। ऐसा आवलि आदि व्यवहारकाल का क्रम है। इसप्रकार व्यवहारकाल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है।’

समय — यह व्यवहारकाल का एक प्रकार और आवलि दूसरा प्रकार है।

‘अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है।

देखो, गाथा में ही यह बात है कि **समयावतिभेदेण हु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं**’ अब कहते हैं कि —

वह (निम्नोक्तानुसार), अतीतकाल का विस्तार कहा जाता है, अतीत सिद्धों को सिद्धपर्याय के प्रादुर्भाव समय से पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल वह, उन्हें संसारदशा में जितने संस्थान बीत गये उनके जितना होने से अनंत है।

देखो, फुटनोट में अर्थ है कि सिद्धभगवान को अनंत शरीर बीत गये हैं, उन शरीरों की अपेक्षा संख्यातगुनी आवलियाँ बीत गई हैं। इसलिए अतीत शरीर भी अनंत हैं और अतीतकाल भी अनंत है। अतीत शरीरों की अपेक्षा अतीत आवलियाँ संख्यातगुनी होने पर भी दोनों अनंत होने से दोनों को अनंतपने की अपेक्षा समान कहा है।

अहा! ऐसी मुनिराज की (पद्मप्रभमलधारिदेव की) बात भी अज्ञानी को ठीक नहीं लगती, क्योंकि इसमें निश्चय की ऐसी बात आती है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का उपाय निरपेक्ष है, उसमें व्यवहार की अपेक्षा नहीं है और इसी मार्ग से मोक्ष

होता है। अब, यह पढ़कर-सुनकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य निरपेक्ष है, तब तो हमारा सारा व्यवहार उड़ गया।

परन्तु भाई! चैतन्यमूर्ति भगवान् आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, शुद्धस्वभाव से भरा है, पूर्ण है, इसलिए उसके स्वभाव का आश्रय करने में पर की अपेक्षा है ही नहीं। अहा! उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य होने में पर की कोई अपेक्षा नहीं है। अतः पर की अपेक्षा बिना ही और स्वद्रव्य की अपेक्षा के कारण प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य परम निरपेक्ष तत्त्व है और वह निश्चय मोक्षमार्ग है तथा वह एक ही मोक्षमार्ग है। अहा! ऐसा स्वरूप होने पर भी अज्ञानी को दिक्कत होती है - वह यह कि व्यवहार होवे तो निश्चय होता है, निश्चय में व्यवहार की अपेक्षा चाहिए। अरे! इसने अनादि से ऐसा ही किया है। अब यहाँ कहते हैं कि -

(अनागत सिद्धों को मुक्ति होने तक का) अनागतकाल भी-अनागत सिद्धों के जो मुक्तिपर्यन्त अनागत शरीर उनके बराबर है। ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है।

अनागत सिद्धों को मुक्ति प्राप्त होने तक का अनन्तकाल भी अनागत सिद्धों के जो मुक्तिपर्यन्त अनागत शरीर हैं उनके जितना है। भविष्य का अन्त नहीं आता, परन्तु उतने काल का ज्ञान ज्ञान में आ जाता है। अनन्तकाल व्यतीत हुआ और अनन्तकाल व्यतीत होगा, वह ज्ञान में आ जाता है। तीनकाल का ज्ञान तीनकाल में नक्की नहीं होता, अपितु अल्पज्ञानवाला तीनकाल के ज्ञान को नक्की करता है। तीनकाल का नक्की करने के लिए तीनकाल का ज्ञान होवे तो ही हो, तब तो कभी तीनकाल का नक्की हो ही नहीं सकता। परन्तु अल्पज्ञान नक्की करता है कि आत्मा का स्वभाव तीनकाल को जानने का है और उसका निर्णय करनेवाली पर्याय पर्यायवान् को है, वह आत्मा से होती है।

‘इसीप्रकार श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत श्री पंचास्तिकाय समय में (२५वीं गाथा द्वारा) कहा है कि - समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष — इसप्रकार पराश्रितकाल (जिसमें पर की अपेक्षा आती है — ऐसा व्यवहारकाल) है।’

(नोट - इस अनागतकाल संबंधी स्पष्टीकरण प्रवचनरत्नचिन्तामणि में न होने से यह मेटर पूज्य गुरुदेवश्री के १९५२ के नियमसार प्रवचन से लिया गया है। - सम्पादक)

व्यवहारकाल सो पराश्रितकाल है। पराश्रित अर्थात् उसको पर की अपेक्षा से सिद्ध किया जाता है और यह तो गाथा में आ ही गया है।

अब मुनिराज स्वयं श्लोक कहते हैं —

कलश-४७ पर प्रवचन

समय, निमिष, काण्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह काल (व्यवहार काल) उत्पन्न होता है....

देखो, यह सब जो समयादि कहे हैं, उन भेदों से व्यवहारकाल उत्पन्न होता है।

परन्तु शुद्ध एक निज निरुपम तत्त्व को छोड़कर, उस काल से मुझे कोई फल नहीं है।

शुद्ध एक निज निरुपम तत्त्व अर्थात् निर्मल, अभेद, चिदानंद आदि अनंत स्वभावस्वरूप और जिसको कोई उपमा नहीं है - ऐसा निजतत्त्व-भगवान आत्मा। अहा! कहते हैं कि ऐसा निजतत्त्व को छोड़कर, अहा! अभेद रत्नत्रय का आश्रयभूत ऐसा जो द्रव्य भगवान आत्मा है, उसको छोड़कर, उस काल से मुझे कोई फल नहीं है, क्योंकि ऐसे द्रव्य को छोड़कर, परकाल का ज्ञान करने में तो पराधीन ज्ञान होता है और विकल्प उत्पन्न होता है; जबकि आत्मा का आश्रय करने पर तो निर्विकल्प आनंद आता है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब, काल एक वस्तु है — यह बात अधिक (विशेषरूप) से कहते हैं। ●

प्रभु! जो भाव तेरे स्वरूप में नहीं है, उन्हें तू अपना बनाने की आकांक्षा करता है तो तुझे ऐसी आकांक्षा करके कहाँ जाना है, उसका फल क्या है उसकी तुझे खबर है? शरीर तो छूटेगा ही, आत्मा का नाश तो कभी होता नहीं है, तो यह शरीर छोड़कर कहाँ जायेगा? जिसने राग और पुण्य की क्रिया का सेवन किया है, उससे लाभ माननेरूप मिथ्यात्व का सेवन किया है, वे भविष्य में भी मिथ्यात्व में रहेंगे। मिथ्यात्व के गर्भ में नरक और निगोद के अनंत भव करने की शक्ति है, वहीं अनंतकाल रहेंगे। भिन्न आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर अनादि भवसंतति का छेद हो जाता है, क्योंकि अनंत ज्ञान एवं अनंत आनन्द जिसके फल में प्रकट होता है, ऐसा कारण उसने प्राप्त किया है। अंतर में अभेद ज्ञायक आत्मा का पूर्ण आश्रय करने पर आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियों से खिल उठता है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-१९५

नियमसार गाथा-३२

जीवादु पोग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया ।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

जीवात् पुद्गलतो नंतगुणाश्चापि संप्रति समयाः ।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः ॥३२॥

(हरिगीत)

रे जीव पुद्गल से समय संख्या अनन्तगुणा कही ।
कालाणु लोकाकाश स्थित जो काल निश्चय है वही ॥३२॥

गाथार्थ :— अब, जीव से तथा पुद्गल से भी अनन्तगुने समय हैं और जो (कालाणु) लोकाकाश में हैं, वह परमार्थ काल है ।

टीका :— यह, मुख्य काल के स्वरूप का कथन है ।

जीवराशि से और पुद्गलराशि से अनन्तगुने हैं । कौन ? समय । कालाणु लोकाकाश के प्रदेशों में पृथक्-पृथक् स्थित हैं, वह काल परमार्थ है ।

उसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (१३८वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

“समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥”

“(गाथार्थ :-) काल तो अप्रदेशी है । प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश को मन्दगति से लांघता हो, तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूतरूप से परिणमित होता है ।”

इसमें (इस प्रवचनसार की गाथा में) भी “समय” शब्द से मुख्यकालाणु का स्वरूप कहा है ।

और अन्यत्र (आचार्यदेव श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रह में २२वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

“लोयायासपदेसे एक्केक्के जे द्विया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥”

(गाथार्थ :-) लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में जो एक-एक कालाणु रत्नों की राशि की भाँति वास्तव में स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यद्रव्य हैं।

और मार्गप्रकाश में भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि -

(अनुष्टुभ्)

“कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्यायःसर्वाभावः प्रसज्यते ॥”

“(गाथार्थ :-) काल के अभाव में, पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन न हो तो, द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी, इसप्रकार सर्व के अभाव का (शून्य का) प्रसंग आयेगा।”

और (३२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) -

(अनुष्टुभ्)

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत् ।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥४८ ॥

(श्लोकार्थ :-) कुम्हार के चक्र की भाँति (अर्थात् जिसप्रकार घड़ा बनने में कुम्हार का चाक निमित्त है उसीप्रकार), यह परमार्थकाल (पाँच अस्तिकायों की) वर्तना का निमित्त है। उसके बिना, पाँच अस्तिकायों को वर्तना (परिणमन) नहीं हो सकती ॥४८ ॥

(अनुष्टुभ्)

प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः ।
धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ॥४९ ॥

(श्लोकार्थ :-) सिद्धान्तपद्धति से (शास्त्रपरम्परा से) सिद्ध ऐसे जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी प्रतीतिगोचर हैं (अर्थात् छहों द्रव्यों की प्रतीति हो सकती है) ॥४९ ॥

गाथा-३२ पर प्रवचन

‘यह मुख्य काल के स्वरूप का कथन है।’

देखो, यहाँ कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं। श्वेताम्बर मत वाले कालद्रव्य को नहीं मानते हैं न! इसलिए यहाँ सिद्ध करते हैं कि अनादि सनातनमार्ग में छह द्रव्य हैं और उनमें एक कालद्रव्य है।

‘जीवराशि से और पुद्गलराशि से अनंतगुने हैं। कौन ? समय।’

समय हो, परन्तु कालद्रव्य नहीं।

‘कालाणु लोकाकाश से प्रदेशों में पृथक्-पृथक् स्थित हैं, वह काल परमार्थ है।’

देखो! समय आदि को व्यवहारकाल कहा और उन समयों को जीव तथा पुद्गल की अपेक्षा अनंतगुना कहा। जबकि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो असंख्यकालाणु स्थित हैं, वह मूल काल पदार्थ है — ऐसा कहते हैं। अतः काल नामक एक अरूपी पदार्थ है।

अहा! जितने छहद्रव्य हैं, उतने नहीं माननेवाले को एकसमय की पर्याय के सामर्थ्य की प्रतीति भी नहीं है, कारण कि ज्ञान की एकसमय की पर्याय में छह द्रव्यों को जानने की ताकत है। भाई! ज्ञानपर्याय छह द्रव्यों को जानने की ताकतवाली है। इसलिए ये जो छह द्रव्य हैं, उनमें से यदि कोई एक द्रव्य को भी नहीं माने तो उसने ज्ञान की एकसमय की पर्याय की उतनी (छह द्रव्यों को जानने की) जो ताकत है, उसको नहीं माना है। (और इसकारण उसने अपने को भी नहीं माना है।)

इसीप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत) श्री प्रवचनसार में (१३८वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

काल तो अप्रदेशी है....

देखो, काल (बहु) प्रदेश नहीं है और दो कालद्रव्य इकट्ठे भी नहीं होते। परमाणु तो इकट्ठे होते दिखते हैं, रजकण इकट्ठे होते हैं, परन्तु दो कालाणु इकट्ठे नहीं होते। इसलिए —

प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश की मंदगति से लांघता है, तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूतरूप से परिणमित होता है।

देखो, फिर से यह बात आई, परन्तु प्रवचनसार की शैली में आई है। पहले (गाथा ३१ में) कहा था कि 'एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मंदगति से लांघे...'। जबकि यहाँ प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश को मंदगति से लांघता हो, तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूतरूप से परिणमित होता है — ऐसा है। इसप्रकार प्रवचनसार की इस गाथा में भी समय शब्द से मुख्य कालाणु का स्वरूप कहा है।

'और अन्यत्र (आचार्यवर श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित वृहद्द्रव्यसंग्रह में २२वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में जो एक-एक कालाणु रत्नों की राशि की भांति वास्तव में स्थित है, वे कालाणु असंख्यद्रव्य हैं।'

अहा! वह कालाणु स्वतंत्र वस्तु है। (अर्थात् कालद्रव्य है।)

'मार्गप्रकाश' में भी कहा है कि —

'काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा।'

अहा! कालद्रव्य सिद्ध करना है न! निमित्तरूप से कालद्रव्य सिद्ध करना है, इसलिए ऐसा कहा है। वरना काल के अभाव में, द्रव्य का जो परिणमन है वह परिणमन नहीं होगा — क्या ऐसा है ?

प्रश्न :— परन्तु शास्त्र में तो आता है कि यदि कालद्रव्य नहीं हो तो परिणमन नहीं होगा, इसलिए परिणमन काल के कारण ही है न ?

उत्तर :— भाई! क्या कोई द्रव्य किसी समय पर्याय से रहित होता है कि जिससे उसका परिणमन कालद्रव्य के कारण हो ? यहाँ तो कालद्रव्य के निमित्तपने की सिद्धि करनी है कि प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में एक काल नामक द्रव्य निमित्त होता है और इसीलिए यह कहा है कि 'काल के अभाव में पदार्थ का परिणमन नहीं होगा।' बस,

इतनी बात है! परन्तु क्या हो ? अरे! यह कथन किस नय का है और अज्ञानी क्या करता है (कैसा मानता है ?) भाई! अज्ञानी के साथ यही विवाद है न!

प्रश्न :- परन्तु शास्त्र में लिखा हो, वह सब तो सत्य है न ?

उत्तर :- परन्तु शास्त्र में कथन किस नय का है — यह तो जानना चाहिए न! यह नहीं जानने से ही गड़बड़ उत्पन्न होती है।

तो कहते हैं कि काल के अभाव में, पदार्थ का परिणमन नहीं होगा और परिणमन नहीं होगा तो द्रव्य भी नहीं होगा और पर्याय भी नहीं होगी ? भाई! यदि पदार्थ का परिणमन नहीं होगा तो पदार्थ ही नहीं होगा और पर्याय भी नहीं होगी।

‘इसप्रकार सर्व के अभाव का (शून्य का) प्रसंग आयेगा।’

यहाँ तो काल को सिद्ध करते हैं कि काल नामक पदार्थ है और वह समस्त द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है, बस। भाई! जिसने काल नामक पदार्थ उड़ाया है (नहीं माना है) उसको स्वकाल का अनुभव नहीं है। यह बात हमने बहुत वर्षों पूर्व, लगभग संवत् १९८९ में एकबार कही थी। नारायण भाई के साथ अंदर चर्चा चलती थी न, तब एक बार कहा कि ‘जिसने कालाणु-कालद्रव्य को नहीं माना है उसका काल फिरा ही नहीं है’ अर्थात् उसको अनुभव का स्वकाल हुआ ही नहीं; क्योंकि यदि अनुभव का स्वकाल होता तो, कालद्रव्य उसमें निमित्त है — इसप्रकार कालद्रव्य भी इसकी प्रतीति में आता ही है।

अब मुनिराज स्वयं दो श्लोक कहते हैं —

कलश-४८ पर प्रवचन

कुम्हार के चक्र के भांति (अर्थात् जिसप्रकार घड़ा बनने में कुम्हार का चाक निमित्त है उसीप्रकार), यह परमार्थकाल (पाँच अस्तिकायों की) वर्तना का निमित्त है।

यह कालद्रव्य पाँच द्रव्यों को निमित्त है। काल सबके परिणमन में निमित्त है।

इसके बिना, पाँच अस्तिकायों को वर्तना (परिणमन) नहीं हो सकती।

ऊपर कालद्रव्य को सिद्ध किया है न! और यहाँ भी कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं, इसलिए ऐसा कहा है; परन्तु यह पढ़कर अज्ञानी तर्क निकालता है कि कालद्रव्य हो तो सब परिणमित होते हैं और यदि कालद्रव्य नहीं हो तो कोई भी परिणमित नहीं होता। परन्तु भाई! इस कथन का अर्थ तो यह है कि यहाँ द्रव्य परिणमित होते हैं, तब कालद्रव्य (निमित्तरूप) होता है। बस, इतनी-सी बात है। यों निश्चय से तो द्रव्य का परिणमन स्वकाल में अपने कारण से होता है। अर्थात् द्रव्य पर की अपेक्षा के बिना ही परिणमित होता है; परन्तु उससमय एक दूसरा द्रव्य (कालद्रव्य) निमित्तरूप होता है और इसीकारण व्यवहार से उसका सापेक्षपना गिना गया है। निमित्त की अपेक्षा से कहना व्यवहार है और स्वयं की अपेक्षा से कहना निश्चय है।

इसप्रकार यह कलश हुआ।

कलश ४९ पर प्रवचन

सिद्धान्त पद्धति से (शास्त्र परम्परा से) सिद्ध ऐसे जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्मा, अधर्म, आकाश और काल सभी प्रतीतिगोचर हैं (अर्थात् छहों द्रव्यों की प्रतीति हो सकती है।)

देखो, सिद्धान्तपद्धति से छहद्रव्य अनादि के हैं - ऐसा कहते हैं। भगवान के सिद्धान्तों की पद्धति से-परम्परा से सिद्ध ऐसे द्रव्यों की राशि इसप्रकार है - जीवराशि अनंत है, पुद्गलराशि अनंतानंत है, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है तथा काल असंख्य है और इन छहों द्रव्यों की प्रतीति हो सकती है - ऐसा कहते हैं।

अरे! सम्प्रदाय में तो झगड़ा ही है, जिससे अलग हुए हैं, उसमें भी झगड़ा है और जिसके साथ रहे हैं उसमें भी अर्थ करने के झगड़े हैं। अरे! किसी व्यक्ति के प्रति क्या है ? अपने को तो शान्ति से देखना चाहिए कि यह शास्त्र क्या कहना चाहता है, वस्तु क्या है ? यहाँ भी ऐसा ही कहा है न कि अनादि सिद्धान्त परम्परा से सिद्ध ऐसी जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — सब प्रतीतिगोचर हैं अर्थात् यह काल भी वस्तु है और वह कालाणु पदार्थ असंख्यात हैं। ऐसा होने पर भी श्वेताम्बर ने एकसमय की पर्याय को ही कालद्रव्य मानकर, यह कहा है कि अन्य कोई कालद्रव्य नहीं है। वे पर्याय को ही कालद्रव्य कहते हैं। अहा! जीव-अजीव की पर्याय है, उसका

काल-स्वकाल है न! तो वही कालद्रव्य है; परन्तु उससे भिन्न दूसरा कोई कालद्रव्य नहीं है — ऐसा श्वेताम्बर कहते हैं। अहा! द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का जो स्वकाल है, उसको ही श्वेताम्बर ने कालद्रव्य मान लिया है।

और कोई ऐसा कहता है कि कालद्रव्य हो तो ही द्रव्य परिणमित होते हैं और वह न हो तो द्रव्य ही परिणमित नहीं होते; परन्तु भाई! निमित्त किस दिन नहीं हैं, तो भी अज्ञानी कहता है कि नहीं; निमित्त आवे तो द्रव्य परिणमित होते हैं और निमित्त नहीं आवे तो द्रव्य परिणमित नहीं होते। परन्तु भाई! क्या निमित्त नहीं हो तो द्रव्य में उत्पाद-व्यय रुक जायेगा ? नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता, क्योंकि उनका तो (द्रव्यों का तो) धारावाही परिणमन होता ही है।

प्रश्न :— जैसे आगे (अलोक में) धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए सिद्ध आगे-ऊपर नहीं जाते, वैसे ही काल न होवे तो परिणमन नहीं होता ?

उत्तर :— अरे रे! सिद्ध को भी परतंत्र माना है! (और वस्तु को भी!)

प्रश्न :— परन्तु इसके बिना अनेकान्त नहीं होता न ? अनेकान्त तो तब कहलाता है कि जब सिद्ध कथंचित् स्वतंत्र और कथंचित् परतंत्र हों ?

उत्तर :— भाई! यहाँ तो कहते हैं कि सिद्ध सर्वथा स्वतंत्र है और परतंत्र जरा भी नहीं है - इसका नाम अनेकान्त है। अरे! अज्ञानी को सब विपरीत ही भासित होता है। क्या हो सकता है ?

इसप्रकार यह ३२वीं गाथा पूर्ण हुई। ●

हे भाई! अपनी दृष्टि के सामने तू क्या नहीं देखता कि यह जगत कालरूपी प्रचण्ड पवन से निर्मूल हो रहा है। भ्रान्ति को छोड़! जगत में किसी की नाममात्र भी स्थिरता नहीं है। जिस दिन का मंगलमय प्रभात उगता है, वही दिवस अस्तपने को प्राप्त होता है। भाई! इस जगत का स्वभाव ही क्षणभंगुर है! पर्वत समान विस्तीर्ण लगनेवाले रूपों का घड़ी भर में अवशेष भी दिखायी नहीं देता कौन जाने किस कारण से तू इस इन्द्रजालवत् जगत के इष्ट पदार्थों में आशा बांधकर भटकता रहता है।

- श्री आत्मानुशासन

नियमसार गाथा- ३३

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति ॥३३ ॥
जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः ।
धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवन्ति ॥३३ ॥

(हरिगीत)

रे जीव पुद्गल आदि का परिणमनकारण काल है ।

धर्मादि चार स्वभावगुण पर्यायवन्त त्रिकाल हैं ॥३३ ॥

गाथार्थ :— जीवादि द्रव्यों को परिवर्तन का कारण (वर्तना का निमित्त) काल है ।
धर्मादि चार द्रव्यों को स्वभावगुणपर्यायें होते हैं ।

टीका :— यह, कालादि शुद्ध अमूर्त अचेतन द्रव्यों के निज स्वभावगुणपर्यायों का कथन है ।

मुख्य कालद्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश की (पाँच अस्तिकायों की) पर्यायपरिणति का हेतु होने से उसका लिंग परिवर्तन है (अर्थात् कालद्रव्य का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है) ऐसा यहाँ कहा है ।

अब (दूसरी बात यह है कि), धर्म, अधर्म, आकाश और काल को स्वजातीय या विजातीय बन्ध का सम्बन्ध न होने से उन्हें विभावगुणपर्यायें नहीं होतीं, परन्तु स्वभाव गुणपर्यायें होती हैं - ऐसा अर्थ है । उन स्वभावगुणपर्यायों का पहले प्रतिपादन किया गया है, इसीलिए यहाँ संक्षेप से सूचन किया गया है ।

(अब ३३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत् ।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ॥५० ॥

(वीरछन्द)

इसप्रकार भव्यों को कर्णामृतवत् है अरु अतिशय रम्य ।
 छह द्रव्यों का यह विवरण दैदीप्यमान विस्तृत मतिगम्य ॥
 जिन-मुनियों के मन को प्रमुदित करने वाला यह वर्णन ।
 भव्य जीव को है सदैव यह भव से मुक्ति का कारण ॥५० ॥

(श्लोकार्थ :—) इसप्रकार भव्यों के कर्णों को अमृत ऐसा जो छह द्रव्यों का अति रम्य दैदीप्यमान (स्पष्ट) विवरण विस्तार से किया गया, वह जिन मुनियों के चित्त को प्रमोद देनेवाला षट्द्रव्यविवरण भव्य जीवों को सर्वदा भवविमुक्ति का कारण हो ॥५० ॥

गाथा-३३ की टीका पर प्रवचन

यह कालादि शुद्ध अमूर्त अचेतन द्रव्यों के निजस्वभाव गुण-पर्यायों का कथन है ।

देखो, कालादि अमूर्त अचेतन द्रव्यों को स्वभावगुण और स्वभावपर्यायें ही होती हैं । उनमें..... ।

‘मुख्यकालद्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश की (पाँच अस्तिकायों की) पर्याय-परिणति का हेतु होने से उसका लिंग परिवर्तन है (अर्थात् कालद्रव्य का लक्षण वर्तना हेतुत्व है) ऐसा यहाँ कहा है ।’

कालद्रव्य पाँचों अस्तिकायों की पर्याय-परिणति का हेतु है । ‘पर्याय-परिणति का हेतु’ — ऐसी भाषा है न! इसका अर्थ यह है कि जो वर्तता है-परिणमित होता है, कालद्रव्य उसका निमित्त है और इसकारण उसका लक्षण वर्तनाहेतुत्व है । अहा! पर्याय-परिणति का हेतु अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश की अवस्था-पर्याय परिणमित होती है, उसका हेतु कालद्रव्य है और इसलिए उसका लिंग (चिह्न-लक्षण) परिवर्तन है अर्थात् काल का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है — ऐसा उसका अर्थ है ।

‘अब (दूसरी बात यह है कि) धर्म, अधर्म, आकाश और काल को स्वजातीय या विजातीय बंध का संबंध न होने से उन्हें विभावगुण-पर्यायें नहीं होतीं, परन्तु स्वभावगुण-पर्यायें होती हैं — ऐसा अर्थ है ।’

धर्म, अधर्म, आकाश और काल को स्वजातीय के साथ संबंध नहीं हैं और पर

(विजातीय) के साथ संबंध भी नहीं है। अरे! परमाणु के साथ भी संबंध नहीं है — ऐसा कहते हैं।

देखो, सजातीय के साथ या विजातीय पर के साथ संबंध नहीं होने से धर्म, अधर्म, आकाश और काल को विभावगुण-पर्यायें नहीं होतीं, बल्कि उनके समस्त ही गुण और पर्यायें अनादि से शुद्ध स्वाभाविक होते हैं — यह अर्थ है। उन स्वभावगुण-पर्यायों का प्रतिपादन पूर्व में किया जा चुका है, इसलिए यहाँ संक्षिप्त से सूचित किये गये हैं।

कलश-५० पर प्रवचन

‘इसप्रकार भव्यों के कर्णों का अमृत.....’

अहा! भव्य जीवों को ऐसे छह द्रव्यों की बात कान द्वारा सुनने में आवे वह अमृत है — ऐसा कहते हैं अर्थात् इन छह द्रव्यों की प्रतीति भव्य जीव को होती है — ऐसा कहते हैं।

‘.....ऐसा जो छह द्रव्यों का अतिरम्य दैदीप्यमान (स्पष्ट) विवरण विस्तार से किया गया, वह जिन मुनियों के चित्त को प्रमोद देनेवाला....’

यह छह द्रव्यों का वर्णन वीतरागी दृष्टिवंत और वीतरागी चारित्रवंत मुनियों के चित्त को प्रमोद देनेवाला है अर्थात् उनको इस जाति का विकल्प होता है कि अहो! भगवान ने ऐसे छहद्रव्य कहे हैं।

‘...षट्द्रव्य विवरण भव्य जीवों को सर्वदा भवविमुक्ति का कारण हो।’

अहा! छह द्रव्यों का वास्तविक ज्ञान करके, जो स्वभावसन्मुख ढलता है, उसको वह ज्ञान भवविमुक्ति का कारण होता है।

अहा! द्रव्य छह हैं न ? अतः उनमें से कोई एक भी द्रव्य कम माने तो उसने पर्याय की सामर्थ्य को नहीं माना है, पर्याय को नहीं माना है और यदि पर्याय को नहीं माना है तो द्रव्य को कैसे मानेगा ? भाई! पर्याय में ऐसी सामर्थ्य है — यह जानकर द्रव्य का आश्रय करनेवाले को धर्म होता है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। किसी को ऐसा लगता है कि इसकी अपेक्षा तो एकेन्द्रिय या द्विन्द्रिय आदि की दया पालना चाहिए या अन्य कुछ करना सीधा-सरल है। आता है न कि —

दया है सुख की बेलड़ी, दया है सुख की खान।

अनंत जीव मुक्ति गये, करके दया परिणाम॥

अब, ऐसा कहो तो सबकी समझ में भी आवे — ऐसा अज्ञानी कहता है।

परन्तु भाई! अनंतजीव किससे मुक्ति गये हैं ? स्वदया से या परदया से ? स्वदया से। अन्य को बचाने का भाव परदया है और वह तो राग है, धर्म नहीं। अरे! सम्प्रदाय में तो परदया की ही बात है। यही तो विवाद है न। जहाँ-जहाँ शास्त्र में दया की बात आती है, वहाँ दया माने परदया और परदया माने ही धर्म बस! ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु भाई! दया के दो प्रकार हैं —

प्रश्न :— दो प्रकार करते ही क्यों हो ?

उत्तर :— शास्त्र में आते हैं इसलिए। निश्चयनय से दया (स्वदया) और व्यवहारनय से दया (परदया) — ऐसे दो प्रकार हैं।

प्रश्न :— निश्चय-व्यवहार ऐसे भेद किसलिए करते हो ?

उत्तर :— दो नय हैं, इसलिए करते हैं। निश्चय दया अर्थात् भगवान् आत्मा जो कि अंदर राग और विकल्प रहित निर्विकल्प प्रभु है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही सच्ची दया है, जिससे संसार से मुक्त होकर सिद्ध हुआ जाता है। अहा! स्वदया ही सच्ची दया है। बाकी पर की दया का भाव तो विकल्प-राग है और उसमें वास्तव में अपनी हिंसा है।

इसप्रकार गाथा ३३ पूर्ण हुई।



कोई अति निद्रावश मनुष्य को उसके मर्मस्थान पर मुग्ध की चोट मारे अथवा अग्नि की उष्णता से देह को आंच लगे अथवा कहीं बाजों की ध्वनि सुने तो वह तुरन्त जाग उठता है, परन्तु अविवेकी जीव को पाप कर्मफल के लगातार एक के बाद एक उदयरूप मुग्धों की मार मर्मस्थान पर पड़ती रहती है, महादुःखरूप त्रिविध ताप से उसका शरीर निरन्तर जलता रहता है और आज यह मरा, कल वह मरा, अमुक ऐसे मरा, अमुक वैसे मरा - ऐसे यमराज के बाजों के भयंकर शब्द बारम्बार सुनने में आते हैं, तथापि वह महा अकल्याणकारी अनादि मोहनिद्रा को किंचित् भी हटा नहीं पाता, यह परम आश्चर्य है।

- श्री आत्मानुशासन

नियमसार गाथा-३४

एदे छद्द्व्याणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिदिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥३४॥

एतानि षड्द्रव्याणि य कालं मुक्त्वास्तिकाया इति।
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम् ॥३४॥

(हरिगीत)

विन काल ये जिनधर्म वर्णित पाँच अस्तिकाय हैं।
अरु वस्तु का वह बहु प्रदेशीपन नियम से काय है ॥३४॥

गाथार्थ :— काल छोड़कर इन छह द्रव्यों को (अर्थात् शेष पाँच द्रव्यों को) जिनसमय में (जिनदर्शन में) 'अस्तिकाय' कहे गये हैं। बहुप्रदेशीपना वह कायत्व है।

टीका :— इस गाथा में कालद्रव्य के अतिरिक्त पूर्वोक्त द्रव्य ही पंचास्तिकाय हैं — ऐसा कहा।

यहाँ (इस विश्व में) काल द्वितीयादि प्रदेश रहित (अर्थात् एक से अधिक प्रदेश रहित) है, क्योंकि 'समओ अप्पदेसो (काल अप्रदेश है)' ऐसा (शास्त्र का) वचन है। इसे द्रव्यत्व ही है शेष पाँच को कायत्व (भी) है ही।

बहुप्रदेशों के समूहवाला हो वह 'काय' है। 'काय' काय जैसे (शरीर जैसे अर्थात् बहुप्रदेशोंवाले) होते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं।

अस्तित्व अर्थात् सत्ता। वह कैसी है ? महासत्ता और अवान्तरसत्ता - ऐसी सप्रतिपक्ष^१ है। वहाँ, समस्त वस्तुविस्तार में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत^२ वस्तु में व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है, समस्त व्यापकरूप में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत एक रूप में व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है, अनन्त पर्यायों में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत एक पर्याय में व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है। पदार्थ का 'अस्ति^३' ऐसा भाव वह अस्तित्व है।

१. सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष सहित, विरोधी सहित। (महासत्ता और अवान्तरसत्ता परस्पर विरोधी हैं।)

२. प्रतिनियत=नियत, निश्चित, अमुक ही।

३. अस्ति=है। (अस्तित्व=होना)

इस अस्तित्व से और कायत्व से सहित पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य को अस्तित्व ही है, कायत्व नहीं है, क्योंकि काय की भाँति उसे बहुप्रदेशों का अभाव है।

(अब ३४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(आर्या)

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या ।

षट्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम् ॥५१॥

(वीरछन्द)

प्रीतिपूर्वक पूर्वाचार्यो ने छह द्रव्य रत्न की माल।

भविजन कण्ठाभरण हेतु श्रुत-रत्नाकर से लिया निकाल ॥५१॥

(श्लोकार्थ :-) इसप्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यो ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण के हेतु बाहर निकाली है ॥५१॥

गाथा-३४ की टीका पर प्रवचन

एदे छहव्वाणि...इसमें तो यह स्पष्ट पाठ है कि द्रव्य छह हैं। तथा णिद्दिट्ठा जिणसमये..वीतराग के शास्त्र में तो ऐसा है (कि छह द्रव्य हैं) - ऐसा यहाँ कहते हैं।

इस गाथा में कालद्रव्य के अतिरिक्त पूर्वोक्त द्रव्य ही पंचास्तिकाय है - ऐसा कहा है।

देखो, काल अस्तिकाय नहीं है। काल अस्ति है; परन्तु उसमें काय-प्रदेशों का समूह नहीं है। जबकि शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। इसलिए काल उनसे अलग पड़ता है; परन्तु अन्य पाँच द्रव्यों से पृथक् पड़ने से काल अस्ति भी नहीं है - ऐसा नहीं है। यही बात कहते हैं -

‘यहाँ (इस विश्व में) काल द्वितीयादि प्रदेश रहित (अर्थात् एक से अधिक प्रदेश रहित) है...’

काल को दो या दो से अधिक प्रदेश नहीं होते अर्थात् काल एक प्रदेशी है क्योंकि,

समओ अप्पदेसो (काल अप्रदेशी है) — ऐसा (शास्त्र का) वचन है। इसे द्रव्यत्व ही है, शेष पाँच को कायत्व (भी) है ही।

देखो, क्या कहा ? कि काल अप्रदेशी है - ऐसा शास्त्र का वचन है - इसकारण उसको वस्तुपना-द्रव्यपना ही है। अहा! काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों को द्रव्यपना भी है और कायपना भी है; जबकि काल को द्रव्यपना है, किन्तु कायपना नहीं।

बहु प्रदेशों के समूहवाला हो वह काय है। काय, काय जैसे (शरीर जैसे अर्थात् बहुप्रदेशवाले) होते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं।

देखो, यह काय की व्याख्या की है, जिसके बहुप्रदेश हैं — दो से लेकर अनंत प्रदेश हों, उसको काय कहते हैं।

देखो, काय जैसा अर्थात् बहुप्रदेशवाला हो, वह काय है और वे पाँच हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, जीव और पुद्गल को काय कहा है, क्योंकि वे बहुप्रदेशों के समूहवाले हैं।

‘अस्तित्व अर्थात् सत्ता....’ होनापना, वह अस्तित्व-सत्ता है।

‘वह कैसी है ? महासत्ता और अवान्तरसत्ता - ऐसी सप्रतिपक्ष है।’

सप्रतिपक्ष का अर्थ फुटनोट में इसप्रकार है - सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष सहित, विरोधी सहित। (महासत्ता और अवान्तरसत्ता परस्पर विरोधी हैं)

‘वहाँ समस्त वस्तुविस्तार में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है.....’

अहा! भाषा देखो, सब है ऐसा कहनेवाली-जाननेवाली वह महासत्ता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक ही सत्ता सबमें व्याप्त होती है; परन्तु सब है - ऐसा कहनेवाली-जाननेवाली महासत्ता है। अहा! समस्त वस्तुविस्तार में व्यापनेवाली यह महासत्ता है - ऐसी भाषा होने से अज्ञानी मानता है कि समस्त वस्तुओं में एक ही सत्ता व्यापक है; परन्तु ऐसा नहीं है। भाई! यह तो सभी द्रव्य है...है...है...समस्त द्रव्य सत्तारूप है... है... है... इसप्रकार समस्त द्रव्यों में सत्ता कहनेवाली महासत्ता है।

‘प्रतिनियत वस्तु में व्यापनेवाली वह अवान्तरसत्ता है।’

देखो, प्रतिनियत अर्थात् नियत, निश्चित, अमुक ही। एक-एक पदार्थ में अर्थात् एक परमाणु, एक आत्मा, एक धर्मास्ति आदि में रहनेवाली, व्यापनेवाली वह अवान्तरसत्ता है। प्रवचनसार में उसका वर्णन विस्तार से आता है।

‘समस्त व्यापकरूप में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत स्वरूप में व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है।’

लो, एक-एक रूप में व्याप्त होनेवाली अवान्तरसत्ता है।

‘अनंत पर्यायों में व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत एक पर्याय में व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है।’

क्या कहा ? कि सब-पर्याय है, अनंत पर्याय है - बस इसप्रकार व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है। पर्याय के अनंतपने को एकरूप गिनने पर वह महासत्ता है, जबकि एक-एक पर्याय को भिन्न-भिन्न गिनने पर वह अवान्तरसत्ता।

‘पदार्थ का अस्ति ऐसा भाव वह अस्तित्व है।’

अस्ति अर्थात् ‘है’। अस्तित्व=होना, है..है — ऐसा होनापना वह अस्तित्व है।

प्रश्न :- परमाणु एक प्रदेशी है और वह दूसरे में नहीं मिलता तो भी उसको अस्तिकाय क्यों कहा है ?

उत्तर :- परमाणु अन्य में नहीं मिलता, तथापि उसकी अस्तिकायरूप होने की योग्यता है न! इसलिए उसको अस्तिकाय गिना है। जबकि काल में वैसी योग्यता नहीं है, इसलिए उसको अस्तिकाय नहीं गिना। परमाणुओं में, बहुत परमाणु का स्कन्ध होने की योग्यता है, इसलिए उसको अस्तिकाय कहा है। यद्यपि वास्तव में तो वह उपचार से काय है; क्योंकि वह एक परमाणु ही वास्तविक (निश्चय) पुद्गल है। पूर्व में (गाथा २९ में) यह आ गया है कि परमाणु निश्चय पुद्गल है और स्कन्ध व्यवहार पुद्गल है। उसको स्कन्ध की योग्यता के कारण अस्तिकाय कहा गया है।

‘इस अस्तित्व और कायत्व से सहित पाँच अस्तिकाय है।’

देखो, जो होनेरूप (अस्तिरूप) हो और जिसको समूहरूप बहुत प्रदेश हों। वैसे पाँच अस्तिकाय हैं; परन्तु ‘कालद्रव्य को अस्तित्व ही है, कायत्व नहीं, क्योंकि काय की भाँति उसे बहुप्रदेशों का अभाव है।’ अहा! बहुत प्रदेशों का जो काय उसका काल में अभाव है। इसलिए काल को अस्ति कहते हैं; परन्तु उसको काय नहीं कहा जाता।

कलश-५१ पर प्रवचन

इसप्रकार जिनवाणीरूपी रत्नाकर में से....

देखो! वीतराग सर्वज्ञ के जिनमार्गरूपी-वीतरागमार्गरूपी रत्नाकर में से....अर्थात् यह जिनमार्ग महासागर है — ऐसा कहते हैं। अहा! जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से-यानी कि जिनेन्द्र भगवान का महासागर है, उसमें से **पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक...** देखो, फिर यह कहते हैं कि ये सब जो कुन्दकुन्दाचार्य आदि पूर्वाचार्य हो गये हैं, उन्होंने प्रीतिपूर्वक अर्थात् प्रसन्नचित्त से **षट्द्रव्यों रूपी रत्नों की माला**, देखो! नियमसार में ऐसा स्पष्ट तो कहा है कि पूर्वाचार्यों ने छह द्रव्य हैं - ऐसा कहा है। अरे! ऐसा नियमसार श्रीमद् राजचंद्र के हाथ में नहीं आया था।

तो कहते हैं कि '**इसप्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण हेतु बाहर निकाली है।**'

अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा कथित षट्द्रव्यों का यथातथ्य ज्ञान होना, वह शोभा है- आभरण है। भव्यों को छह द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान हो वह ज्ञान की पर्याय की शोभा है। इसलिए छह द्रव्यों का ज्ञान होना वह भव्यजीवों के कंठ का आभरण-शोभा है - ऐसा कहा है। लो, यह ज्ञानरूपी आभरण और उसके लिए यहाँ छह द्रव्यों की बात की है।

इसप्रकार यह गाथा पूर्ण हुई। ●

आत्मा चाहे जैसे संयोगों में भी अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। अपनी शान्ति को प्रगट करने में जगत का कोई बाह्य पदार्थ विघ्न करने में समर्थ नहीं है। चाहे जैसी असह्य घटनाएँ हो जायें - पुत्र मर जाय, पुत्री विधवा हो जाय, जंगल में अकेला भटक गया हो और हैजा आदि जैसा असाध्य रोग हो गया हो, क्षुधा-तृषा की असह्य वेदना हो या सिंह-बाघ फाड़ खाने को आया हो अथवा चाहे जैसी भयंकर परिस्थिति आ जाय फिर भी उन संयोगों का लक्ष छोड़कर आत्मा अंतरंग में अपनी शान्ति प्रगट कर लेने में समर्थ है। बाह्य प्रतिकूलताएँ अंतरंग आत्मशान्ति को रोक नहीं सकतीं। शास्त्र में तो कहा है कि नरक की एकक्षण की पीड़ा ऐसी है कि उसे करोड़ों जिह्वाओं द्वारा करोड़ों वर्षतक कहा जाय तब भी उस पीड़ा का वर्णन नहीं हो सकता - ऐसी असह्य नरक की पीड़ा है तथापि वहाँ भी उन संयोगों का और पीड़ा का लक्ष छोड़कर आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। भाई! तेरा तत्त्व तो हजरा हजूर अर्थात् तुरन्त फल देनेवाला है। उसका लक्ष करके अपनी शान्ति प्रगट की जा सकती है।

- पूज्य गुरुदेव, दृष्टि के निधान

नियमसार गाथा-३५-३६

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसो हु ॥३५ ॥
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥३६ ॥
संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
धर्माधर्मयोः पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलु ॥३५ ॥
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशाः ।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यस्मात् ॥३६ ॥

(हरिगीत)

होते अनन्त, असंख्य, संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्य के ।
अरु हैं असंख्य प्रदेश आत्मा और धर्म अधर्म के ॥३५ ॥
अनसंख्य लोकाकाश के हैं, अरु अनन्त अलोक के ।
नहिं काल को कायत्व है वह इक प्रदेशी द्रव्य है ॥३६ ॥

गाथार्थ :— मूर्त द्रव्य को संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं, धर्म, अधर्म तथा जीव को वास्तव में असंख्यात प्रदेश हैं ।

लोकाकाश में धर्म, अधर्म तथा जीव की भाँति (असंख्यात प्रदेश) हैं, शेष जो अलोकाकाश उसे अनन्त प्रदेश हैं । काल को कायपना नहीं है, क्योंकि वह एक प्रदेशी है ।

टीका :— इसमें छह द्रव्यों के प्रदेश का लक्षण और उसके संभव का प्रकार कहा है (अर्थात् इस गाथा में प्रदेश का लक्षण तथा छह द्रव्यों को कितने-कितने प्रदेश होते हैं, वह कहा है) ।

शुद्धपुद्गलपरमाणु द्वारा रुका हुआ आकाशस्थान ही प्रदेश है (अर्थात् शुद्ध पुद्गलरूप परमाणु आकाश के जितने भाग को रोकेँ, उतना भाग वह आकाश का प्रदेश है) । पुद्गलद्रव्य को ऐसे^१ प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं । लोकाकाश को, धर्म

१. आकाश के प्रदेश की भाँति, किसी भी द्रव्य का एक परमाणु द्वारा व्यपित होनेयोग्य जो अंश उसे उस द्रव्य का प्रदेश कहा जाता है । द्रव्य से पुद्गल एकप्रदेशी होने पर भी पर्याय से स्कन्धपने की अपेक्षा से पुद्गल को दो प्रदेशों से लेकर अनन्त प्रदेश भी सम्भव होते हैं ।

को, अधर्म को तथा एक जीव को असंख्यात प्रदेश हैं। शेष जो अलोकाकाश उसे अनन्त प्रदेश हैं। काल को एक प्रदेश है, उस कारण से उसे कायत्व नहीं है, परन्तु द्रव्यत्व है ही।

(अब इन दो गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:)

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कंठविभूषणार्थम्।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥५२॥

(वीरछन्द)

जीवादिक षट् द्रव्यरूप यह रत्नाभरण सुशोभित है।
मैंने इसे मुमुक्षु कण्ठ की शोभा हेतु बनाया है॥
बुद्धिमान जन इस आभूषण से व्यवहार मार्ग जानें।
इसे जानकर भव्य जीव वे शुद्ध मार्ग को भी जानें॥५२॥

(श्लोकार्थ :-) पदार्थरूपी (छह द्रव्योंरूपी) रत्नों का आभरण मैंने मुमुक्षु के कण्ठ की शोभा के हेतु बनाया है, उसके द्वारा धीमान् पुरुष व्यवहारमार्ग को जानकर, शुद्धमार्ग को भी जानता है ॥५२॥

गाथा-३५-३६ की टीका पर प्रवचन

‘इसमें छह द्रव्यों के प्रदेश का लक्षण और उसके संभव का प्रकार कहा है (अर्थात् इस गाथा में प्रदेश का लक्षण तथा छह द्रव्यों को कितने-कितने प्रदेश होते हैं, वह कहा है।)’

देखो, इसमें भगवान् केवली के द्वारा जाने गये छहद्रव्य हैं, उनके प्रदेश का लक्षण कहा गया है। तथा उनका (प्रदेशों का) संभव किसप्रकार है अर्थात् द्रव्यों को कितने-कितने प्रदेश हैं, वह कहा गया है। इसप्रकार दो बातें की हैं -

१. छह द्रव्यों के प्रदेश का लक्षण और
२. उनका संभव (किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं) तो कहते हैं कि — ‘शुद्ध

पुद्गलपरमाणु द्वारा रुका हुआ आकाशस्थल ही प्रदेश है (अर्थात् शुद्ध पुद्गल परमाणु आकाश के जितने भाग को रोके उतना भाग वह आकाश का प्रदेश है।)'

देखो, यह प्रदेश की व्याख्या! यहाँ यह आकाश की अपेक्षा से प्रदेश की व्याख्या की है, यों किसी भी द्रव्य की अपेक्षा लेकर यह व्याख्या की जा सकती है। देखो, फुटनोट में दिया है कि आकाश के प्रदेश की भांति, किसी भी द्रव्य का एक परमाणु द्वारा व्यपित होनेयोग्य जो अंश उसे उस द्रव्य का प्रदेश कहा जाता है। टीका में आकाश की अपेक्षा से बात की थी, जबकि इस फुटनोट में किसी भी द्रव्य की अपेक्षा से बात की है।

अब द्रव्यों के प्रदेशों का संभव कहते हैं —

‘पुद्गलद्रव्य को ऐसे प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत होते हैं।’

फुटनोट में है कि ‘द्रव्य से पुद्गल एक प्रदेशी होने पर भी पर्याय से स्कन्धपने की अपेक्षा से पुद्गल को दो प्रदेशों से लेकर अनंत प्रदेश भी संभव होते हैं।’

‘लोकाकाश को, धर्म को, अधर्म को तथा एक जीव को असंख्यात प्रदेश हैं।’

देखो, इन सबको लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं।

‘शेष जो अलोकाकाश है, उसे अनंतप्रदेश हैं तथा काल को एक प्रदेश हैं, उस कारण से उसे कायत्व नहीं है, परन्तु द्रव्यत्व है ही।’

कलश ५२ पर प्रवचन

पदार्थीरूपी (छहद्रव्योंरूपी) रत्नों का आभरण...

मुनिराज कहते हैं कि भगवान ने जो छहद्रव्य देखे हैं, उनकी मैंने यहाँ व्याख्या की है अर्थात् उन छह द्रव्योंरूप रत्नों का आभरण मैंने बनाया किसलिए ? ‘मैंने मुमुक्षु के कण्ठ की शोभा के हेतु बनाया है।’ यह कथन व्यवहार अपेक्षा से है।

‘उसके द्वारा श्रीमान पुरुष व्यवहारमार्ग को जानकर....’

श्रीमान-बुद्धिमान पुरुष छहद्रव्य, उनके प्रदेश, काय इत्यादि जानकर, ‘शुद्धमार्ग को भी जानता है।’

देखो, शुद्धमार्ग को भी जानता है — ऐसा कहते हैं। अहा! व्यवहारमार्ग को अर्थात् छहद्रव्य, उनके प्रदेश आदि सब हैं, उन्हें ज्यों का त्यों पहले जानता है, फिर यह जानकर शुद्धमार्ग को, अहाहा...! चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा की एकाग्रतास्वरूप पवित्र मार्ग को भी वह जानता है। तात्पर्य यह है कि सब जानकर, जानना यह है।

अहो! शुद्धमार्ग को भी जानता है — ऐसा कहा है; क्योंकि छह द्रव्यों को जानना वह व्यवहारमार्ग है। अतः व्यवहारमार्ग को जानकर शुद्धात्मा को भी जानता है — ऐसा नहीं कहकर, यह कहा है कि व्यवहारमार्ग को जानकर शुद्धमार्ग को भी जानता है। आशय यह है कि शुद्धद्रव्य को-चिदानन्दमय शुद्धात्मा को भी जानता है — ऐसा नहीं कहा, परन्तु व्यवहारमार्ग को जानकर, शुद्धमार्ग को भी जानता है — ऐसा कहा है। इसका कारण यह है कि ऊपर व्यवहार मार्ग कहा है, इसलिए फिर यहाँ भी शुद्धमार्ग लिया है।

अब अन्तिम गाथा..... ।



अन्य गुरु की सेवा न कर..

हे जीव! तू ही तेरा तीर्थ है, वहीं स्थिरता कर, दूसरे तीर्थों में न जा, न जा! व्यवहार निषेध्य है न। इसलिए यहाँ योगीन्द्रदेव स्पष्ट करते हैं कि सम्मोदशिखर आदि तीर्थ तो पर तीर्थ हैं, वहाँ न जा। उसके लक्ष्य से तुझे शुभराग होगा। तू अपने परम तीर्थस्वरूप आत्मा में आरूढ़ हो। उससे तुझे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होगा। अन्य गुरु की सेवा न कर, उसके लक्ष्य से तुझे राग होगा। तू अपने परमार्थ गुरु की सेवा कर, उसी से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी। देव की सेवा कर, अन्य देव अरिहन्त, सिद्ध का ध्यान न कर। भाई! उनके लक्ष्य से शुभ विकल्प तथा पुण्य-बंधन होगा। तू अपने आत्मदेव का ध्यान कर, जिससे तुझे आनन्द के नाथ की भेंट होगी। तू अपने परम देव, गुरु और तीर्थ के समीप जा। ऐसा कहकर राग के कारणभूत व्यवहार देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य छुड़ाकर आनन्द के कारणभूत परमार्थ देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य कराया है।

- द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ-७९

नियमसार गाथा-३७

पुद्गलद्रव्यं मूर्त्तं मुक्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७॥
पुद्गलद्रव्यं मूर्त्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि ।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ॥३७॥

(हरिगीत)

है मूर्त्तपुद्गल शेष पाँचों ही अमूर्त्तिक द्रव्य है ।

है जीव चेतन शेष पाँचों चेतनागुण शून्य है ॥३७॥

गाथार्थ :- पुद्गलद्रव्य मूर्त्त है, शेष द्रव्य मूर्त्तत्व रहित है, जीव चैतन्यभाववाला है, शेष द्रव्य चैतन्यगुण रहित हैं ।

टीका :- यह, अजीवद्रव्य सम्बन्धी कथन का उपसंहार है ।

उन (पूर्वोक्त) मूल पदार्थों में पुद्गल मूर्त्त है, शेष अमूर्त्त हैं, जीव चेतन है, शेष अचेतन हैं, स्वजातीय और विजातीय बन्धन की अपेक्षा से जीव तथा पुद्गल को (बन्धदशा में) अशुद्धपना होता है, धर्मादि चार पदार्थों को विशेषगुण की अपेक्षा से (सदा) शुद्धपना ही है ।

(अब इस अजीव अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं -)

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य ।
सपदि समयसारस्तस्य हत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥५३॥

(वीरछन्द)

जिस भव्योत्तम के मुख में इन पद की ललित पंक्ति शोभे ।

क्या आश्चर्य है कि उसके उर में समयसार सत्वर शोभे ॥५३॥

(श्लोकार्थ :-) इसप्रकार ललित पदों की पंक्ति जिस भव्योत्तम के मुखारविंद में

सदा शोभती है, उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र समयसार (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित होता है और इसमें आश्चर्य क्या है ॥५३॥

गाथा-३७ की टीका पर प्रवचन

यह अजीवद्रव्य संबंधी कथन का उपसंहार है।

‘उन (पूर्वोक्त) मूल पदार्थों में पुद्गल मूर्त है, शेष अमूर्त है...।’

देखो! पुद्गल स्पर्शादि सहित मूर्त है और शेष पाँच द्रव्य स्पर्शादि से रहित अमूर्त-अरूपी हैं।

‘जीव चेतन है, शेष अचेतन है।’

अहा....! चैतन्य...चैतन्य एक जिसका स्वभाव है, वह जीव-चेतन है, शेष पाँच जड़-अचेतन हैं।

‘स्वजातीय और विजातीय बन्धन की अपेक्षा से जीव तथा पुद्गल को (बंधदशा में) अशुद्धपना होता है।’

देखो, कहते हैं कि परमाणु, परमाणु के साथ बंधता है-संबंध करता है, वह सजातीय बंध है, जबकि परमाणु जीव के साथ बंधता है, वह विजातीय बंध है। अतः इस अपेक्षा से जीव और पुद्गल को (बंध-अवस्था में) अशुद्धपना होता है।

धर्मादि चार पदार्थों को विशेष गुण की अपेक्षा से (सदा) शुद्धपना ही है।

धर्मादि चार पदार्थों के समस्त गुण और पर्यायें सदा शुद्ध ही हैं।

*इसप्रकार जीव और पुद्गल को बंध अवस्था में अशुद्धपना होता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चार द्रव्यों को अशुद्धपना नहीं होता। छहों द्रव्यों के अमुक सामान्य गुण तो शुद्ध ही हैं, परन्तु विशेष गुणों में अशुद्धता होती है, वह जीव और पुद्गल को ही होती है, परन्तु धर्मादि चार पदार्थों को विशेष गुण में भी अशुद्धता नहीं है, वे सदा शुद्ध ही होते हैं।

१. जीव को स्वजातीय अशुद्धपना नहीं है।

* फुटनोट - यह अंश नियमसार प्रवचन भाग-१, देवलाली प्रकाशन से लिया है, जो १९५२ के प्रवचन हैं।

२. जीव को विजातीय अशुद्धपना होता है।
३. पुद्गल को स्वजातीय और विजातीय दोनों अपेक्षा से अशुद्धपना है।
४. धर्मादि चार द्रव्यों में कभी अशुद्धपना नहीं है।
५. विशेष गुणों में अशुद्धपना होता है।
६. सामान्य गुणों में अशुद्धपना नहीं होता।

कलश-५३ पर प्रवचन

इसप्रकार ललित षट्ठी की पंक्ति...छह द्रव्यों का समूह बनाया है न! तो वह ललित पदों की पंक्ति है और वह 'जिस भव्योत्तम के मुखारविंद में सदा शोभती है'...उत्तम भव्य पुरुषों के मुखकमल में वह सदा शोभती है अर्थात् छहद्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायें जगत में हैं — ऐसा उत्तम भव्य पुरुष यथार्थरूप से सदा जानते हैं, स्थापते हैं और कहते भी हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं। यह पहले व्यवहार सिद्ध करते हैं।

अब कहते हैं — 'उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र समयसार (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित होता है'

अहाहा...! देखा ? एकसमय की पर्याय में छहद्रव्यों का ज्ञान आता है (होता है) — ऐसा जानने पर, उस तीक्ष्णबुद्धिवंत पुरुष के अंतर में शुद्धात्मा प्रकाशित होता है। अर्थात् ज्ञान अन्तर्मुख होने पर अंतर में शुद्धचैतन्यद्रव्य एक ज्ञायकभाव भगवान आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप से अंतर में प्रकाशित होता है (ज्ञात होता है)। इसका नाम धर्म और आत्मज्ञान कहा जाता है।

अहा! छहद्रव्य क्या हैं, उसकी प्ररूपणा **वदनारविंद** में अर्थात् मुखकमल में सदा शोभती है — ऐसा कहा है न! अर्थात् जिसने ऐसा व्यवहारमार्ग भलीभांति जाना है और फिर वहाँ से निकलकर जो अन्तर्मुखता में आया है अर्थात् जिसका ज्ञान अन्तर्मुख हुआ है, उस तीक्ष्णबुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र समयसार अर्थात् शुद्धात्मा प्रकाशित होता है। अहा! ज्ञान को अन्तर्मुख झुकाने पर, आनंद का कंद प्रभु ज्ञायकभाव, जो अनादि से वास्तविक आत्मा है, वह अंतर में प्रकाशित होता है।

'और इसमें आश्चर्य क्या है ?'

अर्थात् अन्तर्मुख ज्ञान में ऐसा आत्मा ज्ञात और अनुभूत हो वह तो उसका स्वरूप है। स्व-संवेदनज्ञान में भगवान आत्मा ज्ञात हो, इसमें आश्चर्य क्या है ? यह तो सहज है — ऐसा मार्ग है।

इसप्रकार यह अजीव अधिकार पूर्ण हुआ।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य के समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र, जिन्हें परिग्रह था - ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्रीनियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में) **अजीव अधिकार** नाम का दूसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

इति नियमसार प्रवचन भाग-१



साधु क्षमा ही करते हैं...

यदि कोई जीव अप शब्दों का प्रयोग करता है तो विवेकी साधु ऐसा विचारते हैं कि इस मनुष्य ने मुझे क्रोधवश मात्र गाली ही दी है, मारा तो नहीं है। यदि वह मारने लग जाय तो वे साधु ऐसा विचारते हैं कि उसने मुझे मात्र मारा ही है, प्राणों का नाश तो नहीं किया है, परन्तु यदि वह प्राणों का नाश करने में उद्यत हो जाय तो वे ऐसा विचारते हैं कि इसने क्रोध के वशीभूत होकर मात्र मेरे प्राणों का ही नाश किया है, परन्तु मेरे प्रिय धर्म का तो नाश नहीं किया, इसलिए मुझे इस बेचारे अज्ञानी प्राणी पर क्रोध करना उचित नहीं है, क्योंकि क्रोध धर्म का नाश और पाप का संचय करता है - ऐसा समझकर बुद्धिमान साधु क्षमा ही करते हैं।

- सुभाषित-रत्नसंदोह

परिशिष्ट : कारणशुद्धपर्याय

देखो, यह संतों की वाणी! वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरो ने आत्मा के अनुभव में लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव निकाले हैं। छट्टे-सातवें गुणस्थानवर्ती आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनियों के अन्तर की गहराई से यह भाव प्रगट हुए हैं। अहो! संत अपूर्व उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य है, उसका कारण तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है। अन्तर में जब देखे, तब मोक्षमार्ग का कारण तुझमें प्रवर्तमान ही है। इसकारण को पहचानकर इसके साथ एकता करने से मोक्षमार्गरूपी कार्य हो जाता है।

अन्तर में कारण-कार्य की एकता साधते-साधते इस टीका की रचना हो गई है। देखो तो सही! टीकाकार ने कैसे भाव निकाले हैं। वन में बैठे-बैठे सिद्धों के साथ बातें की हैं।

यह नियमसार की वचनिका हो रही है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस नियमसार में अलौकिक भाव भरे हैं और पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज ने भी टीका में अध्यात्म के अलौकिक भाव प्रकट किये हैं।

यहाँ तीसरी गाथा चल रही है —

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।

विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

जो नियम से करनेयोग्य हो, वह नियम है अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही नियम है और उससे विपरीत के परिहारार्थ 'सार' — ऐसा वचन कहा है।

यथार्थरूप से करनेयोग्य जो रत्नत्रय है, वह नियम है; किन्तु ऐसा कहने से व्यवहाररत्नत्रय के राग को भी कोई मोक्ष का कारण न मान बैठे, इसलिए आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि 'नियम' के साथ 'सार' शब्द कहकर हमने विपरीत का परिहार किया है अर्थात् निश्चयरत्नत्रय से विपरीत ऐसा व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह मोक्षमार्ग नहीं है; किन्तु बंधमार्ग है — ऐसा बतलाया है। मोक्ष के लिये यदि कोई कर्तव्य है तो वह रागरहित शुद्धरत्नत्रय ही है, इसके अतिरिक्त शुभभागरूप जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

अहो! निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धरत्नत्रय है, वही मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी निश्चयरत्नत्रय से विपरीत है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा जानकर उस व्यवहार का अवलम्बन छोड़ने जैसा है।

यहाँ शुद्धरत्नत्रय को नियम से कर्तव्य कहा, तो उस कर्तव्य का कारण कौन ? शुद्धरत्नत्रयस्वरूप नियम मोक्षमार्ग है — वह कार्यरूप है। कर्तव्यरूप जो कार्यानियम उसका कारण कौन ? उसका यहाँ टीका में स्पष्टीकरण किया है। कारण उसे कहते हैं, जिसके आश्रय से कार्य प्रगट हो। **जिसप्रकार कार्य वर्तमान में होता है, उसीप्रकार उसका आश्रयभूत कारण भी वर्तमान ही होता है।**

यहाँ बात तो करना है मोक्षमार्ग की, किन्तु टीका में साथ ही साथ उसका 'कारण' भी बतलाकर अलौकिक बात कही है।

‘नियमसार’ अर्थात् स्वभावरत्नत्रय। उस स्वभावरत्नत्रय के दो प्रकार हैं — एक कारणरूप और दूसरा कार्यरूप; यहाँ उनका कारणनियम और कार्यनियमरूप से वर्णन करते हैं।

‘जो सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित, स्वभाव अनंतचतुष्टयात्मक शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम है, वह कारणनियम है और निश्चय से जो करनेयोग्य है अर्थात् प्रयोजनरूप है — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य कार्यनियम हैं।’

देखो, यह कारणनियम और कार्यनियम की अद्भुत व्याख्या! कारणनियम तो सर्व जीवों में त्रिकाल प्रवर्तमान है, वह नवीन नहीं करना पड़ता; किन्तु उस कारणनियम का भान करने से, उसके आश्रय से कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग नवीन प्रगट होता है और वही वास्तव में कर्तव्य है।

मोक्षमार्ग कैसे होता है ? यह बात भी इसमें आ गई। पर के आश्रय से, राग से या व्यवहाररत्नत्रय के अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं होता, अन्तर में शुद्ध कारण सदैव प्रवर्तमान है, उस कारण के आश्रय से ही मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रगट होता है।

मूल सूत्र में तो ‘णियमेण य जं कज्जं.....’ अर्थात् ‘नियम से जो कर्तव्य है.....’ ऐसा कहकर आचार्यदेव शुद्धरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग बतलाना चाहते हैं और टीकाकार मुनिराज ने उस मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ उसके कारण का भी वर्णन करके अद्भुत टीका की है।

जिसप्रकार समयसार में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऐसी शैली में टीका की है कि मूल सूत्र में अस्ति की बात हो तो वे साथ ही नास्ति की बात करते हैं और नास्ति की बात हो तो साथ ही अस्ति की बात करते हैं; उसीप्रकार इस नियमसार में पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज ने कार्य के साथ ही त्रैकालिक कारण की (कारणशुद्धपर्याय की) बात करके टीका में अलौकिक रहस्य का उद्घाटन किया है। यह अपूर्व बात है, अनेक जीवों ने तो जीवन में यह बात सुनी भी नहीं होगी।

जीव को नियम से करने योग्य जो कार्य है, वह नियम है। शरीरादि जड़-पदार्थों के कार्य तो आत्मा से पृथक् हैं, अतः वे जीव के कार्य नहीं हैं; इसलिए उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूपी कार्य को प्रतिक्षण करता हुआ यह जीव अनादि से संसार परिभ्रमण कर रहा है; इसलिए वह भी जीव का सच्चा कर्तव्य नहीं है।

अतः अब विचार करते हैं कि जीव को नियम से करनेयोग्य कार्य कौन-सा है ?

जिससे संसार का अभाव हो और परमानन्दरूप मोक्षदशा प्रगट हो — ऐसे रत्नत्रयरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्य ही नियम से कर्तव्य हैं, इसलिए शुद्धरत्नत्रय ही नियमसार है।

प्रश्न :— जो नियम से करनेयोग्य शुद्धरत्नत्रयरूपी कार्य है, उस कार्य का कारण कौन है ?

उत्तर :— आत्मा में सहज अनन्तचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम त्रिकाल है, वह सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित है और वही रत्नत्रय प्रगट होने में मूलकारण है, इस कारण के मनन से कार्य प्रगट होता है अर्थात् इस कारणरूप शुद्धज्ञानचेतना की ओर दृष्टि एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

यह ‘शुद्धचेतना परिणाम’ परमपारिणामिक भावमय है, स्वभावरूप अनन्तचतुष्टयमय है। तेरहवें गुणस्थान में जो केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट होते हैं — यह उनकी बात नहीं है; किन्तु यह तो उसकी बात है, जो सर्वजीवों के त्रिकाल स्वभाव अनन्तचतुष्टय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम है।

यह जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयमय कहे हैं, वे परमपारिणामिकभावरूप हैं और जो केवलज्ञानादिचतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे क्षायिकभावरूप हैं।

यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि जीव को मोक्षमार्ग का प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन की सिद्धि किसके आश्रय से होती है ?

जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित है, उस शुद्धज्ञानचेतना परिणाम के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। यहाँ जो शुद्धज्ञानचेतना परिणाम कहा है, वह त्रिकाल परमपारिणामिकभाव है। औदयिकादिभावों से निरपेक्ष है और द्रव्यदृष्टि का विषय है।

चेतना के तीन प्रकारों में जो ज्ञानचेतना है, वह तो पर्याय रूप है, कार्य है और व्यवहारनय का विषय है तथा त्रैकालिक शुद्धज्ञानचेतना परिणाम है, वह द्रव्यरूप है, कारण है और निश्चयनय का विषय है; इसके अवलम्बन से निर्मलपर्यायरूप कार्य प्रगट होता है।

देखो, यह संतों की वाणी। वन की गुफा में रहकर दिगम्बर मुनिवरों ने आत्मानुभवरूपी लेखनी डुबा-डुबाकर यह भाव लिखे हैं। अहो! यह संतों की अपूर्व देन है।

शुद्धरत्नत्रयरूपी जो तेरा कर्तव्य है, उसका कारण भी तेरे स्वभाव में ही प्रवर्तमान है; इसे पहिचान कर इसमें एकाग्र होने पर मोक्षमार्ग प्रगट होता है। देखो तो सही! टीकाकार ने कैसे गम्भीर भाव निकाले हैं। वन में बैठे-बैठे सिद्धों से इसप्रकार बातें की हैं कि 'हे सिद्ध भगवान! आप किसके आश्रय से सिद्ध हुए हैं तो जैसे सिद्ध भगवान जवाब दे रहे हों कि अन्तर में जो सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम त्रिकालीकारण है, उसके आश्रय से ही हमें सिद्धदशा प्रगट हुई है।' तथा ऐसा सुनकर मुनिराज भी स्वयं ऐसे कारण परमात्मा का सेवन करके सिद्धदशा की साधना कर रहे हैं — ऐसे मुनियों ने इस टीका की रचना की है।

नियमसार अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, जो किसी बाह्यकारण से प्रगट नहीं होता। देह या राग मोक्षमार्ग का कारण नहीं है; परन्तु अन्तर में प्रवर्तमान शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम ही मोक्षमार्ग का कारण है — ऐसा बतलाकर आचार्यदेव ने देह तथा राग में अपनत्व बुद्धि छुड़ाई है।

शुद्धरत्नत्रयरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है, उसे मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है; क्योंकि उस पर्याय के आधार से भी मोक्षपर्याय प्रगट नहीं होती। शुद्धरत्नत्रय निश्चय से मोक्षमार्ग है और उस मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम, जिसका आगे कारणशुद्धपर्याय कहकर वर्णन करेंगे, मोक्ष का निश्चय कारण है; क्योंकि उसके आधार से-आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा प्रगट होती है तथा मोक्षदशा में भी उस कारण का अभाव नहीं होता, मोक्षदशा में भी वह सदैव साथ रहता है।

त्रैकालिक सामान्यरूप ध्रुव और उसका वर्तमान वर्तता हुआ विशेषरूप ध्रुव — दोनों अभेद हैं और द्रव्यदृष्टि के विषय हैं। जिसप्रकार सहज परमपारिणामिकभाव त्रिकाल ध्रुवरूप है, उसीप्रकार उस परमपारिणामिकभाव में स्थित यह स्वभावचतुष्टयमय शुद्धज्ञानचेतना परिणाम भी ध्रुवरूप है, कारणनियमरूप है; जो प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल एकरूप स्थित है, पारिणामिकभावरूप है, उसमें परिणामन कहा जाता है; किन्तु यह परिणामन सदृशरूप है,

संसार और मोक्षपर्याय की भाँति उत्पाद-व्ययरूप परिणामन नहीं है — ऐसा कारणस्वभाव अन्तर्दृष्टि का विषय है। ऐसे कारण को पहिचाने तो निर्मल कार्य (सम्यग्दर्शनादि) हुए बिना न रहे।

अपने मोक्ष का कारण अपने पास सततरूप से निरन्तर प्रवाहित है अर्थात् मोक्षमार्ग प्रगट होने की कारणरूप शक्ति प्रत्येक जीव के पास त्रिकाल विद्यमान है, उसके सेवन से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त बाह्य व्यवहार कारण के आश्रित मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। जिसप्रकार मोर होने की शक्ति उसके अंडे में विद्यमान है, इसलिए उसमें से मोर होता है; उसीप्रकार चैतन्य की शक्ति में परमात्मदशा प्रगट होने की सामर्थ्य विद्यमान है, इसलिए उसमें से ही परमात्मदशा प्रगट होती है।

अरे भाई! अपने आत्मा की शक्ति का इसप्रकार विश्वास एवं महत्त्व भासित होना चाहिए कि परमात्मशक्ति मुझमें ही है, उसे कहीं बाहर से प्रगट नहीं होना है। यहाँ तो शुद्धज्ञानचेतना परिणाम कहकर सामान्य ध्रुव के साथ विशेष ध्रुव बतलाना है। वह निकट का कारण है, उसे कारणनियम कहा है और उस कारणनियम में अनन्त मोक्षपर्याय प्रदान करने की सामर्थ्य है। परमपारिणामिक भाव परम-उत्कृष्ट स्वभाव से परिपूर्ण है और उसमें स्थित स्वभाव अनन्त चतुष्टयस्वरूप सहज शुद्धज्ञानचेतना परिणाम, वह कारणनियम है। 'कारणनियम' कहकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने दूसरे कारणों का अभाव बतलाया है अर्थात् रागादि व्यवहार वास्तव में कारण नहीं हैं — ऐसा समझाया है। अंतर में सहजपारिणामिक त्रिकालभाव और उसके शुद्धचेतना परिणाम निश्चयकारण है, उस कारण के आश्रय से नियम से मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

कार्यनियम के साथ कारणनियम की बात करके अद्भुत रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। कारणनियमरूप स्वभाव प्रत्येक आत्मा में प्रवर्तमान ही है, उस ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से कार्यनियमरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, इसप्रकार अपना अन्तर्मुख स्वभाव ही कारण है। जिसप्रकार कार्य वर्तमान है, उसीप्रकार उस कार्य के आधाररूप ध्रुवकारण भी वर्तमान है। जिसप्रकार सामान्यद्रव्य त्रिकाल ध्रुव है, उसीप्रकार उसका विशेषरूप वर्तमान ध्रुव भी वर्तता है, यदि वर्तमान परिपूर्ण कारणरूप से ध्रुव न वर्तता हो तो उसमें मोक्षमार्गरूपी कार्य प्रगट होने की सामर्थ्य कहाँ से आयेगी? जो निर्मल कार्य है, वह वर्तमान वर्तते हुए ध्रुवकारण के साथ अभेद होता है।

यहाँ 'सामान्यध्रुव' और 'विशेषध्रुव' — ऐसा कहकर कहीं ध्रुव के दो भाग नहीं बतलाना है, किन्तु ध्रुवस्वभाव की परिपूर्णता बताना है। जिसप्रकार त्रैकालिक सामान्य ध्रुव है, उसीप्रकार उसका वर्तमान विशेष भी ध्रुव है, उसी के आश्रय से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है, इसलिए उसे कारण अर्थात् 'कारणशुद्धपर्याय' कहते हैं। त्रैकालिक अभेद स्वभाव का बल वर्तमान में भी ज्यों का त्यों है। वह दृष्टि का विषय है, किन्तु उसका वेदन नहीं होता, वेदन तो उसके आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उसका होता है।

धरती में भीतर का भाग अच्छा हो, किन्तु ऊपरी सतह क्षारयुक्त हो तो उसमें वृक्ष नहीं उगता; धरती के भीतरी भाग के समान उसका ऊपरी भाग भी अच्छा हो तो उसके आधार से वृक्ष उगता है। उसीप्रकार आत्मा में त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का भीतरी भाग शुद्ध है और उसकी वर्तमान सतह

भी वैसी ही शुद्ध है, उसके आधार से मोक्षमार्गरूपी वृक्ष उगता है। 'वर्तमान' कहने से यहाँ वर्तमान में वर्तती हुई उत्पाद-व्यय युक्त पर्याय नहीं लेना चाहिए। 'वर्तमान ध्रुव का ही आश्रय करना है' — इसप्रकार यहाँ पर्याय का आश्रय न बताकर ध्रुव का आश्रय करना बतलाना है।

अहो! चैतन्यभगवान्, ध्रुवज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण परमपारिणामिक है, उसका सहज चेतनापरिणाम भी वर्तमान ध्रुव है। भाई! तू अन्तर में जब देखे, तब मोक्ष का कारण तेरे पास वर्तमान में ही विद्यमान है, उसे नया उत्पन्न नहीं करना है; उस कारण का आश्रय करने से कार्य प्रगट हो जाता है। कारण कहीं बाह्य में ढूँढने नहीं जाना पड़ता। जब देखो, तब ही ज्यों का त्यों ध्रुव वर्तमान में तेरे पास ही विद्यमान है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता करना ही मोक्षमार्ग है। ध्रुवकारण तो त्रिकाल विद्यमान है और उसे पहिचानने पर मोक्षमार्ग नया प्रगट होता है।

मोक्षमार्ग-शुद्धरत्नत्रय कार्यानियम है और ध्रुवस्वभाव कारणनियम है। कारणनियम को बनाना नहीं पड़ता, वह तो त्रिकाल रहता है। अन्तर में तो आत्मा सदा ही कारणनियमरूप से शोभायमान है, उसके अन्तर्मुख अवलोकन से कार्यानियम प्रगट हो जाता है। मोक्षमार्ग प्रगट करना ही नियम से जीव का कर्तव्य है।

भाई! तेरे अन्तर में कैसे-कैसे भण्डार भरे हैं, उसकी यह बात है। जिसप्रकार लक्ष्मी की रुचिवाले रागी प्राणी को कोई हीरे-मोतियों का भण्डार बतलाये, तो वह उसे कितनी रुचिपूर्वक देखता है। उसीप्रकार जिसे आत्मा की रुचि है, उसे यहाँ मुनिराज अन्तर के भण्डार बतलाते हैं। भाई! तेरा भण्डार ऐसा है कि जिसमें से मोक्ष के अनंत निधान प्रगट हों। अन्तर नेत्रों को खोलकर देखे तभी खबर पड़े।

अन्तर के भंडार को देखे तो अपने मोक्ष के लिये बाह्यकारण ढूँढने का व्यर्थ प्रयत्न न करना पड़े। जिसे अपनी अन्तरशक्ति का विश्वास नहीं है और वह बाह्य में कारणों को ढूँढता है, उससे कहते हैं कि अरे जीव! तेरे मोक्षमार्गरूपी कार्य का कारण स्वभावरत्नत्रय त्रिकाल तेरे पास ही है, उसके आश्रय से तेरा कार्य प्रगट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं हो सकता।

प्रत्येक आत्मा में परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति है, इसलिए प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है। 'कारणपरमात्मा' कहने से त्रिकाली द्रव्य, गुण और उसकी वर्तमानरूप कारणशुद्धपर्याय — तीनों आ जाते हैं। यहाँ कारणशुद्धपर्याय को (शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को) 'कारणनियम' कहकर मोक्षमार्ग के कारण की एकदम निकटता बतलाई है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय — इन तीनों का कहीं पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है, सम्यग्दर्शनादि में इन तीनों की अभेदता का ही अवलम्बन है। इस वर्तमान ध्रुवरूप कारणशुद्धपर्याय के बिना द्रव्य की वर्तमान में परिपूर्णता सिद्ध नहीं होती, द्रव्य की अखण्डता सिद्ध नहीं होती।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल — इन चार द्रव्यों में अनादि-अनन्त एक-सा परिणमन है, उनकी पर्याय सदैव पारिणामिकभाव से वर्तती है। सबको जाननेवाला ज्ञायकतत्त्व जीव है, उसकी पर्यायें संसार या मोक्षरूप उत्पाद-व्ययवाली हैं, वे सदैव एकरूप नहीं हैं। जीव में इन उत्पाद-व्ययरहित ध्रुवरूप ऐसी कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त पारिणामिक-भाव से वर्तती है। यह

केवलज्ञानादि प्रगट होने की बात नहीं है, किन्तु यह तो त्रिकाली पारिणामिकभाव की बात है।

संसार और मोक्ष — ये दोनों पर्यायें अस्थाई हैं अर्थात् वे त्रिकाल एकरूप नहीं हैं। संसार के समय मोक्षपर्याय नहीं होती और मोक्ष के समय संसारपर्याय नहीं होती — इसप्रकार उनका विरह है; जबकि कारणशुद्धपर्याय तो सदैव एकरूप स्थाई है। द्रव्य में त्रिकाल अभेदरूप होने से उसका कभी विरह नहीं है, वह उत्पाद-व्यय रहित ध्रुवपरिणति है।

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों में तो उत्पाद-व्यय वाली परिणति पारिणामिकभाव से सदैव एकरूप है और जीव की उत्पाद-व्यय रूप पर्याय में एकरूपता नहीं है, किन्तु विविधता है। कभी मिथ्यात्वादि संसारपर्याय, कभी सम्यग्दर्शनादि साधकदशा और कभी पूर्ण शुद्धतारूप सिद्धदशा — इसप्रकार खण्ड-खण्ड है, एकरूप नहीं। जीव की जो खण्डरहित एकरूप ध्रुव-परिणति है, उसे यहाँ 'शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम' कहा है, वह सदैव एकरूप पारिणामिकभावरूप है।

मोक्षमार्ग की पर्याय को अथवा क्रोधादि कषायों की पर्याय को कभी-कभी पारिणामिक-भावरूप कहा जाता है, उसमें तो दूसरी ही विवक्षा है। क्रोधादिभाव कर्म नहीं कराते, किन्तु जीव स्वयं करता है अर्थात् वह जीव का अपना परिणमन है, इसलिए उसे पारिणामिकभावरूप भी कहा जाता है, तथापि उसमें निमित्तरूप से तो कर्मोदय आदि की अपेक्षा है, जबकि इस कारणशुद्धपर्याय में तो निमित्तरूप से भी कर्म की अपेक्षा नहीं है, यह तो कर्मोदयादि की अपेक्षारहित सदैव पारिणामिकभावरूप वर्तती है। औदयिकादि चारों भाव निमित्त सापेक्ष हैं और यह कारणशुद्धपर्याय पारिणामिकभाव की निरपेक्ष परिणति है।

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्यों के परिणमन में अल्पता, अधिकता या विपरीतता नहीं है, उनमें सदैव समानता ही है, उन सबका ज्ञाता तो आत्मा है और आत्मा में संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष — यह पर्यायें त्रिकाल एकरूप नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न है कि संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष के अतिरिक्त ऐसा कौन-सा भाव है, जिसके आश्रय से एकाग्रता हो सके ?

इसका उत्तर है कि स्वयं आत्मा में भी एक ध्रुवपरिणति अनादि-अनंत एकरूप शुद्ध पारिणामिकभाव से वर्तती है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय — यह तीनों अखण्डरूप से द्रव्यार्थिकनय का पूर्ण विषय है। यह जैनदर्शन की मूल बात है, इसके बिना द्रव्य की वर्तमान अखण्डता सिद्ध नहीं होती। दृष्टि का विषय वर्तमान में पूर्ण नहीं होता। जीव की पर्याय में संसार या मोक्ष — ऐसी विसदृशता होने पर भी द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय की एकरूपता कभी नहीं टूटती।

जैनदर्शन कहो या वस्तुदर्शन कहो — एक ही बात है। अहो! यह तो संत मुनियों ने सर्वज्ञ भगवान के सनातन वीतराग मार्ग के अंतरंग रहस्यों का उद्घाटन किया है।

प्रश्न :— कारणशुद्धपर्याय की ऐसी स्पष्टता इस नियमसार में ही क्यों आई ?

उत्तर :— इस नियमसार में मुख्यरूप से मोक्षमार्ग और मोक्ष का कथन है, वे दोनों शुद्ध पर्यायें हैं, इसलिये उस शुद्धपर्यायरूपी कार्य के साथ उसके कारणरूप 'कारणशुद्धपर्याय' की बात इस नियमसार की टीका में विशेष स्पष्टता से आई है।

प्रश्न :— नियमसार का अर्थ क्या है ?

उत्तर :— जो नियम से करने योग्य कार्य हो, वह नियमसार है।

प्रश्न :— नियम से करने योग्य कार्य क्या है ?

उत्तर :— शुद्धरत्नत्रय।

शुद्धरत्नत्रयरूपी कार्य के लिए निकट का कारण, द्रव्य के साथ सदैव अभेद यह 'कारणशुद्धपर्याय' है; इस कारण के अवलम्बन से ही मोक्षमार्गरूपी शुद्धकार्य प्रगट होता है। 'शुद्धकारण' के मनन से 'शुद्धकार्य' प्रगट होता है।

देखो यह रचना! यह किसी साधारण पुरुष की रचना नहीं है, किन्तु गणधर परम्परा से चली आ रही और छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि के अंतरंग से निकली हुई अद्भुत रचना है। स्वयं न समझ सकने से टीकाकार का दोष निकालना तो महामूढ़ता और स्वच्छन्दता है। भाई! साधारण जीवों को मुनियों का हृदय समझना कठिन है।

१००वीं गाथा में टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि मेरे मुख से परमागमरूपी पुष्प का रस झर रहा है, इसलिए जो यह टीका रची जा रही है, वह परमागम का निचोड़ है, परमागम का सार है। यहाँ नियमसार अर्थात् स्वभावरत्नत्रय की बात चल रही है।

स्वभावरत्नत्रय दो प्रकार का है —

(१) कार्यरूप स्वभावरत्नत्रय (२) कारणरूप स्वभावरत्नत्रय।

(१) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, वह कार्यरूप है; उसे 'कार्यनियम' कहते हैं और (२) उस मोक्षमार्ग के कारणरूप स्वभावरत्नत्रय को 'कारणनियम' कहते हैं, वह त्रिकाल है, सहज परमपारिणामिकस्वभाव में स्थित है और स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्व-रूप है।

देखो, यह मोक्षमार्गरूपी कार्य का कारण है। कारणनियम कहो अथवा कारणशुद्धपर्याय कहो — दोनों एक ही हैं। 'कारणशुद्धपर्याय' को आगे 'पूजित पंचमभावपरिणति' भी कहा है और यहाँ उसे 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम' कहा है। यहाँ उसे 'शुद्धज्ञान' अथवा 'शुद्धज्ञानचेतना' न कहकर उसके साथ 'परिणाम' शब्द भी कहा है; परन्तु 'परिणाम' कहने पर भी वह क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप नहीं है, किन्तु एकरूप पारिणामिकभाव स्वरूप है; वह मोक्षमार्गरूप नहीं है, किन्तु उसके ध्रुवकारणरूप है। कार्यस्वभाव रत्नत्रय मोक्षमार्ग तो क्षायिकादि भावस्वरूप है और कारणस्वभाव रत्नत्रयरूप शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम सहज पारिणामिकभावरूप है।

व्यवहाररत्नत्रय के जो रागादि विभाव हैं, वे न तो मोक्षमार्ग हैं और न मोक्षमार्ग के कारण और कारणस्वभावरत्नत्रय मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का कारण है। इसलिए उसे 'कारणनियम' कहा जाता है। कारणनियम के आश्रय से जो शुद्धरत्नत्रय पर्याय प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग कार्यनियम कहा जाता है।

मोक्षमार्गरूप जो कार्यनियम शुद्धरत्नत्रयपर्याय है, वह द्रव्य का आश्रय करके नई उत्पन्न हुई है और जो 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणामरूप' कारणनियम कारणशुद्धपर्याय है, वह द्रव्य का आश्रय करके नई प्रगट नहीं हुई है; वह द्रव्यस्वभाव में परमपारिणामिक भावरूप से सदैव स्थित ही है। नई प्रगट होना

उसमें नहीं है, किन्तु उसका भान करनेवाले जीव को मोक्षमार्ग नया प्रगट होता है। जगत में तो मोक्षमार्ग अनादि-अनन्त चल ही रहा है, किन्तु उस जीव के लिए मोक्षमार्ग का नया प्रारम्भ हुआ है।

जिसप्रकार समुद्र में जलराशि की सतह एक-सी होती है, उसीप्रकार आत्मा में कारणशुद्धपर्याय सदैव एक-सी है; उसमें उदयादि की अपेक्षा नहीं होती, वह विशेष पारिणामिकभावरूप है, आत्मा में सदैव सदृशरूप से वर्तती है। कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक गुण में भी है। वायु के निमित्त से समुद्र के पानी में जो तरंगे उठती हैं, वे तो ऊपरी हिलोरें हैं, समुद्र की गहराई में जाकर जल की राशि देखें तो वह एकरूप ही है। उसीप्रकार आत्मा में रागादि विकारीभाव अथवा उनके अभाव से प्रगट होने वाली निर्मलपर्यायें हैं, वे सब अपेक्षितभाव हैं, क्षणिक उत्पाद-व्ययरूप हैं, उन क्षणिकभावों के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। जिसप्रकार समुद्र में जल की राशि, जल का शीतल स्वभाव और उसकी सतह — तीनों का अभेदतारूप समुद्र है, वे तीनों सदैव ज्यों के त्यों रहते हैं; उसीप्रकार आत्मा चैतन्यसागर है, उसमें आत्मद्रव्य, उसके ज्ञानादिगुण और उसका ध्रुवरूप वर्तमान अर्थात् कारणशुद्धपर्याय तीनों मिलकर वस्तु की पूर्णता है, यही परमपारिणामिकभाव है और इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसी नियमसार में गाथा नं. १० से १५ में यह बात विस्तारपूर्वक आयेगी।

इसमें मूल बात यह है कि सम्यग्दर्शनादि कार्य वर्तमान पर्याय में होते हैं। इसलिए उस वर्तमान में होनेवाले कार्य का कारण भी वर्तमान में ही बतलाना है। निकट से निकट परिपूर्ण कारण विद्यमान है, अन्तरोन्मुख होकर स्वयं उस कारण का अवलम्बन करें, इतनी ही देर है। कारण तो सदैव शुद्ध ही है, उसमें एकता करने से शुद्धकार्य प्रगट हो जाता है।

यह कारणशुद्धपर्याय सदैव त्रिकाली द्रव्य के परमपारिणामिक स्वभाव में लीनतारूप वर्तती है; यह कभी गौण नहीं होती, कभी एक समय मात्र भी इसका विरह नहीं है, दृष्टि के विषय में भी यह अभेदरूप से आ जाती है। अन्तर्मुख स्वभाव की ओर ढलने में 'द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपर्याय' इन तीनों की अभेदता का अवलम्बन होता है और इसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट हो जाती हैं, वे पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं। चैतन्य का परिपूर्ण ध्रुवपिण्ड वर्तमान में कारणरूप से प्रवर्तमान हो रहा है, उसमें एकाग्र होकर उसका मनन करने से मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है।

ध्रुव कारण के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, वह कार्यानियम है अर्थात् वही सच्चा करनेयोग्य कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त जो राग का या व्यवहार का अवलम्बन है, वह सच्चा कर्तव्य नहीं है। मोक्षमार्ग में साथ ही साथ व्यवहाररत्नत्रय भी होता है, किन्तु वह कर्तव्य नहीं है। जो व्यवहाररत्नत्रय या राग को कर्तव्य मानता है, वह जीव मोक्षमार्ग में आया ही नहीं।

समयसार की बारहवीं गाथा में कहा है कि 'जाना हुआ व्यवहार उस काल प्रयोजनवान है' अर्थात् साधकदशा में भूमिकानुसार जिस काल में जो व्यवहार हो, वह जानने योग्य है; क्योंकि निश्चय और व्यवहार को यथावत् जाने तभी वे प्रमाण होते हैं। इस आशय से उसे उसकाल 'जाना हुआ व्यवहारनय प्रयोजनवान है' -ऐसा कहा है; किन्तु व्यवहारनय आदरणीयरूप से प्रयोजनवान नहीं है।

व्यवहारनय के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि है। आचार्य भगवान ने जो व्यवहारनय का आश्रय छुड़ाकर निश्चयनय के आश्रय से ही मोक्ष का होना स्पष्टरूप से बतलाया है, अज्ञानी जीव

उसे भूलकर और इस बारहवीं गाथा आदि के अर्थ को भी यथार्थ न समझकर अपनी विपरीत मान्यता का पोषण करता है।

यहाँ आचार्यदेव स्पष्टरूप से कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, इसलिये वही नियम है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत है, उस विपरीत के परिहारार्थ अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा बतलाने के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द रखा है। व्यवहाररत्नत्रय वह नियम नहीं है, कर्तव्य नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है; किन्तु बाधकरूप से बीच में आ जाता है। कारण-परमात्मा के अवलम्बन से जो वीतरागी निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो, वह नियम है, कर्तव्य है, मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय ही नियम से मोक्षमार्ग है और वही सारभूत है।

कविवर पं. बनारसीदासजी ने परमार्थवचनिका में आगम-अध्यात्म के स्वरूप का वर्णन किया है, उसमें भी अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति का वर्णन करके यह बतलाई है। वहाँ अन्त में तो यहाँ तक कहा है कि 'कहाँ तक कहें? यह वस्तु वचनातीत है, इन्द्रियातीत है, ज्ञानातीत अर्थात् तर्कातीत है; जो ज्ञाता होगा वह तो थोड़ा लिखा भी बहुत समझेगा।'

जो अन्तर की यह बात समझेगा, उसका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा। नियमसार की तीसरी गाथा में जिसका वर्णन 'शुद्धचेतनापरिणाम' कहकर किया गया है। यहाँ उसी का वर्णन 'शुद्धचेतनापद्धति' कहकर किया है। यह बहुत अच्छी बात है, इसलिये इसकी वचनिका हो रही है। इस समय दूसरी बातें लक्ष्य से निकालकर यह समझना चाहिये कि यह कौनसी शैली कही जा रही है।

वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं। आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं। आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानने। वे दोनों भाव संसार व्यवस्था में त्रिकालवर्ती मानने।^१

देखो, यह गुलाबजामुन जैसा रसपूर्ण अधिकार परोसा जा रहा है। बात सूक्ष्म है, जिसकी समझ में आये उसे समझना चाहिये और जो न समझ सके उसे 'यह कोई अचिन्त्य मोक्षमार्ग का वर्णन हो रहा है' — ऐसी महिमा लाकर सुनना चाहिए।

शास्त्रों को आगम कहते हैं — यह बात तो यहाँ है ही नहीं, जिसमें छहों द्रव्यों का वर्णन हो, वह आगम तथा जिसमें आत्मा का ही प्रधानता से वर्णन हो, वह अध्यात्म — ऐसा भी यहाँ आगम-अध्यात्म का अर्थ नहीं है। यहाँ तो शैली ही भिन्न है। 'वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं।' 'वस्तु का स्वभाव' कहने से यहाँ 'पर्याय का स्वभाव' समझना चाहिये। आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति — इन दोनों में यहाँ परिणाम की ही बात है। विकारी भाव मूल द्रव्य-गुण में नहीं है, किन्तु पर्याय में अनादि से परम्परागत चले आ रहे हैं; इसलिये वे आगमपद्धतिरूप हैं। एक समयपर्यंत पर्याय उस विकार को बनाये रखती है, इसलिये वह विभाव पर्याय का स्वभाव है। विकार के निमित्तरूप जड़कर्म हैं, उन्हें भी आगमपद्धति में लिया है।

अध्यात्मपद्धति तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं और आगमपद्धति आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम हैं। आत्मा की पर्याय में विकार अनादि से परम्परागत होता रहता है और उसके

१. परमार्थवचनिका (मोक्षमार्गप्रकाशक, परिशिष्ट ३, पृष्ठ-३५२)

निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है, वह विकार और कर्म न तो आत्मा के स्वभाव में हैं और न पुद्गल के। कर्म होने का त्रिकालीगुण पुद्गल में नहीं हैं, वे क्षणिक आगन्तुकभाव हैं, उन्हें यहाँ आगमपद्धति कहा है। आगमपद्धति आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु आत्मा के साथ क्षणिक सम्बन्ध रखनेवाला परिणाम है।

आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्मपद्धति में त्रिकाल शुद्धचेतनापरिणाम लिया है, वह आत्मा का मूल स्वभाव है; इसलिये उसे आत्मा का अधिकार कहा है।

यह आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना। अध्यात्मस्वरूप भाव तो आत्मा के शुद्धस्वभावपरिणाम हैं और आगमरूप भाव क्षणिक विभावरूप हैं, उस विभाव के कर्म निमित्त हैं, इसलिये उस कर्म को भी यहाँ आत्मा का भाव कहा है।

नियमसार में तो अनेकों जगह इस विषय का वर्णन किया है, उदाहरण के लिए देखा जा सकता है। जैसे —

नियमसार की तीसरी गाथा में शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को 'कार्यनियम' कहा और उसके साथ शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को 'कारणनियम' कहा। इसप्रकार नियमसार के आरम्भ में ही कारणशुद्धपर्याय का संकेत कर दिया है।

फिर दसवीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग की बात कही है, उसमें भी यही ध्वनि है। कारणज्ञान को ग्यारहवीं-बारहवीं गाथा में 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा है; और इस कथन को 'ब्रह्मोपदेश' कहा है।

तत्पश्चात् तेरहवीं गाथा में कारणस्वभावदर्शनोपयोग का अथवा कारणदृष्टि और कार्यदृष्टि का मुख्य वर्णन करके उसमें यह बात रख दी है।

और पन्द्रहवीं गाथा में स्वभावपर्याय के कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया है। उनमें इस कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी इस बात की झन्कारें पद्मप्रभमलधारिदेव ने रखी हैं। स्थान-स्थान पर कारण और कार्य का एक ही साथ वर्णन किया है; इसलिये मात्र क्षणिककार्य की पर्यायबुद्धि न हो, किन्तु कारणरूप ध्रुवस्वभावोन्मुख होकर पर्याय निर्मल हो, वही सच्चा कार्य है।

समयसार गाथा ९० में कहा है कि 'परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध निरंजन अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप से एकप्रकार का है।'—इसमें से भी कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि प्रगट होती है।

यह आगमरूप तथा अध्यात्मरूप — दोनों भाव संसार अवस्था में त्रिकालवर्ती मानना। देखो, इसमें मूल मुद्दा यह है कि संसार अवस्था के समय अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतना परिणाम भी सदैव वर्त रहा है — यह मुख्य अलौकिक बात है; इसमें से कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि निकलती है।

यहाँ परमार्थवचनिका में आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति — इन दोनों में परिणाम की अर्थात् पर्याय की बात है। ये दोनों संसारदशा में त्रिकालवर्ती हैं, किन्तु इनमें इतना अन्तर है कि अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतनापरिणाम तो संसार में और मोक्ष दोनों में अनादि-अनन्त एकरूप वर्तती

है और आगमपद्धति के परिणाम संसार दशा में ही होते हैं, वे एकरूप नहीं हैं। सर्व जीवों को यह दोनों प्रकार के भाव संसार में सदैव वर्तते हैं।

यह बात सबको ध्यान से सुनना चाहिये। यह बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ है; तथा जो समझ ले उसकी तो बात ही क्या?

नियमसार की तीसरी गाथा में 'शुद्धज्ञानचेतनापरिणामों' को स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक कहा और यहाँ 'शुद्धचेतनापद्धति' कहकर उसमें अनन्तगुणों के परिणाम लिये। 'शुद्धचेतनापरिणाम' से अकेले ज्ञान-दर्शन के परिणामों की बात है — ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु अभेदरूप से उसमें अनन्तगुणों के परिणाम आ जाते हैं, उन्हे यहाँ 'जीवत्वपरिणाम' कहा है।

इसप्रकार जीवद्रव्य में और उसके समस्त गुणों में सदृशरूप शुद्धपरिणाम अनादि-अनन्त पारिणामिकभावरूप से-शुद्धकारणरूप से वर्त रहे हैं, उसे यहाँ आध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति कहा है। नियमसार में उनका वर्णन कारणशुद्धपर्यायरूप से किया है। यह कारणशुद्धपरिणाम सर्व जीवों में त्रिकाल वर्तमान वर्तमान वर्त रहे हैं, संसारदशा के समय भी हैं और अज्ञानी के भी हैं।

'परिणाम' कहने पर भी उनका द्रव्यार्थिकनय के विषय में समावेश होता है।

देखो, यह भाव आत्मा में से आते हैं; आत्मा के स्वभाव में जो वस्तु प्रवर्तमान है, उसे विषय करने की यह बात है। यह अन्तर को समझनेयोग्य अलौकिक बात है।

यहाँ आगम तथा आध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना तथा संसारदशा में उन्हें त्रिकालवर्ती मानना — ऐसा कहा, उसमें जानने और मानने रूप जो निर्मलपर्याय है, उसका फल मोक्ष है। आध्यात्म और आगम इन दोनों पद्धतियों को जानने से जीव के शुद्धस्वरूपभाव और क्षणिक विभावरूप भाव — इन दोनों का भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है; यह मोक्षमार्ग की पर्याय तो नई अपूर्व प्रगट होती है और आगमपद्धति तथा आध्यात्मपद्धति तो ज्ञानी व अज्ञानी सर्वजीवों के अनादिकाल से संसार में प्रवर्तमान ही हैं।

अनादि संसार से सर्व जीवों को आगम और आध्यात्मरूप भाव वर्त रहे हैं। उनमें आगमरूप कर्मपद्धति है और आध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति है।

(१) जड़कर्म और जड़कर्म के उदय में होनेवाला विकारीभाव— दोनों की परम्परा अनादि से चली आ रही है, ये दोनों कर्मपद्धति में आते हैं तथा आगमरूप हैं।

(२) और इनके साथ ही शुद्धचेतनापरिणामों की परम्परा भी अनादि से चली आ रही है, वह शुद्धचेतनापद्धति है और वह आध्यात्मरूप है।

अब 'कर्मपद्धति तथा शुद्धचेतनापद्धति' — इन दोनों का विवेचन करते हैं —

आगमरूप कर्मपद्धति

“कर्मपद्धति पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप है। उसमें द्रव्यरूप तो पुद्गल के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम है। इन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की है।”

पुद्गल में अनादिप्रवाह से कर्मरूप अवस्था चली आ रही है, वह द्रव्यरूपकर्मपद्धति है और

जीव के मूलस्वभाव में अशुद्धता न होने पर भी पर्याय में अनादि से अशुद्धता की परम्परा चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है। जीव की अशुद्धपरिणति पुद्गलकर्म के आश्रय से होती है, इसलिये उस अशुद्धता को 'पुद्गलाकार' कहा है। पुद्गल में अष्टकर्मरूप अवस्था है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और उसके निमित्त से होनेवाली जीव की अशुद्धपरिणति, वह भावरूप कर्मपद्धति है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना कि जिसप्रकार यह कार्यपद्धति परिणामरूप है, उसीप्रकार शुद्धचेतनापद्धति भी परिणामरूप है; जिसका वर्णन आगे करेंगे।

प्रश्न :— त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार क्यों होता है ? क्या वह विकार द्रव्य-गुण में से आया है ?

उत्तर :— त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है, वहाँ ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है अर्थात् उस-उस पर्याय का ऐसा ही अहेतुकस्वभाव है। वह विकार द्रव्य-गुण में से भी नहीं आया और दूसरे द्रव्यों में से भी नहीं आया; किन्तु वह पर्याय विकारीभावरूप परिणमित हुई है — ऐसा ही उस पर्याय का स्वभाव है। देखो, पुद्गल परमाणुओं में ऐसा कोई त्रिकाली गुण नहीं है कि वह कर्मरूप परिणमित हों; तथापि वे कर्मरूप परिणमित होते हैं। इसीप्रकार जीव में भी ऐसी कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है कि जो विकार उत्पन्न करे, फिर भी उसकी अवस्था में विकार होता है। इसका कारण है कि ऐसी ही उस पर्याय की योग्यता है, ऐसा ही उस पर्याय का अहेतुक स्वभाव है।

इस सम्बन्ध में चिद्विलास ग्रन्थ में कहा है कि 'जिसप्रकार पुद्गल वस्तु के स्कन्ध-विकार हो ऐसा पुद्गल में कोई गुण तो नहीं है; किन्तु उस पुद्गल वस्तु के परिणाम उस स्कन्ध-विकारभावरूप स्वांग धारण करके परिणमित होते हैं, अन्य किसी द्रव्य के परिणाम उस कर्मविकार भाव को धारण करके परिणमित नहीं होते, किन्तु यह एक पुद्गल ही वह स्वांग धारण करके प्रवर्तमान होता है — यह सत्य है। उसीप्रकार इस जीववस्तु के परिणाम भी रंजक-मलिन, संकोच, विस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति आदि चेतन-विकाररूप होकर परिणमित होते हैं, ऐसा चिद्विकारभाव तो उस चेतनद्रव्य के परिणामों में देखा जाता है, अचेतनद्रव्य के परिणामों में वह कभी नहीं देखा जाता — यह बात निःसन्देह है।

इसप्रकार जो विकारभाव है, वह अपने-अपने परिणामों में होता है और उस-उस द्रव्य के परिणामों के आश्रित वह विकार होता है। अतः उसे भी निश्चय कहा जाता है।

यहाँ इतना बतलाना है कि त्रिकालीद्रव्य में तथा गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है — ऐसा ही उसका स्वभाव है। उसमें से पुद्गल में कर्मरूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और वह जीव में अशुद्धतारूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है।

कर्मपद्धति के द्रव्यरूप और भावरूप — इन दोनों परिणामों की आगमरूप स्थापना की है। इस कर्मपद्धति के परिणाम मोक्षगामी भव्य जीव के अनादि-सान्त हैं और मोक्ष के लिये अयोग्य जीव को अनादि-अनन्त हैं — इसप्रकार जीव को जबतक संसार है, तबतक इन परिणामों की परम्परा

त्रिकालवर्ती मानना और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति में जो शुद्ध परिणामों की परम्परा है, वह तो सर्व जीवों को अनादि-अनन्त प्रतिसमय वर्तती है — ऐसा जानना।

देखो, यहाँ कर्मपद्धति को आगम कहकर आगम की व्याख्या भी भिन्न शैली से की है; और शुद्धचेतनापद्धति को अध्यात्म कहकर उसकी व्याख्या भी भिन्न प्रकार से करेंगे।

जीव में विकार और पुद्गलकर्म — इन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की। ऐसी ही अनादि परम्परा है — इसमें 'ऐसा क्यों?' ऐसा कोई तर्क नहीं है; अपने-अपने कारण से ऐसी पर्यायें होती हैं — ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है। विकार वस्तु का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु आगन्तुक भाव है, वह अनादि परम्परा से चला आ रहा है; इसलिये उसे 'आगम' कहा है। जीव के द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, तथापि पर्याय में विकार हुआ; उसीप्रकार पुद्गल के द्रव्य-गुण में कर्मरूप होने का स्वभाव न होने पर भी पुद्गल में कर्मरूप पर्याय हुई; क्योंकि वस्तु का ऐसा ही कोई अहेतुकस्वभाव है — वस्तु के ऐसे स्वभाव को जाने ले तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

इसप्रकार आगमरूप कर्मपद्धति का विवेचन पूरा हुआ।

अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति

शुद्धचेतनापद्धति अर्थात् शुद्धात्मपरिणाम भी द्रव्यरूप और भावरूप दो प्रकार के हैं। उनमें द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम हैं और भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि अनन्तगुणपरिणाम हैं। इन दोनों परिणामों को अध्यात्मरूप जानना।

यहाँ नियमसार की कारणशुद्धपर्याय के साथ संधिवाली जो मुख्य बात है, वह इस शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति में से निकलती है। ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि समस्त गुणों में संसार अवस्था के समय भी शुद्ध परिणामों की परम्परा प्रवर्तमान है।

वे कौन से शुद्ध परिणाम हैं, जो संसारी के भी विद्यमान रहते हैं ?

संसारदशा के समय जो प्रगट उत्पादरूप परिणाम हैं, वे कहीं शुद्ध नहीं हैं, उनमें तो अशुद्धता है। यदि प्रगट उत्पाद परिणामों में सदैव शुद्धता ही हो, तो किसी जीव के संसार ही नहीं रहे। इसलिये यह प्रगट उत्पादरूप परिणामों की बात नहीं है और त्रिकाली द्रव्य-गुणों की भी यह बात नहीं है; क्योंकि आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों में परिणामों की ही बात है।

अध्यात्मपद्धति में जो त्रिकालवर्ती शुद्धपरिणाम कहे हैं, वे ध्रुवरूप हैं, सदैव सदृशपरिणामरूप हैं। जीवद्रव्य में ध्रुव परिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति है; और ज्ञान-दर्शनादि प्रत्येक गुण में ध्रुवपरिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह भावरूप शुद्धचेतनापद्धति है।

द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति में तो पूर्ण जीवद्रव्य के परिणाम लिये हैं और भावरूप शुद्धचेतनापद्धति में प्रत्येक गुण के परिणाम लिये हैं।

आगमपद्धति में जीव के विकारी परिणामों को पुद्गलाकार कहा था। यहाँ अध्यात्मपद्धति में चेतनापरिणाम अर्थात् कारणशुद्धपर्याय है, वह जीव के स्वभावाकाररूप है। स्वभावाकार परिणति जीव में सदैव शुद्धरूप से प्रवर्तमान है।

पद्धति का क्या अर्थ है ?

परम्परागत प्रवाह अथवा रीति-रिवाज; परम्परा से जो रिवाज चला आ रहा हो, उसे पद्धति कहते हैं। आत्मा के रीति-रिवाज क्या हैं, उसकी पद्धति क्या है ?

भाई! शुद्धचेतनापरिणाम की परम्परा ही तेरे आत्मा की पद्धति है, उसी में तेरे आत्मा का अधिकार है। विकार की परम्परा में आत्मा का अधिकार नहीं है अर्थात् आत्मा के विकार का स्वामित्व नहीं है।

कर्मपद्धतिरूप पर्याय वह आगम और शुद्धचेतनापद्धतिरूप पर्याय वह अध्यात्म — ये दोनों अनादि से एक साथ ही चले आ रहे हैं; तथापि आगम में अध्यात्म नहीं है और अध्यात्म में आगम नहीं है अर्थात् विकार की परम्परा में आत्मा का स्वभाव नहीं है और आत्मा के स्वभावपरिणाम की परम्परा में विकार का अधिकार नहीं है, इसलिये विकार में दूढ़ने से आत्मा नहीं मिलेगा।

शुद्धचेतनापद्धति में ही आत्मा का अधिकार है। जिसमें आत्मा का स्वामित्व है, जिस परिणाम में आत्मा सदैव विद्यमान है — ऐसे शुद्धचेतना के रीति-रिवाजरूप शुद्धात्मपरिणाम हैं, वे अध्यात्मरूप हैं, उनमें आत्मा का अधिकार है; इसलिए उनकी सन्मुखता से आत्मा प्राप्त होता है।

अनादि से परम्परागत चली आ रही विकार तथा कर्म की धारा को यहाँ आगमपद्धति कहा है।

अनादि से परम्परागत चली आ रही शुद्धता की धारा अर्थात् शुद्धचेतना परिणतिरूप धारा को यहाँ अध्यात्मपद्धति कहा है।

इसप्रकार विकार और शुद्धता दोनों की धारा अनादि परम्परा से चली आ रही है। इसमें से यहाँ शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप से स्वीकार किया गया है, यहाँ मोक्षमार्ग निर्मलपर्याय की धारा प्रारम्भ होती है।

यहाँ मुख्य दो ही विभाग किये हैं; एक ओर जड़कर्म और उनकी ओर की भावरूप पुद्गलाकार अशुद्ध परिणति, वह कर्मपद्धति है और दूसरी ओर शुद्धचेतनास्वभाव तथा उस स्वभाव के आकाररूप शुद्धचेतनापरिणति, वह शुद्धचेतनापद्धति है। उनमें से कर्मपद्धति की ओर उन्मुखता वह संसारपद्धति है और शुद्धचेतना पद्धति की ओर उन्मुखता वह मोक्षमार्ग है।

आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनन्तता कही, उसका अर्थ ऐसा समझना कि आगमरूप कर्मपद्धति में तो जीव का विकार अनन्तप्रकार का है और उसके निमित्तरूप कर्म में भी पुद्गल अनन्तान्त है; इसलिए उस आगमपद्धति में अनन्तता है और अध्यात्मपद्धति शुद्ध जीवद्रव्य के आश्रित हैं, उसमें भी ज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यादि अनन्तगुण होने से उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एक समय में हैं, इसलिये अध्यात्मपद्धति में भी अनन्तता हुई — इसप्रकार दोनों पद्धतियों में अनन्तता समझना।

विभाव की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे आगमपद्धति कहा है और शुद्धता की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे अध्यात्मपद्धति कहा है।

जगत में एक ओर कर्म और विकार प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त हैं, और दूसरी ओर शुद्धचेतनापद्धति-कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त हैं। सर्व जीवों की अपेक्षा से जगत में ये दोनों धारायें अनादि-अनन्त चल रही हैं, किन्तु उनका भान करके भेदज्ञान करने वाले को अपने लिये कर्म और विकार अनादि-सांत हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट होता है। कारणशुद्धपर्याय तो सर्व जीवों के अनादि-अनन्त

है। इधर 'कारण' की ओर उन्मुख होते ही वहाँ निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है और आगमपद्धति (कर्म तथा विकार) छूट जाती है। ज्ञानी के भी जितना विकार होता है, उसका आगमपद्धति में समावेश होता है और शुद्धता प्रगट हुई, वह मोक्षमार्ग रूप है। आत्मा के सहज शुद्धचेतनापरिणाम-रूप अध्यात्मपद्धति अनादि-अनन्त है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग तथा मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। इसप्रकार कारणशक्ति के मनन से कार्य प्रगट हो जाता है।

समस्त संसारी जीवों के अनादि-अनन्त चार प्रकार वर्तते हैं —

(१) नई-नई विकारी पर्याय प्रतिसमय होती आ रही है। (२) जड़कर्म की अवस्था नई-नई होती आ रही है — यह दोनों प्रकार आगमपद्धति में आते हैं। (३) द्रव्य के सदृश वर्तमानरूप शुद्ध आत्मपरिणाम अथवा जीवत्व परिणाम। (४) अनन्तगुणों की सदृशरूप शुद्धपरिणति — यह दोनों प्रकार अध्यात्मपद्धति में आते हैं।

इनमें से शुद्धपरिणामरूप अध्यात्मपद्धति में आत्मा का अधिकार है अर्थात् वह आत्मा का मूलस्वभाव है। यहाँ जो चार प्रकार कहे हैं, उन चारों में 'परिणाम' की बात है। 'जीव और पुद्गल' — इन दोनों त्रिकाली द्रव्यों को ज्यों का त्यों रखकर यहाँ परिणाम की परम्परा बताई है। उसमें अध्यात्मपद्धति में जो शुद्धचेतना परिणाम (द्रव्यरूप और भावरूप) कहे हैं, वे परिणाम उत्पाद-व्ययरूप नहीं हैं, विसदृश नहीं हैं; किन्तु सदैव एकरूप सदृशरूप से प्रवर्तमान हैं। सदैव जीवद्रव्य में निमग्न तन्मयरूप शुद्धपरिणति ध्रुवरूप से सदैव जीव के साथ ही वर्तती है — उसकी यह बात है। यह बात मोक्षमार्ग या मोक्षपरिणति की भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह ध्रुवपरिणति शुद्धकारणरूप से वर्तती है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। त्रिकाली स्वभाव का वर्तमान परिणामन सदैव एकसमान शुद्धरूप वर्त रहा है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का और मोक्ष का आधार है।

अहो! जिसने इस बात को स्वीकार किया, वह जीव मोक्षमार्गी हो गया। द्रव्यस्वभाव का वर्तमान परिणामन मेरे लिए पूर्ण कारणरूप से वर्त रहा है—ऐसी जहाँ स्वीकृति हुई, वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के मार्ग के अतिरिक्त वस्तुस्वभाव की ऐसी अलौकिक बात कहीं अन्यत्र तीन काल में नहीं हो सकती और सर्वज्ञ के भक्त के सिवाय (साधक के सिवाय) कोई भी इस बात को यथार्थ मानने में समर्थ नहीं है। इस बात को यथार्थरूप से स्वीकार करनेवाले के वर्तमान वर्तती हुई पूर्ण वस्तु श्रद्धा में आ जाती है, इसलिये वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

भाई! यह जैनपरमेश्वर सर्वज्ञदेव के मार्ग का रहस्य है, प्रत्येक आत्मा ऐसे परिणामवाला है और जगत में ऐसे अनन्त आत्मा हैं। इस बात की यथार्थ समझ सर्वज्ञ होने का मार्ग है। अहो! कविवर पं. बनारसीदासजी ने इस 'परमार्थवचनिका' में आगम-अध्यात्म का स्वरूप लिखकर अलौकिक बात कही है। जो जीव अंतरंग प्रीतिपूर्वक यह बात सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसका अवश्य ही अपूर्व कल्याण हो जायेगा।

देखो, यह जीवद्रव्य का वर्णन है। यहाँ जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय का अद्भुत वर्णन किया गया है। समयसार की दूसरी गाथा में 'जीवों.....' शब्द है, उसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सात

बोलों द्वारा अलौकिक रीति से जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। उसीप्रकार यहाँ भी इस गाथा में 'जीवा.....' शब्द है, उसकी टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने जीव का दूसरे ही ढंग से अलौकिक वर्णन किया है। यह सूक्ष्म बात है, क्योंकि अतीन्द्रिय स्वभावी आत्मा स्वयं ही सूक्ष्म है, इसलिये उसे समझने में भी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है; समझ में नहीं आये — ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसे समझने की सामर्थ्य आत्मा में विद्यमान है।

पुण्य-पाप के भाव स्थूल हैं, वे स्थूलभाव तो जीव अनादिकाल से करता ही आया है, उनमें कहीं हित नहीं है। पुण्य-पाप से पार अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को समझना वह अपूर्व है और उसी में आत्मा का हित है। भाई! यह तेरे स्वरूप की ही बात है; स्वयं को समझने की आकांक्षा हो और अपना स्वरूप समझ में न आये, यह कैसे हो सकता है? जिसे आत्मा की सच्ची लगन होती है, उसे अवश्य ही अपने आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है। अभी तक आत्मा को जानने की सच्ची लगन नहीं लगी, इसीलिये वह कठिन मालूम होता है। मुनिराज तो कहते हैं कि यह बात भव्यजीवों के कान में अमृत डालनेवाली है; इसे समझ ले तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूपी अमृत का अनुभव हो।

नियमसार की ९वीं गाथा में छह द्रव्यों का कथन है; उनमें से जीव का वर्णन करते हुए टीकाकार कहते हैं कि —

- (१) शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने के कारण 'कार्यशुद्धजीव' है।
- (२) अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने के कारण 'अशुद्धजीव' है।
- (३) शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार होने के कारण 'कारणशुद्धजीव' है।

यहाँ, पहले बोल में 'केवलज्ञानादि शुद्धगुण' कहने से पर्यायें समझना।

उसीप्रकार दूसरे बोल में 'मतिज्ञानादि विभावगुण' को भी पर्यायें जानना।

और तीसरे बोल में भी 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' कहा उसमें भी पर्याय की ही ध्वनि मालूम होती है। 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुण' कहने से सहजज्ञानादि परमस्वभावपर्याय अर्थात् 'कारणशुद्धपर्याय' ऐसी ध्वनि है। कारणशुद्धपर्याय का आधार होने से आत्मा 'कारणशुद्धजीव' है।

इसप्रकार तीनों बोलों में 'गुण' कहने का तात्पर्य 'पर्याय' से है। पर्याय को कभी-कभी 'गुण' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है; जैसे कि सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ शुद्ध पर्यायें प्रगट होने पर भी उन्हें आठ गुण कहा जाता है; तदनुसार पर्याय को 'गुण' कहने की शैली भी जिनागम में प्रसिद्ध है, जो यहाँ टीकाकार ने भी अपनाई है।

अगली १० से १५ तक की गाथाओं में कारणशुद्धपर्याय की जिस बात का स्पष्टरूप से वर्णन करेंगे, उसका संकेत यहाँ कर दिया है। टीकाकार की सामान्य शैली ऐसी है कि 'अर्थपर्याय' के लिए 'गुण' शब्द का उपयोग करते हैं और 'व्यंजनपर्याय' के लिए 'पर्याय' शब्द का। यहाँ जीव के गुण-पर्यायों का वर्णन करते हैं, उसमें भी इसी शैली का उपयोग किया गया है।

जीव चेतन है; जीव के गुण चेतन हैं। जीव अमूर्त है; जीव के गुण भी अमूर्त हैं। इतनी बात तो गुणों की है। अब पर्याय की बात करते हैं।

‘यह शुद्ध है; इसके गुण शुद्ध हैं। यह अशुद्ध है इसके गुण अशुद्ध है।’ — इसमें ‘गुण’ कहने का तात्पर्य ‘अर्थपर्याय’ से है। शुद्ध गुण कहने से शुद्ध-अर्थपर्यायों और अशुद्ध गुण कहने से अशुद्ध-अर्थपर्यायों समझना चाहिए, गुण कहीं अशुद्ध नहीं होते। शुद्धजीव की अर्थपर्यायें शुद्ध हैं और अशुद्ध जीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं। केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत जीव को कार्यशुद्धजीव कहा है; उस शुद्धजीव की केवलज्ञानादि अर्थपर्यायें शुद्ध हैं और मतिज्ञानादि विभावगुणों के आधारभूत जीव को अशुद्धजीव कहा है, उस अशुद्धजीव की अर्थपर्यायें अशुद्ध हैं।

इसप्रकार यहाँ शुद्ध या अशुद्ध गुण कहने से शुद्ध या अशुद्ध पर्यायों समझना चाहिये।

अब कहते हैं कि ‘पर्याय भी है।’ यहाँ पर्याय कहने का तात्पर्य व्यंजनपर्याय से है। जिसप्रकार अर्थपर्यायें शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं, उसीप्रकार व्यंजनपर्यायें भी शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की हैं। उनमें से जिस जीव को जो प्रकार योग्य हो, उसे वह समझ लेना चाहिए। यहाँ ‘व्यंजनपर्याय है’ — इतनी सामान्य बात ली, किन्तु ऐसा नहीं कहा कि ‘शुद्धजीव को शुद्ध व्यंजनपर्याय है;’ क्योंकि अरिहंत भगवान् कार्यशुद्धजीव हैं, उनके शुद्ध अर्थपर्याय होने पर भी व्यंजनपर्याय शुद्ध नहीं है, इसलिये शुद्धजीव को शुद्ध व्यंजनपर्याय हो ही — यह बात लागू नहीं होती। यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय की अपेक्षा है, इसलिये ‘शुद्धजीव की पर्याय शुद्ध है’ — ऐसा न लेकर ‘पर्याय भी है’ — ऐसा सामान्य कथन लिया है। सिद्ध भगवन्तों के शुद्ध व्यंजनपर्यायें हैं, और संसारी जीवों के अशुद्ध व्यंजनपर्यायें हैं — इसप्रकार जो योग्य हो, वह पर्याय समझना चाहिए। सिद्ध भगवन्तों के अर्थपर्याय शुद्ध हैं और व्यंजनपर्याय भी शुद्ध है; अरहन्त भगवन्तों के अर्थपर्याय (केवलज्ञानादि) शुद्ध है और व्यंजन-पर्याय अशुद्ध है।

यहाँ मुख्य तो यह बतलाना है कि जैसे ‘शुद्ध गुण’ और ‘अशुद्ध गुण’ कहने से टीकाकार मुनिराज का तात्पर्य शुद्ध अर्थपर्यायों और अशुद्ध अर्थपर्यायों बतलाने का है, उसीप्रकार ‘सहज-ज्ञानादि परमस्वभावगुण’ — ऐसा कहने में भी कारणशुद्धपर्याय बतलाने का तात्पर्य है — यह जानना चाहिए।

अहो! मुनिराज ने टीका में गम्भीर रहस्य भरे हैं — “**णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता**” अर्थात् द्रव्य विध-विध गुण-पर्यायों से संयुक्त है — ऐसा मूल सूत्र में कहा है; उसमें से अद्भुत टीका की है। सहजस्वभावगुण अर्थात् सहजस्वभावरूप कारणशुद्धपर्याय का सदैव आधार होने से आत्मा ‘कारण-शुद्धजीव’ है; उसी को कारणपरमात्मा भी कहा जाता है।

इसकारण शुद्धजीव की भावना से कार्यशुद्ध जीव होते हैं, भावना अर्थात् एकाग्रता अथवा आश्रय; कारणपरमात्मा का आश्रय करने से केवलज्ञानरूपी परमात्मदशा प्रगट हो जाती है और वही कार्यपरमात्मा है।

श्रद्धापर्याय से कारणपरमात्मा का आश्रय करके, उसमें एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन हुआ; ज्ञानपर्याय से अन्तर्मुख होकर कारणपरमात्मा का आश्रय करने पर सम्यग्ज्ञान हुआ; चारित्रपर्याय से कारणपरमात्मा की भावना करके, उसमें एकाग्र होने पर सम्यक्चारित्र हुआ और तीनों मिलकर मोक्षमार्ग तथा तीनों का फल मोक्ष है। इसप्रकार कारणपरमात्मा की ही भावना से कार्यपरमात्मा होते हैं, अन्य कोई उसका कारण नहीं है।

त्रिकाली शक्ति की अपेक्षा से सर्व जीव सिद्धसमान शुद्ध परमात्मा हैं, इसलिये सभी जीव कारणपरमात्मा हैं। परमात्मा होने का कारण शक्तिरूप से सर्व जीवों में विद्यमान है; उस कारण का भान करके उसके अवलम्बन से जो जीव शुद्ध परमात्मदशा प्रगट करता है, उसे कार्यपरमात्मा कहा जाता है।

तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग की-कार्यनियम की बात थी, इसलिये वहाँ मोक्षमार्ग के कारणरूप से 'कारणनियम' के वर्णन में शुद्ध ज्ञानचेतनापरिणाम लिया था। यहाँ परिपूर्ण शुद्धपर्याय की (कार्यशुद्धजीव की) बात है, इसलिए उसके कारणरूप से 'कारणशुद्धजीव' लिया है। सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा की बात थी, वहाँ भी उसके आधाररूप से कारणपरमात्मा की बात ली थी। तीसरी गाथा में मोक्षमार्ग के कारण का वर्णन था और यहाँ मोक्ष के कारण का वर्णन है। एक में गुण के शुद्ध परिणाम (कारणशुद्धपर्याय) की बात ली है और दूसरे में समुच्चयरूप से परिपूर्ण द्रव्य के कारणशुद्धपरिणाम की बात ली है; किन्तु है तो सब अभेद ही।

निर्मलपर्याय प्रगट होने में कहीं द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय इन तीनों का पृथक्-पृथक् अवलम्बन नहीं है; एकाकार अभेद द्रव्य के अवलम्बन में तीनों का समावेश हो जाता है।

सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में विविध पर्यायों से युक्त छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं; उनमें से जीव के विविध गुण-पर्यायों को बतलाकर उसका स्वरूप समझाया है। जो भव्यात्मा जीव का ऐसा स्वरूप पहिचान लेता है, उसे अपने कारणपरमात्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हुए बिना नहीं रहते।

जीव के अतिरिक्त अन्य पाँच अजीव द्रव्य हैं, वे भी अपने-अपने विविध गुण-पर्यायों से युक्त हैं।

पुद्गलद्रव्य पूरन-गलन स्वभाववाला है अर्थात् पुद्गलों का एकत्रित होना और पृथक् होना स्वभाव है और वे पुद्गल श्वेतादि वर्णों के आधारभूत हैं।

पुद्गलद्रव्य मूर्त है, उसके गुण मूर्त हैं; वह अचेतन है और उसके गुण भी अचेतन हैं।

देखो, यहाँ पुद्गल के वर्णन में भी पर्याय का गुणरूप में कथन किया है। जिसप्रकार जीव के वर्णन में मतिज्ञानादि पर्यायों को विभावगुण तथा केवलज्ञानादि पर्यायों को शुद्धगुणों कहा है, उसीप्रकार इस पुद्गल के वर्णन में भी 'वर्णादि गुणों के आधारभूत मूर्त है' — ऐसा कहकर पर्याय की बात ली है। श्वेतता आदि गुण नहीं हैं, किन्तु वर्णगुण की पर्यायें हैं। इसप्रकार पुद्गल को पर्याय के आधारभूत मूर्त कहा।

जीवद्रव्य के वर्णन में भी 'स्वभाव गुणों के आधारभूत' का अर्थ स्वाभाविक कारणशुद्ध-परिणति के आधारभूत किया था। इसप्रकार स्वभाव में या विभाव में अर्थपर्याय को गुण कहने की टीकाकार की शैली चली आ रही है। टीकाकार मुनिराज महा समर्थ वीतरागी संत थे, उन्होंने आत्मानुभव की गहराई से यह भाव निकाले थे; टीकाकार के हृदय के मूल आशय को हमें अच्छी तरह समझना चाहिये।

जीव और पुद्गल के गुण-पर्यायों की बात कही, अब शेष चारद्रव्यों की बात करते हैं।

स्वभावगति क्रियारूप या विभावगति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्वभावगति या

विभावगति का निमित्त वह धर्मद्रव्य है; उसीप्रकार स्वभावस्थिति क्रियारूप या विभावस्थिति क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गलों को स्थिति का निमित्त वह अधर्मद्रव्य है। पाँच द्रव्यों को अवकाश देने का जिसका लक्षण है, वह आकाशद्रव्य है और पाँच द्रव्यों को प्रवर्तन का निमित्त वह कालद्रव्य है।

यहाँ धर्मद्रव्यादि के वर्णन में जो निमित्तपना बतलाया है, उसमें भी पर्याय की बात है; क्योंकि निमित्तपना पर्याय में वर्तता है। गति आदि क्रियाओं में धर्मास्तिकायादि त्रिकाली द्रव्य निमित्त नहीं हैं, किन्तु उनकी उस-उस समय की पर्याय निमित्तरूप है और वह अर्थपर्याय है।

इन चारों अमूर्त द्रव्यों के गुण शुद्ध हैं और उनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं; यहाँ पर्याय कहने से व्यंजनपर्याय समझना।

इसप्रकार टीकाकार की शैली देखते हुए जीव को 'सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार' कहने में कारणशुद्धपर्याय की ही ध्वनि उठती है। कारणशुद्धजीव में, धर्मास्तिकायादि चारद्रव्यों की भाँति सहजशुद्धपरिणति त्रिकाल पारिणामिकभावरूप से परिणमित हो रही है, उसका इस नियमसार में स्पष्टतया 'कारणशुद्धपर्याय' रूप से वर्णन किया है। अब अगली (१० से १५ तक) गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से आयेगी।

जीवादि छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन करके उस पर कलश चढ़ाते हुए टीकाकार कहते हैं कि यह छहद्रव्यों के समूहरूपी रत्न किरणयुक्त अपनी-अपनी पर्यायों द्वारा शोभायमान हैं। यह छह द्रव्यों के समूहरूपी रत्न जिनेन्द्रदेव के मार्गरूपी समुद्र के बीच विद्यमान हैं। जिनप्रणीत मार्ग को यहाँ समुद्र की उपमा दी है; जिनेन्द्रदेव का मार्ग समुद्र की भाँति गम्भीर और गहरा है; उसी में छह द्रव्य के गुण-पर्यायों का यथार्थ वर्णन है, अन्यत्र कहीं भी इनका यथार्थ वर्णन नहीं है।

जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष इस रत्न को हृदय में धारण करता है, वह मुक्तिसुन्दरी का नाथ होता है। तीक्ष्णबुद्धि द्वारा अर्थात् स्वभाव के अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही इन छहों द्रव्यों के गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं और इसी में आत्मा की शोभा है — ऐसी तीक्ष्णबुद्धि द्वारा जो जीव छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को यथार्थरूप से जानता है, वह अपने त्रिकाल शुद्ध द्रव्यपर्यायरूप कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य कहे हैं — यहाँ उनकी बात की और उन्हें जानने का फल बतलाया। यह जीव अधिकार है, इसलिये अगली गाथाओं में जीव के उपयोगादि की अद्भुतता और अलौकिकता का वर्णन करेंगे।

अहो! वन में वास करनेवाले और आत्मानन्द में लीन रहनेवाले मुनिराज के श्रीमुख से परमागमरूपी अमृत की वर्षा हुई, उसमें आया कि हे भाई! तेरे धर्म का ध्रुव कारण तो तुझ में सदैव विद्यमान ही है; किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता, अतः दुखी होता है। 'यह मेरे कार्य का कारण है' — ऐसा भान होने से कारण का कारणपना सफल होता है।

अन्तर्मुख होकर अपूर्व कार्य प्रगट किया, तब कारण का पता चला और ज्ञान हुआ कि अहो! यह कारण तो मुझ में पहले से ही था; किन्तु मुझे इसका भान नहीं होने से अभी तक कार्य प्रगट नहीं हुआ था। अब कारण की महिमा ज्ञात होने पर कारण का भान होने से कार्य प्रगट हुआ और

कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि हुई। अहो! मुनिवरों ने कारण और कार्य को साथ ही साथ रखकर अद्भुत अमृत बहाया है।

इसे समझकर जो जीव अन्तर्मुख होकर निजस्वभाव में गहराई तक उतर जाता है, उसके मोक्षदशा विकसित हो जाती है; वह सादि अनन्तकाल तक मंगलमय हो जाता है। ●

अब नियमसार की १०वीं गाथा प्रारम्भ होती है। इस गाथा में ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन है। पूर्ण आत्मा की कारणशुद्धपर्याय का वर्णन तो अभी पंद्रहवीं गाथा में आयेगा। इस गाथा में जीव का लक्षण जो उपयोग है, उसके भेदों का वर्णन करते हुए स्वभावज्ञान-उपयोग को कारण और कार्यरूप से बतलाकर अति सरस बात कही है। मूल गाथा इसप्रकार है—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।

णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१० ॥

जीव उपयोगमय है। उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञान-उपयोग और दर्शन-उपयोग। ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है; स्वभावज्ञान-उपयोग और विभावज्ञान-उपयोग।

जीव उपयोगमय है। 'उपयोग' कहने से यहाँ 'परिणाम' समझना चाहिए। उपयोग के जितने प्रकार यहाँ कहेंगे, वे सब प्रकार पर्यायरूप हैं — यह बात लक्ष्य में रखना चाहिए।

यहाँ पहले तो उपयोग का अर्थ कहते हैं; फिर उसके भेद समझायेंगे।

'आत्मा का चैतन्य-अनुवर्ती परिणाम, वह उपयोग है।'

देखो, यह उपयोग की व्याख्या। आत्मा का जो त्रिकाल चैतन्यस्वभाव, उसका अनुसरण करके वर्तनेवाला परिणाम, वह उपयोग है। इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये।

'आत्मा' वह द्रव्य, 'चैतन्य' वह गुण, 'अनुवर्ती परिणाम' वह पर्याय।

आत्मा द्रव्य है और चैतन्य उसका त्रिकालीगुण है; उस चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग किसी पर का, इन्द्रियों का या राग का अनुसरण करके नहीं होता; किन्तु चैतन्य का ही अनुसरण करके होता है — ऐसा कहकर त्रिकाली स्वभाव की ओर सन्मुखता कराई है।

'उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है; दीपक और प्रकाश की भाँति उनका सम्बन्ध है।'

देखो, आत्मा चैतन्य दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। रागादिभाव तो अंधकार जैसे हैं। जिसप्रकार प्रकाश में अंधकार नहीं है, उसीप्रकार उपयोग में राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेष वह आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, स्वाभाविक ज्ञानोपयोग ही आत्मा का स्वभाव है — ऐसा भेदज्ञान करना वह मुक्ति का कारण है। 'उपयोग' वह जीव की पर्याय है, इसलिये वह धर्म है; और जीव उस पर्याय को धारण करनेवाला है, इसलिये वह धर्मी है। उपयोग के जितने प्रकार हैं, वे किसी दूसरे के धर्म नहीं हैं; किन्तु जीव के ही धर्म हैं। मतिज्ञानोपयोग हो या त्रिकाल शुद्धोपयोग हो — दोनों जीव के धर्म हैं और जीव धर्मी है।

जिसप्रकार दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान है; उसका स्वभाव पर के कारण नहीं है; उसीप्रकार आत्मा चैतन्य दीपक है और उपयोग उसका प्रकाश है। आत्मा स्वभाव से ही उपयोगस्वरूप है, किसी

पर के कारण उसका उपयोग नहीं है। मति-श्रुतज्ञान-उपयोग भी इन्द्रियों या मन के कारण नहीं होता, वह उपयोग भी जीव का धर्म है।

चैतन्य का उपयोग कहने से उसमें ज्ञान और दर्शन दोनों का व्यापार आ जाता है। उपयोग ज्ञान और दर्शन दो प्रकार का है। ज्ञान का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को ज्ञानोपयोग कहते हैं और दर्शन का अनुसरण करके वर्तनेवाले परिणाम को दर्शनोपयोग कहते हैं, उसमें भी ज्ञानोपयोग के नौ प्रकार (एक कारणरूप और आठ कार्यरूप) हैं तथा दर्शनोपयोग के पाँच प्रकार (एक कारणरूप और चार कार्यरूप) हैं। इसप्रकार उपयोग के कुल मिलाकर चौदह भेद हैं। इन सर्वप्रकार के उपयोगधर्मों का आधार जीव है। पहले जिसप्रकार श्वेतादि गुणों का (पर्यायों का) आधार पुद्गल कहा था; उसीप्रकार यहाँ उपयोग परिणाम का आधार जीव है।

‘ज्ञान और दर्शन के भेद से उपयोग दो प्रकार का है, इनमें ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेदों से दो प्रकार का है। उनमें स्वभावज्ञान, अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है, वह भी कार्य और कारण के रूप से दो प्रकार का है।’

यह गुण की बात कही है, किन्तु उसके परिणामों की बात है। स्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम और विभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम — ऐसे दो प्रकार का ज्ञानोपयोग है।

यहाँ पहले स्वभाव-ज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं।

स्वभाव-ज्ञानोपयोग अमूर्त है, अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अविनाशी है। स्वभाव-ज्ञानोपयोग की यह व्याख्या कारण और कार्य दोनों पर लागू होती है।

चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तने वाला स्वभाव-ज्ञानोपयोगरूप परिणाम कारण और कार्य — ऐसे दो भेदवाला है।

(१) कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोगपरिणाम।

(२) कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोगपरिणाम।

कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग तो परिपूर्ण निर्मल ऐसा केवलज्ञान है और उस केवलज्ञान का कारणरूप परमपारिणामिक सहज ज्ञान है, वह कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग है। यह दोनों प्रकार के उपयोग अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। उनमें से कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग तो सदैव अनादि-अनंत, अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी स्वभाववाला है, और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग भी प्रगट होने के पश्चात् वैसे ही स्वभाववाला है। कारणरूप स्वभाव-ज्ञानोपयोग तो सदैव परमपारिणामिकभाव में स्थित है, वह नवीन नहीं होता। उसमें से केवलज्ञान नया प्रगट होता है, उसे कार्य-स्वभाव ज्ञानोपयोग कहते हैं। यह कारणरूप या कार्यरूप जितने उपयोग कहे जा रहे हैं, वे सब परिणामरूप हैं; क्योंकि चैतन्य का अनुसरण करके वर्तता हुआ परिणाम ही उपयोग है और यह उसके प्रकारों का वर्णन हो रहा है। कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग इस समय भी सर्व जीवों में वर्त रहा है; उसकी बात मुख्यतया समझने योग्य है।

आत्मा के चैतन्य स्वभाव का अनुसरण करके वर्तता हुआ स्वभाव-ज्ञानोपयोग परिणाम, एक कारण-स्वभावरूप है और दूसरा कार्य-स्वभावरूप। उनमें कारण-स्वभावरूप ज्ञानोपयोग अनादि-अनंत

है और कार्य-स्वभावरूप ज्ञानोपयोग सादि-अनंत है।

प्रश्न :— कारण-स्वभावज्ञान को 'परमपारिणामिकभाव में स्थित' कहा — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— परमपारिणामिकभाव तो त्रिकालीद्रव्य है और यह कारण-स्वभाव-ज्ञानोपयोग उस परमपारिणामिकभाव में स्थित है। 'परमपारिणामिकभाव' है, वह द्रव्य है और 'उसमें स्थित' वह पर्याय है।

प्रश्न :— उसमें कौन-सी पर्याय स्थित है ?

उत्तर :— उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्याय नहीं, संसार-मोक्षरूप पर्याय नहीं; किन्तु त्रिकाली स्वभाव में स्थितरूप-शक्तिपर्याय विद्यमान है; वह निरपेक्ष है, कर्मोपाधि से रहित है, सादृश परिणमनरूप है, सामान्य पारिणामिकभाव की विशेष परिणतिरूप है, वर्तमान में वर्तती है, आश्रय करने योग्य महिमावंत है, वर्तमान ध्रुवकारणरूप है तथा उस ध्रुवकारण के आश्रय से पूर्ण कार्य प्रगट होता है और बाद में भी ध्रुवकारण के आधार से ही पूर्ण कार्य टिकता है। अहो! ऐसा सदृशरूप ध्रुवकारण, आत्मा में परिपूर्ण स्वरूप से वर्तमान एकरूप वर्तता है। इस कारण के पकड़ने से-आश्रय करने से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है।

केवलज्ञानरूप कार्य तो जब प्रगट हो तब वर्तमान है, किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व उसके स्वभाव-कारणरूप यह सहज स्वाभाविक ज्ञानोपयोग परमपारिणामिकभाव में स्थितरूप सदैव वर्तमान-वर्तमान वर्त रहा है। केवलज्ञानरूपी कार्य तो पुरुषार्थ से नया प्रगट होता है और यह कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो आत्मा के साथ अनादि-अनंत प्रवर्तमान है, वह नया प्रगट नहीं होता।

समयसार की दूसरी गाथा में 'जीव चरित-दर्शन-ज्ञान स्थित...' ऐसा कहा है, उसमें तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो नई पर्याय प्रगट हुई है, उसकी (अर्थात् मोक्षमार्ग की) बात है; परन्तु यहाँ 'परमपारिणामिक भाव में स्थित' कहा है, यह त्रिकाली उपयोगपरिणति की बात है; तथापि यह भी है तो परिणाम ही। जो चैतन्य अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा है, वह व्याख्या इसमें भी लागू होती है। यह उपयोग तीनों काल आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तता है, इसलिए परिणति कहा है; परन्तु उसका वेदन नहीं है, वेदन तो उसके आश्रय से जो नई पर्याय प्रगट होती है उसका ही होता है।

यहाँ 'उपयोग' की ही बात की, दूसरे गुणों की बात नहीं की; किन्तु उनमें भी (सुख-श्रद्धा आदि गुणों में भी) इसी के अनुसार समझ लेना। कारणशुद्धपरिणति की बात उपयोग की भाँति जीव के समस्त गुणों में लागू होती है।

देखो भाई! यह बात बहुत सूक्ष्म है, किन्तु एकदम अन्तस्वभाव की है। जल्दी समझ में न आये, तो भी अंतर में महिमा लाकर ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। आत्मा की महिमा की बात कही जा रही है — ऐसा अंतर से बहुमान करना भी ज्ञान की निर्मलता का कारण है।

मूलसूत्र में आचार्य भगवान ने ज्ञानोपयोग को स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसमें से टीकाकार ने अद्भुत भाव प्रकट किये हैं। स्वभावज्ञानोपयोग कहा; उसमें से कारण और कार्य — ऐसे दो प्रकार निकाले हैं। यहाँ अब स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद बतलाते हैं,

उनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष की बात फिर कहेंगे। यहाँ जिसे कारण स्वभावज्ञानोपयोग कहा है, उसी का आगे ग्यारहवीं-बारहवीं गाथा में 'स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान' रूप से वर्णन करेंगे। वहाँ केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष और सहजज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष कहेंगे।

आत्मा के चैतन्यभाव का अनुसरण करके प्रवर्तन करने वाला जो सकल विमल केवलज्ञान परिणाम है, वह कार्य स्वभावज्ञानोपयोग है। उस स्वभाव कार्य के कारणरूप जो उपयोग है, वह कारण स्वभावज्ञानोपयोग है; वह भी आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके वर्तने वाला सहज परिणाम है।

कारणस्वभावज्ञान परमपारिणामिकभाव में स्थित है और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान क्षायिकभाव में स्थित है।

तेरहवें गुणस्थान में परिपूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्य है; उस कार्य का कारण कौन है? कार्य कहाँ से प्रगट हुआ है? तथा किस के अवलम्बन से प्रगट हुआ है?—यह बात यहाँ बतलाते हैं।

कोई परद्रव्य आत्मा के केवलज्ञानरूपी कार्य का कारण नहीं हैं; उत्तम संहनन वाला शरीर आदि निमित्तों में से केवलज्ञान नहीं आता। शुभ-अशुभ विकारीभाव भी केवलज्ञान का कारण नहीं है। शुभ-अशुभ भाव तो केवलज्ञान के बाधक हैं, उसमें से केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है? साधकदशा में मति-श्रुतादि ज्ञान होते हैं, उन्हें व्यवहार से केवलज्ञान का कारण कहा जाता है; किन्तु वास्तव में उस अधूरे ज्ञान में से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; इसलिए वह भी वास्तव में केवलज्ञान का कारण नहीं है, उसके आश्रय से केवलज्ञान नहीं होता। अपूर्णपर्याय में से पूर्णपर्याय कैसे प्रगट हो सकती है? केवलज्ञान पूर्ण कार्य है, इसलिये उसका कारण भी पूर्ण ही होता है — यही यहाँ बतला रहे हैं।

चैतन्य के परमपारिणामिकभाव में जो सदैव स्थित है, जो त्रिकाल निरुपाधिक है, सदैव परिपूर्ण है — ऐसा कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है; उस कारण के अवलम्बन से ही पूर्ण कार्य प्रगट होता है। इस कारण का स्वीकार (श्रद्धा, आश्रय) करते ही साधकदशा प्रारंभ हो जाती है और इसी के आश्रय से अल्पकाल में पूर्णकार्य प्रगट हो जाता है।

पूर्ण कार्य अर्थात् कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होने पर विभावज्ञान का अभाव हो जाता है, किन्तु कारणस्वभावज्ञान का अभाव नहीं होता। विभावज्ञान वाले जीव को भी कारण स्वभावज्ञान तो त्रिकाल विद्यमान है; किन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है। ज्ञानी को साधकदशा में कारणस्वभावज्ञान का भान है, तथापि अभी अमुक विभावज्ञान भी है। विभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान ये दोनों एकसाथ होते हैं, किन्तु विभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान ये दोनों एक साथ नहीं होते। कारणस्वभावज्ञानोपयोग तो सर्व जीवों के त्रिकाल वर्तमान शक्तिरूप वर्त रहा है। एक आत्मा को उपयोग के सर्वप्रकार एक साथ नहीं होते।

भाई! तू जीव है और उपयोग तेरा लक्षण है। अपने उपयोग की महिमा तो देख। जीव का लक्षण उपयोग; उपयोग अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करके होने वाला परिणाम।

कारणस्वभावज्ञान और कारणस्वभावदर्शन — यह दोनों भी ध्रुव चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके

वर्तते हुए उपयोग परिणाम हैं; ये दोनों त्रिकाल एकरूप निरुपाधिक हैं; इनका परिणमन सदैव सदृशरूप है। इनके अतिरिक्त ८ दर्शन एवं ४ ज्ञान — इसप्रकार जो बारह प्रकार के उपयोग हैं; वे सब उत्पादव्ययरूप हैं। कर्म के क्षयोपशम-क्षय आदि की अपेक्षा वाले हैं, परन्तु उपयोग के चौदहों प्रकार आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तने वाले हैं। केवलज्ञानोपयोग आत्मा के चैतन्यस्वभाव का ही अनुसरण करके होता है; पूर्व के चार ज्ञान का अनुसरण करके केवलज्ञान नहीं होता। इसीप्रकार मतिज्ञान का उपयोग भी किसी पर का, इन्द्रियों का या राग का अवलम्बन करके नहीं होता; किन्तु आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके ही होता है।

देखो, यह जीव के उपयोग का वर्णन!

जीव धर्मी है और यह उपयोग उसका धर्म है। धर्म अर्थात् स्वभाव। इस समय 'धर्म' का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग नहीं समझना चाहिए; किन्तु जीव ने अपने उपयोग को अपने में धारण कर रखा है, इसलिए उपयोग यह जीव का धर्म है और जीव धर्मी है — ऐसा समझना चाहिए। जिसप्रकार दीपक अपने प्रकाशधर्म को धारण कर रखता है, उसीप्रकार आत्मा अपने उपयोग धर्म को धारण कर रखता है। आत्मा उपयोग रहित नहीं हो सकता। उपयोग के चौदहों प्रकार एक ही जीव में एक साथ नहीं होते। उनमें से जो कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग और कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग है, वह तो सर्व जीवों के सदैव है, शेष बारह प्रकारों में से कार्यस्वभाव-ज्ञानोपयोग और कार्यस्वभाव-दर्शनोपयोग तो केवलज्ञानी भगवन्तों के ही होते हैं; तथा शेष दस प्रकार छद्मस्थों के ही होते हैं — ऐसे उपयोगस्वभावी जीवत्व को पहिचाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती, इसलिए जीव को भली-भाँति पहिचानने के लिये उसके भावों को भी जानना चाहिए।

अरहंत भगवान् कार्यपरमात्मा हैं; उनके केवलज्ञानरूपी कार्य कहाँ से प्रगट हुआ? तो कहते हैं कि कारणरूप ध्रुवज्ञानस्वभाव में से। इसप्रकार अरहंतपरमात्मा के शुद्ध कारण-कार्य को पहिचानने तो अपने में भी शुद्धकारण के अवलम्बन से शुद्ध कार्य (सम्यक्दर्शनादि) हुए बिना न रहें; क्योंकि भगवान् जैसा ही कारण अपने में है। अहो! मुनिवरों ने कारण-कार्य को एक साथ ही रखकर अद्भुत अमृत बहाया है।

ये तो सच्ची समझ के मंत्र हैं..... ये धर्म के मंत्र हैं। इन्हें समझे, इनकी प्रतीति हो और अन्तर में उतर जाय तो स्वरूप का परमानन्द प्रगट हो और अनादिकालीन मिथ्यात्व का विष उतर जाये।

कारणज्ञान-स्वभावज्ञान यह आत्मा के उपयोगलक्षण का एक प्रकार है; निगोद से लेकर सिद्ध तक के प्रत्येक जीव में कर्म की अपेक्षा रहित एकरूप ज्यों का त्यों यह उपयोग वर्तता है। एक समय में तीनकाल-तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाला कार्य जो केवलज्ञान, कारणस्वभावज्ञान उसका कारण है; कारणस्वभाव स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग है, इसमें कभी परोक्षपना नहीं है, अपूर्णता नहीं है। प्रतिसमय परिपूर्ण ध्रुवकारणरूप स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग, वह जीव का सहजस्वभाव है, वह केवलज्ञान का कारण है — ऐसे कारण की जो प्रतीति करता है, उसे केवलज्ञान की शंका नहीं रहती। यह ऐसी अपूर्व बात है।

देखो, सिद्धपर्याय जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनन्त है, साधक पर्याय भी जगत में अनादि-

अनन्त है और संसारपर्याय भी अनादि-अनन्त है; इसीप्रकार कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक जीव को सदृशरूप से अनादि-अनन्त है, जीव को कभी उसका विरह नहीं है। सिद्धदशा सामान्यरूप से जगत् में अनादि-अनन्त होने पर भी एक जीव की अपेक्षा से वह नई प्रगट होती है; परन्तु कारणशुद्धपर्याय सिद्धपर्याय की तरह नई प्रगट नहीं होती, उसका भान करने-वाले जीव को सम्यग्दर्शनादि कार्य नवीन प्रगट होता है।

जिसप्रकार सिद्धपर्याय सामान्यरूप से जगत् में अनादि-अनन्त है। इससे पहले जगत् में सिद्धदशा नहीं थी और अब नई प्रारम्भ हुई हो — ऐसा नहीं है; परन्तु एक जीव की अपेक्षा सिद्धपर्याय नई प्रारम्भ होती है, इसलिए सादि-अनन्त है; किन्तु सिद्धदशा का जगत् में नया प्रारम्भ नहीं हुआ है। 'पहले सिद्ध कौन?' इसका यह उत्तर है कि जगत् में सिद्ध अनादि से ही हैं। इसलिये सामान्यतः सिद्धपर्याय जगत् में अनादि-अनन्त है।

जिसप्रकार सिद्धपर्याय जगत् में अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार उसके साधनरूप मोक्षमार्ग भी अनादि-अनन्त है। व्यक्ति की अपेक्षा से देखें तो उसके जीवन में मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नया होता है और उसका अन्त भी आता है। इसलिए वह सादि-सांत है, किन्तु जगत् में तो मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले जीव अनादिकाल से होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक होते ही रहेंगे। इसलिए सामान्यरूप से मोक्षमार्ग (साधकपर्याय) जगत् में अनादि-अनन्त है, उसका कभी अभाव नहीं है।

इसीप्रकार संसारपर्याय भी सामान्यतः जगत् में भी अनादि-अनन्त है। वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले के उस संसार का अन्त आ जाता है, इसलिए व्यक्तिगतरूप से संसारपर्याय 'अनादि-सांत' है; किन्तु जगत् में तो संसारपर्यायवाले जीव अनादि-अनन्त रहने ही वाले हैं।

इसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार — यह तीनों प्रकार की पर्यायें जगत् में सामान्यरूप से अनादि-अनन्त वर्त रही हैं। यहाँ तो "कारणशुद्धपर्याय" का अनादि-अनन्तपना बतलाना है।

जिसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार — यह तीनों विशेष पर्यायें जगत् में 'सामान्यरूप से अनादि-अनन्त' वर्त रही हैं, उसीप्रकार यह 'कारणशुद्धपर्याय' भी प्रत्येक जीव में अनादि-अनन्त वर्तती है। और संसार मोक्षरूप विशेष पर्यायों की अपेक्षा से वह 'सामान्य' है, क्योंकि वह प्रत्येक जीव में सदा अनादि-अनन्त सदृशरूप से वर्तती हैं।

- जगत् में जीव वस्तु अनादि-अनन्त है, उसके चैतन्य गुण अनादि-अनन्त हैं।
- सामान्यतः सर्व जीवों की अपेक्षा शुद्ध सिद्धपर्याय अनादि-अनन्त है।
- सामान्यतः सर्व जीवों की अपेक्षा साधकपर्याय अनादि-अनन्त है।
- सामान्यतः सर्व जीवों की अपेक्षा संसारपर्याय अनादि-अनन्त है।

इसीप्रकार यह कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनन्त है। सिद्ध परिणति जगत् में अनादि-अनन्त है, जबकि कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनन्त है। आत्मा के परमस्वभाव की अपेक्षा वह 'विशेष परिणति' है, किन्तु औदयिकादि चार भावों की अपेक्षा वह सामान्य है।

जिसप्रकार जगत् में सिद्ध, साधक और संसारपर्यायें अनादि-अनन्त वर्त रही हैं, उसीप्रकार आत्मा में शुद्धद्रव्य, शुद्धगुण तथा शुद्धपरिणति (कारणशुद्धपर्याय) तीनों अभेदरूप से अनादि-अनन्त वर्त रहे हैं।

जगत् में सिद्धदशारूपी शुद्धकार्य अनादि-अनंत है तो उस शुद्ध कार्य का शुद्ध कारण भी प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है। उस कारण की शुद्धता का भान करने पर उसके आश्रय से साधकदशा और सिद्धदशारूपी निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है।

व्यक्ति अपेक्षा अर्थात् एक मोक्षगामी जीव की अपेक्षा संसारपर्याय अनादि-सांत है, मोक्षमार्गपर्याय सादि-सांत और मोक्षपर्याय सादि-अनंत हैं — इसप्रकार पर्याय के तीन प्रकार हैं; किन्तु सामान्यरूप से अर्थात् सर्व जीवों की अपेक्षा से तो ये तीनों प्रकार की पर्यायें जगत् में अनादि-अनंत हैं। कार्य-पर्याय का इसप्रकार अनादि-अनंतपना है, तो उसके साथ कारणशुद्धपर्याय का भी अनादि-अनंतपना प्रत्येक जीव में है — यहाँ यही बतलाना उद्देश्य है।

‘कारण’ तो सदैव शुद्धरूप से वर्तता है; किन्तु उस कारण का अवलम्बन लेकर जहाँ शुद्धकार्य हुआ, वहाँ खबर पड़ी कि अहो! मेरा कारण तो यह है। कारण का अवलम्बन लेनेवाला जागा अर्थात् कार्य प्रगट हुआ, तब कारण की महिमा का ख्याल आया और उसने कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि की।

‘कारण अपेक्षा से शुद्धता’ तो प्रत्येक व्यक्ति को अनादि-अनंत वर्तती है, नाना जीवों की अपेक्षा शुद्धकार्य भी अनादि-अनंत वर्तता है; किन्तु प्रत्येक जीव को शुद्धकार्य नया होता है, इसलिये प्रत्येक जीव में वह अनादि-अनंत नहीं हो सकता।

प्रश्न :— यदि कारण अनादि-अनंत शुद्ध हो तो फिर करना क्या रहा ?

उत्तर :— कारण सदैव शुद्ध है, उसका भान करके उसके आश्रय से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) प्रगट करना, वह मोक्षमार्ग है।

‘नियमसार’ वह शुद्धपर्याय है, उस पर्याय के समक्ष उसके शुद्धकारणरूप से यहाँ ‘कारणशुद्धपर्याय’ बतलाना है।

प्रश्न :— जगत् में सर्वप्रथम किस जीव ने मोक्ष प्राप्त किया ?

उत्तर :— मोक्ष अनादि से ही है।

प्रश्न :— सर्वप्रथम मोक्ष की साधना किसने की ?

उत्तर :— मोक्षमार्ग जगत् में अनादि से ही है।

प्रश्न :— संसार में सबसे पहला भव कौन-सा है ?

उत्तर :— संसार अनादि से ही है।

जैसे यह तीनों प्रकार सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं, उसीप्रकार द्रव्यगुण त्रिकाली शक्ति के साथ उसके सदृश वर्तमान रूप कारणशुद्धपरिणति भी अनादि-अनंत सामान्यरूप है। जिसप्रकार उपरोक्त तीन बोल (मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार) सामान्य हैं; उसीप्रकार यहाँ द्रव्य, गुण और उनकी कारणशुद्धपरिणति — यह तीनों अभेदरूप से अनादि-अनंत सामान्य एकरूप हैं। उनमें अन्तर इतना है कि ऊपर के तीन बोल तो जगत् में सर्व जीवों में सामान्यरूप से हैं और यह तीन बोल प्रत्येक जीव में सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं।

संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष यह विशेष पर्यायें हैं। त्रिकाली द्रव्य-गुण वह सामान्य ध्रुव और उसका

सदृशरूप वह विशेष ध्रुव; ऐसे द्रव्य-गुण और उनका सदृश वर्तमान ये तीनों अभेदरूप से द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, वे सामान्य हैं। प्रत्येक जीव को अनादि-अनंत पारिणामिक स्वभाव वर्त रहा है। जगत् में ऐसा कोई जीव नहीं है कि जिसके शुद्ध द्रव्य, गुण और उनकी ध्रुवकारणरूप सदृश परिणति न हो।

प्रश्न :— केवलज्ञान जगत् में कब नहीं है ?

उत्तर :— केवलज्ञान जगत् में अनादि-अनंत है और उस केवलज्ञान का कारण प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है, उसका यहाँ कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग कहकर वर्णन किया। ज्ञानोपयोग के दो प्रकार कहे हैं — एक स्वभावरूप और दूसरा विभावरूप।

कुमति आदि एकान्त विभावज्ञान जगत् में अनादि-अनंत हैं।

सम्यक् मतिश्रुतादि ज्ञान भी जगत् में अनादि-अनंत हैं।

केवलज्ञान वह स्वभावज्ञान है, वह भी अनादि-अनंत है।

केवलज्ञान का कारणस्वरूप स्वभावज्ञान भी अनादि-अनंत है।

जिसप्रकार 'परमार्थवचनिका' में कहा गया है कि विकार की परम्परारूप आगमपद्धति और शुद्धचेतना परिणति की परम्परारूप अध्यात्मपद्धति — ये दोनों धाराएँ जीव में अनादि से चली आ रही हैं; उनमें से शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप में स्वीकार करने पर मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है और आगमपद्धति छूट जाती है।

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा में कारणरूप स्वभावज्ञान अनादि से चला आ रहा है और विभावज्ञान भी अनादि से वर्त रहा है। उसमें से स्वभावज्ञान को कारणरूप से स्वीकार करके जब उसका अवलम्बन लिया, तभी केवलज्ञान विकसित हो जाता है और विभावज्ञान छूट जाता है। 'कारणस्वभावज्ञान' कहकर केवलज्ञान का आधार बतलाया है। कारणस्वभावज्ञान सर्व जीवों को अनादि-अनंत है; किन्तु जब उस कारण की ओर अपना उपयोग उन्मुख करके एकाग्र हो, तभी उसका कार्य प्रगट होता है और उसी जीव को कारण की सच्ची महिमा समझ में आती है।

कारणशुद्धपरिणति कहने से उसमें त्रिकाली गुण और द्रव्य अभेद ही हैं, उन सबका एक साथ ही आलम्बन है। उस अभेद के आलम्बन से ही सम्यग्दर्शन से सिद्ध दशा तक के निर्मलभाव प्रगट होते हैं। 'कारण' तो त्रिकाल शुद्धरूप से वर्तता ही है, किन्तु उसे कारण बनाने वाला कार्य वर्तमान में नवीन प्रगट होता है।

'कारण' को कारणरूप से स्वीकार किसने किया? स्वीकार करने वाला तो कार्य है और वही मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्गरूपी कार्य सामान्यरूप से जगत् में अनादि-अनन्त होने पर भी व्यक्तिगत रूप से नया होता है। 'कारण' प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है, किन्तु उस कारण को अंगीकार करके कार्य नया होता है; क्योंकि कारण बनाने वाला कार्य नया होता है। कारण को कारणरूप से स्वीकार करने पर शुद्धकार्य है। जहाँ ऐसा अपूर्व कार्य हुआ, वहाँ कारण का भान नया प्रगट हुआ; और खबर पड़ी कि अहो! मुझ में ऐसा कारण तो पहले भी था, किन्तु मुझे उसका भान नहीं था; इसलिये अभी तक कार्य प्रगट नहीं हुआ।

देखो, यह बड़ी सरस और मूलभूत बात है, अमृत-समान मीठी बात है। आत्मा में मोक्षमार्गरूपी कार्य कैसे हो — उसकी यह बात है।

द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपरिणति सब अभेद हैं। इस अभेद के साथ अभेदता करने वाला कार्य जागृत हो, तब उसे कारण का ख्याल आता है। ख्याल नहीं था तब भी उसके 'कारण' तो विद्यमान ही था, किन्तु उस समय कारण को कारण बनाने वाला कार्य नहीं था। स्वयं को शुद्धकारण के अस्तित्व की खबर नहीं थी, इसलिए शुद्धकार्य के बदले अशुद्धकार्य होता था। अभेद के आलम्बन से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट किया, वहाँ इस कारण का सच्चा ख्याल आया। सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान — सभी शुद्ध कार्यों (पर्यायों) के मूलकारण को यहाँ अलौकिक ढंग से बतलाया है।

तीसरी गाथा में कार्यानियम और कारणनियम की बात की। सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा के साथ कारणपरमात्मा की बात की। नौवीं गाथा में कार्यशुद्धजीव तथा कारणशुद्धजीव की बात की। दसवीं गाथा में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान की बात की — इसप्रकार कार्य के साथ उसके आधारभूत कारण को भी साथ ही साथ बतलाते जाते हैं।

पर्याय में जिसके केवलज्ञान हुआ, वह कार्यशुद्धजीव है और वही कार्यपरमात्मा है। उसके पहले साधकदशा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय है, वह मोक्षमार्गरूप कार्य है; वह नियम से कर्तव्य है अर्थात् कार्यानियम है। मोक्षमार्ग की पर्याय को 'कार्यानियम' कहा, 'कार्यशुद्धजीव' नहीं; क्योंकि कार्यशुद्धजीव अथवा कार्यपरमात्मा तो पूर्ण पर्याय प्रगट हो तभी कहलाता है, लेकिन साधकपर्याय या पूर्णपर्याय — इन दोनों का आधार तो एक ही है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपरिणति के अभेद पिण्डरूप आत्मा का आलम्बन लेने से शुद्धपर्याय होती है, कारणस्वभाव की ओर अपूर्ण उन्मुखतावाला साधकभाव, वह मोक्षमार्ग (कार्यानियम) है और जो कारणस्वभाव के साथ पूर्ण एकतारूप साम्यभाव प्रगट हुआ, वह कार्यशुद्धजीव है। कार्यानियम और कार्यशुद्धजीव में इतना अन्तर है, किन्तु उसके आधाररूप कारणस्वभाव तो एक ही है; सम्यग्दर्शन का आधार दूसरा हो तथा केवलज्ञान का दूसरा हो — ऐसा नहीं है। सभी को आलम्बन तो एक स्वभाव का ही है, उस स्वभाव का अपूर्ण आलम्बन वह साधकदशा है और पूर्ण आलम्बन वह मोक्षदशा है।

आत्मा के पारिणामिक स्वभावरूप वर्तता हुआ कारणशुद्धोपयोग त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है, उसे निमित्त के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा नहीं है। केवलज्ञान में कर्मक्षय की अपेक्षा है, किन्तु इस कारणस्वभावज्ञान को तो 'कर्म के क्षय से प्रगट हुआ' — ऐसी अपेक्षा नहीं है; वह तो उपाधिरहित सहज है, आत्मा के द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल अभेदरूप से वर्तता है।

केवलज्ञान में किंचित् भी अशुद्धता या आवरण नहीं है, इसलिए उसे भी उपाधिरहित तथा स्वभावज्ञान कहा जाता है। और कारणस्वभावज्ञान तो त्रिकाल कर्मोपाधिरहित, एकरूप पारिणामिकस्वभाव से वर्तता है, कर्म की उपस्थिति के समय भी वह तो सहज निरुपाधिक ही है। विभावज्ञान के अभाव की अपेक्षा केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा है और पाँच भावों के वर्णन में परमपारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा औदयिकादि चारों भावों को विभाव-स्वभाव कहा — इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जहाँ जो तात्पर्य हो, वहाँ वह समझना चाहिए।

मोक्षशास्त्र अध्याय २ के प्रथम सूत्र में औपशमिक आदि पाँचों भावों को जीव का स्वतत्त्व कहा है, जबकि इस नियमसार में कहते हैं कि परमपारिणामिकभाव के अतिरिक्त चारों भाव विभाव हैं, क्षायिकभाव भी विभाव है। तो क्या इन दो मुनिवर्गों के कथन में परस्पर विरुद्धता है ?

बिलकुल नहीं, मोक्षशास्त्र में तो जीव के भाव कौन-कौन से हैं — यह बतलाने का प्रयोजन है, और यहाँ पाँच भावों में कौन-सा भाव आश्रय करनेयोग्य है — यह बतलाने का प्रयोजन है। क्षायिकभाव स्वयं विभाव नहीं है, वह तो शुद्ध है, किन्तु अंश है। उस क्षायिकभावरूप पर्याय का आश्रय लेते हुए विकार की उत्पत्ति होती है। परमपारिणामिक स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं, इसलिये उसी का आश्रय लेने योग्य है।

यह आत्मा के स्वभाव का वर्णन है। भाई, तेरा आत्मा ऐसे ही स्वभाववाला है, ऐसे स्वभाव को जानकर उसमें अन्तर्मुख हो तो तुझे धर्म होगा। धर्म के लिए अपने आत्मस्वभाव के अतिरिक्त तुझे अन्य किसी का आधार नहीं है। द्रव्य, गुण और कारणशुद्धपरिणति सदृशरूप से त्रिकालध्रुव है, वह तेरे धर्म का त्रिकालीकारण है। ऐसा कारण तो तुझमें सदैव विद्यमान है ही, किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता—उसका आलम्बन नहीं लेता, इसलिये धर्म नहीं होता। कारण तो है, किन्तु उसे कारण बनाने वाला तो कार्य है। कार्य का अन्य कोई कारण नहीं है, एकमात्र यही कारण है; इस कारण का आलम्बन लेने से निर्मलकार्य प्रगट होता है और तभी कारण का कारणपना सफल होता है।

देखो, यह कारण के साथ कार्य का मेल! अपनी वर्तमान पर्याय को अभेद कारण के साथ मिलाकर यह बात है। एकदम अन्तर का कारण बतलाकर बाह्य कारणों की दृष्टि छुड़ाई है और अन्तरस्वभाव का आलम्बन कराया है।

निमित्त कारणों के आश्रय से कार्य होता है — यह बात तो दूर, रागादि व्यवहार कारणों के तथा पर्याय के आलम्बन से भी निर्मलपर्यायरूप कार्य नहीं होता।

निर्मलपर्यायरूपी कार्य तो एकमात्र कारणपरमात्मा के आश्रय से ही होता है, जोकि अपनी कारणशुद्धपरिणति सहित सदा वर्त रहा है — इसप्रकार अभेदस्वभाव को ही कारणरूप से बतलाकर उसका आलम्बन कराया है और निमित्त राग या पर्याय — तीनों का आलम्बन छुड़ाया है।

यह एक बात समझे तो बाह्यकारणों के सारे झगड़ों का समाधान हो जाये और बाह्य कारणों की दृष्टि छूटकर अन्तरस्वभाव की दृष्टि हुए बिना न रहे। ऐसी अपूर्वदृष्टि प्रगट करनेवाले जीव को बाह्यपदार्थ कारणरूप से कैसे निमित्त होते हैं — वह बात आगे १३वीं गाथा में बतलायेंगे। वहाँ निमित्त बतलाने में भी अलौकिक वर्णन करेंगे। टीकाकार का ढंग ही कोई अनोखा है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि यह अर्थ हम अपनी कल्पना से नहीं करते; गणधरों और श्रुतधरों की परम्परा से भलीभाँति व्यक्त किये गये अर्थ हमें गुरु परम्परा से प्राप्त हुए हैं और इस समय इस परमागम के सार की पुष्ट रुचि से हमारा मन पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित होता है, 'इस जगह ऐसा उपयोग और इस जगह ऐसी कारणशुद्धपरिणति' इसप्रकार इस परमागम के अर्थों का हमारे हृदय में पुनः पुनः मंथन होता है। और इसलिये यह टीका रची जा रही है — ऐसा कहकर टीका में अलौकिक भाव स्पष्ट किये हैं। कुन्दकुन्द भगवान ने मूल सूत्रों में अपूर्व रहस्य भर दिया है और

अध्यात्म में मस्त महामुनि पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में उसे एकदम स्पष्ट किया है, अपूर्व आत्मस्वभाव बतलाया है।

प्रत्येक आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है, उसे यहाँ बड़ी स्पष्टता से बतलाया है। जिसप्रकार समुद्र में पानी का समूह, उसकी शीतलता और उसकी एक-सी सतह — इन तीनोंमय समुद्र ज्यों का त्यों पड़ा-फैला है; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्य का सागर आनन्द का समुद्र है वह द्रव्य, गुण तथा कारणशुद्धपरिणति से ज्यों का त्यों पड़ा-फैला है, वर्तमान वर्तमानरूप से वर्त रहा है, वही निर्मलपर्याय प्रगट होने का कारण है। निर्मलपर्यायरूपी कल्लोल का आधार तो आत्मसमुद्र है।

जिसप्रकार लैंडीपीपर में चौंसठ पुटी (सोलाहों आने परिपूर्ण) चरपराहट भरी है, और उसका वह स्वभाव वर्तमान में भी वर्त रहा है, प्रगटरूप में भले ही कम चरपराहट हो या अधिक हो, उसीप्रकार आत्मा में तीक्ष्ण-उग्र-परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है; द्रव्य सोलह आने परिपूर्ण, गुण सोलह आने परिपूर्ण और कारणशुद्धपरिणति सोलह आने परिपूर्ण — इसप्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है।

वर्तमान में भी ऐसा ही स्वभाव है। उस स्वभावकारण में से मोक्षमार्ग एवं मोक्षरूपी कार्य होता है। द्रव्य-गुण वह सामान्य ध्रुव और उसके साथ की कारणशुद्धपरिणति वह विशेष ध्रुव — ऐसा वर्णन करके यहाँ एकदम निकट का सीधा कारण बतलाया है, कार्य के साथ का तत्कालीन कारण बतलाया है। कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारणरूप से वर्तमान वर्तता हुआ सर्वथा निर्मल अप्रगट कारणस्वभावज्ञानोपयोग है, वह उपयोग त्रिकाल निरुपाधिक है। वह द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल पारिणामिकभाव से विद्यमान है, ऐसे द्रव्य के साथ त्रिकाल सहज अभेदरूप ऐसा सहज उपयोग केवलज्ञान प्रगट होने का कारण है। एकदम अन्तर में ध्रुवकारण की यह बात है।

जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह सकलप्रत्यक्ष है और उसके कारणरूप जो कारणस्वभावज्ञान है, वह स्वरूपप्रत्यक्ष है। कारणस्वभावज्ञान वह आधार है और केवलज्ञान उसके आधार से हुआ कार्य है। यह कारणस्वभाव उपयोग परिणतिरूप होने पर भी ध्रुव है, प्रगट कार्यरूप नहीं है; किन्तु अप्रगट शक्तिरूप है, कारणरूप है। कारणरूप से वह आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्ष वर्तता है।

कुमति आदि तीन ज्ञान अनादि-सांत हैं, सम्यक्मति-श्रुतादि चार ज्ञान सादि-सांत हैं और केवलज्ञान सादि-अनंत है; किन्तु इन किन्हीं भी ज्ञानों में अनादि-अनंत एकरूपता नहीं है, विसदृशता है। इससे रहित जो एक सदृश अनादि-अनंत एकरूप वर्तनेवाला उपयोग है, उसे यहाँ बतलाना है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी द्रव्यों में सदृश एकरूप परिणति पारिणामिकभावरूप से वर्तती है। इसीप्रकार जो जीव की संसार-मोक्ष पर्याय के अतिरिक्त एक सदृशपरिणति उत्पाद-व्यय रहित ध्रुवरूप पारिणामिकभाव से वर्त रही है, वह कार्यरूप नहीं हैं, किन्तु कारणरूप है, सदैव शुद्ध है, उपाधि रहित है, और द्रव्य के साथ सदैव अभेदरूप होने से द्रव्यदृष्टि का विषय है। इस निरपेक्षपरिणति का आगे पन्द्रहवीं गाथा में 'कारणशुद्धपर्याय' कहकर सरस रीति से वर्णन किया है, वहाँ उसे पूज्य कहा है और यहाँ सदृशपरिणतिरूप 'कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग' कहा है।

परमपारिणामिकभाव से विद्यमान त्रिकाल निरुपाधिरूप, कारणस्वभावरूप अर्थात् केवलज्ञान के कारणरूप, स्वरूपप्रत्यक्ष (सकल-प्रत्यक्ष का कारण), सहज, त्रिकाल एकरूप अनादि-अनंत, ये सब

विशेषण कारणस्वभावज्ञान को लागू होते हैं, ये विशेषण केवलज्ञान को लागू नहीं होते। कारणस्वभावज्ञान को ही लागू होते हैं, तथापि यह बात है उपयोगपरिणति की।

देखो, यह आत्मा के उपयोग का अद्भुत वर्णन! इस नियमसार के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसी स्पष्ट बात नहीं आती। देखो, कहाँ से प्रारम्भ करके कहाँ तक लाये हैं ?

यह जीव-अधिकार है। जीव का स्वभाव उपयोग है। उपयोग अर्थात् आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तने वाले परिणाम। उस उपयोग के दो प्रकार हैं। (१) ज्ञान और (२) दर्शन। और ज्ञानोपयोग के 'स्वभाव' और 'विभाव' — ऐसे दो प्रकार हैं। सात तत्त्वों में से एक जीव तत्व में ही इन सर्वप्रकारों का समावेश हो जाता है। इनमें से 'कारणस्वभावज्ञान उपयोग' का यह वर्णन चल रहा है।

जीव के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तता हुआ कारणस्वभावरूप ज्ञानपरिणाम केवलज्ञान का कारण है, त्रिकाल निरावरण है, अमूर्त है, अतीन्द्रिय है। आत्मा में ऐसा उपयोग वर्तमान में वर्त रहा है; किन्तु वह आँखों से दिखाई नहीं देता, मन के विकल्प से भी वह ख्याल में नहीं आता, वह तो अंतर की सूक्ष्मदृष्टि का विषय है। ज्ञानी को उपयोग का स्वसन्मुख कार्य प्रगट होने पर उसके कारणरूप स्वभाव-उपयोग प्रतीति में आ जाता है।

यहाँ स्वभाव उपयोग में कारण और कार्य — ऐसे दो भेद किए, किन्तु विभाव के कारण-कार्य की बात नहीं ली; क्योंकि विभाव का कारणपना सचमुच आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं, विकार का कोई ध्रुव आधार नहीं है। आत्मा की कार्य पर्याय में शुद्ध और अशुद्ध — ऐसे दो प्रकार होते हैं, किन्तु कारणपरिणति तो शुद्ध ही है, उसमें शुद्ध तथा अशुद्ध ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। अहो! आत्मा का स्वभाव तो शुद्धता का ही कारण है, ऐसे स्वभाव को जाने तो उस कारण में से शुद्धकार्य प्रगट हुए बिना न रहे। कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारण पर यहाँ जोर देना है। उस कारण का अवलम्बन करने पर शुद्धकार्य प्रगट होता ही है। बीच में साधकदशा में चार ज्ञान प्रगट होने पर भी साधक का जोर तो त्रैकालिक एकरूप कारणस्वभाव पर ही है। कुमति-कुश्रुत और विभंग यह तीन उपयोग मात्र विभावरूप हैं, वे तो अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं। पहले अज्ञानदशा में जब कारणस्वभाव का भान नहीं था, तब एकान्तविभावरूप उपयोग था, फिर कारणस्वभाव का भान होने पर साधकदशा में सम्यक्मति-श्रुतादि उपयोग प्रगट हुए, साधक-धर्मात्मा की दृष्टि का बल तो एकरूप कारणस्वभाव पर ही है, उस कारण पर जोर देकर एकाग्र होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है।

अब कारणस्वभावज्ञान के जानने का फल बताते हैं —

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्धवा
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में स्थित रहता हुआ शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रवेश कर जाता है, गहराई में उतर जाता है,

वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का अर्थात् मुक्तिसुन्दरी वल्लभ होता है।

भगवान् सर्वज्ञदेव और उनके मार्ग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। अपने स्वभावोपयोग में जिन्होंने तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जान लिया है — ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव ने ज्ञान के यह प्रकार जानकर कहे हैं। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जान ले, उसकी परभावों से भिन्नता और निजस्वरूप में लीनता हुए बिना न रहे।

आत्मा के उपयोग में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान ऐसे दो प्रकारों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करता है अर्थात् कारणस्वभाव ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भावों का अवलम्बन नहीं करता और निजस्वरूप में स्थिर रहता है, कारणपरमात्मा में गहराई तक उतरकर एकदम लीन हो जाता है, वह जीव साक्षात् परमात्मा हो जाता है अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का नाथ हो जाता है।

भाई! यह तो अपूर्व बात है। सर्वज्ञ के मार्ग का आश्रय लेकर जो इसे समझे, उनकी समझ में आ सकती है।

आत्मा में यदि विसदृशरूप सापेक्ष उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें ही हों तथा सदृशरूप निरपेक्ष ध्रुवपरिणति (स्वभावकार परिणाम, कारणशुद्धपर्याय) न हो तो वस्तु की पूर्णता वर्तमान में सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वर्तमान व्यक्तरूप विसदृश पर्यायें न हों तो साधकपना अथवा संसार-मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों प्रकारों को जैसे हैं, वैसा जानना चाहिये। ज्ञान में मतिज्ञानादि विदृश पर्यायें हैं तथा सदृश एकरूप कारणस्वभावज्ञान भी है और उसके अवलम्बन से केवलज्ञान विकसित होता है — इसप्रकार जानना।

प्रश्न :— पर, इन्हें जानकर क्या करें ?

उत्तर :— सर्वज्ञकथित इन भेदों को जानकर जो जीव परभावों को छोड़ता है तथा निजस्वभाव में एकाग्र होता है-अन्तर्मुख होकर स्वभाव में उतर जाता है, उसे मोक्षदशा विकसित-प्रगट हो जाती है। देखो, इसमें त्रिकालीकारण, मोक्षमार्ग और मोक्ष — ये तीनों आ गये। ध्रुवकारण के आश्रय से जो मोक्षदशा हुई, वह सादि-अनंत मंगलरूप है।

“अहो! संत मेरे स्वभाव की अचिन्त्य महिमा समझा रहे हैं” — इसप्रकार जो स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा। अहो! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण-पूर्ण परिपूर्ण है। ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके उसका उल्लास करना सो मोक्ष का कारण है।

जहाँ जीव को स्वभाव की ओर उल्लास जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उत्साह नहीं रहता, इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती हैं, संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह की गति स्वभाव की ओर ढल जाती है।

ऐसा उल्लसित वीर्यवान् जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित यह नियमसार शास्त्र अलौकिक है, इसमें अध्यात्म के अत्यन्त गहरे भाव भरे हैं और टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने सूक्ष्म रहस्यों को खोलकर आत्मा के परमस्वभाव को प्रकाशित किया है।

दसवीं गाथा में आत्मा के उपयोग-लक्षण का वर्णन करते हुए स्वभाव ज्ञानोपयोग के कारण और कार्य — ऐसे दो प्रकार बतलाये थे और उनमें से कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग को परमपारिणामिकभाव से स्थित त्रिकाल निरुपाधिरूप सहजज्ञान कहकर अद्भुत वर्णन किया था। जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व में हो ही गया है।

अब, ११वीं-१२वीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए इस सहजज्ञान का ही (कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग का ही) कार्यस्वभावज्ञानरूप केवलज्ञान की अपेक्षा वर्णन कर रहे हैं, जोकि 'मोक्ष का मूल' और 'उपादेय' है, जिसमें सहजज्ञान के नित्य विलासरूप ऐसे निज आत्मा की भावना करने का उपदेश दिया गया है।

मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं —

केवलमिन्द्रियरहित्यं असहायं तं सहावणाणं त्ति ।

सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११ ॥

सण्णाणं चउभेयं मदिसुद ओही तहेव मणपज्जं ।

अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२ ॥

जो केवलज्ञान इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेदों से विभावज्ञान दो प्रकार का है।

विभावज्ञान में जो सम्यग्ज्ञान है, उसके चार भेद हैं — मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय तथा जो अज्ञान-मिथ्याज्ञान है, उसके तीन भेद हैं — कुमति, कुश्रुत और विभंग।

मति-श्रुतादि चार ज्ञान सम्यक् होने पर भी अभी अधूरे हैं तथा आवरणसहित हैं, इसलिये उन्हें विभावज्ञान कहा है और कुमति आदि तीन ज्ञान तो विपरीतरूप ही हैं, इसलिये उन्हें मिथ्याज्ञान कहा है।

जिसमें इन्द्रियों का आलम्बन नहीं है, कर्मों का आवरण नहीं है, पर की सहायता नहीं है — ऐसा अकेला निरपेक्ष ज्ञान, सो कारणस्वभावज्ञान है। वह स्वभावज्ञान परम-महिमावान है, उसका वर्णन करते हुए कारण और कार्य दोनों को एक ही साथ रखकर टीकाकार अद्भुत बात करते हैं।

'जो निरुपाधि स्वरूपवाला होने से केवल (अकेला, शुद्ध) है; आवरणरहित स्वरूप वाला होने से क्रम, इन्द्रिय और व्यवधान से रहित है; एक-एक वस्तु में व्याप्त न होकर समस्त वस्तुओं को एकसाथ जानता है, इसलिये असहाय है; यह कार्यस्वभावज्ञान है और कारणज्ञान भी ऐसा ही है।'

जीव का उपयोग लक्षण है, उसके भेदों का यह वर्णन है। यह देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है, उसका उपयोग-लक्षण भी अनादि-अनन्त है। उस उपयोग का 'कारणस्वभावज्ञान' नामक एक प्रकार है, वह भी अनादि-अनन्त है। आत्मा के साथ वह त्रिकाल एकरूप वर्तता है, उसके आधार से केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान प्रगट होता है, वह सादि-अनंत है।

यहाँ कहते हैं कि जैसा कार्यस्वभावज्ञान है, वैसा ही कारणस्वभावज्ञान है। यद्यपि कार्यज्ञान तो सादि-अनंत है और कारणज्ञान अनादि-अनंत है — इसप्रकार उनमें अन्तर है; तथापि जैसा 'शुद्धकार्य' प्रगट हुआ है, वैसा ही उसका 'शुद्धकारण' भी त्रिकाल वर्तता है — यह बतलाने के लिये यहाँ ऐसा कहा है कि 'कार्यस्वभावज्ञान जैसा ही कारणस्वभावज्ञान है।' इसप्रकार शुद्धकार्य से ही उसके कारण

की पहिचान कराई है। केवलज्ञानरूपी नवीन कार्य कहाँ से प्रगट हुआ ? तो कहते हैं कि केवलज्ञानरूपी कार्य जैसा ही एक कारणस्वभावज्ञान है, और उस कारणस्वभावज्ञान में से वह कार्य प्रगट होता है।

देखो, इस आत्मा के केवलज्ञानरूप स्वभावकार्य का कारण कोई निमित्त तो है ही नहीं, व्यवहाररत्नत्रय का राग भी कारण नहीं है और मति-श्रुत ज्ञानरूप जो पूर्वपर्याय वह भी परमार्थतः कारण नहीं है; किन्तु आत्मा के साथ त्रिकाल वर्तता हुआ, ऐसा जो कारणस्वभाव है, वही केवलज्ञान का परमार्थकारण है, उसी में लीनता से केवलज्ञान होता है; इसलिये कहा है कि जैसा कार्यस्वभावज्ञान है, वैसा ही कारणस्वभावज्ञान है।

देखो, यहाँ 'कारण जैसा कार्य है' — ऐसा न कहकर 'कार्य जैसा कारण है' ऐसा कहा है; क्योंकि कार्य व्यक्त-प्रगट है, उस प्रगट कार्य द्वारा अप्रगट शक्तिरूप कारण बतलाना है। कार्य से कारण की पहिचान कराते हैं। केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है तो समझो कि भीतर वैसी ही सामर्थ्यवाला कारण विद्यमान है, जैसा कार्य प्रगट हुआ आत्मा में उसका वैसा ही कारण वर्तता है। इसीप्रकार तेरे आत्मा में भी केवलज्ञान का कारण इस समय वर्त रहा है, उस कारण का अवलम्बन लेने से कार्य प्रगट हो जाता है। सामान्यतः लोगों को केवलज्ञानरूप कार्य की महिमा तो आती है, किन्तु वह केवलज्ञानरूप कार्य होने का कारण इस समय भी अपने में विद्यमान है — वह उनके लक्ष्य में नहीं आता, इसलिए बाह्यकारणों में व्यर्थ की दौड़-धूप करते हैं। यदि अन्तर में ध्रुव उपयोगरूप कारणस्वभावज्ञान को लक्ष्य में लेकर उसी को कारणरूप से स्वीकार करे तो उस कारण के अवलम्बन से कार्य हुए बिना न रहे। यह 'कारण' त्रिकाल मौजूद है, किन्तु इस कारण को स्वीकार करनेवाला कार्य तो सादि है। 'कारण की सिद्धि'-सार्थकता तो कार्य से है अर्थात् कार्य होने से कारण की सिद्धि होती है। कारण नया नहीं होता; किन्तु उस 'कारण की सिद्धि' नई होती है, कारण की प्रसिद्धि-पहिचान नई होती है। जबतक कारण के आश्रय से कार्य प्रगट नहीं किया, तबतक कारण की पहिचान-प्रसिद्धि नहीं होती। जिसने कारण के अवलम्बन से कार्य प्रगट किया, उसी को कारण की सच्ची पहिचान तथा प्रसिद्धि होती है।

'कार्य' शब्द ही 'कारण' को सूचित करता है अर्थात् 'कार्य' ऐसा नाम 'कारण' की अपेक्षा रखता है; इसलिये जहाँ कार्य हुआ, वहीं कारण की सिद्धि होती ही है। यहाँ कार्य कहने से मात्र केवलज्ञान नहीं समझना चाहिये, किन्तु स्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहीं कार्य का प्रारम्भ हो गया। सम्यग्ज्ञानरूप कार्य होते ही धर्मी को भान हुआ कि अहो! मेरा कारण तो मुझ में ही है, पहले से ही मुझ में यह कारणरूप स्वभाव तो था ही, किन्तु मुझे उसका भान नहीं था, मैंने उसका अवलम्बन नहीं किया था; इसलिये अभी तक कार्य प्रगट नहीं हुआ था। अब मुझे इस कारण की महिमा ज्ञात हुई है कि अहो! जो केवलज्ञान की कारण है — ऐसी अचिन्त्यशक्ति आत्मा में सदैव वर्त रही है, आत्मा की महिमा ही अचिन्त्य है, शुद्ध चैतन्य तरंगों मेरे आत्मा में सदैव उछल रही हैं — इसप्रकार आत्मा की अचिन्त्य महिमा की प्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट हो जाते हैं।

आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है, उपयोग उसका लक्षण है, वह भी अनादि-अनंत है, जो शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय है तथा वह कारणस्वभाव उपयोग शुद्ध अंतरंग रूप से सदैव वर्तमान अस्तिरूप वर्तता है और उसमें से जो केवलज्ञान प्रगट होता है, वह कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग है। 'उपयोग वह जीव का लक्षण है' — ऐसा कहने से यह दोनों उपयोग उसमें आ जाते हैं।

यहाँ टीकाकार ने कार्य-कारण की अद्भुत संधि बतलाई है। कार्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान; कार्यस्वभावरूप केवलज्ञान में क्रम नहीं है, इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है, अंतराय या आवरण नहीं है तथा अल्पज्ञता नहीं है। अहो! केवलज्ञान के सामर्थ्य की क्या बात? उसमें ऐसा क्रम नहीं है कि एक के बाद एक पदार्थ को जाने, वह तो सबको एक ही साथ अक्रमरूप से जानता है, उसे इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं है। वह अतीन्द्रिय है, किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही जानता है, इसलिये वह असहाय है-स्वाधीन है, उसे किसी कर्म का आवरण या अंतराय नहीं है, उसमें रागादि विभाव नहीं है तथा अमुक को जाने और अमुक को न जाने — ऐसी अल्पज्ञता भी उसमें नहीं है — ऐसा अचिन्त्य महिमावंत कार्यस्वभाव ज्ञान है और कारणज्ञान भी वैसा ही है। केवलज्ञानरूपी कार्य अतीन्द्रिय है, तो उसका कारण भी वैसा ही अतीन्द्रिय है। केवलज्ञान आवरणरहित है, तो कारणज्ञान भी त्रिकाल आवरणरहित है, केवलज्ञान का कभी (प्रगट होने के पश्चात्) विरह नहीं होता, उसीप्रकार कारणज्ञान का भी तीन काल में विरह नहीं है। केवलज्ञान में क्रम नहीं है, उसीप्रकार कारणज्ञान में भी क्रम नहीं है। केवलज्ञान में इन्द्रियों की सहायता पर का अवलम्बन नहीं है, उसीप्रकार कारणज्ञान में भी इन्द्रियों की सहायता या पर का अवलम्बन नहीं है — इसप्रकार केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान में जैसा सामर्थ्य है, वैसा ही अचिन्त्य सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में त्रिकाल है और वह कारणज्ञान आत्मा में त्रिकाल है। अहो! जहाँ कार्य की बात आये, वहाँ त्रैकालिक कारण भी वैसा ही बतलाते जाते हैं। जिसने ऐसे अचिन्त्य महिमावंत अतीन्द्रिय असहाय शुद्ध कारणस्वभावज्ञान का निर्णय किया स्वीकार किया, उसे किसी पर के आश्रय से अपना ज्ञानरूपी कार्य होने की मिथ्याबुद्धि-भ्रमबुद्धि नहीं रहती।

केवलज्ञानरूपी कार्यस्वभावज्ञान की अचिन्त्य महिमा है और कारणज्ञान भी वैसा ही अचिन्त्य महिमावंत है। केवलज्ञानरूप कार्य तो नया प्रगट होता है, किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व ही उसके कारणरूप स्वभावज्ञान वर्त रहा है अर्थात् कारणज्ञान तो अनादि से सदा ही वर्त रहा है — ऐसा धर्मा जानता है। क्या केवलज्ञान निमित्त कारणों में से आयेगा ? नहीं, इसलिये वे सच्चे कारण नहीं हैं। क्या व्यवहाररत्नत्रय के राग में से केवलज्ञान आयेगा ? नहीं, इसलिये वह भी सच्चाकारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान आत्मा में त्रिकाल है, उसी में केवल-ज्ञानरूप कार्य देने की शक्ति है, उस कारण के अवलम्बन से ही कार्य होता है, इसलिये वही सच्चा कारण है आत्मा को ऐसे सामर्थ्यरूप से दृष्टि में-श्रद्धा में लेना सो सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और उसमें लीनता सो सम्यक्चारित्र है और यही मोक्ष का पंथ है। इसके अतिरिक्त जो किसी अन्य बाह्यकारण से मुक्ति का होना मानते हैं, वे संसार के मार्ग में ही खड़े हैं, उन्हें मोक्ष के पंथ की खबर नहीं है।

'कारणज्ञान' निजपरमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहजपरम-चित्शक्तिरूप निज कारणसमयसार के स्वरूप को युगपद जानने में समर्थ है। कार्यज्ञान तो उस

सहजचतुष्टय को जानता ही है और कारणज्ञान में उसे जानने की सामर्थ्य है, इसलिये वह कारणज्ञान भी कार्यज्ञान जैसा ही है। यद्यपि कार्यज्ञान की भाँति कारणज्ञान जानने का प्रगट कार्य नहीं करता, किन्तु उसमें वैसा कार्य प्रगट होने की शक्ति भरी है, यह बतलाने के लिये उसे यहाँ कार्यज्ञान जैसा कह दिया है।

प्रश्न :— छद्मस्थ का ज्ञान तो आवरणयुक्त तथा क्रमवाला ही होता है न ?

उत्तर :— छद्मस्थ को जो आवरण है, वह विभावरूप कार्यज्ञान में है, कारणज्ञान में नहीं है; उसीप्रकार जो क्रम है, वह भी विभावरूप कार्यज्ञान में ही है, कारणज्ञान में नहीं। इन्द्रियों का निमित्त, परोक्षपना आदि भी कार्यज्ञान में ही है, कारणज्ञान में इन्द्रियों का निमित्त या परोक्षपना आदि नहीं है। अहो! छद्मस्थदशा के समय भी केवलज्ञान जैसी ही सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में है, ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति करके उसके सन्मुख परिणमित होते ही जैसा कारण है, वैसा ही कार्य प्रगट हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान हो जाता है। संसारदशा के समय भी कारणस्वभावज्ञान को कोई विघ्न नहीं है और जो ऐसे कारण का अवलम्बन लेता है, उसे केवलज्ञानरूप कार्य होने में विघ्न नहीं आता।

इसप्रकार कारणरूप तथा कार्यरूप ऐसे शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा। उसमें जो कारणस्वभावज्ञान है, वह निश्चयनय का विषय है—द्रव्यदृष्टि का विषय है और जो कार्यज्ञान है, वह व्यवहारनय का विषय है। जिसे कार्यस्वभाव प्रगट हो गया है, उसे स्वयं को कहीं व्यवहारनय नहीं होता; किन्तु दूसरा जीव जब उस कार्य को लक्ष्य में ले, तब उसे व्यवहारनय होता है और जब अपने कारणस्वभावज्ञान को लक्ष्य में ले, तब उसका ज्ञान अन्तरस्वभावोन्मुख होता है अर्थात् उसे निश्चयनय होता है। निश्चयनय का जो ज्ञेय है, वही वास्तव में केवलज्ञान का कारण है और जो व्यवहारनय का ज्ञेय है, वह वास्तव में केवलज्ञान का अथवा सम्यग्दर्शनादि का भी कारण नहीं है। कारणस्वभावज्ञान के अवलम्बन से जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ कारण और कार्य दोनों समान हुए अर्थात् कारण में जैसा सामर्थ्य था, वैसा परिपूर्ण सामर्थ्य कार्य में भी प्रगट हो गया। सम्यक्त्वी को निर्विकल्प आनन्द के वेदन सहित ऐसे कारणस्वभाव की प्रतीति हो गई है, फिर उस कारण में ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आनन्द का वेदन भी बढ़ता जाता है। भाई! यह तो वीतरागी मुनियों के मुख से अमृत झरा है।

देखो, यह गणधरादि संतों की परम्परा में आई हुई बात है। संतो ने अन्तर के सूक्ष्म रहस्य खोले हैं। किसी को विशेष समझ में न आये तो सामान्यरूप से ऐसी महिमा करना चाहिए कि 'अहो! यह तो मेरे स्वभाव की अचिन्त्य महिमा की बात है। संत मेरे स्वभाव की अचिन्त्य महिमा समझा रहे हैं।' इसप्रकार जो इसे सुनकर स्वभाव का बहुमान लायेगा, वह भी कृतकृत्य हो जायेगा।

अहो! आत्मा का स्वभाव प्रत्येक समय में पूर्ण-पूर्ण-पूर्ण-परिपूर्ण है, प्रतिसमय अपने स्वभाव सामर्थ्य से वह परिपूर्ण विराजमान है। ऐसे निजस्वभाव के सामर्थ्य का विश्वास करके, उसका उत्साह करना सो मोक्ष का कारण है। जीव को जहाँ स्वभाव की ओर का उत्साह जागृत हुआ, वहाँ विकार की ओर का उत्साह नहीं रहता; इसलिये विकार की ऊर्मियाँ शांत हो जाती हैं, संसार की ओर का उत्साह टूट जाता है और उसके उत्साह का वेग स्वभावोन्मुख हो जाता है — ऐसा उल्लसित वीर्यवान

जीव अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करता है।

अहो! केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होने के आधाररूप कारणस्वभावज्ञान आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्षरूप से वर्त ही रहा है। यह बात कहाँ से निकली ? कारण के आश्रय से सिद्धदशारूप कार्य को साधते हुए साधक संतों के आत्मा में से यह बात निकली है। जंगल में वास करनेवाले आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनिराज के अन्तर में से ये रहस्य निकले हैं। अंतरंग अध्यात्म की गहराई में से ये प्रवाह निकले हैं। अंतरंगस्वरूप के अनुभव को मुनियों ने प्रकाशित किया है। अत्यन्त निकटरूप से केवलज्ञानरूपी कार्य को साधते हुए उसके कारण की अचिन्त्य महिमा की है कि अहो! यह हमारे केवलज्ञान का कारण है। अंतर में शक्ति के साथ व्यक्ति की संधि करके, कारण के साथ कार्य की संधि करके मुनियों के आत्मा में से सिद्धपद की साधना करते-करते यह अद्भुत ध्वनि उठी है। अहो! सिद्धपद के साधक मुनियों की क्या बात! अलौकिक अध्यात्म के अनेक रहस्य उनके अनुभव की गहराई में भरे हैं। उनमें से बाहर तो कुछ ही आ पाते हैं। अंतर की गहराई में से मुनियों ने अलौकिक रहस्य बाहर निकाले हैं। यह अंतर की अद्भुत बात है।

त्रिकाल कारणस्वभावरूपज्ञान की प्रतीति करने से साधकदशारूप कार्य प्रगट हो जाता है और उसका पूर्ण कार्य तो केवलज्ञान है। त्रिकाल वर्तता हुआ जो स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान है, वही केवलज्ञान का अभेद कारण है, वह ब्रह्मस्वरूप है और उसमें अंतर्मुख होने का यह उपदेश है, इसलिये यह “ब्रह्मोपदेश” है।

कैसा है यह ब्रह्मोपदेश? तो कहते हैं कि संसार के मूल का छेद करने वाला, जो जीव इस ब्रह्मस्वरूप आत्मस्वभाव को जानकर उसमें अंतर्मुख होता है, उसके संसार का छेदन हो जाता है। वेदान्तवाले जो अद्वैत-ब्रह्म कहते हैं — यह उसकी बात नहीं है, विशेष रहित एकान्त अद्वैतसामान्य तो खरगोश के सीगों की भाँति असत् होने से मिथ्या है। यहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके विशेष सहित के सामान्य की कोई अचिन्त्य बात है। जो कार्य हुआ वह विशेष है और उसका जो एकरूप कारण है, वह सामान्य है। इसप्रकार सामान्य और विशेष की एकतारूप अनैकान्तिक वस्तुरूप है।

केवलज्ञान के आधाररूप जो कारणस्वभावज्ञान है, उसे परमपारिणामिकभाव में स्थित कहा है। केवलज्ञान तो क्षायिकभाव में सादि-अनंत स्थित है और यह कारणस्वभावज्ञान परमपारिणामिकभाव में अनादि-अनंत स्थित है। यहाँ कोई ऐसा कहे कि जिसप्रकार क्रोधादि को कर्मोदय की अपेक्षा तो औदयिकभावरूप कहा है, और अन्य की अपेक्षा बिना उन्हें पारिणामिकभावरूप कहा है, उसीप्रकार यहाँ भी कर्मक्षय की अपेक्षा से तो केवलज्ञान को क्षायिकभावरूप कहो और निरपेक्षदृष्टि से उसी को पारिणामिकभावरूप सहजज्ञान कहो ?

नहीं, जो सहजकारणस्वभावरूप ज्ञान है वह तो त्रिकाल निरुपाधिरूप है और वह पारिणामिकभावरूप से सदैव वर्तता है, उसका कभी विरह नहीं है और केवलज्ञान तो नया प्रगट होता है, पहले उसका विरह था। कारणस्वभावज्ञान का पहले भान नहीं था, इस अपेक्षा से उसका विरह कहा जा सकता है, तथापि उस समय भी उसका अभाव नहीं था। कारणज्ञान को तो स्वरूपप्रत्यक्ष कहा है और केवलज्ञान को स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं कहा; किन्तु सकलप्रत्यक्ष कहा है। इसप्रकार केवलज्ञान ही

कारणस्वभावज्ञान नहीं है — ऐसा समझना। ज्ञान का जो त्रिकाल प्रत्यक्षस्वभाव है, उसे यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष, सहजज्ञान अथवा कारणस्वभावज्ञान कहा है।

यह कारणस्वभावज्ञान तो समस्त जीवों में त्रिकाल वर्त ही रहा है। जैसे — सिद्ध भगवन्त लोकाग्र में विराजमान हैं, वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं अर्थात् 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' — ऐसा कहा है, उसमें तो वह शक्ति अपेक्षा से कहा है, कहीं सिद्धभगवन्तों की भांति पूर्णज्ञान-आनन्दरूप सिद्धदशा संसारी जीवों के प्रगट नहीं है, किन्तु यह जो कारणस्वभावज्ञान है, वह तो समस्त जीवों को सदैव वर्त रहा है, वह नया नहीं होता; किन्तु उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान नया प्रगट होता है। त्रिकाल ज्ञानस्वभाव शुद्ध है और उसके आश्रय से होनेवाला केवलज्ञान भी शुद्ध है, एक कारणरूप से शुद्ध है और दूसरा कार्यरूप से शुद्ध है।

यह शुद्धज्ञान कैसा है ? तो कहते हैं कि आनन्ददाता है। उसमें कार्यरूप केवलज्ञान तो सादि-अनन्त आनन्ददाता है और अनन्तचतुष्टय का सादि-अनन्त भोक्ता है तथा कारणरूप शुद्धज्ञान अनादि-अनन्त आनन्ददाता है, त्रिकाल आनन्द के साथ एकमेक है, सहजचतुष्टय के साथ ही सदा शोभायमान हो रहा है।

अनन्त आनन्ददाता केवलज्ञान महिमावान तो है, किन्तु वह प्रगट कहाँ से हुआ ? तो कहते हैं कि कारणस्वभावज्ञान में से। इसलिए इससे भी अधिक महिमा उस कारणस्वभावज्ञान की है। निचलीदशा में केवलज्ञान तो होता नहीं है, किन्तु कारणज्ञान होता है और उस कारण की महिमा लाकर उसमें लीन होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अज्ञानी मात्र पर्याय की महिमा करके बाह्य कारणों की शोध में लगा रहता है; किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने के आधाररूप अपने स्वभाव में जो त्रिकाली कारणज्ञान वर्त रहा है, उसकी महिमा उसे ज्ञात नहीं है। यदि अपने कारणस्वभाव की महिमा आ जाये तो उसके बल से शुद्धकार्य प्रगट हो और बाह्य कारणों की दृष्टि छूट जाय। केवलज्ञान होने से पहले भी अपने में ध्रुव कारणरूपस्वभाव तो है ही, उसकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। तथा उस कारण की महिमा करके उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान विकसित हो जाता है।

जब आत्मा के स्वभाव को पहिचाने, तभी उसकी सच्ची महिमा आती है। आत्मा की पहिचान बिना उसका माहात्म्य पहले से कैसे आ सकता है ? आत्मा क्या है, उसके गुण क्या हैं, उसका स्वभाव क्या है ? — इसप्रकार ज्यों-ज्यों पहिचान होती है, त्यों-त्यों उसकी महिमा आती है। जैसे — किसी चरवाहे को सवा लाख रुपये का सुन्दर हीरा मिल गया हो, किन्तु उसकी पहिचाने के बिना वह उसके माहात्म्य को नहीं जानता। अतः वह तो उसे अच्छे काँच का टुकड़ा मानकर किसी गाय-बकरी के गले में बाँध देगा, किन्तु जौहरी उसे बतलाये कि अरे! यह तो सवा लाख रुपये का हीरा है, तो उसकी पहिचान होने पर वह उसके माहात्म्य को जानकर सुखी होता है। उसप्रकार यहाँ चरवाहा अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, उसके पास महामूल्यवान चैतन्यरत्न है; किन्तु पहिचान न होने के कारण वह उसकी यथार्थ महिमा को नहीं जानता, इसलिये वह तो उसे बकरी के गले की भाँति शुभ-अशुभ राग में ही बाँध देता है; किन्तु जब भेदज्ञानी जौहरी उसे समझाते हैं कि 'अरे मूढ़! यह तेरा चैतन्यरत्न शुभाशुभ राग जितना नहीं है, यह तो ज्ञान-आनन्द-प्रभुता आदि अनन्तगुणों से

परिपूर्ण है, इसमें चैतन्य की प्रभा चमक रही है, उपशांतरस की लहरें उछल रही हैं, अतीन्द्रिय-प्रकाश की किरणें फूट रही हैं।' भेदज्ञानी के समझाने पर जब उसे ऐसा भान होता है, तब उसे उसकी अपार महिमा आती है कि अहो! ऐसा है मेरा चैतन्यरत्न! ऐसी महिमा आने पर वह अपने चैतन्यरत्न को राग के साथ नहीं बाँधता-राग में एकाग्र नहीं करता; किन्तु स्वयं अपने स्वभाव में ही एकाग्र होता है। इसप्रकार आत्मा का स्वरूप जाने तो उसकी यथार्थ महिमा आये और उसमें एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करे।

आत्मा वर्तमान में भी ऐसे परिपूर्ण स्वभाव से भरा है, उसकी महिमा आये बिना किसी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या मोक्षरूपी कार्य प्रगट नहीं होता। इसलिए यहाँ संत आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं कि हे भाई! तेरे आत्मा का स्वभाव किसी समय अधूरा नहीं है। वर्तमान में भी उसका स्वभाव परिपूर्ण है, इसलिए उसमें एकमेकपने की बुद्धि करके उसी का अभेद आलम्बन कर, उसी की महिमा लाकर, उसी में अन्तर्मुख हो, उसी पर जोर दे, उसी को प्रधानता कर, उसी को मुख्य कर, उसी का आश्रय कर, उसी में उत्साह कर, उसी में तत्पर हो, सन्तुष्ट हो, उसी की आराधना कर, उसी का ध्यान कर! तेरा यह स्वभाव सर्व शक्तिमान प्रभु है, उसे कोई दबानेवाला नहीं है, कोई विघ्न-बाधा नहीं है, काल या कर्म उसे आवृत नहीं कर सकते, अनादि-अनंत जब देखो तब वर्तमान में ही वह परिपूर्ण है, तू जिस समय अन्तर्मुख होकर अपने ऐसे आत्मस्वभाव को पकड़े, वह समय तेरा अपना है, वह स्वसमय है। आत्मा में प्रतिसमय पूर्णता विद्यमान हैं, कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता, जब पूर्ण कार्य प्रगट करने के लिये आत्मा में वर्तमान पूर्ण कारण न हो। 'पूर्ण कारण' प्रतिसमय विद्यमान है, उस कारण के स्वीकार से कार्य प्रगट हो जाता है।

देखो, यह अन्तर के कारण-कार्य की सृष्टि। आत्मा के कारणस्वभाव में से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य की सृष्टि-उत्पत्ति होती है। इसमें कार्य तो उत्पाद-व्ययरूप परिणाम है, वह पहले नहीं होता और फिर प्रगट होता है और कारणस्वभाव वह ध्रुवरूप परिणाम है, वह सदैव विद्यमान है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है अर्थात् वह प्रगट पर्याय में नहीं आता, नित्य कारणरूप विद्यमान रहता है। केवलज्ञान के कारणरूप जो ध्रुव ज्ञानपरिणाम है, उसे सहज स्वभावज्ञान अथवा स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, उसमें आत्मा के सहजचतुष्टय को युगपत् जानने की सामर्थ्य त्रिकाल है, उस त्रिकाल के साथ वर्तमान की एकता होने से वह वर्तमान पर्याय भी पूर्ण सामर्थ्यरूप से परिणमित हो जाती है। इसमें से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

- (१) त्रिकाल सामर्थ्य में से वर्तमान आता है।
- (२) ध्रुव के आश्रय से ही उत्पाद होता है।
- (३) द्रव्य में से पर्याय आती है।
- (४) कारण के आश्रय से कार्य होता है।
- (५) शक्ति में से व्यक्ति होती है।
- (६) प्राप्त की प्राप्ति होती है।
- (७) निश्चय के आश्रय से मुक्ति होती है।

- (८) ज्ञायकस्वभावी आत्मा विकार का अकर्ता है।
 (९) आत्मा की शक्तियाँ बाह्य कारणों से अत्यन्त निरपेक्ष हैं।
 (१०) आत्मा और प्रत्येक परद्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है।

इनमें से किसी भी एक बोल का निर्णय करने पर सभी बोलों का निर्णय हो जाता है और यह जैनशासन की मूलवस्तु है, इसको समझे बिना जैनधर्म का रहस्य समझ में नहीं आता और अन्तर्मुख हुए बिना आत्म-वस्तु समझ में नहीं आती।

आत्मा स्वयं परमस्वरूप होने से परमात्मा है। उसमें सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख तथा सहज-परमचित्तशक्ति त्रिकाल विद्यमान है, वह कारणसमयसार स्वरूप है।

यहाँ जो सहज चतुष्टय को कारणसमयसार कहते हैं, वही कारणपरमात्मा है और वह त्रिकाल एकरूप है, उसके आश्रय से अनन्तचतुष्टयरूप कार्यसमयसारपना प्रगट होता है और 'समयसार' आदि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित आत्मा को 'कारणसमयसार' कहते हैं — वह दूसरी बात है, उसमें तो मोक्षमार्ग की बात है। आत्मा मोक्ष के कारणरूप मोक्षमार्गरूप में परिणमित हुआ इसलिए उसे 'कारणसमयसार' कहा है। वास्तव में जो ध्रुवरूप कारणसमयसार है, वही मोक्ष का निश्चयकारण है और यह जो मोक्षमार्गरूप कारणसमयसार है, वह व्यवहार से मोक्ष का कारण है।

देखो, यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहना, उसे भी व्यवहार कहा है; क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय कहीं मोक्षदशा को नहीं लाती, एक पर्याय के आश्रय से दूसरी पर्याय नहीं होती। मोक्षमार्ग की पूर्णता होने पर मोक्ष होता है — ऐसा नियम है, किन्तु वह मोक्ष किसके आश्रय से होता है ? यह यहाँ बतलाना है। पूर्व का साधकभाव कहीं साध्य को बलात्-जबरन् परिणमित नहीं करता, किन्तु साध्यपर्याय स्वयं स्वभाव का आश्रय करके स्वतः परिणमित होती है।

प्रश्न :— यदि साधकभाव साध्यभाव को परिणमित नहीं करता, तो फिर उस पूर्वभाव को साधक क्यों कहा ?

उत्तर :— क्योंकि पूर्वकालीन साधकभावपूर्वक ही साध्यभाव प्रगट होता है, इसलिये पूर्वभाव को साधक कहा है। जैसे — सम्यक्मति-श्रुतज्ञानपूर्वक ही केवलज्ञान होता है, ऐसा पूर्व-उत्तरभाव बतलाने के लिए मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का साधक कहा है; किन्तु केवलज्ञान कहीं मति-श्रुतज्ञान के आधीन नहीं है। मति-श्रुतादि साधकभाव भी केवलज्ञानरूपी साध्यभाव को जबरन परिणमित नहीं करते, तो फिर व्यवहार, राग या निमित्तादि की तो बात ही कहाँ रही ? यहाँ तो एकदम अन्तर्मुखता की बात करते हैं कि अरे जीव! अपने केवलज्ञान के कारण को अपने स्वभाव में ही ढूँढ, तेरा कारणस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है। जहाँ अन्तर्मुख होकर ऐसे कारण में लीन हुआ, वहाँ 'यह मेरा कारण और यह मेरा कार्य' — ऐसे कारण-कार्य के भेद के विकल्प भी नहीं हैं।

कारणस्वभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान — इसप्रकार स्वभावज्ञान के दो प्रकार कहे हैं। विभावज्ञान सम्यक् और मिथ्या — ऐसे दो प्रकार का है; उसमें से सम्यग्ज्ञान के मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय — ऐसे चार भेद हैं तथा मिथ्याज्ञान के कुमति-कुश्रुत और विभंग — ऐसे तीन भेद हैं।

इसप्रकार ज्ञान के कुल नौ प्रकार हुए। इनमें से कौन-सा ज्ञान किन जीवों को होता है, सो

कहते हैं —

कारणस्वभावज्ञान तो समस्त जीवों को त्रिकाल होता है और कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान अरहंत और सिद्ध भगवन्तों को होता है।

परमभाव में स्थित ऐसे सम्यग्दृष्टि एवं साधक को ही मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्यय यह चार सम्यग्ज्ञान होते हैं, अवधिज्ञान किसी-किसी सम्यक्त्वी को ही होता है और मनःपर्यय तो किन्हीं विशिष्ट संयमधारी मुनिवरों को ही होता है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को कुमति, कुश्रुत और विभंग यह तीन मिथ्याज्ञान होते हैं; उनमें से विभंगज्ञान किसी-किसी मिथ्यादृष्टि को ही होता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि आदि को 'परमभाव में स्थित' कहा है। सम्यक्त्वी किसी राग व्यवहार में अथवा औदयिकादि भावों में स्थित नहीं है, किन्तु परमभाव में ही स्थित है। 'परमभाव' अर्थात् आत्मा का त्रिकाली पारिणामिक स्वभाव; उसमें जिसने अपनी दृष्टि को एकाग्र किया है, वह सम्यग्दृष्टि है और जिसकी दृष्टि रागादि में एकाग्र है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि परमभाव में स्थित है। किसी सम्यक्त्वी को अवधि या मनःपर्ययज्ञान हो अथवा न हो; कोई चौथे गुणस्थान में हो, कोई पाँचवें में हो अथवा कोई छठे-सातवें आदि गुणस्थान में हो; किन्तु वे सभी सम्यक्त्वी 'परमभाव' में स्थित होते हैं।

शरीरादि तो जड़ तथा पर हैं, पुण्य-पाप विकार हैं, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभाव हैं—ये तो परमभाव हैं ही नहीं, केवलज्ञान भी परमभाव नहीं है। परमभाव तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है अर्थात् आत्मा का जो एकरूप परमपारिणामिक स्वभाव है, वही 'परमभाव' है। वह सदा शुद्ध है, वही केवलज्ञान और सम्यग्दर्शनादि का आधार है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे परमभाव की भावना में ही स्थित होते हैं। जो किसी निमित्त, संयोग, विकार या क्षणिकभाव की भावना में स्थित है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो बाह्यपदार्थों के अवलम्बन से धर्म मानता है, वह जीव परमभाव में स्थित नहीं है; वह तो बाह्यपदार्थों में ही स्थित है। उसीप्रकार जो राग के अवलम्बन से धर्म मानता है, वह राग में स्थित है, वह परमभाव में स्थित नहीं है; इसलिए वह ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जिसे एकसमय में परिपूर्ण आनन्दकन्द ऐसे अपने परमस्वभाव की प्रतीति और भावना नहीं है, और रागादि बाह्यभावों-परभावों से लाभ मानकर जो उनकी भावना भाता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उस मिथ्यादृष्टि के ज्ञानादि भी मिथ्या होते हैं; क्योंकि त्रिकाल एकरूप, ध्रुव, कारणस्वभावरूप परमभाव की भावना से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

देखो, यह विकल्पयुक्त भावना की बात नहीं है, किन्तु परमभाव के आश्रय से जो भवन-परिणमन हुआ, उसकी बात है तथा वही सच्ची भावना है और वही मोक्षमार्ग है। विकल्प की भावना तथा विकल्प से भावना भाना मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख निर्विकल्प पर्याय से आत्मा के परमस्वभाव की भावना, वह मोक्षमार्ग है। परमस्वभाव में एकाग्र होकर जो पर्याय परिणमित हुई, उसने परमस्वभाव की भावना भायी — ऐसा कहा जाता है। तद्रूप परिणमन के बिना मात्र विकल्प से भावना भाये, वह सच्ची भावना नहीं है। छठे-सातवें गुणस्थान में बारम्बार निर्विकल्प आनन्द में झूलते हुए भावलिंगी

संत हो अथवा छियानवें हजार रानियों के बीच रहनेवाले चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हों — दोनों को आत्मा के परमभाव की ही भावना होती है, उनके रागदि परभावों की भावना नहीं होती, इसलिये वे राग में स्थित नहीं हैं, किन्तु परमभाव में ही स्थित हैं। सम्यक्त्वी को राग हो, उस समय भी उन्हें उस राग की भावना नहीं होती, किन्तु परमभाव की ही भावना होती है और ज्यों-ज्यों वह भावना उग्र होती जाती है, त्यों-त्यों गुणस्थान में भी वृद्धि होती जाती है और इसी उपाय से केवलज्ञान होता है। मात्र बाह्यक्रिया अथवा कषाय की मंदता देखकर गुणस्थान का माप नहीं होता।

जो अपने परमभाव को नहीं जानता और रागादि परभावों को ही अपने स्वभावरूप से मानता है, उसे स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान नहीं होता; उसे तो मिथ्याज्ञान ही होता है। रागादि से अथवा निमित्तों से लाभ माननेवाला जीव एकान्त परज्ञेय सन्मुख रहता है और परभावों में ही वर्तता है, किन्तु स्वभावोन्मुख होकर स्वज्ञेयरूप ऐसे अपने परमभाव को वह नहीं जानता, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इसप्रकार जो परमभाव की भावना में स्थित है, वही सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है तथा जो परमभाव की भावना में स्थित नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है-अज्ञानी है।

इसप्रकार नौ प्रकार के ज्ञान में कौन-सा ज्ञान किसे होता है — यह बतलाया। अब उसके प्रत्यक्ष और परोक्षपने का वर्णन आगे करेंगे, उसमें 'स्वरूप-प्रत्यक्ष' ज्ञान की अद्भुत बात आयेगी।

यह नियमसार की ११-१२वीं गाथा चल रही है। इनमें पहले तो ज्ञान के नौ प्रकार बतलाये, फिर उनमें कौन-सा ज्ञान किस जीव को होता है — यह बतलाया; अब उसमें कौन-सा ज्ञान प्रत्यक्ष है और कौन-सा परोक्ष है ? यह बतलाते हैं।

पहले जो कारणस्वभावज्ञान कहा, वह सहजज्ञान है। आत्मा के शुद्ध अन्तःस्वरूप में सदैव विद्यमान होने से वह स्वरूपप्रत्यक्ष है। उसकी परम महिमा बतलाते हुए टीकाकार आगे कहेंगे कि यह सहजज्ञान मोक्ष का मूल है, उपादेयरूप है और उस सहजज्ञान के विकासरूप से आत्मा को भाना चाहिये।

यहाँ सहजज्ञान का वर्णन 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहकर किया है। कोई ऐसा समझे कि यह 'स्वरूपप्रत्यक्ष' केवलज्ञान का विशेषण है, तो उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं है; केवलज्ञान तो 'सकलप्रत्यक्ष' है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान आत्मा में सदैव वर्तता है, यह परम आदरणीय है। तीन अज्ञान तो छोड़ने जैसे ही हैं, चार सम्यग्ज्ञान भी आश्रय करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि उस अपूर्ण ज्ञान के आश्रय से पूर्ण ज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान तो साधक को है नहीं, इसलिये उसका भी आश्रय नहीं होता। साधक को आदरणीय तो परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही है और सहजज्ञान स्वरूपप्रत्यक्ष होता है।

इसप्रकार केवलज्ञान के ध्रुवकारणरूप यह सहज स्वरूपप्रत्यक्ष ही आदरणीय है। यह ज्ञान शुद्धतत्त्व में सदैव व्यापक है, उसमें कभी अशुद्धता या आवरण नहीं है तथा उसका कभी विरह भी नहीं है।

केवलज्ञान तो एकसाथ सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञाता होने से सकल-प्रत्यक्ष है और सहजज्ञान

सदैव आत्मस्वरूप में विद्यमान होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है तथा स्वरूपप्रत्यक्ष सो सकलप्रत्यक्ष का कारण है; इसलिये उसे 'कारणस्वभावज्ञान' अथवा तो 'ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय' भी कहते हैं।

प्रश्न :— यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो केवली भगवान को ही होता है न ?

उत्तर :— नहीं, यह ज्ञान तो समस्त जीवों में त्रिकाल विद्यमान है। अज्ञानदशा में भी इस स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व होता ही है, किन्तु अज्ञानी को उसका भान न होने से उसे उसका कार्य प्रगट नहीं होता। साधक को उसका भान है; केवलज्ञान होने से पूर्व भी उसे प्रतीति हो गई है कि केवलज्ञान का कारणरूप ज्ञान मुझ में ही वर्त रहा है; उस कारणज्ञान के आश्रय से ही मेरा केवलज्ञानरूप कार्य होगा — इसके सिवा अन्य कोई मेरे केवलज्ञान का कारण नहीं है। यह सहजस्वभावरूप स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान अन्तर्दृष्टि का विषय है; वह सम्यक्त्वी को ही प्रतीति में आता है। 'इसे स्वरूपप्रत्यक्ष कहते हैं' — ऐसे नाम की खबर कदाचित् सम्यक्त्वी को भले न हो; किन्तु अन्तर्मुख वेदन से जो प्रतीति हुई, उसमें इस स्वरूपप्रत्यक्ष की प्रतीति आ जाती है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है, किन्तु वह आत्मा का ही स्वभाव है; इसलिये आत्मस्वभाव की प्रतीति में वह भी आ जाता है।

जैसे — लैंडी पीपर का स्वभाव चरपरा है और चौंसठपुटी चरपराहट का प्रगट होना उसका पूरा कार्य है। वह कार्य प्रगट होने से पूर्व भी चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होने के कारणरूप एक स्वभाव उसमें वर्तमान वर्त रहा है। उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और प्रगट केवलज्ञान उसका पूर्ण कार्य है; वह केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होने से पूर्व भी केवलज्ञान प्रगट होने के कारणरूप स्वभावज्ञान उसमें शक्तिरूप नित्य विद्यमान है, वह सहज है, स्वरूपप्रत्यक्ष है।

मति-श्रुतज्ञान को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा जाता है, यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ तो स्वरूपप्रत्यक्ष की बात है। मति-श्रुतज्ञान जब अन्तर्मुख होकर आत्मा का वेदन करते हैं, तब उन्हें इन्द्रियादि का अवलम्बन छूट जाता है; इसलिये स्वसंवेदन में उन मति-श्रुतज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा है, वे क्षायोपशमिकभाव हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है, वह क्षायिकभाव तथा सहजज्ञान 'स्वरूप-प्रत्यक्ष' है, वह पारिणामिकभाव है। इसकारण स्वभावज्ञान में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव नहीं है।

यह सहज स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान सदैव पारिणामिकभावरूप से स्थित है, इसलिये वह जानने का कार्य नहीं करता; कारण कि वह कार्यरूप प्रगट नहीं है, किन्तु नित्य-शक्तिरूप-कारणरूप है; कारणरूप से उसमें पूर्ण सामर्थ्य है और उसके आश्रय से पूर्ण कार्य (केवलज्ञान) प्रगट हो जाता है।

जिसमें कारणरूप से पूर्ण सामर्थ्य है, ऐसा स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो समस्त जीवों में है; किन्तु उसका जो यथार्थरूप से स्वीकार करे उसे सम्यग्ज्ञान होकर, अनुक्रम से उसी के आश्रय से सकलप्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है। तथा जिसे अपने ऐसे ज्ञानसामर्थ्य का भान नहीं है और जो इन्द्रियों को ही अपने ज्ञान के साधनरूप स्वीकार करता है, वह मूढ़ प्राणी मात्र इन्द्रियज्ञानरूप मिथ्याज्ञान द्वारा संसार में ही भटकता है। इस स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान के स्वीकार द्वारा मोक्ष होता है, इसलिये यह ज्ञान मोक्ष का मूल है। दसवीं गाथा में जिसे कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा, उसी को यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष

सहजज्ञान कहा है; वह आत्मा का परमस्वभाव है और मोक्ष का मूल है; इसलिए उपादेय है।

केवलज्ञान तो नवीन होता है, इस समय साधकदशा में तो उसका विरह है, इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं है। सहजज्ञान तो आत्मा में त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है, उसका कभी विरह नहीं है; इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष है तथा वह सम्यग्दर्शन का विषय है। उसके अवलम्बन से जो नवीन निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह भी अभेदरूप से सम्यग्दर्शन के विषय में आ जाती है। निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन के विषय से पृथक् नहीं रहती; पर दृष्टि में गौण रहती है।

जिसप्रकार धर्म-अधर्म आकाश आदि त्रिकाल पारिणामिकभाव से वर्तते हैं, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव भी त्रिकाल पारिणामिकभावरूप से वर्तते हैं। कर्म की अपेक्षावाले जो चार भाव हैं, वे व्यवहारनय के विषय हैं और पारिणामिकस्वभाव निश्चयनय का विषय है। ज्ञान का जो परमपारिणामिकस्वभाव है, वही केवलज्ञान का आधार है। यहाँ जिसप्रकार ज्ञानगुण की बात की, उसीप्रकार श्रद्धा, आनन्द आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना।

आगे पन्द्रहवीं गाथा में पूर्णद्रव्य के पारिणामिकभावरूप शुद्ध-पर्याय की बात आयेगी, वह शुद्ध कार्य प्रगट होने का मूल कारण होने से टीकाकार मुनिराज उसे 'पूज्य परिणति' कहेंगे, यद्यपि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान आदि परिणति भी पूज्य है, किन्तु यहाँ तो आत्मा के साथ सदैव वर्तती हुई पूज्य परिणति की बात है अर्थात् पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई परिणति की बात है।

ज्ञान की पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई सहज परिणति तो स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सम्पूर्णप्रत्यक्ष है। इसप्रकार दो ज्ञानों की बात की; अब शेष ज्ञानों में प्रत्यक्ष-परोक्षपना किसप्रकार है, सो कहते हैं —

'रूपिष्ववधेः' ऐसा सूत्र का वचन होने से अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष है अर्थात् वह रूपी पदार्थ को ही प्रत्यक्ष जानता है और मनःपर्ययज्ञान भी उसके अनन्तवें भाग को जानता है; पर अवधिज्ञान की अपेक्षा उसमें निर्मलता अधिक होती है, वह भी विकलप्रत्यक्ष है। साधक का उपयोग जब आत्मा की ओर होता है, तब उसे मति-श्रुतिज्ञान होते हैं, अवधि या मनःपर्ययज्ञान का व्यापार उस समय नहीं होता। अवधि और मनःपर्ययज्ञान तो परविषयों को ही जानते हैं और उनमें भी रूपीपदार्थों को ही जानते हैं। मनःपर्यय यद्यपि मन सम्बन्धी सूक्ष्म परिणामों को भी प्रत्यक्ष जानता है, किन्तु वे परिणाम रूपी मन के सम्बन्ध में होने से उन्हें यहाँ मूर्त माना गया है। इसप्रकार अवधि और मनःपर्ययज्ञान आंशिक प्रत्यक्ष है। मनःपर्ययज्ञान तो किन्हीं विशिष्ट मुनियों को ही होता है; उसमें महान सामर्थ्य है; तथापि वह भी एकदेश-प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है और अवधि, मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं। मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान की अपेक्षा अल्प है, परन्तु वह अवधिज्ञान की अपेक्षा अनन्तगुनी सूक्ष्मता को भी जान सकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थतः परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं। यहाँ पर-विषयों की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है — ऐसा जानना। स्व-विषय की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान भी वास्तव में प्रत्यक्ष हैं। पर-विषयों को इन्द्रिय और मन के अवलम्बनपूर्वक अस्पष्ट जानते

हैं, इसलिए उन ज्ञानों को परोक्ष कहा है और व्यवहार से इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष जानती हैं, इस अपेक्षा व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा है, किन्तु इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष हुआ वह वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु परोक्ष ही है; इसलिये निश्चय से वे मति-श्रुतज्ञान पर जो परोक्ष ही जानते हैं और स्व-विषय को स्व-संवेदनपूर्वक प्रत्यक्ष जानते हैं, स्व-विषय को जानने में इन्द्रियों का तथा मन का अवलम्बन नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होते समय मति-श्रुतज्ञान में आत्मा को जो स्वसंवेदन होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। आत्मवेदन में तो सम्यक्त्वी के मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष हैं। निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष संवेदन हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। चौथे गुणस्थान में गृहस्थदशा में विद्यमान अविरत सम्यग्दृष्टि को भी निर्विकल्प अनुभवरूप स्व-संवेदन दशा में मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। पंचाध्यायी आदि में भी यह बात स्पष्ट की है।

मति-श्रुतज्ञान परविषयों को जानने में इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन-पूर्वक वर्तते हैं और वह भी अस्पष्ट जानते हैं; इसलिये उन्हें परोक्ष कहा है। वहाँ अज्ञानी जीव इन्द्रियों के कारण ही उस ज्ञान का होना मान लेता है। उसकी इस मान्यता का खण्डन वीरसेन स्वामी ने जयधवला में अत्यन्त सरस युक्ति से किया है। वहाँ तो कहते हैं कि यदि इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होना मानोगे तो आत्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

शंकाकार कहता है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञानादि को केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता।

उसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा नहीं है; मतिज्ञानादि इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु वे सामान्यज्ञान में से ही विशेषज्ञानरूप उत्पन्न होते हैं। यदि ज्ञान का इन्द्रियों से उत्पन्न होना मान लिया जाये तो इन्द्रिय-व्यापार से पहले जीव के गुणस्वरूप ज्ञान का अभाव हो जाने से गुणी ऐसे जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है।

तब शंकाकार पुनः तर्क करता है कि इन्द्रिय-व्यापार से पूर्व जीव में ज्ञानसामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नहीं रहता, ज्ञानविशेष तो इन्द्रियों के व्यापार द्वारा होता है — इसप्रकार जीव का अभाव नहीं होता।

उसके समाधान में कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान-सामान्य से ज्ञानविशेष पृथक् नहीं है। जीव का ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेषरूप से परिणमित होकर विशेषज्ञान होता है; इन्द्रियों के कारण विशेषज्ञान नहीं होता।

वहाँ 'कषायप्राभृत' में प्रकरण तो केवलज्ञान की सिद्धि का है। वहाँ अन्तर की अलौकिक युक्ति देकर आचार्य भगवान केवलज्ञान को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि केवलज्ञान असिद्ध नहीं है; क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधरूप से उपलब्धि होती है। मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान के अंशरूप हैं और उसकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सबको होती है, इसलिए केवलज्ञान के अंशरूप अवयवों के प्रत्यक्ष होने से केवलज्ञानरूप अवयवी को परोक्ष कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से चक्षु द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है — ऐसे स्तम्भ की भी परोक्षता का प्रसंग आ जाता है। अहो! मतिज्ञान के स्वसंवेदन में केवलज्ञान का विरह नहीं

है, मतिज्ञान की संधि केवलज्ञान के साथ है; मतिज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हुआ, वहाँ केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष हो गया। देखो, यह सन्तों की वाणी! संतों ने पंचमकाल में केवलज्ञान का विरह भुला दिया है।

मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहने पर भी वे ज्ञान कहीं इन्द्रियों से नहीं होते; वे भी स्वयं से ही होते हैं। देखो, व्यंजनावग्रह मतिज्ञान का छोटे से छोटा प्रकार है, वह भी स्वयं से ही होता है। इन्द्रियों से या शब्दों से ज्ञान होता है — यह तो स्थूल भूल है। यहाँ तो एकदम अंतरंग गहराई की बात है। यहाँ तो ज्ञान का मूल कारण बतलाया है, केवलज्ञान का मूल बतलाया है। अहो! परिपूर्ण सामर्थ्यरूप से सदैव प्रवर्तमान स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान ही मेरे केवलज्ञान का कारण है — ऐसा जो जानता है, वह इन्द्रियादि को अपने ज्ञान का कारण नहीं मानता; इसलिये उसे परोक्षता दूर होकर स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान के आधार से सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

इसप्रकार ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्षपने का वर्णन किया। अब इन ज्ञानों में से कौन-सा ज्ञान आदरणीय है, सो आगे कहेंगे।

यह नियमसार की ११वीं १२वीं गाथा चल रही हैं; उसमें आत्मा उपयोगस्वरूप है उसके ज्ञानोपयोग के प्रकार कहे, फिर उनमें से कौन से प्रकार किसे होते हैं — यह कहा और पश्चात् उसमें प्रत्यक्ष परोक्षपने का वर्णन किया।

“तथा विशेष यह है कि उपरोक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निज परमतत्व में स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है; तथा वह सहजज्ञान अपने पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्य का परमस्वभाव होने से, सहजज्ञान के सिवा अन्य कुछ उपादेय नहीं है।”

देखो, यह उपादेयतत्व का वर्णन! उपादेय क्या है कि जिसके आश्रय से मुक्ति हो। जड़ देहादि की क्रिया या राग तो उपादेय नहीं है और ज्ञानादिक क्षणिकभाव भी उपादेय नहीं है अर्थात् वे आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि उनका आश्रय करने से राग होता है, मुक्ति नहीं होती। आत्मा के परमस्वभावरूप जो सहजज्ञान है, वही उपादेय है; उसके आश्रय से केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए वही मोक्ष का मूल है और वह ज्ञान आत्मा के परमतत्व में सदैव वर्त रहा है।

यहाँ तो महा मुनिराज स्पष्ट कहते हैं कि अहो! ऐसे ज्ञान के सिवा अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। इस सहजज्ञान का आश्रय करना ही साक्षात् मोक्ष का मूल है और व्यवहार का, राग का, निमित्त का आश्रय करना वह मोक्ष का कारण नहीं; किन्तु संसार का कारण है।

यहाँ सहजज्ञान को ही मोक्ष का मूल कारण कहा है, क्योंकि उसमें लीनता से ही मोक्ष होता है। उससे नीचे के जो चार ज्ञान हैं, उन्हें मोक्ष का कारण नहीं कहा; क्योंकि उनका तो अभाव होकर केवलज्ञान होता है, इसलिये वे परमार्थतः मोक्ष के कारण नहीं हैं और केवलज्ञान तो स्वयं मोक्षस्वरूप है; परन्तु साधक को यह केवलज्ञान नहीं होता। सहजज्ञान सदैव पारिणामिक स्वभाव से वर्त रहा है, वह त्रिकाल मोक्षस्वरूप है और उसमें लीन होने से पर्याय में मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। इसप्रकार मोक्ष का मूल ऐसा यह सहजज्ञान ही उपादेय है।

वीतरागी मुनिराज उपदेश देते हैं कि हे भव्य! यह सहजज्ञान तेरा परमस्वभाव है; इसलिये

अन्तर्मुख होकर उसी को तू उपादेय कर! वह सहजज्ञान तेरा पारिणामिक स्वभाव है, वह कभी तुझसे पृथक् नहीं होता। जिसका कभी विरह नहीं है, ऐसा यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का मूल है। वर्तमान दशा में केवलज्ञान तो है नहीं, वह तो प्रगट करना है, साधक को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है, वह परम्परा मोक्ष का कारण है; किन्तु वह साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। तो साक्षात् मोक्ष के कारणरूप से कौन-सा ज्ञान विद्यमान है — वह यहाँ बतलाते हैं।

पारिणामिकभाव से आत्मा के निजतत्त्व में त्रिकाल लवलीन वर्तता हुआ ऐसा सहजज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, इसलिये वही उपादेय है। जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार के अनेक पक्षों को जानकर उसमें शुद्धनिश्चय ही उपादेय है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि ज्ञान के समस्त प्रकारों में यह परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही उपादेय है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है। ज्ञान के क्षणिकभाव उपादेय नहीं है, किन्तु ज्ञान का एक ऐसा सहजभाव जोकि सदैव सदृशरूप वर्तता है, ध्रुवरूप है, परमस्वभावरूप है — ऐसा परमस्वभाव ही उपादेय है।

इस समय यहाँ ज्ञान का वर्णन चल रहा है, इसलिये उसकी बात की है; किन्तु उस ज्ञान की भाँति श्रद्धा-आनन्दादि सर्वगुणों में भी जो सहजस्वभावरूप भाव वर्तता है, वही परम उपादेय है — ऐसा समझना। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि समस्त गुणों में अपना-अपना सहजभाव एकरूप सदृश परिणति से अनादि-अनंत वर्त रहा है और वह 'वर्तमान वर्तता हुआ सहजभाव' ही उस-उस गुण की पूर्णदशा का देनेवाला है।

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जो सहज आनन्द का वेदन हुआ तथा तेरहवें गुणस्थान में वैसे ही परिपूर्ण आनन्द का वेदन हुआ, उस आनन्द का देनेवाला कौन ? 'आनन्द' का जो सदा एकरूप सहजभाव वर्तता है, वही प्रगट आनन्द का देनेवाला है। आनन्द का जो यह सहजभाव त्रिकाल वर्तता है वह स्वयं वेदनरूप नहीं है, शक्तिरूप है; किन्तु उसके आश्रय से आनन्द का वेदन नवीन प्रगट होता है, इसलिये वह सहजभाव आनन्द का मूल है।

इसीप्रकार ज्ञान व आनन्द की भाँति श्रद्धा आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना चाहिए। आत्मा का ऐसा सहजस्वभाव ही उपादेय है। अहो! यह कोई अद्भुत बात है, जिसके अंतर में यह सहजस्वभाव की महिमा आ गई, उसके आत्मा में मोक्ष का बीजारोपण हो गया।

आत्मा में पारिणामिकभाव से स्थित, सहजभाव से सदा वर्तता हुआ ऐसा स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान वह मोक्ष का मूल है, वह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है, किन्तु उसका आश्रय करने से मोक्षमार्ग तथा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। मतिज्ञान के अथवा केवलज्ञान के समय भी वह सदा एकरूप वर्तता है, उसका परिणमन सदृशरूप है, उसमें हीनाधिकता नहीं होती। परिणमन होने पर भी वह कार्यरूप नहीं है, किन्तु त्रैकालिक शक्तिरूप, कारणरूप है। 'परिणमन' कहकर यहाँ उत्पाद-व्यय सूचित नहीं करना, किन्तु उसका प्रतिसमय विद्यमानपना सूचित करना है।

अहो! मुनियों के आत्मा से जो अमृत झरा है, यह अचिन्त्य एवं अपूर्व बात है। भारतवर्ष के लिये इस समय यह बात बिल्कुल नई है, जिसका महाभाग्य हो उसे यह बात सुनने को मिलती है

और जिसके अन्दर में यह बात जम गई, उसका तो पूछना ही क्या, उसका तो बेड़ा पार हो गया।

यह तो अन्दर के सूक्ष्म रहस्य की बात है, इसमें दृष्टान्त भी क्या दिया जाये। दृष्टान्त देकर समझाने से स्थूलता हो जाती है, तथापि साधारणरूप से लैंडी पीपर के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

जिसप्रकार लैंडी पीपर का चरपरा स्वभाव है; उस स्वभाव का, चौंसठपुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है। व्यक्तरूप में भले एकपुटी चरपराहट हो अथवा चौंसठपुटी हो; चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति तो परिणमित हो ही रही है। पुद्गलों में जो रसगुण है, वह तो सामान्य है; किन्तु लैंडी पीपर में जो चौंसठपुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन है, वह तो एक मुख्यभाव है।

उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञता की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है। यदि वह शक्तिरूप परिणमन न हो तो सर्वज्ञता की व्यक्ति कहाँ से होगी ? यहाँ वर्तमान कार्य का आधार भी वर्तमान ही है — ऐसा बतलाना है।

व्यक्तरूप में भले मतिज्ञान हो या केवलज्ञान हो, किन्तु सर्वज्ञता की शक्ति तो ज्ञान में परिणमित हो ही रही है। ज्ञानगुण को त्रिकाल सामान्य लेना चाहिये और उस ज्ञान में सर्वज्ञता की कारणरूप शक्ति वर्तमान में भी वर्त रही है, वह यहाँ बतलाना है। ज्ञान का यह सहजभाव सदा परिणमनरूप से वर्त ही रहा है। पर्याय के उत्पादव्ययरूप जो परिणमन है — यह बात उसकी नहीं समझना चाहिये, किन्तु ज्ञान का सहजभाव जो सदा सदृशरूप से वर्तता है, यह उसकी बात है।

भव्यजीवों को यह सहजज्ञान ही उपादेय है; आत्मा के परमपारिणामिक स्वभावरूप ऐसे इस सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ वास्तव में उपादेय नहीं है। यदि केवलज्ञानपर्याय को उपादेय माना जाये तो वह पर्याय तो वर्तमान में स्वयं को है नहीं, तो फिर दृष्टि को कहाँ स्थिर करेगा ? केवलज्ञान का जो आधार है, ऐसा वर्तमान सहजस्वभावरूप उपयोग, जो कि इस समय भी एकरूप परिपूर्ण सामर्थ्य सहित वर्त रहा है, उस पर दृष्टि लगाना योग्य है; उस पर दृष्टि स्थिर करने से साधकदशा होकर केवलज्ञान विकसित हो जाता है। इसप्रकार यह सहजज्ञान ही मोक्ष का मूल होने से उपादेय है।

देखो, यह मोक्ष का मूल!

शरीरादि तो जड़ हैं, पुण्य-पाप विकार हैं और मतिश्रुतज्ञान अपूर्ण है; इन किन्हीं में ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षपद दे सके, इसलिये ये कोई भी मोक्ष के मूल नहीं हैं। अतः केवलज्ञान पर्याय के ऊपर दृष्टि लगायें तो स्वयं को वह पर्याय तो है नहीं, इसलिये 'केवलज्ञान नहीं है और प्रगट करूं' — ऐसी आकुलता होती है; चूँकि आकुलता तो केवलज्ञान को रोकनेवाली है; इसलिये केवलज्ञान पर्याय पर दृष्टि लगाना भी केवलज्ञान का उपाय नहीं है अर्थात् वह भी मोक्ष का मूल नहीं है।

तो फिर दृष्टि कहाँ स्थिर की जाये ?

तो कहते हैं कि तेरे ज्ञान के ध्रुव आधाररूप तेरा सहजज्ञानस्वभाव इस समय भी तुझमें वर्त रहा है और वही मोक्ष का मूल है; इसलिये उसी पर दृष्टि लगा! उस पर दृष्टि लगाने से तेरा केवलज्ञान विकसित हो जायेगा।

अहो! जो इसे समझ ले, उसकी बुद्धि अन्तस्वभावोन्मुख हो जाती है, फिर उसकी बुद्धि में अन्तस्वभाव के अतिरिक्त जड़ की क्रिया का, राग का या अपूर्णदशा का आदर नहीं रहता। जिसने

ऐसे अन्तस्वरूप को ही उपादेयरूप से स्वीकार किया, वह केवलज्ञान के पथ पर आ गया है, अब अल्पकाल में वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा।

जड़ की तथा विकार की बात तो कहीं दूर रह गई, किन्तु सम्यक् मतिश्रुतज्ञान को केवलज्ञान का कारण कहना भी व्यवहार से है! परमार्थतः तो त्रिकाली कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है और वही मोक्ष का मूल होने से परम-उपादेय है।

सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मूल कहा जाता है, वह भी पर्याय अपेक्षा से, व्यवहार से है; एकबार भी जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया, वह जीव अल्पकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा — इसप्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा समझाने के लिये उसे मोक्ष का मूल कहा जाता है।

किन्तु वह सम्यग्दर्शन होता कब है ?

तो कहते हैं कि आत्मा के सहजज्ञानरूप परमस्वभाव को उपादेय करने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिये वह परमस्वभाव ही मोक्ष का मूल है-ऐसा जानना; तथा मोक्ष की भाँति सम्यग्दर्शनादि का मूल भी वही है — ऐसा समझना।

देखो, यह मूल कारण की बात! शास्त्रों में व्यवहार कारणों के अनेक कथन आते हैं, वहाँ उनके आश्रय से ही जो लाभ होना मानता हो, उसके पांडित्य पर पानी फिर जाये — यह ऐसी बात है। जहाँ अन्तर के ज्ञायकत्व पर दृष्टि गई, वहाँ समस्त बाह्यकारणों पर पानी फिर जाता है अर्थात् कोई भी बाह्यकारण अपने कारणरूप दिखाई नहीं देता। तिर्यच मेंढक का जीव हो या आठ वर्ष के बालक का जीव हो; अन्तस्वरूप के अवलम्बन से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उसे ऐसा भान होता है कि अहो! अन्तरंग में यह मेरा सहजस्वभाव ही मेरे सम्यग्दर्शनादि का कारण है और यही मुझे सर्वथा उपादेय है, अन्य कोई कारण मुझे उपादेय नहीं है।

अज्ञानी जीव कारण-कारण करते हैं, “निमित्त कारण से होता है और व्यवहार कारण से होता है” — ऐसा मानकर पराश्रयबुद्धि से भव-भव में भटकते हैं। यहाँ वीतरागी संतों ने अन्तर का ध्रुवकारण बतलाकर समस्त बाह्यकारणों के अवलम्बन को उड़ा दिया है और अन्तर में मोक्ष का मूल कारण बतलाकर उसका अवलम्बन कराया है।

अहो! अद्भुत बात कही है, अन्तर में ऐसे कारण के सेवन से सिद्धपद को साधते-साधते यह रचना हुई है। ‘अहो! यह मेरे सिद्धपद का कारण।’

इसप्रकार कारण के प्रति अचिन्त्य आल्हाद प्रगट किया है। उसके अवलम्बन से कार्य सध रहा है। कार्य के बिना कारण की महिमा ज्ञात नहीं होती। जिसप्रकार लैंडी पीपर की एकपुटी चरपराहट का स्वाद चख ले तो मालूम हो कि ऐसी चौंसठपुटी (परिपूर्ण) चरपराहट प्रगट होने की शक्ति भी इस लैंडी पीपर में भरी है; उसीप्रकार जिसने अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट किया और आत्मा के आनन्द का किंचित् स्वाद चखा, वहाँ उसे उसके कारण की अचिन्त्य महिमा ज्ञात हो गई कि अहो! ऐसे परिपूर्ण आनन्द का कारण मेरा आत्मा ही है, मेरे आत्मा में ऐसे आनन्द का कारण सदैव वर्त रहा है और यही मुझे उपादेय है।

मोक्ष का मूल ऐसा सहजज्ञान त्रिकाल पारिणामिकभावरूप स्वभाववाला है; केवलज्ञान क्षायिकभावरूप

है, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभावरूप है और यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान तो पारिणामिकभावरूप है। तथा यह भव्य का परमस्वभाव होने से यही उपादेय है। भव्य को उसका भान होता है और अभव्य को ऐसे स्वभाव का भान नहीं होता। इसलिये 'भव्य का परमस्वभाव है' — ऐसा कहा।

जिसप्रकार मेरुपर्वत के नीचे सुवर्ण है, लेकिन वह किस काम का ? उसीप्रकार अभव्य को भी ऐसा स्वभाव तो है, किन्तु भान के बिना वह किस काम का ? कारण तो है, किन्तु मिथ्यादृष्टि उसका अवलम्बन लेकर कार्य प्रगट नहीं करता। कारण के अवलम्बन से कार्य होता है। सम्यग्दृष्टि को अपने परमपारिणामिक स्वभावरूप जो सहजज्ञान है, वही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि अन्य किसी को उपादेय नहीं मानते।

जो जीव परमानन्द के अभिलाषी हों, जो आत्मार्थी हों, जो मोक्षार्थी हों — वे अपने एक परमस्वभाव को ही उपादेयपने स्वीकार करते हैं, उसमें से-अन्तस्वभाव की खान में से ही सम्यग्दर्शनादि रत्न निकलते हैं, इसलिये वही उपादेय है।

ज्ञान-आनन्द के सहजविलासरूप इस परमार्थस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ धर्मी को उपादेय नहीं है।

इसप्रकार ज्ञान के प्रकारों में नित्य परमस्वभावरूप सहजज्ञान का उपादेय बतलाया। अब आगे कहेंगे कि "उस सहजज्ञान के विलासरूप से ही आत्मा को भाना चाहिये।"

आत्मा के परमस्वभावरूप सहजज्ञान की परममहिमा बतलाकर तथा वही उपादेय है — ऐसा समझाकर अब कहते हैं कि —

"इस सहज चिद्विलासरूप से सदा सहज परमवीतराग सुखामृत, अप्रतिहत निरावरण परम चित्शक्ति का रूप, सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परमचारित्र और त्रिकाल अविच्छिन्न होने से सदा निकट ऐसी परमचैतन्यरूप की श्रद्धा — ऐसे स्वभाव-अनन्तचतुष्टय से आत्मा सनाथ है, और अनाथ ऐसी मुक्तिसुन्दरी का नाथ है। ऐसे आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाना चाहिये।"

यहाँ जो सुख, वीर्य, चारित्र और श्रद्धा — इस चतुष्टय की बात की है, वह त्रिकाल की बात है। आत्मा को 'सहजचिद्विलासरूप' कहकर ज्ञान की बात तो पहले ही ली है और स्वभाव-अनन्तचतुष्टय में आनन्द को सदा वीतराग कहा, चित्शक्तिरूप बल को अप्रतिहत निरावरण कहा, चारित्र को सदा अन्तर्मुख स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप कहा और श्रद्धा को त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से सदा निकट बतलाया है।

ऐसे स्वभावचतुष्टय से जो सनाथ है और मुक्तिसुन्दरी का नाथ है, ऐसे भगवान आत्मा को सहजचैतन्यविलासरूप से भाना चाहिये। यह 'भावना' सो मोक्षमार्ग है; भावना में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं और ऐसी भावना से ही भव का अभाव होता है।

देखो, यह मोक्ष की भावना! जिसे आत्मा की मोक्षदशा प्रगट करना हो, उसे ऐसे आत्मा को ही भाना चाहिये; जड़ की क्रिया के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिए, राग के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये तथा अल्पज्ञता के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये;

किन्तु अनन्तचतुष्टयसहित सहजज्ञान के विलासरूप से सदा आत्मा को भाना चाहिये। आत्मा सहजज्ञान के विलासरूप सदा कारण चतुष्टयसहित विराजमान है, उसकी भावना करने से कार्यचतुष्टय प्रगट होता है। कारण की भावना से कार्य होता है। यहाँ कारणरूप जो सहजज्ञान, उसके विलास के साथ स्वभाव-चतुष्टय को मिला कर उस चतुष्टय सहित आत्मा की भावना करने को कहा है, उसका फल मुक्ति है।

देखो, यह सहजचैतन्य का विलास! इसी में आत्मा का सच्चा विलास है; इस विलास में ही आत्मा का आनन्द है। बाह्य विलास में तो दुख है और आत्मा के विलास में आनन्द है। चैतन्यमूर्ति आत्मा का यह त्रिकालीविलास अमृतमय है, आनन्दमय है, उसी में आत्मा की मौज है; इसीलिये उसी की भावना चाहिए — ऐसा संतों का उपदेश है।

जड़ का विलास भिन्न है, विकार का विलास दुःखरूप है और पर्याय का विलास क्षणिक है।

आत्मा के सहजचैतन्य का विलास आनन्दमय है, ध्रुव है, सदा अपने से अभिन्न है; इसलिये उस विलासरूप से आत्मा की भावना भाना चाहिए। परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल विलसित आत्मा ही सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसा जो चैतन्य का सहज विलास है, उसे कभी आवरण नहीं है, उसमें कोई बाधा नहीं है, पीड़ा नहीं है, दुख नहीं है; वह सदा निरावरण है, निर्बाध है, अविच्छिन्नधारारूप है, अमृतमय है, आनन्दमय है, वीतरागस्वरूप है। अहो! ऐसे आत्मा की भावना ही धर्मात्मा का कर्तव्य है।

अहो! इस शास्त्र में कैसी अलौकिक बात भरी है। देखो, यह भागवत् शास्त्र है। भीतर ध्रुवस्वभाव पूर्ण आनन्द से सदा भरपूर है, उसी पर शास्त्रकार संतों ने दृष्टि लगाई है। जिसने ऐसे त्रिकाली परम सत् का आदर किया, उसे स्वप्न में भी असत् का (रागादि का-व्यवहार का) आदर नहीं होता।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग कैसे प्रगट होता है ?

तो कहते हैं कि वह आत्मस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है; इसलिए आत्मा का परमस्वभाव ही मोक्ष का निश्चयकारण है और निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग मोक्ष का व्यवहारकारण है।

आत्मा सहजज्ञान के विलासरूप है; उसका विलास सदा आनन्दरूप है। सम्यग्दर्शन होने पर या केवलज्ञान होने पर जो आनन्द का वेदन हुआ, वह आनन्द कहाँ से आया? परम वीतराग आनन्द के साथ आत्मा सदा एकमेक है, उसी में से आनन्द प्रगट हुआ है। इसीप्रकार परमचैतन्यशक्तिरूप वीर्य भी आत्मा में अप्रतिहतरूप से त्रिकाल निरावरण है, वही पूर्ण आत्मबल का देनेवाला है और यथाख्यातचारित्र का देनेवाला परमचारित्र आत्मा में सदा अन्तर्मुख से वर्त ही रहा है तथा श्रद्धा भी त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से आत्मा में सदा निकट विद्यमान है, उसका कभी विरह नहीं है; वह निकटवर्ती श्रद्धा-शक्ति ही सम्यक्त्व की देनेवाली है।

इसप्रकार भगवान आत्मा अनन्तचतुष्टय का नाथ है। उस अनन्तचतुष्टय के नाथ को सहजज्ञानरूप से विलसित भाना चाहिये। ऐसे स्वभाव की भावना वह मोक्षमार्ग है और उसका फल मोक्ष है। इसप्रकार अनन्तचतुष्टय के नाथ भगवान आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाने का संतों का

उपदेश है।

नियमसार गाथा ११-१२ की टीका में 'ब्रह्मोपदेश करके श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने आत्मा का परमज्ञानस्वभाव बतलाया और ऐसे सहज चैतन्यविलास रूप से आत्मा की भावना करने को कहा।'

ऐसी आत्मभावना का विशेष प्रमोद आने पर इसके आगे मुनिराज पाँच कलशों द्वारा उस आत्मभावना का फल तथा उसकी महिमा बतलाते हैं।

हे भव्यजीवो! ज्ञान के प्रकार जानकर तुम भेदज्ञान प्रगट करो; समस्त शुभ-अशुभ को संसार का कारण जानकर अत्यन्तरूप से छोड़ो और सहज ज्ञानस्वभाव की भावना करो। सहज ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा पुण्य-पाप से अतिक्रान्त अर्थात् समस्त शुभाशुभ भाव से दूर जाकर अंतरस्वरूप में स्थिर होने पर भव्यजीव परिपूर्ण शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। यही सहजज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना का फल है।

देखो, यह ध्रुवपद प्राप्त करने का उपाय! अन्य मत में कहा जाता है कि भगवान ने ध्रुव को ध्रुवपद प्रदान किया। वास्तव में यहाँ ध्रुवपद देनेवाला अन्य कोई भगवान नहीं है, किन्तु ध्रुव ऐसा जो निजपरमात्मा, उसका ध्यान करने से यह स्वयं अपने आपको ध्रुवपद (मोक्षपद) प्रदान करता है; इसलिये बुधपुरुषों को अन्तर में आनन्द से परिपूर्ण ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को भाना चाहिए।

जिसप्रकार पिता अपने पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सौंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थंकर एवं संत-मुनि जिज्ञासु भव्यजीवों को यह चैतन्यनिधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं।

ज्ञान के अनेक भेद कहे; उन्हें जानकर क्या करना ? तो कहते हैं कि भेद के अवलम्बन में नहीं अटकना चाहिये; ज्ञान के क्षणिक भेदों जितना आत्मा नहीं है; 'आत्मा त्रिकाली सहज ज्ञानस्वरूप है' — ऐसा जानकर उस सहज ज्ञानस्वरूप से आत्मा को भरने से अपूर्व भेदज्ञान होता है और संसार के मूल का छेद हो जाता है। शुभकार्य को भी यहाँ संसार का मूल कहा है, उस शुभ में रहकर मोक्षसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता; किन्तु उस शुभ को पार करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए शुभाशुभ से पार ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को भाना चाहिये।

इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा आत्मा की भावना करने से मोह निर्मूल होकर केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। यहाँ मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव बहुमानपूर्वक कहते हैं कि अहो! भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंदनीय है और जगत् को मंगलरूप है।

देखो, यह केवलज्ञान की महिमा! भेदज्ञानरूपी वृक्ष को आत्मा की भावना रूपी पानी पिलाते-पिलाते यह केवलज्ञानरूपी फल पके हैं। यह केवलज्ञान आत्मा को तो मंगलरूप है ही और जगत् को भी मंगलरूप ही है; क्योंकि जगत् के जो जीव ऐसे केवलज्ञान का स्वरूप लक्ष में लेते हैं, उन जीवों का ज्ञान राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वभाव में पहुँच जाता है और ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उन्हें भेदज्ञानरूप अपूर्व मंगल प्रगट होता है। इसप्रकार केवलज्ञानरूपी सुप्रभात जगत् को मंगलरूप है, वंद्य है, पूज्य है, आदरणीय है।

अब केवलज्ञान कार्य के साथ उसके कारण को भी याद करके कहते हैं कि सहजज्ञान मोक्ष में जयवंत वर्तता है। मोक्षदशा में केवलज्ञान तो जयवंत वर्तता ही है; उसके साथ उसके कारणरूप

ऐसा सहजज्ञान भी जयवंत वर्तता है। कार्य और कारण का एक साथ ही वर्णन करना — यह टीकाकार की मूल शैली है। इसमें मार्ग और मार्गफल दोनों बतला दिये हैं। सहजज्ञानस्वरूप की भावना करने को कहा, वह मार्ग है और केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह मार्ग का फल है।

ज्ञान और आनन्द-सुख का अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञान आनन्द में विस्तार करनेवाला है। केवलज्ञान सम्पूर्ण आनन्द में विस्तारवाला है और सहजज्ञान त्रिकाल आनन्द में विस्तारवाला है; साधक का सम्यग्ज्ञान भी अंशतः आनन्द में विस्तारवाला है। इसप्रकार ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द होता है। जिस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन न हो वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान है।

ज्ञान के प्रकारों को जानकर क्या करना चाहिये? तो मुनिराज कहते हैं कि 'सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व' — ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को जानकर, 'मैं निर्विकल्प होता हूँ'—ऐसा अनुभव करना चाहिए।

इसप्रकार जीव के ज्ञानोपयोग सम्बन्धी वर्णन हुआ। ●

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।

केवलमिंदिरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥

जिसप्रकार ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव — ऐसे दो प्रकार का कहा है, उसीप्रकार यह दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभाव — ऐसे दो प्रकार का है, जो केवल इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभाव-दर्शनोपयोग है।

चैतन्य-अनुविधायी परिणाम, सो उपयोग है। ज्ञान की भाँति यह दर्शनोपयोग भी चैतन्य का ही अनुकरण करनेवाला है। टीकाकार ने जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव के कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया था, उसीप्रकार अब इस स्वभावदर्शन में भी कारण और कार्य ऐसे दो प्रकारों का वर्णन करते हैं। इस शास्त्र में 'नियमसार' अर्थात् नियम से करने योग्य ऐसे शुद्ध रत्नत्रयरूपी कार्य का प्रतिपादन है, इसलिये टीकाकार ने उस कार्य के साथ-साथ उसके निकटवर्ती कारण का भी वर्णन किया है। इसप्रकार कार्य का कारण अपने अन्दर ही बतलाकर एकदम स्वसन्मुखता कराई है तथा बाह्यकारण के अवलम्बन की बुद्धि छुड़ाई है।

स्वभाव-दर्शनोपयोग दो प्रकार का है — एक कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग और दूसरा कार्यस्वभाव-दर्शनोपयोग; उनमें से कार्यस्वभाव रूप केवलदर्शन तो तेरहवें गुणस्थान में नवीन प्रगट होता है और कारणस्वभावरूप दर्शन त्रिकाल है।

यहाँ टीका में कारणस्वभाव-दर्शनोपयोग के बदले 'कारण-दृष्टि' कहकर उसका 'स्वरूप-श्रद्धान' रूप से वर्णन करते हैं। कारणदृष्टि शुद्धात्मा के स्वरूपश्रद्धानमात्र है। स्वरूपश्रद्धानरूप से यह कारणदृष्टि त्रिकाल है और स्वरूप का श्रद्धान सम्यक् श्रद्धान का कारण है।

जिसप्रकार ११-१२वीं गाथा में कारणस्वभाव-ज्ञानोपयोग को 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा था, उसप्रकार यहाँ कारणस्वभावदृष्टि को स्वरूपश्रद्धान मात्र कहा है। यह स्वरूपश्रद्धान त्रिकाल है, उसके आश्रय से सम्यक्श्रद्धान नया प्रगट होता है।

अब श्रद्धा किसकी श्रद्धा करती है ? सो यहाँ बतलाते हैं — कारणसमयसाररूप आत्मा सदा पावन है, औदयिकादि चार भावों से अगोचर सहज-परमपारिणामिक भावरूप है, सदा निरावरण परम स्व-स्वरूप में अविचल स्थितिमय चारित्रस्वरूप है, नित्य शुद्ध निरंजन ज्ञानस्वरूप है और समस्त विभावों के नाश का कारण है — ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने की त्रिकाल सामर्थ्य है और उसमें से व्यक्त होनेवाली सम्यगश्रद्धारूप पर्याय ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने का कार्य करती है।

यहाँ बात तो दर्शनोपयोग की चलती है, किन्तु दर्शन की भाँति श्रद्धा भी निर्विकल्प होने से, तथा 'नियम' में (अर्थात् मोक्षमार्ग में) आवश्यक कर्तव्य होने से टीकाकार मुनिराज ने श्रद्धा का वर्णन किया है।

कारणदृष्टि अर्थात् स्वरूपश्रद्धा; उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनरूपी कार्य होता है, जो ऐसा कहा है, उससे ऐसा नहीं समझना कि अकेली एक श्रद्धा को पृथक् करके उसका आश्रय होता है। श्रद्धा का भेद करके उसका आश्रय नहीं होता; परन्तु परमपारिणामिकस्वभावी चिदानन्दस्वभाव के सेवन में सम्यग्दर्शन के कारण का सेवन भी साथ ही आ जाता है तथा उस कारण में से निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। इसप्रकार निर्मल श्रद्धारूपी कार्य प्रगट होने का कारण अर्थात् स्वरूपश्रद्धान आत्मा में सदैव वर्त रहा है — ऐसा यहाँ बतलाना है।

यह स्वरूपश्रद्धान अथवा कारणस्वभावदृष्टि सम्यग्दर्शन की कारण है और यदि 'उपयोग' के भेदरूप से लें तो कारणदृष्टि अर्थात् कारणस्वभावदर्शनोपयोग वह केवलदर्शन का कारण है। केवलदर्शन को कार्यस्वभाव-दर्शनोपयोग कहा जाता है। भगवान् सर्वज्ञ का केवलज्ञान जिसप्रकार लोकालोक को जानता है, उसीप्रकार यह केवलदर्शन लोकालोक को देखता है। अहा, आत्मस्वभाव की अचिन्त्य गंभीर महिमा संतों ने प्रगट की है।

परमपारिणामिकस्वभावी आत्मा चार भावों से अगोचर है — ऐसा यहाँ कहा है। यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव से तो वह अनुभव में आता है अर्थात् उन भावों से तो वह गोचर होता है; परन्तु वे उदय-उपशम आदि चारों क्षणिकभाव हैं, उन क्षणिकभावों के लक्ष्य से पंचमभाव पकड़ में नहीं आता, इस अपेक्षा उसे चार भावों से अगोचर कहा है तथा उन उदयादि चारों भावों में कर्म के उदयादि की अपेक्षा आती है, वे त्रिकाल एकरूप भाव नहीं हैं; इसलिए उन चारों भावों को विभावभाव कहा है। यहाँ 'विभाव' का अर्थ विकार नहीं समझना चाहिए। क्षायिकभाव तो पर्याय-अपेक्षा स्वभाव भाव है; किन्तु पहले वह भाव नहीं था और फिर नया प्रगट हुआ-इसप्रकार उसमें एकरूपता नहीं रही, इसलिये उसे विभाव कहा है और त्रिकाल एकरूप ऐसे परम पारिणामिक स्वभाव को सदा पावनरूप निजस्वभाव कहा — ऐसे आत्मा की श्रद्धा करने की शक्ति स्वरूपश्रद्धान में त्रिकाल विद्यमान है, वह कारणरूप है और उसमें से ऐसे आत्मा का श्रद्धान उदित होना सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में नियमरूप कर्तव्य है।

क्षायिकभाव के अभाव के समय भी जिसका सद्भाव है अर्थात् क्षायिकभाव की भी जिसे अपेक्षा नहीं है — ऐसे निरपेक्ष त्रिकाल एकरूप परमस्वभाव के आश्रय से ही धर्मरूप कार्य होता है। उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव धर्म हैं, किन्तु वे भाव पंचम-परमभाव के आश्रय से ही प्रगट होते हैं;

इसलिये ऐसे परमस्वभावरूप से आत्मा की भावना भाना चाहिये - ऐसा उपदेश है। 'भावना' में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। अतः वही मोक्षमार्ग है।

आत्मा का परमपारिणामिकस्वभाव त्रिकाल है; उस स्वभाव का अवलम्बन करके उसकी भावना से ही मोक्ष का साधन प्रगट होता है। द्रव्यस्वभाव में तो सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का कारण होने की शक्ति त्रिकाल है; उस कारणशक्ति को कोई आवरण नहीं है; किन्तु जब उस कारणशक्ति का अवलम्बन लेकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य किया जाये, तब उस कारणशक्ति का कारणपना सार्थक होता है। ऐसी कारण-कार्य की संधि है।

देखो भाई! यह विषय अकेले अध्यात्म-अन्तर्दृष्टि का प्रयोजनभूत विषय है। प्रथम तो पात्र जीव ज्ञानी से उत्साहपूर्वक आत्मा की ऐसी बात सुनें, फिर अन्तर में आत्मा के साथ मिलान करके उसरूप परिणमित करने का प्रयत्न करें। आत्मा की सच्ची लगनपूर्वक स्वभाव की ओर के उग्र प्रयत्न से अन्तर में परिणमन होने पर अपूर्व आनन्द का वेदन होता है और आत्मा में मोक्ष की दृढ़ प्रतिज्ञता आ जाती है। फिर वह जीव पराश्रय से धर्म को नहीं ढूँढता। मेरे धर्म का, मेरे सुख का, मेरे मोक्ष का साधन मेरे में, मेरे वर्तमान में उपस्थित है - ऐसा धर्मात्मा जानता है। अपना स्वभाव अपने पास ही है, वह अपने से दूर नहीं है; अंतर में दृष्टि करके अपने स्वभाव का आश्रय करे तो धर्म होता है, इसके अतिरिक्त अनन्तकाल में भी अन्य बाह्यसाधन से धर्म नहीं होता। इसप्रकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसकी महिमा करते-करते, उसी में एकाग्र हो जाना - ऐसा ज्ञानियों का उपदेश है।

भाई! यह अनन्तदुःखमय संसार के जन्म-मरण का मूल छेदने की बात है। अरे, इस संसार में अनेक प्रकार के जो दुःख हैं उनका मूल मिथ्यादर्शन है; उसे दूर करने के लिए आत्मा की यथार्थ पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। आत्मार्थी जिज्ञासु ऐसा विचार करता है। कि अरे रे! अभी तक मैं सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त संसार में भटक-भटक कर बहुत दुःखी हुआ हूँ। अब, सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही मेरा प्रथम कर्तव्य है। अन्तर में अपने आत्मा का ही मुझे लक्ष्य करना है, सारा संसार मेरे अन्तरात्मा से बाहर है। मेरे कार्य का सम्बन्ध अंतरंग कारण के साथ है, बाह्य में किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का परमपारिणामिक स्वभाव ध्रुव है, सदा एकरूप है, परमादरणीय है; वही आश्रय करनेयोग्य है। इस पंचमभाव का औदयिकादि चार भावों में समावेश नहीं होता, इसलिये वह इन चारों क्षणिकभावों से अगोचर है। चार क्षणिकभावों का आश्रय छुड़ाने के लिए उनसे अगम्य पंचमभाव का आश्रय कराया है। सम्यक्त्वी को वह स्वभाव अंतर में अनुभवगम्य हो गया है। पारिणामिकभाव को चार भावों से अगोचर कहने का आशय ऐसा है कि परमपारिणामिक पंचमभाव चार भावों के आश्रय से ज्ञात नहीं होता। वह तो परमपारिणामिकस्वभाव के आश्रय से ही ज्ञात होता है।

परमपारिणामिकस्वभाव ही आत्मा का 'निजस्वभाव' है, उस निजभाव को आत्मा कभी छोड़ता नहीं है। उस 'निजस्वभाव' को कर्म के उदय-क्षय आदि की अपेक्षा लागू नहीं होती, इसलिए वह निरपेक्ष है। केवलज्ञान को जानने के लिए किसी इन्द्रिय या प्रकाश आदि की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए जो उसे निरपेक्ष कहा, उसकी अपेक्षा जुदी है। उस केवलज्ञान पर्याय में कर्म के क्षय की अपेक्षा

तो आती है। पहले केवलज्ञान नहीं था और फिर कर्म का क्षय होने से प्रगट हुआ — इसप्रकार उसमें निरपेक्षता नहीं है, सदा एकरूपता अनादि-अनंतता नहीं है; इसलिए उस क्षायिकभाव का आश्रय करके भी आत्मा का एकरूप सहज-स्वभाव नहीं पहिचाना जा सकता। परमपारिणामिकभाव सदा पावन है; साधक जीव अन्तर्मुख होकर उसी का अभिनन्दन करते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि के विचार से, ज्ञान से, ध्यान से, आश्रय से सम्यग्दर्शन अथवा केवलज्ञान नहीं होता; किन्तु परिणति जब अन्तर्मुख होकर परमस्वभाव में लीन होती है, तब सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं। व्यवहार के आश्रय से होनेवाला शुभराग तो औदयिकभाव है। जहाँ क्षायिकभाव के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होते, वहाँ औदयिकभावों के आश्रय से तो वे कहाँ से होंगे ? इसलिए व्यवहार के आश्रय से अथवा करते-करते परमार्थ की प्राप्ति हो जायेगी — ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे सम्यग्दर्शन आदि के कारणरूप-आश्रयरूप आत्मा के परमस्वभाव की खबर नहीं है। छद्मस्थ को केवलज्ञान तो होता ही नहीं है। अतः उसके आश्रय की तो बात ही कहाँ रही ? परमपारिणामिक स्वभाव ही सर्व जीवों को त्रिकाल है तथा वही आश्रय करनेयोग्य है।

व्यवहाररत्नत्रय की भावना से निश्चयरत्नत्रय होता है — ऐसा नहीं है; किन्तु जिसमें त्रिकाल शुद्ध रत्नत्रय की शक्ति विद्यमान है — ऐसे परमस्वभाव की भावना से ही शुद्ध रत्नत्रय प्रगट होता है; इसलिए उसी की भावना करनेयोग्य है।

हे भाई! पहले तू यह तो लक्ष्य में ले कि किसकी भावना करनेयोग्य है ? 'जैसी भावना वैसा भवन'; जिसे राग की भावना है, वह राग से लाभ मानकर मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है; जिसे स्वभाव की भावना है, वह स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है। अरे भाई, जहाँ क्षायिकभाव के आश्रय से भी सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, तो फिर अन्य किसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसलिए राग की या जड़ की क्रिया की भावना छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभाव की ही भावना कर, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होंगे।

अहो, अपने निरावरण-स्वभाव को भूलकर लोग बाहरी झंझटों में ऐसे फंसे हैं कि आन्तरिक साधन को भूलकर बाह्य साधनों में व्यर्थ की हाय-हाय कर रहे हैं।

यहाँ संतों का ऐसा उपदेश है कि जैसा परमस्वभाव का वर्णन यहाँ किया गया है; वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है और वही सम्यग्दर्शनादि का कारण है। अतः प्रत्येक आत्मा को अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही सम्यग्दर्शनादि का कारण बनाना चाहिए। देखो, यह चैतन्य की वीतरागता। समस्त दुष्ट पापों रूपी शत्रुओं की सेना इस चिदानन्द-स्वभाव का अवलम्बन करते ही नष्ट हो जाती है। इसका अवलम्बन करते ही मिथ्यात्वादि महान शत्रु क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। विकल्पों और विकारों का समूह चैतन्य के अवलम्बन से इसप्रकार दूर भाग जाता है, जैसे सिंह को देखकर बकरियों की टोली भाग जाती है। ऐसा वीर आत्मा अपना स्वरूप भूलकर अपने को कर्म से दबा हुआ पामर मान रहा है; किन्तु यदि एकबार अपने स्वभाव की शक्ति को सम्हाले अर्थात् सम्यक् श्रद्धानरूपी सिंह गर्जना करे तो कर्मरूपी बकरियाँ भागती दिखाई दें।

देखो, यह आत्मा का निधान। जिसप्रकार पिता अपने पुत्र को सम्पत्ति का उत्तराधिकार सौंपता है, उसीप्रकार परमपिता तीर्थकर एवं आचार्य भगवन्त जिज्ञासु भव्यजीवों को चैतन्यनिधान का उत्तराधिकार दे रहे हैं। चैतन्यनिधान में रहनेवाली कारणदृष्टि वह स्वरूपश्रद्धानमात्र है — ऐसा बतलाया। अब उसमें से व्यक्त होनेवाला पूर्ण कार्य कैसा होता है अर्थात् कार्यदृष्टि कैसी होती है, सो बतलाते हैं।

केवलज्ञान के साथ वर्तता हुआ केवलदर्शनोपयोग तथा अवगाढ़ श्रद्धा — इन दोनों का समावेश कार्यदृष्टि में हो जाता है — ऐसा यहाँ समझना।

कैसी है कार्यदृष्टि ? चार घातिकर्मों के नाश से प्रगट होनेवाली यह कार्यदृष्टि क्षायिकभावरूप है तथा वह क्षायिकभाव क्षायिकजीव को होता है। जिसे केवलज्ञानादि क्षायिकभाव प्रगट हुए हैं, वह क्षायिकजीव कहलाता है।

कारणशुद्धजीव परमपारिणामिकभावरूप है, उसमें तो सर्व जीव आते हैं; किन्तु कार्यशुद्धजीव क्षायिकभावरूप हैं, उसमें केवलज्ञानी भगवन्त ही आते हैं। यहाँ क्षायिकभावरूप से परिणमित जीव को ही अभेदविवक्षा से 'क्षायिकजीव' कह दिया है। उस क्षायिकजीव ने केवलज्ञान द्वारा तीनभुवन को जाना है तथा वह अपने स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले परम वीतरागसुखामृत का समुद्र है। अहा! केवली भगवन्तों को पर्याय में वीतरागीसुख का समुद्र उछला है। उन्हें 'कारण' का सेवन करते-करते यथाख्यातरूप कार्यशुद्धचारित्र प्रगट हो गया है। अतः वे भगवन्त (अर्थात् कार्यदृष्टिवाले क्षायिकजीव) सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयात्मक हैं।

देखो, यहाँ सर्वज्ञ को नयस्वरूप कहा, तो फिर 'नय जड़ हैं' — यह बात कहाँ रही ? यहाँ केवली को नयस्वरूप कहा, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उनके ज्ञान में भी 'नय' होते हैं। नय तो श्रुतज्ञान में होते हैं, केवलज्ञान में नय नहीं होते; परन्तु साधक जीव जब केवली भगवान के स्वरूप को ध्यान में लेता है, तब उस साधक के ज्ञान में शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय होता है; इसलिये उस नय के विषयभूत केवली को शुद्ध सद्भूत-व्यवहारनयात्मक कहा है। इसप्रकार नय और उसके विषय को अभेद कहने की अध्यात्मशास्त्रों की शैली है। कारणदृष्टि अनादि-अनन्त है और कार्यदृष्टि सादि-अनन्त है।

कार्यदृष्टिवाले क्षायिकजीव कैसे हैं कि तीनलोक के भव्यजीवों को प्रत्यक्ष वन्दनायोग्य है। मानों ऐसी कार्यदृष्टिवाले तीर्थकर परमदेव साक्षात् सन्मुख विराज रहे हों — ऐसा चिन्तवन करके मुनिराज कहते हैं कि अहो! ऐसे क्षायिकभावरूप परमात्मा प्रत्यक्ष वंदना योग्य हैं। सिद्ध भगवन्त भी मानो उनके अपने आत्मा में स्पष्ट दिखाई दे रहे हों। टीकाकार ऐसे उत्कृष्टभाव से कहते हैं कि क्षायिकजीव तीर्थकर परमात्मा तीन लोक के भव्यजीवों को प्रत्यक्ष वंदनीय हैं — ऐसे तीर्थकर परमदेव को केवलज्ञान की भाँति यह कार्यदृष्टि भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है; परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी वहाँ साथ ही वर्तता है।

इसप्रकार कारण और कार्य उपयोग का वर्णन किया।

प्रश्न :— इस उपयोग की उपयोगिता क्या है ?

उत्तर :— इस उपयोगस्वभाव को जानकर उसका मनन करने से (उसकी प्रतीति और एकाग्रता से) केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रगट होते हैं। दर्शन-ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही मोक्षार्थियों के लिये मोक्ष का प्रसिद्ध मार्ग है अर्थात् उस चैतन्यतत्त्व की भावना द्वारा ही मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से मोक्ष नहीं होता। शुद्ध चैतन्यतत्त्व की भावना से दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यस्वरूप परिणमित अपना आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है; आत्मा से बाहर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

कार्य प्रगट होने की शक्ति-कारण वर्तमान में ही विद्यमान है; उस कारण की अचिन्त्य महिमा को जानने तथा उसके सन्मुख होकर कार्य प्रगट करने की ही यह बात है।

इसप्रकार तेरहवीं गाथा में कारणरूप तथा कार्यरूप स्वभावदर्शनोपयोग बतलाया, साथ ही साथ दोनों प्रकार की श्रद्धा भी बतलाई।

अहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र की रचना 'निजभावना' के हेतु से की है; इसलिए श्रोताओं को भी निजभावना के हेतु से इस शास्त्र का श्रवण करना योग्य है। इस शास्त्र के वक्ता और श्रोता दोनों का ही तात्पर्य 'निजभावना' करने का है। हे श्रोताओ! इस शास्त्र की प्रत्येक गाथा में दर्शाये हुए शुद्ध निजतत्त्व को जानकर बारम्बार उसकी भावना करना — ऐसी निजात्मभावना से अवश्य मोक्षमार्ग तथा उसके फलरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी। वास्तव में आचार्यदेव ने इस नियमसार द्वारा आत्मार्थी जीवों को शुद्ध रत्नत्रयरूपी 'नियमसार' की भेंट दी है।

आचार्य भगवान अन्त में कहते हैं कि यह नियमसार शास्त्र मैंने निजभावना के हेतु रचा है। परमस्वभावी ऐसे शुद्ध निजात्मतत्त्व की अनेकानेक प्रकार से महिमा करके आचार्यदेव ने इस शास्त्र में उसकी भावना की धुन मचायी है। शुद्ध आत्मा की भावना का जैसा जोरदार कथन इस शास्त्र में है, वैसा ही अंतरपरिणमन जिनके आत्मा में वर्त रहा है — ऐसे वीतरागी संतों का यह कथन है।

इस शास्त्र का तात्पर्य 'निजभावना' है, इसलिए इसमें छहद्रव्यों का अथवा विभावपर्यायों का कथन आये, वहाँ भी उसे जानकर भावना तो निजतत्त्व की ही करना है। पर और विभावों से भिन्न निजतत्त्व को ही अपनी पर्यायों के कारणरूप से अर्थात् कारणपरमात्मारूप से भाना चाहिए। उसकी भावना से मोक्षमार्गरूप कार्य हो जाता है। तत्सम्बन्धी विस्तृत विवेचन पहले आ चुका है। ●

जीव उपयोगस्वरूप है। अभी तक ज्ञानोपयोग के प्रकारों का तथा दर्शनोपयोग की स्वभाव पर्यायों का वर्णन हो चुका है, अब १४वीं गाथा में उसकी विभावपर्यायें बतलाते हैं। इसप्रकार 'उपयोग' के समस्त प्रकारों का वर्णन पूरा करके फिर पर्यायों के भेद कहेंगे।

चक्षु अचक्षु ओही तिणिण वि भणिदं विहावदिट्टि त्ति ।

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य गिरवेक्खो ॥१४॥

केवलदर्शन तो दर्शनगुण की स्वभावपर्याय है; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन-यह तीनों विभावपर्यायें हैं। पर्यायें दो प्रकार की होती हैं — एक निरपेक्ष और दूसरी स्व-पर की अपेक्षावाली।

१०वीं से १३वीं गाथा तक जो उपयोग के प्रकारों का वर्णन किया था, वह भी स्वभाव पर्यायों का ही वर्णन था, उनमें वहाँ स्वभाव-उपयोग को निरपेक्षपर्याय और विभाव-उपयोग को स्व-परापेक्षित पर्याय कहा गया था; परन्तु उसमें तो ज्ञान, दर्शन और श्रद्धा गुण की पर्यायों की ही बात थी। अब

इस गाथा में दर्शनगुण की विभाव पर्यायों के साथ-साथ सम्पूर्ण द्रव्य की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय बतलानेवाले बीज पाये जाते हैं।

दर्शन-उपयोग तो सामान्य प्रतिभास्वरूप है; उसमें विभावज्ञान की भाँति 'सम्यक्' और 'मिथ्या' ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। विभावज्ञान सात प्रकार का है, जिसका वर्णन पूर्व में हो चुका है। अब यहाँ तीन प्रकार के विभावदर्शन का वर्णन करते हैं, वे तीन प्रकार हैं — चक्षु, अचक्षु और अवधि। चक्षुइन्द्रिय के विषय को जानने से पूर्व चक्षुदर्शन होता है; चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के या मन के विषय को जानने से पूर्व अचक्षुदर्शन होता है। अवधिज्ञान-उपयोग से पूर्व अवधिदर्शन-उपयोग होता है; परन्तु मनःपर्यय से पूर्व मनःपर्यय नाम का कोई दर्शनोपयोग नहीं होता। इसप्रकार विभाव-दर्शनोपयोग के तीन प्रकार हैं। स्वभावदर्शनोपयोग के कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव — ऐसे दो प्रकारों का वर्णन पहले हो चुका है।

इसप्रकार जीव के लक्षणभूत ज्ञान और दर्शनोपयोग के समस्त प्रकारों का वर्णन किया। अब, 'पर्याय' की व्याख्या तथा उसके दो प्रकार बतलाकर फिर पन्द्रहवीं गाथा में जीवद्रव्य की पर्यायों का अद्भुत वर्णन करेंगे। अभी तक 'उपयोग' की कारण और कार्यपर्यायों का वर्णन था; अब जीवद्रव्य की पर्यायों का वर्णन आयेगा।

पर्याय का अर्थ है — “परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः” अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो, वह पर्याय है। पर्याय के दो प्रकार हैं — एक स्वभावानुसारी शुद्धपर्याय और दूसरी विभावरूप अशुद्धपर्याय।

उसमें, स्वभावपर्याय छहों द्रव्यों की होती है; वह अर्थपर्यायरूप है, वाणी और मन से अगोचर है, अतिसूक्ष्म है, आगमप्रमाण से स्वीकार करने योग्य है तथा छह प्रकार की वृद्धि-हानि सहित है। यहाँ जीव का अधिकार होने से जीव के गुण पर्यायों का वर्णन मुख्य है, इसलिए यहाँ छहद्रव्यों के गुण-पर्यायों का विस्तार नहीं किया। जीव के अतिरिक्त अन्य पाँच अजीव द्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन आगे अजीव अधिकार में किया है।

नर, नारक, मनुष्य या देवरूप व्यंजनपर्यायें तो जीव की अशुद्ध पर्यायें हैं। यद्यपि मतिज्ञानादि अर्थपर्यायें भी जीव की अशुद्ध-विभावपर्यायें हैं; परन्तु यहाँ उन अर्थपर्यायों को 'अशुद्ध पर्यायें' न कहकर 'अशुद्ध गुण' या 'विभाव गुण' कहा है, अशुद्ध पर्यायों में तो व्यंजनपर्यायों को ही लिया है — ऐसी इस शास्त्र की शैली है।

जीव में विभावपर्यायें होने पर भी उन्हें एक ओर रखकर अर्थात् उन पर से दृष्टि हटाकर भावना तो शुद्ध निजतत्त्व की ही करना, इसलिए टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि परभाव होने पर भी, विभावपर्यायें होने पर भी, अशुद्धता होने पर भी, मैं तो उन सबसे रहित ऐसे एक शुद्ध जीवतत्त्व को ही सदा भाता हूँ; क्योंकि उसी की भावना से सकल अर्थ की-मोक्ष की सिद्धि होती है।

पर्याय में अनेक प्रकार के विभाव होने पर भी उन सबसे जो रहित है — ऐसे शुद्ध निजतत्त्व को-अपने हृदय में विराजमान कारणपरमात्मा को ही मैं भजता हूँ। यहाँ धर्मात्मा को संबोधित करते हुए मुनिराज कहते हैं कि हे भव्यशार्दूल! अपने हृदय में तूँ जिस कारणपरमात्मा को भज रहा है,

उसी को उग्ररूप से भज! जिसके भजन से सम्यग्दर्शन आदि 'कार्य' हुआ, तू उसी 'कारण' में लीन हो जा। उसी से तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी।

भजन कहो या भावना; एक मात्र निजत्व की ही भावना करने योग्य है। अहा, देखो तो यह भावना! ऐसी आत्मभावना भाने से जीव को केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त-प्रगट होती है।

देखो, संसारी जीवों को पर्याय में पुण्य-पापादि विकार है, मतिज्ञानादि अपूर्ण दशा है और मनुष्यादि अशुद्ध आकृति (विभाव व्यंजनपर्याय) है — यह तीनों परभाव हैं और उनके समक्ष परम शुद्धस्वभावी कारणपरमात्मा भी विराजमान हैं। अतः पर्याय में परभाव होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में उनकी भावना नहीं है; उत्तम पुरुषों के हृदय में अर्थात् साधक धर्मात्माओं की दृष्टि में तो सदा शुद्ध ऐसा भगवान् कारणरूप शुद्धात्मा ही शोभायमान है। ज्ञानी की दृष्टि विभाव पर नहीं है; उसकी दृष्टि तो कारणस्वभाव पर ही है, उसकी निर्मलपर्याय अन्तर्मुख होकर कारणस्वभाव में प्रविष्ट हो गई है; इसलिये उस धर्मात्मा के हृदय में शुद्ध कार्यपरिणति शुद्ध कारणपरमात्मा के साथ निजानन्द की केलि करती है।

देखो, यह उत्तम पुरुषों का हृदय! उनके हृदय में तो कारणपरमात्मा ही शोभायमान है, उसके हृदय में विभावों के लिए कोई स्थान नहीं है, विभावों की भावना नहीं है। जिसके हृदय में विभाव की भावना है, जिसकी परिणति विभाव के साथ केलि करती है, वह उत्तम पुरुष नहीं है। संसार में भले ही वह चाहे जैसा महान माना जाता हो, किन्तु धर्म में वह उत्तम नहीं है।

अज्ञानी के भी 'कारणशुद्ध आत्मा' है तो अवश्य; किन्तु उसे उसका लक्ष्य नहीं है, उसकी परिणति अन्तर्मुख होकर उस कारण के साथ केलि नहीं करती। इसलिये उसे उस शुद्ध कारण के अनुसार कार्य नहीं होता, किन्तु पर का अनुसरण करने से विकारी कार्य ही होता है। ज्ञानी को ही उसका लक्ष्य है, इसलिये कहा है कि उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में कारण-आत्मा शोभा देता है। वास्तव में कारण-आत्मा को भजनेवाले धर्मात्मा ही जगत में उत्तम पुरुष हैं। वे अपनी परिणति को अंतरोन्मुख करके कारण-स्वभाव का अनुसरण करते हुए सम्यग्दर्शनादि उत्तम कार्यरूप परिणमित होते हैं।

मुनिराज कहते हैं कि अपने सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि के लिये हम इस कारणपरमात्मा को ही सदा भजते हैं और हे भव्यशार्दूल! तू भी उसी को भज! हे भव्यात्मारूपी शार्दूल! सिंह! तू अपना पराक्रम तो देख! तू अपने पराक्रम को सम्हाल!! अन्तर में कारण परमात्मा की भावना करने में ही तेरा परमपराक्रम है। विभावों की भावना में वीर्य को अटका देना, बर्बाद कर देना — यह तो दीनता है। जिसप्रकार वन में वास करनेवाला सिंह निर्भयरूप से अपनी क्रीड़ा में मस्त रहता है, उसीप्रकार हे भव्योत्तम शार्दूल! तू जगत से उदास होकर निर्भयरूप से अपने कारणपरमात्मा की भावना में तत्पर रह।

लड़ाई में हजारों योद्धाओं को भले ही जीत ले, किन्तु यदि स्वभाव की भावना द्वारा विभावों को नहीं जीता और स्वयं विभावों के अधिकार में हो गया, तो उसे पराक्रमी नहीं कहते। जो स्वभाव के अवलम्बन में रहकर समस्त विभावों को जीत लेता है, वही सच्चा पराक्रमी या वीर है; इसलिये हे पुरुषार्थी भव्य! तू अन्तर्मुख होकर अपने कारणपरमात्मा को ही भज, वह तुझसे भिन्न नहीं है,

वह तू ही है; इसलिये उसी को तू उग्ररूप से भज, उसके भजन से ही तुझे मोक्ष के पंथ की तथा मोक्ष की सिद्धि होगी।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा ।

कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५ ॥

‘कारणशुद्धपर्याय’ के वर्णन की यह मुख्य गाथा है। आचार्यदेव ने इस गाथा में जीव की विभाव और स्वभावपर्यायों का वर्णन किया है; उनमें से स्वभावपर्याय के विवेचन में टीकाकार ने ‘कारणशुद्धपर्याय’ का अलौकिक वर्णन किया है।

आत्मा की पर्यायें दो प्रकार की हैं — (१) स्वभावरूप और (२) विभावरूप। मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यचरूप अवस्थाएँ तो कर्म की उपाधिवाली विभावपर्यायें हैं और स्वभावपर्यायें कर्म की उपाधि से रहित हैं।

मनुष्यादि विभावपर्यायों को तो लोग जानते हैं, परन्तु स्वभावपर्यायों को नहीं जानते। अतः यहाँ पहले स्वभावपर्यायों का वर्णन करते हैं।

स्वभावपर्यायों के दो भेद हैं —

(१) कारणशुद्धपर्याय, (२) कार्यशुद्धपर्याय।

जिसप्रकार उपयोग की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए कारण और कार्य का अद्भुत वर्णन किया था, उसीप्रकार अब आत्मद्रव्य की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए कारण और कार्य का अद्भुत वर्णन करते हैं।

जिसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है ऐसी यह स्वभावपर्याय प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है, यह त्रिकाल आनन्द में डूबी हुई है। जब भव्यजीव इसे जान लेता है, तब इसका अनुसरण करके स्वभावकार्य प्रगट करता है। कार्य त्रिकाल नहीं होता; परन्तु कारण त्रिकाल रहता है, जब जीव इसका अवलम्बन करता है, तब इसकारण जैसा ही निर्मल कार्य नवीन प्रगट होता है, इसलिए ऐसा कार्य प्रगट कराने के लिए यहाँ ‘कारण’ की महिमा बतलाते हैं।

हे जीव! तू सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक का जो शुद्ध कार्य प्रगट करना चाहता है, उसकी कारणरूप शक्ति तेरे आत्मा में ही है। किसी भी बाह्यपदार्थ में तेरे सम्यग्दर्शनादि के कारण होने की शक्ति नहीं है। वह शक्ति तो तेरे आत्मा में ही वर्त रही है, इसलिये अंतर्मुख होकर एकबार उसकी प्रतीति कर। उसका ज्ञान होते ही तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! मेरा कारण तो मुझमें ही था, किन्तु अभी तक मैं उसे भूला हुआ था; इसलिये अभी तक मेरा कार्य नहीं हुआ, अब मुझे कारण की महिमा मालूम हुई। इसप्रकार कारण-कार्य की संधि होने पर तेरे आत्मा में अचिन्त्य चैतन्य तरंगे उल्लसित होंगी।

नियमसार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग, जो नियम से करनेयोग्य कार्य है। वर्तमान पर्यायरूपी कार्य के साथ उसका ‘कारण’ भी वर्तमानरूप बतलाकर संतों ने अद्भुत बात की है। ‘कारणशुद्धपर्याय’ कहो या ‘कार्य का वर्तमान कारण’ कहो; एक ही बात है।

आत्मा के त्रिकाली स्वभावभूत सहज चतुष्टय के साथ रहनेवाली पूजित पंचमभावपरिणति ही

कारणशुद्धपर्याय है। अहा! आचार्यदेव कहते हैं कि यह परिणति पूजित है, आदरणीय है, आश्रय करनेयोग्य है।

देखो, इसे 'परिणति' कहा है, किन्तु यह व्यवहारनय की विषयभूत परिणति नहीं है; यह तो सहजशुद्ध निश्चयनय की विषयभूत परिणति है। सहजशुद्ध निश्चयनय से आत्मा को लक्ष्य में लेने पर उसमें यह कारणशुद्धपर्याय भी साथ ही आ जाती है, इसे गौण नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल तन्मयरूप से वर्तती है।

१. अतीन्द्रियस्वभावी सहजज्ञान, जोकि अनादि-अनंत है।
२. अतीन्द्रियस्वभावी सहजदर्शन, जोकि अनादि-अनंत है।
३. अतीन्द्रियस्वभावी सहजचारित्र, जोकि अनादि-अनंत है।
४. अतीन्द्रियस्वभावी सहज-परमवीतराग सुख, जोकि अनादि-अनंत है।

यह स्वभावचतुष्टय आत्मा में त्रिकाल है और यह आत्मा का ही शुद्ध अंतस्तत्त्व है। आत्मा के अंतरंगतत्त्वरूप इस त्रिकाली स्वभावचतुष्टय के साथ वर्तती हुई पूजित पंचमभाव परिणति कारणशुद्धपर्याय है। यह कारणशुद्धपर्याय औदयिकादि चार भावों रूप नहीं है, किन्तु पंचम पारिणामिकभावरूप है और कर्मों से त्रिकाल निरपेक्ष है। अनादि-अनंत आत्माकाररूप वर्तती हुई...ऐसी यह स्वभावभूत कारणपरिणति ही निर्मलकार्य का कारण है, कारणपरिणति कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है, कारणपरिणतिरूप से वर्तता हुआ सम्पूर्ण आत्मा ही समस्त निर्मलपर्यायों का कारण है।...ऐसा भगवान् कारणपरमात्मा प्रत्येक जीव को उपादेय है, वह कोई अन्य नहीं; किन्तु स्वयं ही है।

अहो! परमपारिणामिकभाव की परिणति से शोभित चैतन्य भगवान् एक धारा में विराजमान है। अनादि-अनंत एक धारा में जब देखो तब परिपूर्ण, वर्तमान वर्तता हुआ कृपानिधान परमात्मा विराजमान है-शोभायमान है। हे जीव! उसी को तू अपना कारण बना और बाह्यकारण ढूँढने का भ्रम छोड़! अहा! जहाँ अपने में पूर्णता भरी हुई है, वहाँ दूसरे की क्या अपेक्षा ?

देखो, यह निरपेक्ष स्वभाव! जिसप्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल यह चारों द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं, निरपेक्ष एकरूप से सदैव वर्तते हैं; उसीप्रकार आत्मा को भी यदि उसके निरपेक्ष स्वभाव से देखें तो मोक्ष के समय या साधकदशा के समय वह सदैव एकरूप-शुद्धरूप से ही वर्तता है, अपने सहजस्वभाव चतुष्टयसहित पंचमभाव परिणति से सदैव शोभायमान है। मुनिराज कहते हैं कि ऐसी परिणति से सुशोभित आत्मा पूजित है, क्योंकि वह केवलज्ञान का दातार है। ऐसा कारण के अवलम्बन से केवलज्ञानरूपी कार्य को साधते-साधते संतों के हृदय में से उद्गार निकले हैं।

जिसप्रकार धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में उदयादि की अपेक्षा रहित पारिणामिकभावरूप से सदा परिणमन है, उसीप्रकार महान महिमावन्त चैतन्य भगवान् आत्मा की परिणति भी कर्म के उदयादि की अपेक्षा रहित परम पारिणामिकभावरूप से वर्तती है, उस निरपेक्ष स्वभावपरिणति का ही नाम कारणशुद्धपर्याय है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से जो केवलज्ञानादि पर्याय प्रगट हुई, वह भी स्वभावपर्याय है तथा

उसे इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं है, इस अपेक्षा उसे भी निरपेक्ष कहा जाता है; किन्तु कर्मक्षय के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है — इतनी अपेक्षा उसमें आती है, जबकि इस कारणशुद्धपर्याय में तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की भी अपेक्षा नहीं है, यह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल निरपेक्षरूप ही वर्तती है।

यहाँ ध्यान रखनेयोग्य बात यह है कि वर्तमान पर्याय में अज्ञान-ज्ञान, राग-वीतरागता, संसार-मोक्ष इत्यादि जीवों के वर्तते हैं, उस कार्य के स्वीकारपूर्वक ही यह बात है। यदि उस कार्यपर्याय को स्वीकार न करे, अशुद्धकार्य को टालकर शुद्धकार्य करना है, उसे स्वीकार न करे तो कार्य के बिना कारण किसका ? इसलिये पर्याय में शुद्ध-अशुद्ध कार्य के स्वीकार पूर्वक ही, शुद्धकार्य के कारणरूप — इस 'कारणशुद्धपर्याय' का यथार्थ स्वीकार होता है। 'यह मेरी शुद्धता का कारण है' — ऐसा वही कह सकता है कि जिसने कारण के आश्रय से शुद्धकार्य प्रगट किया हो। इसप्रकार कार्य-कारण की संधिपूर्वक की यह बात है। इस मुख्य विषय का स्पष्टीकरण प्रवचनों में पहले कई बार आ चुका है।

यह कारणशुद्धपर्याय वर्तमानरूप है। यदि यह वर्तमानरूप न हो तो वर्तमान कार्य भी शुद्ध नहीं हो सकता। जिसप्रकार शुद्धकार्य वर्तमान में होता है, उसीप्रकार उसका शुद्धकारण भी वर्तमान में ही वर्तता है। इसप्रकार कारणशुद्धपर्याय अपने स्व-चतुष्टयरूप वैभवसहित वर्तमान में वर्तती है, वह कभी उत्पाद-व्ययरूप नहीं है; उत्पादरूप से उसका अनुभव नहीं है। यदि उसका उत्पादरूप अनुभव हो, तब तो जब केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप कार्य हो जाये, तब कारणरूप त्रिकाल अनन्तचतुष्टय का प्रगट अनुभव हो; परन्तु ऐसा तो है नहीं। अनन्तचतुष्टय का प्रगट अनुभव तो तभी होता है कि जब कारण का आश्रय करके शुद्धकार्य प्रगट करें। यदि यह एकरूप धारावाही कारणशुद्धपर्याय आत्मा के साथ त्रिकाल न हो, तो स्वभाव की त्रिकाल सामर्थ्य और वैसा ही उसका परिपूर्ण वर्तमान — उन दोनों के अभेदरूप अखंड पारिणामिकभाव सिद्ध कैसे होगा ?

वर्तमान पूर्ण सामर्थ्यरूप से वर्तती हुई, जो कारणशुद्धपर्याय है, उसके आश्रय से ही मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। वर्तमान पूर्णकार्य प्रगट करने के लिये यदि वर्तमान में पूर्ण-आश्रय न हो, तब तो वर्तमान कार्य के लिये भूत-भविष्य में दौड़ना पड़ेगा; परन्तु वर्तमान कार्य के लिए जिसप्रकार पर का आश्रय नहीं है, उसीप्रकार वर्तमान कार्य को भूत-भविष्य का भी आश्रय नहीं है, वर्तमान कार्य का आश्रय भी वर्तमानरूप ही है। यदि दोनों वर्तमानरूप न हों तो कारण-कार्य की एकता कहाँ से होगी ? इसलिये आत्मा स्वयं कारणशुद्धपर्यायरूप से वर्तता हुआ अपने शुद्धकार्य का आश्रय है।

कारणशुद्धपर्याय का वैभव कैसा है ? कि जिसमें तीनों काल सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजवीतराग सुख के भण्डार भरे हैं। अहा! ऐसे सहज-चतुष्टय के भण्डार आत्मा में परिपूर्ण पूजित पंचमभाव परिणति (कारणशुद्धपर्याय) सदा वर्तती है। हे जीव! अपने इस भण्डार में से तू केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट कर, जिससे तुझे अनन्तकाल तक केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट होता रहेगा, तुझे उसकी कभी कमी नहीं पड़ेगी — ऐसा अटूट भण्डार जब तेरे पास है, तब तू पराश्रय की भीख किसलिये माँगता है ? अर्थात् अपने सुख के लिए बाह्य कारणों को क्यों ढूँढता ? अन्तर्मुख

हो और अपने चैतन्यभण्डार को देख! अहो! मुनिवरों ने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से अपने आत्मा के वैभव को प्रसिद्ध किया है।

यहाँ स्वभावचतुष्टय में जो 'सहज परम वीतरागसुख' कहा, उसमें 'वीतराग' कहने से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पहले राग था और फिर दूर हुआ; परन्तु वह तो स्वभाव से ही सदा रागरहित है। चैतन्य भगवान अपने स्वभाव-अनन्तचतुष्टय की सहजपरिणति के साथ ही तीनों काल विराज रहा है, एकसमय भी उस परिणति का उसे विरह नहीं है — ऐसी अपनी स्वरूपपरिणति सहित वह पूजनीय है, उपादेय है, सेव्य है। निर्मल परिणति द्वारा ही उसकी यथार्थ पूजा, उपासना, सेवा होती है। कार्य द्वारा कारण की सेवा होती है और कारण के सेवन अनुसार कार्य की निर्मलता होती है। जो शुद्धकारण का (रागदि का) सेवन करता है, उसे अशुद्धकार्य (मिथ्यात्वादि) होता है।

जैसा त्रिकाल स्वभाव वैसा ही उसका वर्तमान, जैसा कि त्रिकाल सामान्य वैसा ही उसका वर्तमान विशेष — इसप्रकार परमपारिणामिक स्वभाव से आत्मा सदैव वर्त रहा है। अकेले स्वभाव की ही अपेक्षावाली, जो एकरूप धारावाही परिणति है, वही कारणशुद्धपर्याय है तथा वह पूजनीय है। त्रिलोकीनाथ अरहंत और सिद्ध भगवन्त भी इस परमपारिणामिकभाव की पूजित परिणति का सेवन कर-करके ही अरहंत और सिद्ध हुए हैं, इसलिए मुनिराज कहते हैं कि हे भव्यजीवो! तुम भी उसी का सेवन करो! मुनिराज स्वयं उसके द्वारा सिद्धपद को साधते-साधते कहते हैं कि हे सखा! तुम भी इसका सेवन करो और चलो न मेरे साथ मोक्ष में।

जिसप्रकार समुद्र, समुद्र के पानी का समूह और उसकी सतह — तीनों एकरूप हैं और ऊपर विविध प्रकार की तरंगें उठती तथा शांत होती हैं, उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य, उसके गुण तथा परम-पारिणामिकभाव से वर्तती हुई उसकी परिणति तीनों एकरूप हैं, जो उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं, वे विविध हैं, उनमें उदयादिभाव होते हैं, वे उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण विलय को प्राप्त होती हैं; जबकि कारणशुद्धपर्याय में तो पारिणामिकभावरूप एक ही प्रकार है, वह कभी विलय को प्राप्त नहीं होती, सदैव एक धारा से वर्तती है।

कारणपर्याय तो सदा शुद्ध है और कार्यपर्याय में तो शुद्ध व अशुद्ध दो भेद हैं; कार्य की भाँति कारण शुद्ध और अशुद्ध — ऐसे दो प्रकार का नहीं है तथा उसे अशुद्धता का कारणपना भी नहीं है। प्रगट पर्याय में अशुद्धता हो, तब भी कारणशुद्धपर्याय में अशुद्धता नहीं है। कारणशुद्धपर्याय तो शुद्धता का ही कारण है। उसमें 'पर्याय' शब्द आने से ऐसा नहीं समझना कि वह पर्यायदृष्टि का विषय है। वह पर्याय द्रव्य के साथ सदा तन्मयरूप से वर्तती हुई द्रव्यदृष्टि के विषय में समा जाती है। वह त्रिकाली सम्पूर्ण द्रव्य का एक वर्तमान भेद होने से उसके लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया है और वर्तमान कार्य (मोक्षमार्ग) करने के लिये उसका वर्तमान कारण बतलाया है। इस कारण पर जिसकी दृष्टि का बल है, उसके सम्यग्दर्शनादि कार्य होते हैं।

सर्व पदार्थों का ज्ञाता तथा सर्वोत्तम महिमावाला यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ही है, उसके अन्तर में वर्तमान में क्या-क्या वर्त रहा है — यह उसकी बात है। जल्दी समझ में न आये, तब भी इसे ऐसे लक्ष्यपूर्वक समझना चाहिये कि यह मेरे स्वभाव सामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा का गुणगान हो रहा

है। स्वभाव के बहुमान के संस्कार भी मोह को अत्यन्त मन्द कर देते हैं।

यह 'कारणशुद्धपर्याय' कहकर संत और ज्ञानी ऐसा बतलाते हैं कि अरे जीव! तुझमें प्रतिसमय परिपूर्णता वर्त रही है, शुद्धता का पूर्णकारण सदैव तुझमें उपस्थित है, बाह्य में कारण ढूँढने के लिये जाना पड़े — ऐसा नहीं है, इसलिए अन्तर्मुख होकर उस कारण के आश्रय से अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य को प्रगट कर। यही नियम से कर्तव्य है।

चैतन्य भगवान के पास कारणशुद्धपरिणतिरूपी तलवार उपस्थित ही है, उसे हाथ में लेते ही (उसका आश्रय करते ही) अनन्तसंसार कट जाता है। कारणपरमात्मा अपने कारणशुद्धपरिणति-रूप सिंहासन पर सदा विराजमान है, कारणपरिणति परिपूर्णतः शोभायमान है — ऐसी पूर्णता को जो मानेगा, वही उसे प्राप्त करेगा और जो उसे अपूर्ण मानेगा, वह अधूरा ही रहेगा।

स्वभावभूत जो कारणशुद्धपर्याय उसके आश्रय से प्रगट होनेवाला पूर्ण कार्य कैसा है अर्थात् स्वभावभूत कार्यशुद्धपर्याय कैसी है, सो अब कहते हैं —

केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलवीर्य — ऐसे अनन्तचतुष्टययुक्त परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, सो कार्यशुद्धपर्याय है। जिसप्रकार 'कारण' में चतुष्टय लिये थे, उसीप्रकार इस 'कार्य' में भी चतुष्टय लिये हैं; किन्तु दोनों में उन चार गुणों के साथ अन्य अनन्तगुणों की बात भी समझ लेना चाहिये।

कारणशुद्धपर्याय में जो चतुष्टय कहे, वे अनादि-अनन्त हैं और इस कार्यशुद्धपर्याय में जो चतुष्टय कहे, वे सादि-अनन्त हैं। कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल कर्म की उपाधि से रहित है और कार्यशुद्धपर्याय प्रगट होने के पश्चात् सदैव कर्म की उपाधि से रहित है। कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्ध निश्चयनय का विषय है और यह कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

पूर्णशुद्ध कार्य प्रगट करना ही जीव का कर्तव्य है और वह कार्य कारणस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। इसलिए ऐसा जानकर अन्य सबका आश्रय छोड़कर एक कारणस्वभाव का आश्रय करना ही इस उपदेश का तात्पर्य है। अहो! जंगल में बैठे-बैठे मुनिवरों ने सिद्ध परमात्मा के समान अपने कारणपरमात्मा के साथ ध्यान की केलि करते-करते आनन्द का समुद्र उछाला है।

इसप्रकार कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय — ऐसे दो प्रकार से जीव की स्वभावपर्याय का वर्णन किया। अब आगे छहों द्रव्यों की अपेक्षा से स्वभावपर्याय कहेंगे।

कारणशुद्धपर्याय जोकि नियमसार का एक मुख्य विषय है, इसका गूढ़ अध्ययन करनेवाले जिज्ञासुओं को ज्ञात हो जायेगा कि संतों ने कारण और कार्य की संधि का कैसा अद्भुत-अन्तर्मुखी वर्णन किया है। इसका मनन-मंथन करनेवाले आत्मार्थी के अन्तर में ऐसी भावोर्मियाँ स्फुरित होती हैं, मानों परिणति उल्लसित हो-होकर 'कारण' से भेंट करती हो। वास्तव में अपना हितकार्य करने के इच्छुक जीवों को उसका यथार्थ कारण दर्शाकर संतों ने महान उपकार किया है। "न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" — इस उक्ति के अनुसार, उन संतों के उपकार का पुनः पुनः स्मरण करके उन्हें नमस्कार करते हैं।

छहों द्रव्यों की साधारण और सूक्ष्म ऐसी जो अर्थपर्यायें होती हैं, वे शुद्ध हैं, वे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय

की विषय हैं तथा षट्गुणीवृद्धि-हानि सहित हैं। इसप्रकार पहले जीव की स्वभावपर्यायों का और फिर छहों द्रव्यों की स्वभावपर्यायों का वर्णन किया।

नर-नारकादि पर्यायों वे जीव की विभावपर्यायों हैं। जो जीव पर्यायबुद्धिवाला है अर्थात् विभावपर्याय को ही अपना स्वरूप मानता है, वह जीव विभाव पर्यायोंरूप से परिणमित होता हुआ नये-नये शरीर धारण करके चारगति में भटकता है और ज्ञानी, 'चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मा ही मैं हूँ' — ऐसा जानकर उसी की भावना द्वारा निर्मलपर्यायरूप परिणमित होता हुआ सिद्धपद को प्राप्त करता है।

अब यही बात मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा कहते हैं —

मूल श्लोक इसप्रकार है —

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहज परमतत्त्वाभ्यास निष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनी कामरूपः ॥२७॥

बहु विभाव होने पर भी, सहज परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है — ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, 'समयसार से अन्य कुछ नहीं है' — ऐसा मानकर शीघ्र-शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरी का वल्लभ होता है।

देखो, यह निश्चय-व्यवहार की संधि! 'विभाव होने पर भी' ऐसा कहकर पर्याय में जो व्यवहार है, उसका स्वीकार किया; किन्तु 'समयसार से अन्य कुछ नहीं है' — ऐसा कहकर शुद्धदृष्टि में उसका अभाव बतलाया — इसप्रकार शुद्धदृष्टि से विभाव का निषेध करके धर्मी जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

जो बुद्धि सहज परमतत्त्व के अभ्यास में संलग्न है, वही बुद्धि प्रवीण है; विभाव में लगी हुई बुद्धि प्रवीण नहीं है।

'परमतत्त्व का अभ्यास' यह चारित्र को सूचित करता है।

'प्रवीणबुद्धि' यह सम्यग्ज्ञान को सूचित करती है।

'शुद्धदृष्टि' यह सम्यग्दर्शन को सूचित करती है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला पुरुष, विभाव का निषेध करके चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से मुक्ति प्राप्त करता है। अहो! 'जिन' और 'जीव' समान हैं, कहा भी है — **जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं काँड़।**

प्रत्येक आत्मा सिद्धसमान परिपूर्ण स्वभावी है, अज्ञानी भले ही अपने को विभावपर्याय जितना ही मानता हो; किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि वह व्यवहार से ही विभावपर्यायरूप है, निश्चय से तो वह सिद्ध जैसा ही है।

इसलिए हे जीव! तू शुद्धदृष्टि से अपने आत्मा को देख! शुद्धस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसकी भावना करने से तू भी अल्पकाल में सिद्ध परमात्मा बन जायेगा।

साधर्मी को एक-दूसरे के प्रति जो प्रेम होता है, उस प्रेम का क्या स्वरूप है?

जैसा प्रेम माँ को अपने पुत्र पर होता है, गाय को अपने बछड़े पर होता है; वैसा ही निष्पृह

प्रेम धर्मी को साधर्मी के प्रति होता है। मैं अभी इनके दुःख में सहायता करूँगा, तो भविष्य में किसी समय यह भी मुझे काम में आयेंगे — उनके ऐसी बदले की भावना नहीं होती, परन्तु वे धर्म के सहज प्रेमवश निस्पृहभाव से धर्मी के प्रति वात्सल्य रखते हैं।

जिसप्रकार माता अपने पुत्र का दुःख देख नहीं सकती, हिरनी अल्प सामर्थ्यवान होने पर भी उसकी रक्षा हेतु सिंह से भी लड़ने चली जाती है। इसीप्रकार धर्मात्मा भी साधर्मी जीव के हित में अपने को निःस्वार्थ भाव से लगा देता है।

सच्ची माता के प्रेम को बतानेवाली एक बात कही जाती है कि एक बालक के लिये दो स्त्रियों में झगड़ा हो रहा था। अतः न्यायाधीश ने सत्य की परीक्षा हेतु बालक के दो टुकड़े करके दोनों को एक-एक टुकड़ा देने की आज्ञा दी। यह सुनते ही सच्ची माता जोर से रोने लगी और पुत्र की रक्षा करने के उद्देश्य से बोली — बालक इसे ही दे दीजिए, मुझे नहीं चाहिए। उदाहरण में से केवल इतना लेना है कि सच्ची माता पुत्र का दुःख देख नहीं सकती, उसका वास्तविक प्रेम उमड़ पड़ता है। इसीप्रकार साधर्मी का प्रेम वास्तविक प्रसंग पर छिपा नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि के प्रति अन्तर में प्रेम होता है, उन्हें बात सुनते ही प्रेम उमड़ आता है। जिसे धर्म के प्रति प्रेम होता है, उसे धर्मी के प्रति प्रेम होता ही है; क्योंकि धर्म और धर्मी कहीं भिन्न नहीं हैं। कहा भी है —

न धर्मो धार्मिकैः बिना।

यह तो सम्यग्दर्शन सहित आठ अंग की बात है; परन्तु इसके पूर्व भी धर्म में जिज्ञासु को धर्म के प्रति वात्सल्य, धर्मात्मा का बहुमान आदि भाव होते ही हैं। मोक्ष का सच्चा कारण तो अन्तर में परद्रव्य से भिन्न अपने आत्मा की रुचि और ज्ञान करना है। सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव से मोक्षमार्ग नहीं होता सम्यग्दर्शन के बाद भी जो शुभराग है, वह मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव ही है। जहाँ राग की भूमिका है, वहाँ ऐसे वात्सल्यादि भाव अवश्य आते हैं।

‘कारणशुद्धपर्याय’ में मुख्यतः यह बतलाया है कि जीव के हित का साक्षात् कारण स्वयं जीव में ही वर्तमान में वर्त रहा है, उसे कहीं अन्यत्र ढूँढने नहीं जाना है। जीव को जिसके आधार से वर्तमान में पुरुषार्थ द्वारा विशेष कार्य करना है, यदि वह कारणरूप से वर्तमान में परिपूर्ण न हो तो वह कार्य किसके अवलम्बन से प्रगट होगा ? ‘कारणशुद्धपर्याय’ ने सम्पूर्ण द्रव्य को वर्तमान में झेल रखा है, वह वर्तमान निकट का कारण है; इसलिए उसकी मुख्यता और विभावों की गौणता करने से कार्य की सिद्धि होती है।

यह ऐसा ध्रुवकारण है कि जो कार्य की सिद्धि होने के बाद भी सदा उसके साथ ही वर्तता है। मति-श्रुतादि ज्ञान तो पीछे रह जाते हैं, छूट जाते हैं। केवलज्ञानादि चतुष्टय के साथ पंचमभावरूप वर्तनेवाली कारणशुद्धपर्याय ही है; सदैव साथ रहनेवाली — ऐसी कारणशुद्धपर्याय ही नये-नये कार्य का कारण है।

देखो, यह सदैव साथ रहनेवाला साथी! जो साथ छोड़ दे, उसका क्या विश्वास ? इसलिये अन्तर्मुख होकर अखण्ड कारणरूप से सदैव साथ वर्तते हुए ऐसे अपने स्वभाव का ही विश्वास कर, मोक्ष में जाने के लिए उसी का साथ ले। सिद्धपद में भी वह सदैव साथ रहेगा। संयोग, विभाव तथा

ज्ञानादि की अल्प विकसित पर्यायें जीव के साथ सदा नहीं रहतीं।

यह कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनंत एकरूप से प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् वर्त रही है। जगत में संसारपर्याय तो सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, परन्तु उसमें से जो जीव अपना भान करके मोक्षमार्ग तथा मोक्ष प्रगट करता है, उसके लिए संसार अनादि-सांत है।

मोक्षपर्याय भी जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, परन्तु प्रत्येक जीव की अपेक्षा से जिस जीव ने जब से मोक्ष प्राप्त किया, तब से उसके लिए मोक्ष सादि-अनंत हैं।

तथा जो कारणशुद्धपर्याय है, वह तो प्रत्येक जीव को संसार में या मोक्ष में अनादि-अनंत वर्तती है, किन्तु उसकी प्रतीति नहीं हुई है; अतः जब उसकी प्रतीति हो, ज्ञान हो, तब उसका कार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट होता है।

जिसप्रकार घर में निधान तो पहले से ही पड़ा हो, किन्तु जब उसकी प्रतीति करके उपभोग किया जाये, तब वह काम में आया कहलाता है। उसीप्रकार कारणस्वभावरूप निधान तो आत्मा में अनादि-अनंत है, किन्तु उसका भान करके जब श्रद्धा-ज्ञान से उसे अपना कारण बनाया, तब कारण का कारणपना सफल हुआ और तब ऐसा लगा कि अहो! यह कारण तो मुझमें पहले से ही था 'कारण' की प्रतीति स्वयं कारण नहीं है, प्रतीति तो कार्य है। कार्य अर्थात् सम्यग्दर्शनादि। इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि प्रगट करनेवाले को उसके कारण का सच्चा स्वरूप तथा महिमा समझ में आती है। अहाहा! कारण-कार्य की कैसी बेजोड़ संधि है ?

लोग कहते हैं कि आप 'कारण' को मानते हैं या नहीं ? हाँ भाई, हम कारण को मानते हैं; लेकिन हम पूछते हैं कि सच्चा कारण कार्य देने की शक्ति सहित होता है या शक्तिरहित ? जिसमें कर्म देने की शक्ति न हो, उसे सच्चा कारण कैसे कहा जा सकता है ? अतः निमित्त-कारण और व्यवहार-कारण की बात तो दूर रही; उनमें तो कार्य देने की शक्ति है ही नहीं, निश्चय मोक्षमार्गरूप जो कारण है, उसमें भी मोक्ष देने की पूर्ण शक्ति नहीं है, अंशतः शक्ति है, इसलिए वह मोक्षमार्ग भी सच्चा कारण नहीं है। मोक्ष का मूल कारण आत्मा की पंचमभाव परिणति है अर्थात् पंचमभाव परिणति सहित वर्तता हुआ आत्मस्वभाव ही मोक्ष का साक्षात् मूल कारण है, उसी में मोक्ष प्रदान करने की शक्ति है। जिसमें जो कार्य देने की शक्ति हो, उसी को उसका सच्चा कारण कहा जायेगा न! मोक्ष के लिए बाहरी कारण नहीं जुटाना पड़ता; उसके लिए भीतर साक्षात् कारण विद्यमान है, उसका अवलम्बन करने पर बाह्य कारण तो यहाँ स्वयमेव होते ही हैं।

'कारणशुद्धपर्याय' के वर्णन द्वारा यहाँ जो आत्मा का निकट कारणपना बतलाना है, उसका सामान्य दृष्टान्त इसप्रकार है —

जिसप्रकार रेत और लैंडी पीपर दोनों में रसगुण समान होने पर भी, चौंसठपुटी चरपराहट देने के लिए निकट का कारण लैंडी पीपर में है, उसीप्रकार कार्य प्रगट होने के लिए आत्मा में त्रिकाल सामर्थ्य होने पर भी वर्तमान वर्तता हुआ उसका कारणपना (जिसका यहाँ कारणशुद्धपर्याय रूप से वर्णन किया है) सीधा निकट का कारण समस्त जीवों में वर्त रहा है। जिसप्रकार निकट के कारण की अपेक्षा से लैंडी पीपर और रेत में भेद किया, उसीप्रकार जीवों में दो भेद नहीं होते कि एक जीव

में कारण निकट हो और दूसरे में निकट नहीं हो; यह 'कारण' तो समस्त जीवों को सदा निकट ही (वर्तमान में ही) है। उसका कारणरूप से स्वीकार करे, बस कार्य प्रगट होने में इतनी ही देर है। है तो निकट ही, किन्तु अज्ञान के पर्दे के कारण दूर हो गया है; उस अज्ञान के पर्दे को भेद-विज्ञान द्वारा हटाकर सीधे कारण के साथ सम्बन्ध करके निर्मल कार्य प्रगट करने की यह बात है।

देखो, टीकाकार मुनिराज ने अद्भुत बात की है, वे मुनिराज कहते हैं कि प्रभो! तेरे केवलज्ञान का कारण तेरे निकट-तेरे पास ही है। वह पूजित है, आदरणीय है; उसकी शरण लेने से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। कौन-से मनोरथ तो कहते हैं कि मोक्ष के। मुमुक्षु को मोक्ष के सिवा अन्य और कौन-से मनोरथ हो सकते हैं ?

यहाँ जो त्रिकाली द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप कहा, उसकी जो भावना करेगा। उसे सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के सभी शुद्धकार्य प्रगट होंगे और वह अपने सर्व मनोरथ के स्थानभूत ऐसी परमानन्दरूप मोक्षदशा को प्राप्त करेगा।

इसप्रकार संतों के आशीर्वादपूर्वक यह कारणशुद्धपर्याय का विवेचन पूर्ण हुआ।



उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए...

इस जन्म-मरणरूप संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ जीव मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है अथवा नहीं भी करता अर्थात् उसे वह मनुष्यपर्याय अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है। यदि कदाचित् वह मनुष्यभव प्राप्त कर भी ले तथापि नीचकुल में उत्पन्न होने से उसका वह मनुष्यभव पापाचरणपूर्वक ही नष्ट हो जाता है। यदि किसीप्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ तब भी वहाँ वह या तो गर्भ में ही मर जाता है अथवा बाल्यावस्था में भी शीघ्र मरण को प्राप्त करता है, इससे भी धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। पश्चात् आयु की अधिकता में वह धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके विषय में उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए।

- श्री पद्मनन्द पंचविंशति